Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

15.2

...ा बिहारी पाण्डेय

पूर्व मध्यकालीन भारत

सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.
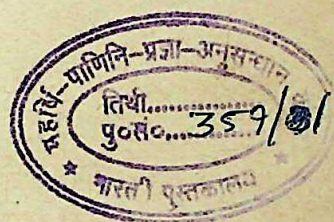
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास

[७१२–१५२६ ई०]

महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
तिथी..............
पु०सं० 357
भारती पुस्तकालय
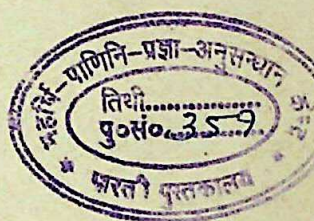
अवधबिहारी पाण्डेय, डो० फ़िल

सेण्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
तिथी.......
पु०सं० 359
भारती पुस्तकालय
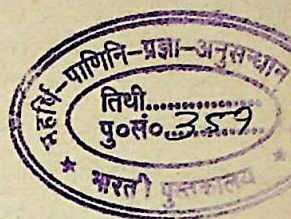
तृतीय संस्करण की भूमिका

इस बार खण्ड ६ में 'लोदी-कालीन अफ़ग़ान शासन-व्यवस्था' पर एक पृथक अध्याय दिया जा रहा है। शेष सामग्री प्रायः पूर्ववत् ही है।

गंगामहल, काशी — अवधबिहारी पाण्डेय
अगस्त, 1970

द्वितीय संस्करण की भूमिका

प्रथम बार इसमें घटना-तालिका तथा अनुक्रमणिका नहीं दी जा सकीं थीं। इस बार उनको जोड़ दिया गया है। कुछ क्षेत्रों से यह सुझाव भी आये थे कि इसमें से 'मुग़ल अफ़ग़ान संघर्ष' तथा 'द्वितीय अफ़ग़ान साम्राज्य का उत्थान एवं पतन' निकाल कर 'उत्तर मध्यकालीन भारत' के प्रथम खण्ड के अन्तर्गत रखना चाहिए। मेरी दृष्टि में अफ़ग़ानों का १०० वर्ष का इतिहास एक साथ देना और एक ही वर्ष पढ़ाना अधिक युक्ति-युक्त होता। किन्तु विभिन्न विश्वविद्यालयों में १५२६ को ही अभी भी प्रधान विभाजक रेखा माना जा रहा है। अतएव मैंने इस संस्करण से उपरोक्त दोनों अध्याय हटा दिये हैं जो 'उत्तर मध्यकालीन भारत' के द्वितीय संस्करण में जोड़ दिये जायेंगे।

कुछ स्थानों में सामान्य परिवर्तन भी किये गये हैं और कुछ छापे की भूलें ठीक कर दी गयीं हैं। आशा है, अपने वर्तमान कलेवर में यह अधिक उपयोगी सिद्ध होगी।

हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी — अवधबिहारी पाण्डेय
सितम्बर १९५९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथम संस्करण की भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक प्रमुखतः विश्वविद्यालयों की डिग्री कक्षाओं के विद्यार्थियों की आवश्यकताओं का ध्यान रखकर लिखी गई है। यद्यपि भारतीय इतिहास का उच्च-स्तरीय अध्ययन एवं अध्यापन प्रायः एक सौ वर्ष से हो रहा है और अनेक प्राध्यापकों ने विश्वविद्यालयों में इतिहास के अध्यापन में श्लाघनीय ख्याति अर्जित की है, तो भी राष्ट्रभाषा हिन्दी में उच्च कक्षाओं के लिए पाठ्ग्रन्थों की बहुत कमी है। अंगरेजी भाषा में भी भारतीयों द्वारा लिखित उच्च कोटि के पाठ्यग्रंथ अंगुलियों पर गिने जा सकते हैं। हिन्दी विश्वविद्यालय प्रयाग की उत्तमा परीक्षा में अनेक वर्षों से इतिहास के परीक्षार्थियों को सम्मिलित किया जा रहा है परन्तु उसके पाठ्यक्रम में अधिकाँश पुस्तकें अँगरेज़ी भाषा वाली ही हैं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद एक उत्तर-भारतीय हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र के विश्वविद्यालयों की प्रतिनिधि समिति की बैठक में हिन्दी में पाठ्य पुस्तकें तैयार करने की योजना प्रस्तावित हुई थी। परन्तु उसके कार्यान्वन में अभी तक कोई विशेष प्रगति नहीं हुई।

लेखक ने इसी अभाव की आँशिक पूर्ति के उद्देश्य से मध्यकालीन भारत का इतिहास हिन्दी में लिखने का प्रयास किया है। विभिन्न विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम को दृष्टि में रखने के कारण प्रस्तुत पुस्तक में केवल पूर्व-मध्यकालीन भारत का इतिहास दिया गया है। दिल्ली की सल्तनत की स्थापना के पूर्व का इतिहास अपेक्षाकृत संक्षेप में दिया गया है। इसी भाँति पन्द्रहवीं शताब्दी के स्थानीय स्वतन्त्रराज्यों का भी विशद विवरण नहीं दिया गया। पुस्तक को ६ खण्डों में विभाजित किया गया है। पहले खण्ड में इस्लाम के भारत में प्रवेश की चर्चा है और इस्लाम की उत्पत्ति तथा उसके प्रसार के विवरण के साथ भारत और अरब के सम्बन्ध की विवेचना की गई है। उसके बाद महमूद ग़ज़नवी तथा शहाबुद्दीन ग़ोरी के कार्यों का समीक्षात्मक विवरण देकर इस खण्ड को समाप्त किया गया है। द्वितीय खण्ड में दिल्ली की सल्तनत की स्थापना का उल्लेख है और तेरहवीं शताब्दी की राजनीतिक स्थिति का विवरण दिया गया है। तृतीयखण्ड में दिल्ली की सल्तनत के चरम उत्कर्ष की प्रगति की व्याख्या की गई है और चौदहवीं सदी के पूर्वार्द्ध की ऐतिहासिक समस्याओं का विश्लेषण किया गया है। चतुर्थ खण्ड में अगले सौ वर्ष का इतिहास प्रस्तुत करते हुए दिखाया

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया है कि किस प्रकार सल्तनत का पतन हुआ और स्थानीय स्वाधीन राज्यों ने स्थानीय क्षेत्रों में किस परिमाण में और किन विशिष्ट दिशाओं में सफलता प्राप्त की। पाँचवें खण्ड में अफग़ानों का प्रभुत्व दर्शाते हुए पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से सोलहवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक का राजनीतिक विवरण दिया गया है। छठे खण्ड में पूर्व-मध्यकालीन समाज एवं शासन के स्वरूप पर विचार किया गया है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में सहायक ग्रंथों की एक अत्यन्त संक्षिप्त सूची दीगई है और जहां उचित समझा गया है वहां संबंधित पुस्तकों के उपयुक्त पृष्ठों अथवा अध्यायों का उल्लेख कर दिया गया है। इन सहायक ग्रंथों के चयन में प्रायः इस बात का ध्यान रखा गया है कि पुस्तकें प्रामाणिक, हाल की छपी हुई तथा सुगमता से प्राप्य एवं ड्रिग्री कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए बोधगम्य हों।

किसी पाठ्य-पुस्तक में विवाद-ग्रस्त विषयों पर न तो विस्तार से ही लिखना संभव है और न किसी एक मत का ही अधिक आग्रह के साथ समर्थन करना उचित होता है। अस्तु, जहां विवादग्रस्त प्रश्नों पर विचार किया गया है वहां पाठ्य-पुस्तक की सीमाओं का ध्यान रखा गया है और जहां तक सम्भव हैं सदा एक निष्पक्ष एवं संतुलित दृष्टिकोण रखने का उद्योग किया गया है।

साधारणतः भाषा को खूब स्पष्ट, परिष्कृत एवं परिमार्जित रखने का प्रयत्न किया गया है परन्तु जहां अंगरेजी, अरबी अथवा फारसी के शब्दों का प्रयोग अनिवार्य समझा गया है वहां यथासाध्य उनके शुद्ध उच्चारण का ध्यान रखकर उनको लिपिबद्ध किया गया है।

लेखक ने पुस्तक की रचना में कितनी ही सकर्कता क्यों न रखी हो फिर भी इसमें त्रुटियों अथवा न्यूनताओं का रह जाना असंभव नहीं है। वह आशा करता है कि विद्वान् सहृदय पाठक जहां संशोधन अथवा परिवर्द्धन एवं परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव करेंगे उसकी सूचना देने की कृपा करेंगे और यदि इस पुस्तक से डिग्री कक्षाओं के विद्यार्थियों का कुछ लाभ हुआ तो अगले संस्करण में उन सभी सुधार के सुझावों से लाभ उठाने की चेष्टा की जायगी।

हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी
मार्च १९५४

अवधबिहारी पाण्डेय

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
तिथी..........
पु०सं०...359...
भारती पुस्तकालय

विषय-सूची

खण्ड १

इस्लाम का भारत में प्रवेश

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खण्ड २

दिल्ली की सल्तनत की स्थापना

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय पृष्ठ

खण्ड ३

सल्तनत का चरम उत्कर्ष

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खण्ड ४

तुर्की सल्तनत का पतन और अंत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खण्ड ५

अफ़ग़ानों का प्रभुत्व

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खण्ड १

इस्लाम का भारत में प्रवेश

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१

अरब और भारत का सम्बन्ध

हमारे देश में इतिहास का काल-विभाजन विशिष्ट जातियों के प्रभुत्व से संबद्ध है। प्राय: विद्वान मुस्लिम शासन की स्थापना के पूर्व के काल को प्राचीन काल की संज्ञा देते हैं तथा अंगरेजी शासन की स्थापना के बाद के काल को आधुनिक युग की। इन दोनों के बीच का युग—मुस्लिम प्रभुत्व का काल—मध्यकाल कहा जाता है। इस ग्रंथ में इसी विभाजन को स्वीकार करके मध्यकालीन भारत का इतिहास प्रस्तुत किया जायगा।

भारतीय इतिहास में काल-विभाजन का क्रम

इस देश में सबसे पहले आने वाले मुसलमान अरब-निवासी थे। यद्यपि उनकी सैनिक विजय का प्रभाव देश के राजनीतिक इतिहास पर बहुत अधिक नहीं पड़ा, जैसा कि हम आगे के पृष्ठों में देखेंगे, परन्तु तो भी अरब और भारत का सम्बन्ध मध्यकालीन भारतीय इतिहास में विशेष महत्व रखता है।

एशिया के तीन प्रमुख प्रायद्वीपों में अरब का प्रायद्वीप भी एक है। यह एशिया महाद्वीप के पश्चिमी अंचल में स्थित है। यहाँ की अधिकांश भूमि गहरे बालू के परदे से ढको है। यहाँ वर्षा इतनी कम होती है कि कभी-कभी तीन-तीन, चार-चार वर्ष तक किसी-किसी भीतरी प्रान्त में बिल्कुल वर्षा नहीं होती। यहाँ गर्मी भी काफी पड़ती है। भूमि के उर्वरा न होने के कारण बस्ती बहुत कम है और वह प्राय: उन स्थलों में केन्द्रित है जो समुद्रतट पर स्थित है अथवा जहाँ कुछ वर्षा अथवा नदियों के जल के प्राप्य होने के कारण मनुष्य का जीवन-यापन संभव है।

अरब देश

अरब के उपजाऊ भागों में जो खाद्य उत्पन्न होते हैं उनमें सर्वोत्कृष्ट स्थान खजूर का है। यह अरब भोजन का प्रधान अंग है। इसके रस से एक मादक पेय तैयार किया जाता है और गुठलियों को पीसकर ऊँट के खाने की रोटी बना ली जाती है। इसका महत्व इसी से प्रकट है कि पैगंबर साहब की उक्तियों में एक उक्ति यह भी बताई जाती है "अपनी फूफू खजूरका सम्मान करो जिसका निर्माण उसी मिट्टी से हुआ था जिससे हजरत

खजूर और ऊँट का महत्व

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदम का।" अरब पशुओं में ऊँट को वैसा ही सम्मान प्राप्त है जैसा कि भोज्य पदार्थों में खजूर को। उसके बिना मरुभूमि में निवास करना ही असम्भव हो जाता। अरब लोग उसे इतना प्यार करते हैं जैसे कि वह उनका पालनकर्त्ता पिता हो। इन दो बातों से ही अरब देश की आर्थिक स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है।

इस कठिन आर्थिक स्थिति में भी साहस, सुख एवं मस्ती का जीवन बिताने वाला अरब बंजारा है जिसे बेदुइन कहते हैं। उनके जीवन-निर्वाह के तीन साधन हैं—पशुपालन, व्यापार और लूट। वह अपने ढोरों के लिए उपयुक्त भूमि की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान जाता रहता है। वह उर्वर स्थलों के स्थायी निवासियों से व्यापार करता है और आवश्यकता पड़ने पर उनको लूटता भी है। अस्तु उसका जीवन साहसिक, संघर्षमय, तथा स्वार्थपूर्ण हो गया है। उसके देश की अनोखी स्थिति ने उसके जीवन को एक निराले ढंग का बना दिया है। उसका घर है तम्बू। पास-पास तम्बू डालकर रहनेवाले लोग अपने को एक 'कौम' का मानते हैं। कई मैत्रीपूर्ण पड़ोसी कौमों के सामूहिक समुदाय का नाम 'कबीला' है। कौम अथवा कबीले का प्रधान व्यक्ति शेख कहलाता है। उसे यह पद अपने शौर्य, बुद्धिबल तथा आयु के कारण प्राप्त होता है। कौम अथवा कबीले के लिए अरब सब कुछ बलिदान कर सकता है क्योंकि उसके बाहर रहकर उसका जीवन ही असंभव हो जाता है। वह एक दृष्टि से स्वार्थी और झगड़ालू है तो दूसरी दृष्टि से उदार आतिथ्य करनेवाला भी है। परन्तु युद्ध उसका स्वभावगत व्यापार बन गया है। एक अरब लेखक कहता है, "हमारा कार्य है लूट के उद्देश्य से धावे करना, शत्रु के विरुद्ध, पड़ोसी के विरुद्ध और यदि कोई अन्य व्यक्ति न मिले तो अपने सगे भाई के विरुद्ध।" हम अरब के चरित्र को भले ही बुरा समझें परन्तु वह स्वयं अपने को सभ्य से सभ्य व्यक्तियों से श्रेष्ठतर समझता है और उसे अपने रक्त की शुद्धता तथा स्वतंत्र जीवन पर बड़ा गर्व रहता है।

अरब के निवासी

अरब के पड़ोसी देशों में फारस, मिस्र, यूनान और समुद्र-पार भारत है। पूरब और पश्चिम के देशों के बीच होने वाला व्यापार अरब के समुद्रतट तथा उसके भीतर होकर पूर्व ऐतिहासिक काल से होता रहा है। सैय्यद सुलेमान नदवी ने पुष्ट प्रमाणों के आधार पर भारत और अरब के घनिष्ट संबंध का विवरण दिया है। "हजारों वर्ष पहले से अरब के व्यापारी भारतवर्ष के समुद्रतट तक आते थे और यहाँ की उपज तथा व्यापारिक पदार्थों को मिस्र और शामदेश के द्वारा योरप तक पहुँचाते थे और वहाँ के पदार्थ भारतवर्ष, उसके पास के टापुओं, चीन और जापान तक ले जाते थे।" इस विदेशी व्यापार में भाग लेने वाले प्रायः वे अरब थे जो समुद्रतट पर स्थित उर्वर स्थलों के नगरों में निवास करते थे। मक्का और मदीना भी ऐसे ही नगरों में थे। भारत के जिन जिन बन्दरगाहों में अरब व्यापारियों के आने का उल्लेख मिलता है उनमें देवल, थाना,

अरब का अन्य देशों से संबंध

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खम्भात, सोपारा, जैमूर, कोलीममली, मलाबार और कन्याकुमारी मुख्य हैं। इनके आगे वे समुद्रस्थित टापुओं में जाते थे अथवा बंगाल, कामरूप होते हुए चीन जाते थे।

यह व्यापारी भारत से अनेक प्रकार के सामान ले जाते थे। उनमें सुगन्धित लकड़ियों, चंदन, कपूर, लौंग, कालीमिर्च, तेजपत्ता, इलायची, हर्र, जायफल, कबाब चीनी, नारियल, आम, नीबू, सन के कपड़े, रुई के मखमली कपड़े, तूतिया, सीसा, बाँस, बेंत, जूते, मिट्टी के सुन्दर बर्तन, सागौन तथा अन्य उपयोगी लकड़ी, हीरा, मोती, हाथी दांत तथा कस्तूरी आदि का विशेष उल्लेख मिलता है। भारत में यह लोग मिस्र की बनी पन्ने की अँगूठियाँ, शराब, रूमी रेशमीं कपड़े, समूर, पोस्तीन और तलवारें लाते थे। गुलाबजल, खजूर और घोड़ों की भी देश में काफी माँग थी।

भारतीय व्यापार

इस व्यापार में भाग लेने वाले केवल अरब ही नहीं थे। भारतीय व्यापारी भी स्थल तथा जल के मार्ग से पश्चिमी देशों की यात्रा करते थे। अरबी भाषा में इन व्यापारियों को 'बनिया' नाम से संबोधित किया है। इस वर्ग के लोग आजकल भी अरब समुद्रतट से लेकर मिस्र तक फैले हुए हैं। इनमें सिन्ध, पंजाब तथा गुजरात के ही अधिकतर लोग हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत और अरब का मैत्रीपूर्ण संबंध काफी पुराना है। कुछ कथाएँ ऐसी भी मिलती हैं जिनसे पता चलता है कि भारतीय जाट और मेंड़ सैनिक भी अरब की सेनाओं में भर्ती हो जाते थे यद्यपि यह बात इस्लाम की उत्पत्ति के बाद की है।

पैगंबर मुहम्मद

इस्लाम धर्म के संस्थापक पैगंबर मुहम्मद (५७०-६३२ ई०) ने भी अपने जीवन के अनेक वर्ष व्यापार में ही लगाये थे और इस कार्य के कारण ही उनका संबंध एक धनी महिला खदीजा (५५५-६१९ ई०) से हुआ जिसने बाद में मुहम्मद की ईमानदारी से प्रभावित होकर उनसे विवाह कर लिया। मुहम्मद ने अरब के युद्धरत कबीलों को शान्ति और भाईचारे का पाठ पढ़ाकर उन्हें एक सूत्र में गूँथ दिया। उनके धर्म में सामाजिक, राजनीतिक तथा आध्यात्मिक पहलुओं का अविभाज्य संबंध है। यह नया धर्म ईश्वर की एकता में अटूट विश्वास प्रतिपादन करता है और मूर्तिपूजा, अवतारवाद, तथा ऊँच-नीच की भावना का घो[illegible] विरोध करता है। इसकी शिक्षाओं में सामूहिक नमाज, संयमशील जीवन, परोपकार भाईचारे तथा निर्लोभिता पर काफी जोर दिया गया है। एक अल्लाह की संतान होने के कारण और उनके पैगंबर द्वारा दिखाये गए मार्ग पर चलने के कारण सारे मुसलमान सगे भाई-बहन की तरह हैं। उनका कर्तव्य है कि धनी लोग अपने निर्धन भाइयों की सहायता के लिये जकात दें और उधार दिये हुए रुपये का सूद न लें। पहले मूर्ति-पूजक अरब देश में मुहम्मद की शिक्षाओं का घोर विरोध हुआ और उनके सगे-संबंधियों ने ही अपने आर्थिक हितों की रक्षा के लिए उनका वध करने की चेष्टा की जिसके कारण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६२२ ई० में उन्हें मक्का छोड़कर अपनी माता के जन्म-स्थान मदीना जाना पड़ा। परन्तु कुछ समय के बाद उनके व्यक्तित्व तथा उनकी करामातों और विजयों के कारण प्रायः सारे अरबनिवासी उनके धर्म के अनुयायी हो गये। इस क्रान्तिकारी घटना ने अरब कबीलों के आपसी झगड़ों को बहुत कुछ शान्त कर दिया, उनमें स्वार्थ और अंध-विश्वास की भावना को कम किया तथा अल्लाह के संदेश को दूर-दूर फैलाने के जोश को भर दिया। मुहम्मद साहब तथा उनके परवर्ती नेताओं ने इस स्थिति से उचित लाभ उठाकर अरब साम्राज्य की स्थापना की जो ६० वर्ष के भीतर ही पश्चिम में स्पेन से पूरब में चीन की सीमा तक फैल गया।

इस्लाम का प्रचार

इस प्रसार के कार्य में अनेक बातों ने योग दिया। मुहम्मद साहब की मृत्यु के बाद खलीफाओं ने जिस शासन-व्यवस्था की स्थापना की उसमें पुरोहित वर्ग और शासक मण्डल की प्रधानता के स्थान पर सम्पूर्ण अरब जनता की नागरिक एवं राजनीतिक समानता का सिद्धान्त निहित था। इससे दलितवर्ग का सहज सहयोग प्राप्त हो गया। विजित देशों में भी इस्लाम स्वीकार करने वालों को बराबरी के अधिकार दिये गये इसलिए वहाँ के निम्न-वर्गों के लोगों ने भी इस्लाम का स्वागत किया तथा अपने देश के शासकों के विरुद्ध आक्रमणकारियों की सहायता की। दूसरे, अरब नेताओं ने अपनी सेना का संगठन कबीलेवार किया और विजित भागों में इन कबीलों की अलग-अलग टुकड़ियाँ बसाकर उनके द्वारा नयी सरकार की हुकूमत को दृढ़ करने में अनुपम सहायता प्राप्त की। तीसरे, आधा-पेट खाकर रहने वाले अरबों को जब विदेशों में सुख और विलास की प्रचुर सामग्री प्राप्त होने लगी तो वे प्राणपण से अल्लाह की सेवा के द्वारा अपने स्वार्थ-साधन में लग गये। इस भांति धार्मिक जोश के साथ आर्थिक हित की भावना मिल जाने से अरब सैनिकों की प्रगति को रोक सकना कठिन हो गया। चौथे, इस्लाम धर्म की शिक्षाएँ काफी सरल और सादी थीं जिन्हें सामान्य बुद्धि के लोग भी सुगमता से समझ और पालन कर सकते थे। पाँचवें, उस समय अरब के पड़ोसी देशों की शासन-व्यवस्था दुर्बल और लड़खड़ाती हुई दशा में थी। इसलिए वह अरबों के अभियान का विरोध करने में ऐसी अक्षम सिद्ध हुई कि अरब बहुत द्रुतगति से फैलते चले गये और प्रत्येक सुगम सफलता से उनका उत्साह और भी बढ़ता गया।

मुस्लिम साम्राज्य का प्रसार

मुहम्मद साहब के समय में अरब के अधिकांश कबीलों के नेताओं ने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली। परन्तु उनकी मृत्यु के बाद अनेक झूठे पैगंबर पैदा हो गये और उनके प्रभाव के कारण अनेक कबीलों ने इस्लाम त्याग दिया। प्रथम खलीफा अबूबक्र (६३२-६३४ ई०) ने एक वर्ष के भीतर खालिद तथा अन्य सेनापतियों की चेष्टा से सम्पूर्ण अरब पर इस्लाम धर्म तथा इस्लामी राज्य का सिक्का जमा दिया। फिर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्होंने इन युद्धों द्वारा एकता के सूत्र में संगठित कबीलियों का उपयोग अरब के पड़ोसी राज्यों को जीतने के लिए किया। पहले सिरिया और इराक पर आक्रमण किया गया। परन्तु यह कार्य समाप्त होने के पूर्व ही उनका देहान्त हो गया। द्वितीय खलीफा उमर (६३४-६४४ ई०) के काल में विजय का कार्य बहुत सफलता और तेजी से अग्रसर हुआ। मिस्र, सिरिया, पैलेस्टाइन, इराक, मेसोपोटामिया, और फारस पर इस्लाम की विजय-पताका फहराने लगी। इस भांति अरब साम्राज्य का विस्तार भारत की सीमा तक पहुँच गया। इसी काल में मकरान और सीस्तान पर भी अरबों का अधिकार हो गया यद्यपि समुद्र मार्ग से थाना पर किया गया आक्रमण विफल हुआ और सिंध पर आक्रमण करने की अनुमति खलीफा ने नहीं दी।

तीसरे खलीफा उसमान (६४४-६५६ ई०) के समय में भारत पर आक्रमण करने के पूर्व हकीम बिन जबाल को पता लगाने के लिये भेजा गया। उसने जो रिपोर्ट भेजी उसमें कहा गया था कि "पानी की बहुत कमी है, फल निम्नश्रेणी के और कम होते हैं और डाकू बहुत साहसी हैं। यदि थोड़ी सेना भेजी गई तो वह नष्ट कर दी जायगी और यदि बड़ी सेना भेजी गई तो वह भूखों मर जायगी!" अस्तु भारत पर आक्रमण करने का विचार स्थगित कर दिया गया।

उसमान के समय से मुसलमानों में पक्षपात, ईर्ष्या और स्वार्थ के आधार पर फूट आरम्भ हो गई। उसमान इस फूट का ही शिकार हुआ और उसके बाद चतुर्थ खलीफा अली (६५६-६६१ ई०) के समय में मुआविया के विरोध के कारण साम्राज्य का बँटवारा-सा हो गया और ६६१ ई० में मुआविया ने अली की मृत्यु के बाद उसके पुत्र हसन को हटाकर उमय्या खिलाफत की नींव डाली। मुआविया के राज्यारोहण के समय से खलीफा एक प्रकार का सम्राट् होने लगा और उसका धार्मिक नेतृत्व क्षीण होने लगा।

उमय्या वंश

मुआविया ने मदीना और कूफा के स्थान पर दमिश्क को अपनी राजधानी बनाया। उसके वंश वालों ने ७५० ई० तक शासन किया। इस काल में पूरब में अफगानिस्तान, बिलोचिस्तान और मध्य एशिया का काफी भाग तथा पश्चिम में यूनानी सागर के अनेक द्वीप, उत्तरी अफ्रीका में मोरक्को तक और दक्षिणी योरप में स्पेन तथा फ्रांस का काभी भाग मुस्लिम साम्राज्य के अन्तर्गत आ गया। इसी वैभव और विस्तार के युग में अरबों ने सिन्ध पर विजय प्राप्त की।

दाहिर और अरबों का संघर्ष

सिन्ध पर आक्रमण करने का प्रधान कारण राज्य-विस्तार की कामना न होकर प्रतिशोध की भावना थी। लंका से आनेवाले कुछ अरब जहाजों को देवल के समुद्री डाकुओं ने लूट लिया और मुस्लिम स्त्रियों तथा बच्चों को पकड़ लिया। जब इसका समाचार इराक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के शासक हज्जाज को मिला तो उसने सिंध के समकालीन शासक दाहिर से अपराधियों को दण्ड देने की माँग की। दाहिर ने कहा कि वह कार्य उसकी प्रजा का नहीं वरन् समुद्री डाकुओं का है जिन पर उसका कोई अधिकार नहीं है। इस उत्तर से चिढ़-कर और खलीफा तथा उसकी प्रजा के सम्मान की रक्षा के हेतु, हज्जाज ने एक-एक करके तीन सेनानायक भेजे, जिनमें से प्रथम दो को दाहिर ने मार भगाया। तीसरा सेनानायक मुहम्मद बिनकासिम था जो हज्जाज का भतीजा एवं दामाद था। मुहम्मद बिन कासिम के साथ ६००० अनुभवी घुड़सवार, उतने ही ऊँटसवार तथा ३००० भारवाही ऊँट थे। उसने मकरान में पहुँचकर न केवल वहाँ के हाकिम से सहायता प्राप्त की वरन् उसने दाहिर के ब्राह्मण शासन से असन्तुष्ट जाट और मेंड़ लोगों को भी सेना में भर्ती कर लिया। सिंध में पहले बौद्धों का शासन था। बौद्ध ब्राह्मण राजवंश के इतने विरोधी थे कि उनके विनाश के लिए मुहम्मद बिन कासिम का स्वागत करने के लिये उद्यत हो गए। दाहिर भी कुछ ऐसा घबड़ा गया कि उसने सिंध नदी के पश्चिम का भाग खाली करके पूरबी तट से घाटों को रोककर बचाव की लड़ाई का प्रबन्ध किया। इस नीति से शत्रु का हौसला बढ़ गया क्योंकि उसे अनायास ही सिंध का पश्चिमी भाग प्राप्त हो गया। बौद्धों के विरोध, जाटों तथा मेड़ों की सहायता तथा मुहम्मद बिन कासिम के कुशल नेतृत्व के कारण दाहिर को प्रारम्भिक युद्धों में असफलता मिली। उस पर अनेक असंतुष्ट कर्मचारी विजेता से मिल गये और शीघ्र ही घर की फूट तथा स्वार्थी राजद्रोहियों के कारण अरबों का सिंध पर अधिकार हो गया।

भारत में अरब राज्य की स्थापना

मुहम्मद बिन कासिम ने पहले देवल पर अधिकार किया और जनता को आतंकित करने के लिये १७ वर्ष से अधिक आयु वाले सभी पुरुषों को मौत के घाट उतार दिया। स्थानीय लोगों की सहायता से उसने सिंधु पार करके क्रमशः रावर, ब्राह्मणाबाद, अलोरा, सिक्का और मुलतान पर अधिकार करके दाहिर के वंश का नाश कर दिया और सम्पूर्ण सिंध पर उसने अरब शासन स्थापित कर दिया।

अरब सफलता के कारण

मुहम्मद बिन कासिम को अप्रत्याशित सफलता प्राप्त हो गई और वह भी प्रायः एक वर्ष के ही भीतर। इसके अनेक कारण थे। हज्जाज ने उसके साथ चुने हुए तपे-तपाये सैनिक भेजे थे जिनको नूतन अरब रणनीति की व्यावहारिक शिक्षा मिल चुकी थी। दूसरे उसे मकरान के हाकिम से न केवल स्थानीय सेना प्राप्त हो गई वरन् स्थानीय भौगोलिक जानकारी भी मिली। तीसरे, सिंध के ब्राह्मण वंश की नीति से बौद्ध एवं जाट असंतुष्ट थे। उन्होंने हज्जाज के पास से अभयदान प्राप्त करके देशद्रोहिता का मार्ग अपनाया। चौथे, दाहिर की सेना में एक अरब सैनिकों का दस्ता था जिसने युद्ध के समय विश्वासघात किया। मुहम्मद बिन कासिम की नीति ने भी उसकी सफलता में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योग दिया। उसने देवल में क्रूरता का प्रदर्शन करके लोगों को आतंकित कर दिया और बाद में अपेक्षाकृत उदारता का व्यवहार करके उदासीन वर्ग का समर्थन प्राप्त कर लिया। उसने ब्राह्मणों को अनेक विशेष सुविधाएँ दीं और उनको शासन में ऊँचे-ऊँचे पद देकर हिन्दू जनता पर आसानी से प्रभाव जमा लिया। दाहिर की गलत रणनीति ने उसका कार्य और आसान कर दिया।

मुहम्मद बिन कासिम ने अपने दो वर्ष के शासन-काल में (७१३-७१५ ई०) अरब शासन-व्यवस्था स्थापित कर दी। उसने सबको धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान की

अरब शासन-व्यवस्था

और उनके देवालयों की रक्षा का वचन दिया। उसने शासन के रूप में अधिक परिवर्तन नहीं किया और निम्न श्रेणी के पदों पर भारतीयों को रहने दिया तथा ब्राह्मणों को न केवल कुछ ऊँचे पद दिये वरन् उनको जजिया तथा अन्य करों से भी मुक्त रखा। उसने भूमिकर उपज का १/३ से २/५ तक रखा। परन्तु कुछ बातों में उसने गैर-मुसलमानों पर आर्थिक दबाव डाला। उनको अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार ४८, २४ या १२ दिरहम प्रतिवर्ष प्रति व्यक्ति जजिया के रूप में देने पड़ते थे यद्यपि बच्चों, स्त्रियों, ब्राह्मणों, पुरोहितों एवं भिखारियों से यह कर नहीं लिया जाता था। धर्म-परिवर्तन करने पर भी इससे छुटकारा मिल जाता था। भारतीयों के लिए यह भी नियम था कि उन्हें आगंतुक मुसलमान का अनिवार्य आतिथ्य करना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त उसने कुछ विशिष्ट कर भी लगाये। परन्तु सामान्य जनता के विद्रोह न होने से पता चलता है कि शायद सब मिलाकर उसका शासन दाहिर के शासन से विशेष खराब नहीं था। राज्य की ओर से सभी को समान सामाजिक एवं धार्मिक सुविधाएँ मिलने के कारण बौद्ध, जाट तथा छोटी जातियों के लोगों ने इस शासन का स्वागत किया होगा। सुरक्षा की दृष्टि से उसने सेना को सदा सुदृढ़ तथा सजग रखा। उसने कुछ भारतीय सैनिक भी भर्ती किए थे परन्तु प्रबल बहुमत तथा समस्त मार्के के पदों पर एकाधिकार अरबों का ही रहा।

इस विजय का भारतीय तथा अरब इतिहास में काफी महत्व है यद्यपि इसने भावी भारतीय मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना में विशेष योगदान नहीं किया जिसके

अरबों की विजय का महत्व

कारण लेनपूल ने कहा है कि यह भारत तथा इस्लाम के इतिहास में एक फलहीन विजय मात्र है। अरब कबीले सिंध के नगरों में बस गये और उन्होंने मंसूरा, बैजा, महफूजा, मुलतान आदि स्थानों में अपने सुदृढ़ उपनिवेश स्थापित कर लिए। उन्होंने यहाँ के निवासियों के साथ विवाह-संबंध स्थापित करके अरब रक्त को भारतीय रक्त में मिश्रित कर दिया। परन्तु उमटया वंश के पिछले खलीफाओं की उपेक्षा तथा सिंध की सीमित आय के कारण वे गुर्जर, राष्ट्रकूट, चालुक्य आदि राजवंशों के विरुद्ध सफलता प्राप्त नहीं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर सके और सिंध में ही बँधे रह गये। कालान्तर में अपनी कबीलेवार ईर्ष्या तथा धार्मिक मतभेद के कारण वे आपस में ही लड़ने लगे जिससे केन्द्रीय शासन का अन्त हो गया और अरब शासन का प्रभाव प्रायः नगरों तक ही केन्द्रित रह गया। इतना होते हुए भी यह सत्य है कि इस समय से मध्ययुग के अन्त तक प्रायः बराबर ही सिंध पर मुसलमानों का प्रभुत्व रहा। इस कारण अनेक यात्री, व्यापारी एवं संत सिंध तथा भारत के अन्य भागों में गये और उन्होंने जो यात्रा विवरण तैयार किये उनसे तुर्कों को भारतीय विजय में बहुत सहायता मिली।

अरब लोग भारतीयों के निकट संपर्क में आये और उन्होंने उनसे दर्शन, विज्ञान, चिकित्साशास्त्र, ज्योतिष आदि में बहुत कुछ सीखा। यह कार्य विशेष रूप से अब्बासी वंश के खलीफा मंसूर (७५३-७७४ ई०) और हारूँ (७८६-८०९ ई०) के समय में हुआ। उनके प्रधान मंत्री बरमका, सय्यद सुलेमान नदवी के मत से भारतीय बौद्ध थे जिन्होंने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था और जो बल्ख के नव-विहार के प्रधान रह चुके थे। उन्होंने भारत के अनेक विद्वान बुलाये जिनके भारतीय नाम नहीं मिलते वरन् उनके अरबी रूप ही प्राप्य हैं। वे हैं, बहला, मनका, बाजीगर, फलबरफल, सिंदबाद, बारवर, राजा, अनकू, अरीकल आदि। यह लोग अनुवाद विभाग में नियुक्त किये गये और उन्होंने ज्योतिष, (गणित, फलित, तथा सिद्धान्त) चिकित्सा, रसायन, दर्शन आदि से संबंधित अनेक संस्कृत ग्रंथों का अरबी में अनुवाद करके इस्लाम के यौवनकाल में उसके साहित्य तथा विज्ञान को अलंकृत किया।

भारतवर्ष में अरबों के आगमन से एक नए धर्म का प्रवेश हुआ जिसने अपनी सादगी और बंधुत्व के सिद्धान्तों से निम्न जातियों के भारतीयों को आकर्षित किया। अतएव यह विजय एकदम प्रभावहीन नहीं कही जा सकती।

अब्बासी वंश के खलीफाओं ने जब बगदाद को राजधानी बनाया तब पहले तो सिंध की ओर खलीफाओं का ध्यान अपेक्षाकृत अधिक आकृष्ट हुआ जिसके कारण सांस्कृतिक संबंध प्रगाढ़तर हो गया परन्तु जब नवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से अब्बासी खलीफा दुर्बल होने लगे तो सिंध की ओर समुचित ध्यान दे सकना उनके लिए संभव नहीं रहा। अस्तु, शीघ्र ही मुलतान और मंसूरा को छोड़कर शेष सिंध पर हिन्दू राजाओं का अधिकार हो गया। बाद में मुहम्मद बिन साम ने जब भारत में तुर्की सल्तनत की स्थापना की तब सिंध में अरब शासन का पूर्णरूप से अन्त हो गया।

अरब शासन का अंत

सहायक ग्रंथ

१. सैय्यद सुलेमान नदवी—अरब और भारत के संबंध पृष्ठ १-२१, ३८-७९, १०२-१५२।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२. अहसानुल्लाह—हिस्ट्री आफ दी मुस्लिम वर्ल्ड—पृष्ठ १८-११०।
३. हिट्टी—हिस्ट्री आफ दी अरब्स, पृष्ठ १४-२९, ८७-१६८।
४. हेग-कैम्ब्रिज आफ इण्डिया—जिल्द ३, पृष्ठ १—१०।
५. इलियट और डासन—हिस्ट्री आफ इण्डिया भाग २, (नवीन संस्करण), भूमिका।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२

तुर्कों का आगमन

उमय्या वंशी खलीफाओं ने जब अपने मध्य एशियाई राज्य को अधिक-से-अधिक पूरब की ओर फैलाया तब उनका सम्पर्क तुर्क जाति से हो गया। तुर्क चीन की पश्चिमोत्तर सीमा पर निवास करते थे। उनका सांस्कृतिक स्तर निम्न

तुर्क और इस्लाम

श्रेणी का था परन्तु वे बड़े खूँखार लड़ाके थे। युद्ध से उन्हें स्वाभाविक प्रेम था। इस्लाम के प्रसार के बाद उनमें से अनेक लोग मुसलमान हो गए और अनेक व्यक्ति सैनिक बन्दी की दशा में गुलाम बनाकर बेच दिए गये। कुछेक बिना धर्म-परिवर्तन किये ही मुसलमान शासकों की सेवा में आ गये और अपने स्वाभाविक गुणों के कारण उनमें से अधिकांश सेना में भर्ती कर लिये गये।

इस्लाम के इतिहास में जिन जातियों ने विशेष प्रभाव डाला है उनमें एक जाति तुर्कों की भी थी। परन्तु उनका विशेष प्रभावकारी युग दशवीं शताब्दी से आरम्भ होता है। इस प्रभाव की पृष्ठ-भूमि को समझने के लिये खिलाफत के इतिहास की कुछ घटनाओं की ओर संकेत करना आवश्यक प्रतीत होता है। उमय्या वंशी खलीफाओं के काल में सम्पूर्ण मुस्लिम साम्राज्य का एकमात्र नेता खलीफा होता था। तो भी साम्राज्य-विस्तार, आवागमन के साधनों की कमी एवं जातीय तथा साम्प्रदायिक विभिन्नताओं के कारण भीतर-ही-भीतर भावी फूट के लक्षण प्रगट होने लगे थे। मिस्र में काहिरा तथा स्पेन में कार्डोवा खलीफा की राजधानी दमिश्क से होड़ करने लगे थे और वहाँ के हाकिम बहुत अंशों में स्वतंत्रतापूर्वक युद्ध तथा शान्ति की नीतियों का स्वेच्छापूर्वक पालन करने लगे थे। दूसरी ओर विजित जातियों, और विशेषकर ईरानियों, में मुसलमान होने पर भी समान अधिकार न पाने के कारण दिन-प्रतिदिन क्षोभ बढ़ रहा था और विद्रोह तथा षडयन्त्र की आग सुलगने लगी थी। शिया संप्रदाय के लोग अली और उनकी पत्नी फातिमा की संतति को ही खिलाफत का उपयुक्त उत्तराधिकारी समझते थे और उनको राज्य दिलाने के लिए सभी साधनों का उपयोग

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने के लिए आतुर थे। इस स्थिति से मुहम्मद साहब के चचा अब्बास के वंशजों ने बड़ी चातुरी के साथ लाभ उठाया और ईरानियों तथा शियाओं के सहयोग से उमय्या वंश का नाश करके स्वयं खलीफा का पद प्राप्त कर लिया। इस भांति अब्बासी खिलाफत (७५०-१२५८ ई०) की नींव पड़ी।

अब्बासी खलीफाओं ने दमिश्क के स्थान पर बगदाद को राजधानी बनाया। उन्होंने सभी मुसलमानों की सैद्धान्तिक समानता को स्वीकार करके अरबों के एकछत्र प्रभुत्व का अंत किया। परन्तु वे सम्पूर्ण. साम्राज्य पर अपना आधिपत्य बनाये रखने में विफल हुए। स्पेन और उत्तरी अफ्रीका ८०० ई० तक स्वतंत्र हो गये थे। दशवीं शताब्दी का आरम्भ होते-होते मिस्र तथा सिरिया भी स्वतंत्र हो गये और फारस में भी विद्रोह के लक्षण प्रगट होने लगे। दशवीं शताब्दी के बाद अब्बासी खलीफा केवल नामधारी शासक रह गये और उनका अधिकार राजधानी के बाहर कौन कहे, उसके भीतर भी अपने संरक्षकों की भक्ति पर निर्भर हो गया। इस काल में खिलाफत के पूरबी साम्राज्य में अनेक नए स्तंत्र राजवंश स्थापित हुए। उनमें से कई का भारतीय इतिहास तथा तुर्कों की उन्नति से घनिष्ठ संबंध है। इस अध्याय में उन्हीं का उल्लेख करना अभीष्ट है। इनमें प्रथम उल्लेखनीय वंश सामानी है जिसने ८७४ से ९९९ ई० तक खुरासान, आक्सस पार के देश तथा अफगानिस्तान के काफी भाग पर शासन किया।

सुबुक्तगीन

इस वंश में एक शासक अहमद हुआ। उसने अलप्तगीन नामक एक तुर्क दास को खरीदा। अहमद के वंशज अब्दुलमलिक के काल में अलप्तगीन का प्रभाव बहुत बढ़ गया और वह बल्ख का हाकिम नियुक्त हो गया। आगे चलकर इसी अलप्तगीन ने गजनी में एक स्वतंत्र तुर्की राज्य की स्थापना की। उसके दामाद और दास सुबुक्तगीन ने ९७७ ई० में गजनी पर अधिकार करके अलप्तगीन के वंश का अंत कर दिया। इसी सुबुक्तगीन के बेटे महमूद गजनवी ने भारतवर्ष पर अनेक हमले किये और तुर्कों को भारतवर्ष के निकट संपर्क में ला दिया।

तत्कालीन भारतीय स्थिति

तुर्कों के भारत में आने के समय यहाँ की राजनीतिक दशा अच्छी नहीं थी। देश कई छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्यों में विभक्त था। पश्चिमोत्तर सीमा पर स्थित राज्यों में तीन प्रमुख थे। काश्मीर से मुलतान तक और लमगान से सरहिंद तक फैले हुए राज्य का स्वामी ब्राह्मण राजवंश शाहिया था जिनके राज्य में काबुल, ओहिन्द, लाहौर, आदि नगर मुख्य थे। इनके दक्षिण मुलतान का राज्य था जिसमें शियाओं का प्रभुत्व था और उसके भी दक्षिण मंसूरा का राज्य था जिसमें अरब वंशी शासक था। इनके पूर्व दिल्ली में तोमरों का, कन्नौज तथा काशी में प्रतीहारों का, महोबा तथा कालिंजर में चंदेलों का, मालवा में परमारों का और गुजरात में चालुक्यों का राज्य था। इसी भांति देश के अन्य भागों में दूसरे छोटे-छोटे राज्य थे। इनमें से अधि-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कांश राज्यों के शासक राजपूत थे या राजपूत शासकीय तथा सैनिक आदर्शों से प्रभावित थे। शासन का स्वरूप प्रायः सामंतशाही राजतंत्र था। प्रायः सभी राज्य साम्राज्य-लिप्सा के वशीभूत होकर निरन्तर अपने पड़ोसियों से युद्ध करते रहते थे। इस कारण इन सभी राज्यों की नीति पर सैनिक आवश्यकताओं का भारी प्रभाव रहता था और लोकहितकारी कार्यों की अपेक्षाकृत उपेक्षा होती थी। धीरे-धीरे साधारण जनता राज्य के कार्यों की ओर से उदासीन होती जा रही थी और चूँकि उस समय के सैनिक आदर्शों के अनुसार, व्यापारियों, कृषकों तथा शान्तिमय नागरिकों को किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाना अनुचित और अमर्यादित समझा जाता था तथा सेना और शासन में राजपूतों का प्रायः एकाधिकार सा था, इस कारण साधारण जनता राजवंशों के उत्थान एवं पतन को स्वल्प महत्व की वस्तु समझती थी और वह केवल इस चिन्ता में रहती थी कि शीघ्रता से कर चुका देने के कारण राजपरिवर्तन होने पर उसे कहीं दोबारा कर न देना पड़े। शासकवर्ग भी स्वार्थ की दृष्टि से किसानों और व्यापारियों तथा कारीगरों को समृद्ध होने का अवसर देता था।

फल यह हुआ कि जहाँ एक ओर राजनैतिक पतन हुआ वहाँ धन-धान्य की प्रचुरता अथवा कला एवं साहित्य की उन्नति में कोई बाधा नहीं पड़ी। अतः इस काल में अनेक विशाल नगर बस गए जहाँ भव्य मंदिर थे और जिनमें न केवल देश की कलात्मक संपत्ति निहित थी वरन् जहाँ धर्म-भीरु व्यक्तियों की उदारता के कारण सुवर्ण तथा हीरे मोती का भी बड़ा भण्डार एकत्रित हो गया था।

धर्म की दृष्टि से यह काल बौद्धधर्म के पतन एवं पौराणिक हिन्दूधर्म के उत्थान का काल था। परन्तु बौद्ध पूरे तौर से नष्ट नहीं हुए थे और वे अपनी खोई हुई शक्ति पाने के इच्छुक थे। पौराणिक धर्म में अनेक संप्रदाय थे जो शिव, दुर्गा, सूर्य, गणेश, काली, विष्णु आदि की प्रधानता के आधार पर एक दूसरे से न्यूनाधिक ईर्ष्या अथवा द्वेष रखते थे।

समाज में ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों का सर्वाधिक सम्मान था और शूद्रों तथा चण्डालों की स्थिति पहले से खराब होती जा रही थी। छोटी जातियों में अनेक कुशल कारीगर थे जो नगरों में निवास करते थे अथवा नगरवासियों के निकट संपर्क में रहने के कारण अपनी स्थिति से अपेक्षाकृत अधिक असंतुष्ट थे और अपने जातिगत संगठनों को दृढ़ करके अपना सामाजिक सम्मान बढ़ाना चाहते थे।

संक्षेप में किसी शक्तिशाली कुशल सैनिक आक्रमणकारी के लिए भारत सुन्दर क्रीड़ास्थल बन रहा था। राजनीतिक फूट, सामंतशाही सैनिक संगठन, सामाजिक विशृंखलता तथा जनसाधारण की राजनीतिक उदासीनता उसका विजयकार्य सरल बनाने में योग देंगे और देश की समृद्धि उसके अनुयायियों का उत्साह-वर्धन करेगी। तुर्कों ने इसी सुवर्ण सुयोग से लाभ उठाया और कालान्तर में यहाँ अपना विस्तृत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साम्राज्य स्थापित कर लिया।

अलप्तगीन की मृत्यु के बाद गजनी में राजनीतिक स्थायित्व न रहा, वरन् कई राजपरिवर्तन हुए। इन अस्थायी शासकों में से एक का नाम पिरीतिगीन था।

तुर्कों के प्रारंभिक धावे

वह ठीक सुबुक्तगीन के पहले गजनी का शासक था। उसके काल (९७२-९७७ ई०) में पहले-पहल हिन्दुओं और तुर्कों में संघर्ष हुआ। पंजाब का राजा जयपाल तुर्कों के पूर्व की ओर प्रसार से अपने राज्य की पश्चिमोत्तर सीमा के लिए चिन्तित हुआ और उसने आक्रमण करके उनको पश्चिम की ओर ढकेलने की इच्छा की। उसी समय पिरीतिगीन के विरोधियों ने जयपाल से सहायता माँगी। जयपाल ने अपने पुत्र के साथ एक छोटी सेना भेजी परन्तु सुबुक्तगीन ने तुर्कों की फूट से हिन्दुओं को लाभ न उठाने देने की दृष्टि से एक तीसरे दल का तेजी से संगठन किया जो एक ओर पिरीतिगीन को हटाना चाहता था तथा दूसरी ओर हिन्दू राजा की शक्ति को रोकना चाहता था। इस तीसरे दल ने जयपाल की सेना को पराजित कर दिया और इस सफलता के उपलक्ष में सुबुक्तगीन को गद्दी पर बिठा दिया।

सुबुक्तगीन और जयपाल के युद्धों का वर्णन करते हुए उत्बी कहता है कि सुबुक्तगीन ने जयपाल के आक्रमण का बदला लेने के लिए उसके कुछ सीमान्त दुर्गों को लूटा और छीन लिया। सन् ९८६ ई० में जयपाल ने प्रतिशोध की भावना से आक्रमण किया। कई दिन तक भीषण संग्राम होता रहा जिसमें दोनों ही पक्ष के अनेक योद्धा वीरगति को प्राप्त हुए। परन्तु बाद में हिमवर्षा के कारण हिन्दू सेना को बहुत क्षति हुई और जयपाल ने संधि की इच्छा प्रगट की। सुलतान के पुत्र महमूद ने बिना निर्णयात्मक स्थिति पर पहुँचे संधि करने का विरोध किया परन्तु जब जयपाल ने कहा कि हम लोग मृत्यु के भय से संधि का प्रस्ताव नहीं कर रहे हैं और यह धमकी दी कि यदि आवश्यकता हुई तो मेरी सारी सेना मृत्यु का स्वागत करेगी परन्तु शत्रु को कुछ भी उपयोगी सामान न पाने देगी तब सुबुक्तगीन ने संधि कर ली और क्षति-पूर्ति के रूप में जयपाल ने उसे कुछ धन दिया। जयपाल और सुबुक्तगीन के बीच सीमान्त झगड़ों को लेकर कुछ और तनातनी चलती रही। अन्त में सन् ९९१ ई० में जयपाल ने कालिंजर, कन्नौज, और अजमेर के राजाओं की सहायता लेकर फिर सुबुक्तगीन पर आक्रमण किया परन्तु सुबुक्तगीन के कुशल सेनापतित्व के कारण विजयश्री उसी के हाथ लगी। सुबुक्तगीन ने अपनी सेना को पाँच-पाँच सौ अश्वारोहियों की टुकड़ियों में विभक्त कर दिया और उनको आदेश दिया कि वे पारी-पारी से शत्रु पर आक्रमण करें और फिर पीछे हटकर विश्राम करें। इस नीति का फल यह हुआ कि तुर्कों के आक्रमण बड़े वेग से होते रहे और हिन्दू सेना को तनिक भी सांस लेने का अवसर न मिला। दिन के अंत में सारी तुर्क सेना ने एक साथ थकी हुई हिन्दू सेना पर आक्रमण किया और उसे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पराजित कर दिया। इस विजय के कारण सुबुक्तगीन को पेशावर तक का भाग मिल गया और वहाँ १०,००० तुर्क सेना रहने लगी।

सुबुक्तगीन ने अपने दस वर्ष के शासनकाल में न केवल जयपाल की शक्ति को घटाकर खैबर के द्वार तक अपना अधिकार जमा लिया वरन् उसने सामानी शासक के प्रति राजभक्ति का व्यवहार करके उससे बल्ख तथा खुरासान भी प्राप्त कर लिया। इस कार्य में उसे अपने बेटे के शौर्य से भी बहुत सहायता मिली। जब सुबुक्तगीन की मृत्यु हुई तब उसका राज्य प्रायः सारे अफगानिस्तान, खुरासान, बल्ख तथा भारत की पश्चिमोत्तर सीमा तक फैल चुका था।

अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त महमूद ने गजनी पर अधिकार कर लिया और बड़ी सजधज के साथ ९९८ ई० में अपना राज्याभिषेक कराया। महमूद की माता जाबुलिस्तान के एक सर्दार की पुत्री थी। महमूद का जन्म ९७१ ई० में हुआ था और ७ वर्ष की आयु में ही वह गजनी का शासक बनाया गया। महमूद को इस्लामी ढंग की अच्छी शिक्षा मिली थी और वह कुरान, हदीस तथा शरई नियमों से भली भांति परिचित हो गया। उसने अपनी किशोरावस्था में ही अपने पिता की ओर से अनेक युद्ध किये थे जिनमें उसने अपने कुशल नेतृत्व तथा साहसिक कृत्यों से सभी की प्रशंसा प्राप्त की थी। ९९४ ई० से वह निशापुर में रहकर खुरासान की सेना का संचालन करता रहा।

महमूद गजनवी (९९८-१०३०ई०)

महमूद को प्रारंभिक वर्षों में अपने भाई इस्माईल के विरोध का सामना करना पड़ा। परन्तु उसने उसे युद्ध में पराजित करके भी उसका बध नहीं कराया और गृहयुद्ध के भयावह परिणामों से बचने के लिये उसने उसके साथ बराबर अच्छा व्यवहार किया। सन् ९९९ में उसके एक षड्यंत्र का पता चलने पर भी उसने केवल इतना ही किया कि उसे अपने श्वसुर की देखरेख में गजनी राज्य के बाहर रख दिया। इस उदारता के कारण उसकी प्रतिष्ठा और लोकप्रियता बढ़ गयी।

इसी बीच उसने सामानी सुलतान से बलपूर्वक खुरासान छीन लिया और खलीफा कादिर बिल्ला ने उसे उस तमाम साम्राज्य का स्वतंत्र शासक स्वीकार कर लिया जिस पर उसका अधिकार हो चुका था और उसे यमीनुद्दौला (साम्राज्य का दाहिना हाथ) तथा अमीनुल मिल्लत (मुसलमानों का संरक्षक) का खिताब दिया। उत्बी कहता है कि ऐसे विरुद् उसके पूर्व किसी सुल्तान को प्राप्त नहीं हुए थे। महमूद की इन सामरिक एवं कूटनीतिक सफलताओं ने उसकी महत्वाकांक्षा को और भी बढ़ा दिया और वह एक महान मुसलमान साम्राज्य बनाने का संकल्प दृढ़ करने लगा।

महमूद ने ३२ वर्ष शासन किया। अपने शौर्य, साहस सुन्दर सूझ-बूझ, नीतिनिपुणता तथा कुशल नेतृत्व के कारण उसने अपने अनेक विरोधी पड़ोसियों पर विजय प्राप्त की और उनके तथा अन्य निर्बल पड़ोसियों के राज्य को अधीनस्थ बनाकर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसने एक विशाल साम्राज्य स्थापित कर लिया। भारत के बाहर उसने खुरासान (९९९ ई०), सीस्तान (१००२ ई०), गरशिस्तान (१०१२ ई०), ख्वारिज्म (१०१७ ई०) और गोर (१०११-१०२० ई०) पर विजय प्राप्त की। उसे अनेक बार अपने पड़ोसियों के षड्यन्त्रों तथा अर्धविजित सूबों के विद्रोहों के कारण भीषण युद्ध करने पड़े परन्तु वह प्रायः उनमें सफल रहा। उसने अपना प्रभाव-क्षेत्र बढ़ाने में केवल तलवार का ही सहारा नहीं लिया वरन् कूटनीति, सामयिक उदारता, न्यायपूर्ण मध्यस्थता आदि से भी पर्याप्त लाभ उठाया।

महमूद के उद्देश्यों की समीक्षा

महमूद को इन विजयों में बहुत धन-जन का व्यय करना पड़ता था। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए उसने भारत पर आक्रमण करना उपयोगी समझा। कहते हैं कि ९९९ ई० में खलीफा से परम-सम्मानित विरुद् प्राप्त करने पर उसने प्रण किया था कि वह प्रति वर्ष भारत पर आक्रमण करेगा। कुछ लोगों ने इसे धार्मिक कट्टरता का परिचायक माना है परन्तु प्रोफेसर हबीब तथा नाजिम ने पुष्ट प्रमाण देकर इस धारणा को भ्रामक बताया है। महमूद का भारत पर आक्रमण करने का प्रधान कारण यह था कि उसे मध्य एशिया में विशाल साम्राज्य संगठित करने के लिये जो धन अपेक्षित था वह भारत में सहज ही उपलब्ध होना संभव था। कुशल सैनिक नेता होने के कारण महमूद ने यह भी समझ लिया था कि भारतीय हाथियों का ठीक उपयोग करने पर मध्य एशिया के विरोधी शासको को हराना सुगमतर होगा। वह एक सुदृढ़ हस्तिदल प्राप्त करने के लिए भी भारत पर आक्रमण करना चाहता था। परन्तु वह यथासंभव भारत में अपना सीधा शासन स्थापित करना नहीं चाहता था क्योंकि उसके हमलों का लक्ष्य राजधानियाँ और सुदृढ़ गढ़ों के स्थान पर समृद्ध नगर तथा सोने-चाँदी से परिपूर्ण मंदिर ही होते थे। वह गढ़ों पर आक्रमण तभी करता था जब यह अनिवार्य होता था। उसने प्रायः सारे उत्तरी भारत पर धावे किए परन्तु उसने इस प्रदेश पर अधिकार स्थापित करने की चेष्टा नहीं की। अधिक से अधिक वह कर लेने की ही माँग करता था। यद्यपि यह सच है कि उसने भारतीय आक्रमणों के समय 'जेहाद' का नारा लगाया और अपना नाम 'बुतकिशन' रखा परन्तु उसका वास्तविक उद्देश्य धर्म-प्रचार नहीं था। डा० नाजिम का मत है कि यद्यपि उसकी विजयों के पीछे-पीछे धर्म-प्रचारक भी गये और कुछ हिन्दुओं ने इस्लाम स्वीकार कर लिया परन्तु उसका उद्देश्य विजय और धन-प्राप्ति ही था। वह प्रोफेसर हबीब और महमूद के समकालीन अलबैरुनी के इस मत का समर्थन नहीं करते कि उसने अपनी धार्मिक क्रूरताओं के कारण इस्लाम को बहुत बदनाम कर दिया और हिन्दुओं के मन में उसके प्रति घृणा का भाव दृढ़ कर दिया। वह मंदिरों की लूट, मूर्तियों के खण्डन आदि को तत्कालीन युद्ध-प्रणाली का अंग बता कर उसे क्षम्य मानते हैं परन्तु अन्य लेखक महमूद के इस कार्य की भर्त्सना करते हैं और कहते

२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं कि उसने धन-प्राप्ति के लिए धर्म के नाम का अनुचित उपयोग किया। महमूद के कार्य का निष्पक्ष समीक्षण करने पर लगता है कि उसने जो कार्य धर्म की आड़ में किया वह निंदनीय है। महमूद के वास्तविक विचार चाहे जो रहे हों परन्तु उसके अधिकांश अनुयायी तथा मध्यकालीन मुस्लिम इतिहासकार उसके आक्रमणों को धर्म-युद्ध की संज्ञा देकर उसकी प्रशंसा करते थे। आगे आने वाले तुर्क विजेताओं ने मंदिर तोड़ने में महमूद का अनुकरण किया और इस भाँति निश्चय ही उन्होंने हिन्दू प्रजा का विरोध बढ़ा दिया। शायद अरबों की नीति का पालन करने से भारत में मुस्लिम साम्राज्य अधिक सफल होता और साम्प्रदायिक कटुता की इतनी वृद्धि न होती। सय्यद सुलेमान नदवी ने भी इसी मत का समर्थन किया है।

महमूद के आक्रमणों के कारण

यह पहले ही कहा जा चुका है कि महमूद के भारतीय हमलों का प्रधान कारण यहाँ के धन को प्राप्त करने की इच्छा थी। १००० ई० के बाद होने वाले सभी मध्य एशिया के युद्धों में महमूद ने हाथियों का प्रयोग किया। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अपनी रणवाहिनी के लिए हस्ति-दल प्राप्त करने की इच्छा भी आक्रमणों का कारण रही होगी। फिर तत्कालीन लोगों की विचारधारा को देखते हुए वह यह भी सोचता होगा कि इन युद्धों के कारण उसकी इस्लाम के प्रति निष्ठा प्रगट होगी और वह मुस्लिम जगत में सम्मान तथा श्रद्धा की दृष्टि से देखा जायगा। भारतीय शासकों की दुर्बलता का परिचय वह अपने पिता के काल में ही पा चुका था इसलिए उसे सफलता की काफी आशा थी। उसके आक्रमणों के पूर्व अनेक मुसलमान यात्री भारत-भ्रमण कर चुके थे। उनसे उसे आवश्यक भौगोलिक ज्ञान प्राप्त हो गया था जो उसे आक्रमण करने में सुविधाकर सिद्ध होगा। फिर उसकी सेना भारत के द्वार पेशावर पर पहले से ही डटी हुई थी और पश्चिमोत्तर सीमा के रक्षक राजा जयपाल के कई बार पराजित होने के कारण उसकी ओर से अधिक भय नहीं था। इस भांति भारत पर आक्रमण करना न केवल आर्थिक एवं सामरिक दृष्टि से उपयोगी था वरन् जेहाद का नारा लगा कर तथा भारतीय राजाओं की फूट एवं सैनिक कमजोरी से लाभ उठाकर विजय प्राप्त करना सुगम भी था। यही कारण है कि महमूद ने भारत पर १७ बार आक्रमण किये। उसकी प्रारम्भिक सफलताओं का फल यह हुआ कि अफगान तथा दूसरे धनलोलुप व्यक्ति सहर्ष उसकी सेना के साथ आने को तैयार हो जाते थे और इस भांति उसके सैनिकों की संख्या निरंतर बढ़ती जाती थी। इससे भी उसे हमला करने में सुविधा हुई।

महमूद ने उत्तर में काश्मीर से लेकर दक्षिण में कालिंजर तक और पूरब में कन्नौज से लेकर पश्चिम में सोमनाथ तक धावे किए। परन्तु भारत-भूमि पर उसे सबसे अधिक विरोध जयपाल तथा उसके उत्तराधिकारियों की ओर से ही मिला और दो बार उसे उनके कारण भारी संकटमय स्थिति में पड़ना पड़ा। इस वंश का प्रथम

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजा जिसका महमूद से युद्ध हुआ जयपाल था। महमूद ने १००० ई० में जयपाल के कुछ सीमान्त प्रदेशों को लूटा और जब जयपाल ने प्रत्याक्रमण की तैयारी की तो उसने अगले वर्ष १००१ ई० में पेशावर के समीप उसको रोकने की चेष्टा की। इस युद्ध में जयपाल के १२००० घुड़सवारों के विरुद्ध महमूद की सेना में १५००० घुड़सवार थे। इनके अतिरिक्त दोनों ही सेनाओं में क्रमशः दूसरे सैनिक भी थे जो न्यून कोटि के थे। महमूद ने अपने पिता की नीति का पालन करके अपनी सेना को कई टुकड़ियों में बाँट कर पारी-पारी से उनको आक्रमण करने के लिए भेजा। इससे एक बार फिर भीषण प्रतिरोध के बावजूद, जयपाल की पराजय हुई। जयपाल तथा उसके अनेक पुत्र-पौत्र बन्दी बना लिये गये और उसे भारी रकम देकर अपने देश वापस आने का अवसर मिला। जयपाल एक वीर और स्वाभिमानी शासक था। बार-बार की पराजय से उसको भारी आघात लगा और वह १००२ ई० में अपने पुत्र आनंदपाल को अपना उत्तराधिकारी बना कर अग्नि-चिता में जलकर मर गया। जयपाल के इस कार्य से उसके वंशजों पर यह प्रभाव पड़ा कि वे तुर्कों का मार्ग अवरोध करना तथा उनको अधिक-से-अधिक क्षति पहुँचाना अपना कर्त्तव्य समझने लगे। वे कभी भी महमूद के अधीन नहीं हो सकते थे क्योंकि उन्हें भय था कि उनकी इस कायरता से जयपाल के नाम पर बट्टा लगेगा।

महमूद के प्रमुख हमले (१) पंजाब के शाहियों के विरुद्ध (१०००-१०२१ ई०)

महमूद को आनंदपाल से भी दो बार युद्ध करना पड़ा। पहले १००६ ई० में जब उसने अपने राज्य में होकर मुलतान के विरुद्ध आक्रमण करने की अनुमति नहीं दी और १००९ ई० में जब, फरिश्ता के कथनानुसार, उसने उज्जैन, ग्वालियर, कालिंजर कन्नौज, दिल्ली और अजमेर के राजाओं की सहायता लेकर महमूद से ओहिन्द के निकट युद्ध किया। इस दूसरे युद्ध में महमूद की पराजय होने की बहुत आशंका थी परन्तु महमूद ने उपयुक्त समय पर अपने व्यक्तिगत अंगरक्षकों को जो उसकी सेना में सर्वोत्कृष्ट सैनिक थे, पीछे से घूमकर भारतीय सेना पर आक्रमण करने के लिए भेजा। इससे प्रगट होता है कि भारतीय सेनापति ने अपने पार्श्वों की रक्षा का समुचित प्रबन्ध नहीं किया था। फल यह हुआ कि भारतीय सेना का क्रम बिगड़ गया और तुर्कों ने इससे लाभ उठाकर अंतिम धावे में उनके पैर उखाड़ दिये और उनकी पराजय हो गई। महमूद ने नगरकोट तक पीछा किया और अतुल संपत्ति प्राप्त की। इसके कुछ ही समय बाद आनंदपाल ने नंदना को अपनी राजधानी बनाया परन्तु वह शीघ्र ही मर गया और त्रिलोचनपाल उसका उत्तराधिकारी हो गया।

महमूद ने त्रिलोचनपाल के विरुद्ध १०१३, १०१४, एवं १०१९ ई० में अभियान किये। महमूद का पहला प्रयत्न असफल रहा। दूसरी बार त्रिलोचनपाल ने काश्मीर के शासक की सहायता प्राप्त करके महमूद के लिए भयावह स्थिति पैदा कर दी। परन्तु

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महमूद के साहस तथा कुशलतर सैन्यसंचालन के कारण त्रिलोचनपाल की पराजय हुई और महमूद ने नंदना पर अधिकार करके वहाँ एक तुर्क शासक नियुक्त किया। त्रिलोचनपाल और पूरब की ओर हट गया और पड़ोसी छोटे राजाओं पर दबाव डालकर फिर शक्ति संगठित करने लगा। १०१८ ई० में कन्नौज के राजा के कायरतापूर्ण पलायन के बाद त्रिलोचनपाल ने गंड चंदेल के साथ संधि करके महमूद के भारतीय अधिकृत प्रदेशों पर फिर भारतीय अधिकार स्थापित करने की योजना बनाई। इस युद्ध में त्रिलोचनपाल तथा उसके मित्रराज्य की पराजय हुई और १०२१ ई० में उसकी मृत्यु के समय तक शाहिया राजवंश का प्रायः सारा राज्य महमूद के सीधे शासन में चला गया। उसकी मृत्यु के बाद निडर भीम ने अपने कुल की मर्यादा रखने के उद्योग में महमूद का विरोध जारी रखा परन्तु १०२६ ई० में उसकी मृत्यु होने पर शाहिया वंश का अन्त हो गया। महमूद भारत में राज्य स्थापित करने का अनिच्छुक था परन्तु शाहियों के लगातार विरोध ने उसके अन्य भारतीय आक्रमणों में ऐसी बाधाएँ डालीं कि उसे विवश होकर उनके राज्य पर अधिकार कर लेना पड़ा परन्तु यह कार्य २० वर्ष तक चलने वाले युद्ध के बाद ही संभव हो सका। इससे शाहिया शासकों की शूरता, धीरता तथा स्वातंत्र्य-प्रेम की भावना का परिचय मिलता है।

(२) मुलतान (१००६-१०१० ई०)

महमूद ने १००६ ई० में मुलतान के शासक दाऊद से असंतुष्ट होकर उस पर आक्रमण किया। इस आक्रमण के दो प्रधान कारण थे—(१) दाऊद का शियाधर्म का पोषक होना और (२) दाऊद द्वारा महमूद की सेना का मुलतान राज्य से निकलना पसन्द न करना। दाऊद को हरा तथा हटाकर महमूद ने सुखपाल को मुलतान का शासक नियुक्त किया। सुखपाल जयपाल की कन्या का पुत्र था और उसने बंदी अवस्था में शायद इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था। उसने अवसर पाते ही १००७ ई० में अपनी शुद्धि कराके इस्लाम धर्म त्याग दिया और विद्रोह कर दिया। इस कारण महमूद ने १००८ में उसको हरा कर उत्तरी पंजाब में खदेड़ दिया। महमूद को एक बार फिर १०१० ई० में दाऊद की शक्ति के अवशेष को समाप्त करने के लिए मुलतान पर आक्रमण करना पड़ा और उस समय उसने हजारों शियाओं का बध किया तथा सम्पूर्ण राज्य पर अपना अधिकार कर लिया।

भटिण्डा उस समय का एक प्रसिद्ध दुर्ग था और वहाँ का राजा बाजीराय बहुत वीर एवं साहसी था। महमूद ने भटिण्डा पर बिना अधिकार किये गंगा-यमुना

(३) भटिण्डा (१००५ ई०)

दोआब पर धावा करना आपदग्रस्त समझा। अस्तु उस समृद्ध प्रदेश को लूटने के पूर्व उसने भटिण्डा पर १००५ ई० में आक्रमण किया। राजा बाजीराय ने अपूर्व साहस के साथ खुले मैदान में महमूद से जमकर युद्ध किया। चौथे दिन पहले ऐसा प्रतीत हुआ कि विजयश्री

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाजीराय को मिलेगी। परन्तु जब महमूद ने अपने सैनिकों के धार्मिक जोश को उभाड़ कर अदम्य उत्साह के साथ निर्भीक आक्रामक युद्ध आरम्भ किया तब धीरे-धीरे पासा पलटने लगा और अन्त में महमूद विजयीं हुआ। बाजीराय ने किले की रक्षा का समुचित प्रबंध करके जंगलों में आश्रय लिया और वहाँ रहकर छापामार लड़ाई लड़ना चाही परन्तु महमूद ने उसे इसका अवसर ही नहीं दिया और एक ओर तो वह भटिण्डा का घेरा डाले रहा तथा दूसरी सैनिक टुकड़ी की सहायता से उसने बाजीराय का पता लगवाया। अन्त में बंदी पड़ने की स्थिति आने पर बाजीराय ने आत्महत्या कर ली। उसके बाद शीघ्र ही भटिण्डा के दुर्ग पर महमूद का अधिकार हो गया। सुलतान ने अपनी प्रारम्भिक असफलता का बदला निहत्थे नागरिकों का बध करके चुकाया अन्यथा उनको इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिये बाध्य किया। इन नव-मुस्लिमों को इस्लाम की शिक्षा देने के लिये उसने वहाँ कुछ मुल्लाओं को भी छोड़ दिया और उनकी उपासना की सुविधा के लिये मस्जिदें बनवा दीं। नगर के कोष तथा मंदिरों की लूट से सुलतान को बहुत संपत्ति हाथ लगी। साथ ही उसे एक हाथियों का दस्ता भी उपलब्ध हुआ।

महमूद का एक अन्य महत्वपूर्ण आक्रमण १००९ ई० में वर्तमान अलवर राज्य-स्थित नारायणपुर के राजा के विरुद्ध हुआ। इसका उद्देश्य भी अंतर्वेद की लूट का मार्ग प्रशस्त करना प्रतीत होता है। यहाँ के राजा ने महमूद से पराजित होकर उसकी अधीनता स्वीकार कर ली और इस मैत्रीपूर्ण संबंध का भारत और खुरासान के बीच होने वाले व्यापार पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा।

(४) नारायणपुर (१००९ ई०)

थानेश्वर में चक्रस्वामी का एक अत्यन्त प्रसिद्ध मंदिर था। महमूद उसे तोड़ने के इरादे से १०१४ ई० में पंजाब आ गया। सतलज के पूरबी किनारे से राजा राम ने उसका उग्र विरोध किया जिसमें यद्यपि अंत में वह विफल हुआ परन्तु महमूद की सेना के हताहतों की संख्या राम के हताहत सैनिकों से अधिक थी। जब महमूद थानेश्वर पहुँचा तो वहाँ का राजा भाग गया और महमूद ने मनमाने ढंग से नगर को लूटा तथा मूर्तियों और मंदिरों को ध्वस्त किया। इस आक्रमण में भी उसे एक विशाल धनराशि प्राप्त हुई।

(५) थानेश्वर (१०१४ ई०)

महमूद ने १०१८ ई० में अंतर्वेद पर धावा करने की ठानी। उसे पंजाब और मुलतान के मार्ग से आने में प्रायः बहुत विरोध सहना पड़ता था। अस्तु इस बार उसने अधिक उत्तरीय मार्ग का अवलम्बन किया और यमुना नदी को पहाड़ी क्षेत्र में पार करके बरन, महाबन गढ़ों को जीतता और लूटता हुआ वह मथुरा पहुँचा। वहाँ के मंदिरों की अनुपम कारीगरी को देख कर वह मन-ही-मन मुग्ध हो गया और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसने अपनी विजय के उपरान्त अनेक भारतीय कारीगर पकड़वा लिये ताकि वे गजनी में वैसी ही भव्य इमारतें बना सकें। महमूद ने प्रकटतः यह कहा कि उन मन्दिरों के निर्माता निश्चय ही शैतान रहे होंगे क्योंकि मनुष्य वैसी कारीगरी नहीं कर सकता। इसी बहाने उसने पहले उन मंदिरों में संचित सोना-चाँदी तथा रत्न-भण्डार पर अधिकार किया और फिर उनमें आग लगवा कर उन्हें भस्मीभूत करा दिया।

(६) कन्नौज और मथुरा (१०१८-१०१९ ई०)

इसके बाद वह कन्नौज पर चढ़ गया। वहाँ राज्यपाल प्रतीहार शासक था। वह बड़ा कायर और निकम्मा निकला और यद्यपि वह उत्तर भारत का सम्राट् समझा जाता था उसने अपने कथित अधीन शासकों के समान भी आत्मसम्मान का प्रदर्शन नहीं किया और वह बिना युद्ध किए ही भाग गया। महमूद ने जी भरकर नगर को लूटा और फिर मार्ग में अनेक स्थानों को लूटता-उजाड़ता हुआ १०१९ ई० में गजनी लौट गया। महमूद को इस आक्रमण में अत्यधिक संपत्ति तथा अनेक हाथी हस्तगत हुए।

महमूद के लौट जाने पर राज्यपाल के पड़ोसियों ने गण्ड चंदेल की अध्यक्षता में एक संघ बनाया और राज्यपाल को राजपूतों के नाम को कलंकित करने का दण्ड देने के लिये उसपर आक्रमण किया जिसमें वह मर गया। महमूद ने जब यह सुना तो वह गण्ड की राजधानी कालिंजर के विरुद्ध सेना लेकर चल पड़ा। चंदेल राजा ने अपने मित्रों तथा सामंतों की सेनाओं को आमंत्रित करके ऐसी विशाल रणवाहिनी एकत्रित कर ली कि महमूद उसे देख कर ही घबड़ा गया। उसने भय और आतंक के वशीभूत होकर अल्लाह से विजय के लिये प्रार्थना की। शायद उसकी प्रार्थना सुन ली गई क्योंकि न जाने क्यों रात में गण्ड ऐसा घबड़ा उठा कि वह बिना लड़े ही रातोरात भाग खड़ा हुआ। अनुमान होता है कि उसे अपने सहयोगियों की नेकनीयती और ईमानदारी में अविश्वास हो गया था जो कि उस समय की राजनीतिक 'ईर्ष्या-द्वेष की दशा' में असंभव नहीं था। महमूद ने उसे भगवान का अनुग्रह मानकर कृतज्ञता प्रकाशित की और फिर भारतीय सेना के पड़ाव को खूब लूटा तथा लूट का माल लेकर गजनी लौट गया।

(७) कालिञ्जर १०१९ ई० तथा १०२२-२३ ई०

महमूद के लौटने पर गण्ड फिर अपने राज्य पर शासन करने लगा। महमूद ने उसे पूर्णतः पराजित करने के उद्देश्य से १०२२ ई० में फिर आक्रमण किया और मार्ग में ग्वालियर के राजा को पराजित करता हुआ वह कालिंजर पर चढ़ गया। गण्ड ने घेरे से भयभीत होकर महमूद को ३०० हाथी तथा अन्य भेंटें देकर संतुष्ट किया और इस प्रकार उसने अपने राज्य को लूटमार से बचा लिया। महमूद गजनी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लौट गया।

महमूद का सबसे अधिक प्रसिद्ध आक्रमण १०२५-१०२६ ई० में सोमनाथ के मंदिर पर हुआ। यह सुविख्यात शैवमंदिर प्रभासक्षेत्र, गुजरात में समुद्रतट पर स्थित था और इसकी महिमा भारतवर्ष भर में व्याप्त थी। इसकी महिमा के अनुपात में ही इसमें अतुल रत्न एवं सुवर्णराशि एकत्रित हो गई थी। महमूद ने इस मंदिर को ध्वस्त करने के अभिप्राय से १०२५ ई० में प्रस्थान किया। वह मुलतान और सिंध राजपूताना के मरुस्थल के मार्ग से गुजरात की ओर गया और मार्ग के छिटपुट विरोध का दमन करता हुआ सोमनाथ गढ़ के समीप पहुँच गया। कई दिनों के घेरे के उपरान्त महमूद का गढ़ में प्रवेश हो गया और उसने ५०००० से अधिक ब्राह्मणों तथा अन्य हिन्दुओं का वध किया। मंदिर भ्रष्ट और भस्मीभूत करा दिया गया तथा मूर्ति तोड़ दी गई। महमूद की इस सफलता के प्रमुखतः तीन कारण थे। सोमनाथ के महंत की गद्दी के विषय में जो झगड़े होते थे उनके कारण कुछ भेदियों ने महमूद की सहायता की। अनेक हिन्दू राजाओं का विश्वास था कि महमूद उतनी दूर तक नहीं पहुँच सकेगा और यदि पहुँचा भी तो वह उसे जीत न सकेगा। तीसरे, महमूद सतर्कता से सैन्य-संचालन कर रहा था। परन्तु जब वह लूट का माल लेकर लौट रहा था तब धार के राजा भोज ने उसका मार्ग रोककर उसे दण्ड देने की योजना बनाई। महमूद को जब यह सूचना मिली तो वह कच्छ की खाड़ी के उथले पानी को मँझाकर उस पार चला गया और राजा भोज दूसरे मार्ग पर ही पड़ा राह देखता रह गया। महमूद को इस लौटती यात्रा में अनेक कष्ट हुए। उसका बहुत-सा सामान जाटों ने लूट लिया, बहुत-से सैनिक तथा घोड़े-ऊँट मर गये और सुलतान स्वयं थक गया। परन्तु गजनी पहुँच जाने पर जब उसने इस विजय का समाचार अन्य मुस्लिम प्रदेशों में भिजवाया तो उसकी बड़ी प्रशंसा हुई।

(८) सोमनाथ (१०२५-१०२६)

महमूद का अंतिम आक्रमण १०२७ ई० में जाटों के विरुद्ध प्रतिशोध की भावना से हुआ। महमूद ने उनकी बस्तियाँ जला दीं, जिसे पाया उसे कत्ल कर दिया और अनेक स्त्रियों तथा बच्चों को दास बना लिया।

(९) जाटों के विरुद्ध (१०२७ ई०)

महमूद ने २७ वर्ष के काल में भारत पर १७ आक्रमण किये। इस भांति वह भारत पर प्रतिवर्ष आक्रमण करने को अक्षरशः पूरा नहीं कर सका क्योंकि कभी-कभी मध्य एशिया के युद्धों के कारण उसे उसी ओर फँसा रह जाना पड़ता था। प्रत्येक भारतीय आक्रमण के फलस्वरूप महमूद को धन प्राप्ति होती थी परन्तु जयपाल की पराजय के बाद, नगर-कोट, मथुरा, कन्नौज तथा सोमनाथ में उसे जो धन तथा रत्नराशि

आक्रमणों की सामूहिक विवेचना

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिली वह अन्य स्थानों से प्राप्त धन से विशालतर थी। भारत में दो-तीन बार महमूद को विजय के संबंध में भीषण आशंका उत्पन्न हुई थी, जैसे आनंदपाल के विरुद्ध १००८-१००९ ई० में, भटिण्डा के राजा बाजीराय के विरुद्ध १००५ ई० में, गण्ड के विरुद्ध १०१९ ई० में और १०२६ ई० में तो उसने भोज परमार की रणवाहिनी का सामना करने का ही साहस नहीं किया। फिर भी यह सच है कि वह प्रत्येक संकट की अवस्था को अपने साहस, कुशल सेनापतित्व अथवा आत्मविश्वास के कारण पार कर सका और विजय सदा उसी की हुई। भारतीय शासकों में सबसे प्रशंसनीय कार्य जयपाल, आनंदपाल, भीमपाल, बाजीराय तथा भोज परमार ने किया। परन्तु कुछ लोगों ने जैसे कि कन्नौज के राज्यपाल तथा अन्हिलवाड़ा के भीम ने महमूद का सामना करने का ही साहस नहीं किया और अपनी जान बचाकर भाग निकले। कुछ शासकों ने पहले विरोध किया और बाद में जब उनको महमूद की श्रेष्ठतर शक्ति का अनुमान लग गया तब उन्होंने उससे विनम्रतापूर्वक संधि कर ली और वार्षिक भेंट देने का भी वादा कर लिया। नारायणपुर के राजा ने भी ऐसा ही किया। गण्ड चंदेल ने पहले विरोध किया परन्तु बाद में चाटुकारी करने के हेतु महमूद को एक प्रशस्ति लिख भेजी जिससे प्रसन्न होकर महमूद ने उसे फिर तंग नहीं कियां। सब बातों को देखते हुए यह कहना पड़ेगा कि महमूद को भारत की फूट के बावजूद काफी उग्र प्रतिरोध का सामना करना पड़ा और उसकी सफलताओं का कारण भारतीय सैनिकों की कायरता नहीं थी। महमूद के व्यक्तिगत गुण उसे महान् विजेताओं और सेनानायकों में सम्मानित स्थान प्राप्त कराने के उपयुक्त थे। उसका साहस, उसका शौर्य, उसकी निर्भीकता, उसका आत्मविश्वास, मनुष्यें की परख, शत्रु की स्थिति का अध्ययन करके तदनुकूल रणनीति में परिवर्तन एवं अपने अनुयायियों का पूर्ण विश्वास प्राप्त करने की क्षमता आदि ऐसे गुण हैं जिनसे उसकी सामरिक सफलता सुगम हो गई। महमूद ने धार्मिक जोश और आर्थिक लाभ को मिला-जुलाकर सैनिकों में ऐसा उत्साह भर रखा था कि वह उसकी विजय के लिए सब कुछ करने को उद्यत हो जाते थे। महमूद आवश्यकता पड़ने पर अपने व्यक्तिगत निर्भीक कार्यों द्वारा अपने सैनिकों को पुनरुत्साहित करने की भी ष्टा करता था। परन्तु सामान्यतः वह केवल सैन्य-संचालन करता था और शत्रु की कमजोरियों से लाभ उठाने की ताक में रहता था। वह प्रत्येक युद्ध में कुछ-न-कुछ सेना अंतिम निर्णायक प्रहार के लिये अलग रखता था और इस कोतल सेना के कारण उसने कई बार पराजय को विजय में परिणत कर दिया। १००९ ई० में उसने आनंदपाल के विरुद्ध जिस आक्रमण-नीति को अपनाया वह मुगलों की तुलगमा नीति के समान प्रतीत होती है। उसके तीरंदाज भारतीयों की अपेक्षा अधिक कुशल थे और उसकी सेना में कुछ ऐसे नए अस्त्र भी रहते थे जिनके मुकाबले का अस्त्र यहाँ के राजाओं के पास नहीं था। महमूद के घुड़सवार भी अधिक दृढ़ एवं परिश्रमी थे और उसके

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सैनिक गुप्तचर बहुत ही दक्ष थे। इसी कारण उसे कोई राजपूत राजा कभी धोखा देकर संकट में नहीं फँसा सका। महमूद को सैनिकों की भी कमी नहीं पड़ती थी क्योंकि लोगों में यह विश्वास हो गया था कि विजय सुलतान की ही होगी और विजय होने पर भारत की प्रचुर संपत्ति की लूट में उनको हिस्सा मिलेगा। इन्हीं सब कारणों से महमूद को इतनी सफलता मिली।

भारत में तुर्कों का शासन स्थापित करना महमूद का उद्देश्य नहीं था। वह केवल मूर्तिनाशन की ख्याति और नगरों में एकत्रित संपत्ति चाहता था। मूर्तिनाशन के कारण उसे ख्याति ही मिली हो सो बात नहीं है। अनेक समकालीन तथा उत्तरकालीन मुसलमानों ने भी इसे निंदनीय बताया है। परन्तु धन-प्राप्ति तो उसे खूब हुई। इस धन से उसने अपने मध्यएशियाई साम्राज्य की रक्षा एवं वृद्धि के हेतु एक विशाल सेना रखी। भारतीय धन के अभाव में महमूद के लिए निरन्तर युद्ध-रत रह सकना संभव न होता। महमूद ने इसी धन का उपयोग विद्वानों को आश्रयदान और गजनी-राज्य को सुन्दर-इमारतों से अलंकृत करने में किया। साथ ही वह अपने उत्तराधिकारियों के लिए भी प्रचुर संपति छोड़ गया। भारत से उसे हस्ति सेना तथा कुशल महावत भी प्राप्त हुए जिनसे उसने मध्यएशिया के युद्धों में खूब लाभ उठाया। भारत से ही वह अनेक कारीगर ले गया जिन्होंने अपनी कला-कृतियों द्वारा महमूद के नाम को तत्कालीन मुस्लिम जगत् में बहुत प्रतिष्ठित बना दिया और मध्यएशिया को भारत की सांस्कृतिक देन से उपकृत किया।

आक्रमणों का प्रभाव

महमूद ने पंजाब और मुलतान पर स्थायी अधिकार कर लिया जहाँ से न केवल उसे तथा उसके उत्तराधिकारियों को एक प्रचुर धनराशि कर के रूप में प्राप्त होती थी वरन् जहाँ विपत्तिकाल में उन्हें आश्रय भी मिला। इस भांति महमूद को तथा उसके वंशजों को भारतीय आक्रमणों से अनेक लाभ हुए।

भारतीयों की इस आक्रमण से बहुत क्षति हुई। पंजाब का सीमांत प्रदेश तुर्कों के हाथ में चला गया और इस प्रकार प्रायः सम्पूर्ण सिन्धु-घाटी विदेशियों के अधिकार में चली गई जिसके कारण भावी विजेताओं का कार्य सुगम हो गया। पंजाब से अनेक धर्मप्रचारक, व्यापारी, विद्यार्थी तथा यात्री भारत के भीतरी भाग में फैलने लगे। और उनमें से कुछ लोग-स्थान-स्थान पर बस गए तथा भारतीयों की धार्मिक उदारता एवं अपनी करामातों के बल पर उन्होंने कुछ व्यक्तियों को मुसलमान बना लिया। मुहम्मद गोरी के आक्रमणों के समय इन मुस्लिम संतों तथा बस्तियों से तुर्कों को बहुत लाभ हुआ। महमूद के हमलों ने भारतीय राजपरिवारों में से कुछ का अंत कर दिया और कुछेक को इस बुरी तरह झकझोर दिया कि वे अधिक दिन तक पनप न सके और राज्यों की सीमा तथा शक्ति में काफी परिवर्तन हो गया। परन्तु भारतीय राज्यों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की फूट अथवा आन्तरिक शासन-प्रणाली पर तुर्क की विजयों का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। जो सैनिक अथवा प्रशासकीय दोष थे वे मुहम्मद गोरी के समय में भी बने रहे। भारतीय राजाओं में कुछेक ने तुर्कों और अफगानों को अपनी सेना में भले ही स्थान देना आरम्भ कर दिया हो परन्तु उन्होंने तुर्कों की सफलता के कारणों को समझने और भविष्य में उनका प्रतिकार करने की कोई व्यापक योजना नहीं बनाई।

भारत की अतुल संपत्ति बाहर चली गयी, अनेक उच्चकोटि के कारीगर विजेता के वंदी दास बनकर सदा के लिए चले गए और महमूद के मार्ग में पड़ने वाले सभी मंदिर ध्वस्त हो गये और उन्हीं के साथ भारतीय कला के उत्कृष्ट नमूने सदा के लिये खो गये। हिन्दुओं के ऊपर तुर्कों का आतंक छा गया और उन्होंने महमूद के उत्तराधिकारियों के निर्बल होने पर भी उनको पंजाब से खदेड़ने का प्रयास नहीं किया। इस युग में किसी चाणक्य अथवा चन्द्रगुप्त मौर्य को जन्म देने की जैसे क्षमता ही नहीं रह गई थी। अस्तु पंजाब बराबर मुस्लिम शासन में रहा और भावी भारतीय तुर्क साम्राज्य के निर्माण में प्रथम सोपान बना।

महमूद के कार्यों से तुर्कों, अफगानों तथा अन्य मुसलमानों को कई प्रकार से लाभ हुआ परन्तु इस्लाम को कोई लाभ हुआ यह निर्विवाद नहीं है। यदि केवल मुसलमान शासक के साम्राज्य-विस्तार को ही इस्लाम की श्रीवृद्धि समझा जाय तो महमूद के कार्य से इस्लाम को निश्चय लाभ हुआ। यदि बलात् मुसलमान बनाने और अन्य धर्मावलंबियों के उपासनागृहों का विनाश इस्लाम के लिए प्रतिष्ठा-मूलक हो तो महमूद ने निःसंदेह उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाई। परन्तु यदि धर्म के नाम में की गयी बर्बरताओं से उस धर्म के प्रति घृणा का उत्पन्न होना उस धर्म के लिए अहितकर समझा जाय तो महमूद ने जैसा कि प्रोफेसर हबीब ने कहा है, इस्लाम की मर्यादा को बहुत आघात पहुँचाया। महमूद के धार्मिकता के दिखावे का स्वरूप प्रवल विजेता के लिए इतना सुगम और आर्थिक दृष्टि से ऐसा हितकर था कि उसके बाद वाले मुसलमान शासकों ने भी उसका अनुकरण किया और इस भांति इस्लाम के प्रति घृणा का भाव दृढ़तर होता गया। इस घृणा के स्थायी भाव को अकबर अथवा जैनुल आबिदीन ऐसे उदार शासक अधिक घटा नहीं सके। फलतः हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच में जो साम्प्रदायिक विद्वेष की दरार पड़ गयी उसके लिये बहुत कुछ महमूद की नीति ही उत्तरदायी है। इसी कारण यह भी कहा गया है कि उसने भारत की अशोधनीय क्षति की।

सहायक ग्रंथ

१. नाजिम—सुलतान महमूद, (१९३१)।
२. हबीब—सुलतान महमूद आफ गजनी—द्वितीय संस्करण।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३. इलियट और डासन—हिस्ट्री आफ इण्डिया—भाग, २,पृ० १-५२, ४०१-४८४।

४. हेग—कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया—भाग ३, अध्याय २।

५. मुहम्मद अजीज अहमद—अर्ली टर्किश एम्पायर आफ डेल्ही।—पृष्ठ १-५३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३

तुर्क साम्राज्य की स्थापना

महमूद का साम्राज्य प्रधानतः सुलतान की सैनिक शक्ति पर आश्रित था। उसके विभिन्न भागों में निवास करने वाली जातियों का व्यक्तिगत संगठन न तो टूटा ही था और न उनको ग़ज़नी साम्राज्य के प्रति पूर्णतः राज-भक्त ही बनाया जा सका था। वास्तव में उन सबकी अधीनता-स्वीकृति का कारण उनकी तत्कालीन सैनिक दुर्बलता थी। यह सभी जातियाँ—सेलजुक तुर्क, ग़ज़्ज़ तुर्कमान, ग़ोर के सूरी, अफ-गान कबीले आदि—समय पाते ही स्वतंत्र होने और अपने जातीय नेताओं की अध्यक्षता में साम्राज्य-स्थापन की आकांक्षा रखती थीं। अस्तु महमूद गजनवी के साम्राज्य का विघटन एक अपरिहार्य ऐतिहासिक बात थी। महमूद के उत्तराधिकारी उसी के समान प्रबल सैनिक नेता होते तो भी साम्राज्य की रक्षा कर सकना दुष्कर कार्य होता। परन्तु उनमें न तो वैसा प्रखर पराक्रम ही था और न उनमें आन्तरिक सहयोग एवं ऐक्य था। प्रत्येक सुलतान के मरने पर गृह-युद्ध होता था जिसके कारण अधीन सर्दारों एवं अर्द्धस्वतंत्र जातियों को स्वतंत्र होने की सुविधा मिल जाती थी। अस्तु महमूद गजनवी का साम्राज्य उसकी मृत्यु के दस वर्ष के बाद ही टूटने लगा। पहले इससे सेलजुक तुर्कों ने लाभ उठाया और उन्होंने खुरासान पर अधिकार करके एक विशाल साम्राज्य की स्थापना कर ली। कुछ समय बाद ग़ोर और ख्वारिज़्म के नए साम्राज्य बनने लगे और सेलजुकों की शक्ति का अंत हो गया। महमूद के उत्तराधिकारी जब-जब अपने मध्यएशियाई विरोधियों का सामना करने में असमर्थ होते तब वे पंजाब भाग आते और फिर सुविधा पाकर ग़ज़नी लौट जाते परन्तु महमूद की मृत्यु के प्रायः १२५ वर्ष बाद वे पंजाब के अतिरिक्त अपना सभी साम्राज्य खोकर स्थायी रूप से यहीं रहने लगे और लाहौर उनकी राजधानी बन गया।

ग़ोर साम्राज्य का उत्कर्ष

ग़ोर एक छोटा पहाड़ी राज्य था जो महमूद के अधीन था। धीरे-धीरे यहाँ के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्दारों की शक्ति बढ़ने लगी। उनके नाम के अंत में सूरी शब्द लगा होने के कारण कुछ लोगों ने उनको अफ़ग़ान कहा है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वे पारसी थे न कि अफ़ग़ान यद्यपि अफ़ग़ानों पर शासन करने के कारण उनको अफ़ग़ान समझने की भूल हुई है। ग़ोर में जो वंश प्रधान था उसका नाम है 'शंसवानी'। मुईजुद्दीन मुहम्मद बिन साम इसी वंश में हुआ था। उसके पूर्व पुरुषों में प्रथम प्रधान व्यक्ति सैफ़ुद्दीन था जिसने कुछ समय के लिये गजनी पर अधिकार कर लिया था। परन्तु यह अधिकार स्थायी न हो सका। सैफ़ुद्दीन की पराजय और हत्या के बाद उसके भाई जलालुद्दीन हसन ने गजनी पर अधिकार करके उसे खूब लूटा और फिर सात दिन तक उसे जलाकर नष्ट करके वापस गया। अलाउद्दीन ने महमूद तथा उसके उत्तराधिकारियों द्वारा निर्मित प्राय: सभी सुन्दर इमारतें नष्ट कर दीं और इस प्रकार उसने ग़ज़नी की समृद्धि तथा प्रतिष्ठा को बड़ी क्षति पहुँचाई। सैफ़ुद्दीन के ग़ज़नी पर अधिकार करने के प्राय: २० वर्ष बाद उसके भतीजे ग़यासुद्दीन मुहम्मद ने सन् ११७३ ई० में स्थायी रूप से ग़ज़नी पर अधिकार कर लिया और अपने छोटे भाई शहाबुद्दीन को वहाँ का शासक नियुक्त किया। इस समय से प्राय: ३० वर्ष तक ग़ोर साम्राज्य की अफ़ग़ानिस्तान में प्रधानता रही। इसी काल में शहाबुद्दीन ने, जो बाद में मुईजुद्दीन के नाम से विख्यात हुआ, भारत पर आक्रमण करके एक साम्राज्य की स्थापना की जो उसके तुर्क दासों की अध्यक्षता में सुदृढ़ तथा स्थायी हो गया।

शहाबुद्दीन के उद्देश्य

शहाबुद्दीन अपने वंश का गौरव बढ़ाने के लिए बहुत व्यग्र था। वह अपने बड़े भाई गयासुद्दीन का स्नेहभाजन एवं विश्वासपात्र था। शहाबुद्दीन भी अपने भाई के प्रति श्रद्धा, आदर एवं भक्ति का भाव रखता था और उसने न तो कभी अपने भाई का विरोध किया और न उसके हितों की उपेक्षा की। गयासुद्दीन के शासनकाल में ग़ोर साम्राज्य का प्रबलतम शत्रु ख्वारिज्म का शासक था। शहाबुद्दीन यह भी समझता था कि लाहौर के गजनवी सुलतान गोरी शासकों के संकट के समय उन पर हमला करके फिर से ग़ज़नी लेने की चेष्टा करेंगे। इसी भांति मुलतान के इस्माइलिया शियाओं से भी विरोध की ही आशा की जा सकती थी। अस्तु ग़ोर साम्राज्य की रक्षा के लिए मुलतान और पंजाब पर अधिकार करना वांछनीय ही नहीं वरन एक अनिवार्य आवश्यकता थी। इस आवश्यकता की पूर्ति करना शहाबुद्दीन के भारतीय आक्रमणों का प्रथम कारण था। दूसरे, शहाबुद्दीन भारत में मुस्लिम साम्राज्य स्थापित करना चाहता था। वह जानता था कि अरबों और तुर्कों ने उस समय तक जितना उद्योग किया था वह भारत पर मुस्लिम सत्ता स्थापित करने के लिये अपर्याप्त था। शहाबुद्दीन इस कमी को पूरा करने का इच्छुक था और भारतवर्ष को स्थायी मुस्लिम साम्राज्य के अन्तर्गत लाना चाहता था। इसके द्वारा वह इतिहास में अपना नाम अमर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर जाना चाहता था। साथ ही वह यह भी जानता था कि भारतीयों पर विजय प्राप्त करने में वह मुसलमानों के धार्मिक जोश का लाभ उठा सकेगा तथा बहुत से लोगों की दृष्टि में पुण्य का भागी होगा। भारत से प्राप्त धन तथा सामरिक साधन उसे अपने वंश के शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने में भी सहायक होंगे। इन्हीं सब उद्देश्यों से शहाबुद्दीन ने भारत पर आक्रमण करने की एक सुव्यवस्थित योजना बनाई।

शहाबुद्दीन का प्रथम आक्रमण ११७५ ई० में हुआ और सन् १२०५ ई० तक वह बराबर साम्राज्य-विस्तार अथवा पूर्व-विजित राज्य की रक्षा के लिए भारत पर चढ़ाई करता रहा। उसके कार्य का ठीक मूल्यांकन करने के लिये तत्कालीन भारतीय स्थिति पर संक्षेप में विचार करना आवश्यक है। अब गुर्जर प्रतीहारों के प्रभुत्व का नाश हो चुका था और भारत में वास्तविक अथवा नामधारी कोई सार्वभौम सम्राट् नहीं था। भारत का प्रवेशद्वार सिंधु नदी की घाटी है। उसमें उस समय दो मुसलमान राज्य थे। उत्तर में पंजाब पर ग़ज़नवी शासक राज्य कर रहे थे और उनकी राजधानी लाहौर थी। सिंधु-घाटी के दक्षिणी भाग का प्रधान नगर मुलतान था और वहाँ इस्माइलिया शियाओं का शासन था। इन प्रान्तों की विजय में किसी मुसलमान शासक को अधिक कष्ट होने की आशंका नहीं थी क्योंकि न केवल उनके साधन सीमित थे वरन् उनके पीछे जनता के हार्दिक सहयोग का भी अभाव था। इस प्रदेश की जनता के लिए किसी मुसलमान विजेता की सफलता एक मुसलमान राजवंश के स्थान पर दूसरे की स्थापना थी। इससे उनकी स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन की आशंका नहीं थी। अस्तु, उनकी प्रतिक्रिया प्रधानतः उदासीनता की ही रहेगी। इन राज्यों के पूरब और दक्षिण की ओर अनेक छोटे-छोटे राजपूत राज्य थे। इनमें से चार राजवंश उत्तर भारत में विशेष शक्ति-संपन्न थे।

शहाबुद्दीन के आक्रमण के समय भारत की दशा

दिल्ली और अजमेर के स्वामी चौहान-वंशी राजपूत थे। शहाबुद्दीन का समकालीन पृथ्वीराज (राय पिथौरा) बड़ा पराक्रमी शासक था और उसने अपने पड़ोसी राज्यों के विरुद्ध युद्ध करके काफी यश प्राप्त किया था। उसका राज्य पंजाब के गजनवियों का निकटतम पड़ोसी था और उसे ग़ज़नवी आक्रमणकारियों के विरोध की विशेष व्यवस्था करनी पड़ी थी। हांसी, पाकपट्टन और भटिण्डा इस राज्य के सीमान्त दुर्ग थे और वहाँ के दुर्गरक्षकों का प्रधान कर्तव्य तुर्कों के अभियान को विफल करना था। पृथ्वीराज ने चंदेलों की शक्ति को बहुत घटा दिया था और सन् ११८१ के ललितपुर के शिलालेख के अनुसार उसने महोबे पर अधिकार कर लिया था। पृथ्वीराज की विजयों का जो वर्णन पृथ्वीराज रासो में मिलता है वह पूर्णतः विश्वसनीय नहीं है फिर भी यह प्रतीत होता है कि पृथ्वीराज ने अपने पड़ोसियों पर अपने शौर्य और साहस का सिक्का जमा लिया था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
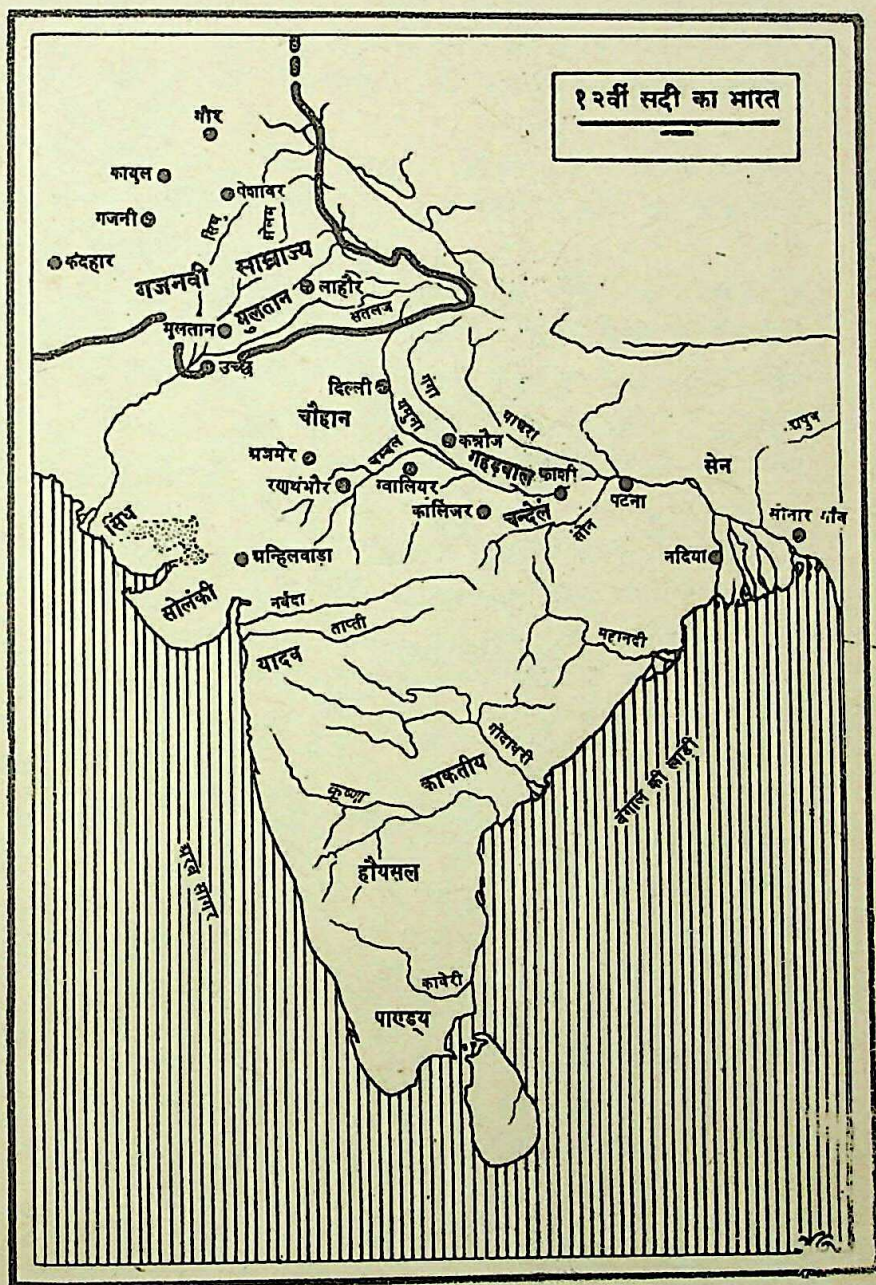
चौहानों के राज्य के पूरब की ओर राठौर गहड़वालों का राज्य था। उस समय वहाँ जयचंद्र शासन कर रहा था। उसकी राजधानी कन्नौज थी। जयचंद्र ने प्रतीहारों के काल की महत्ता को प्राप्त करने की चेष्टा की परन्तु इसमें वह विशेष सफल नहीं हुआ। उसमें और पृथ्वीराज में व्यक्तिगत तथा राजनीतिक कारणों के फलस्वरूप उग्र प्रतिद्वंदिता थी।

गड़हवालों के राज्य के पूरब की ओर अन्य शक्तिशाली राज्य सेनवंशीय शासकों का था। इस वंश की शक्ति गिर रही थी फिर भी तत्कालीन शासक लक्ष्मणसेन भारत के प्रमुख शासकों में गिना जाता था।

मालवा और बुन्देलखण्ड में परमारों, चंदेलों तथा चौहानों की शाखाओं के राज्य थे परन्तु उनमें से कोई अधिक बलवान नहीं था। वे अपने किसी-न-किसी पड़ोसी के आक्रमणों के राजनैतिक दबाव से त्रस्त तथा आक्रांत रहते थे और उनकी शक्ति बराबर घटती जा रही थी। गुजरात में सोलंकियों का प्रबल शासन था। उन्होंने पश्चिमी राजपूताना तथा मध्यभारत पर अपना प्रभाव जमा लिया था और उनकी राजधानी अन्हिलवाड़ा एक विशाल नगरी थी।

उत्तर भारत के चार बड़ों—सोलंकियों, चौहानों, गहड़ वालों और सेनों—में पारस्परिक सद्भावना नहीं थी। प्रत्येक केवल अपने साम्राज्य और प्रभाव-क्षेत्र को बढ़ाने में ही लगा था और तुर्कों के आक्रमणों के बावजूद उनको जन्मभूमि की रक्षा के लिए इस आपसी कलह को बन्द करने की सुबुद्धि नहीं आई। इन राज्यों का आन्तरिक शासन पहले जैसा ही रहा। भारत की फूट इतनी गहराई तक व्याप्त थी और राजपूतों का जातिगत अहंकार इतना बढ़ा हुआ था कि वह समझौता करके म्लेच्छ तुर्कों को भारत से बाहर निकालकर सीमा की सुरक्षा का कोई स्थायी प्रबन्ध करने में सर्वथा अक्षम थे। महमूद के आक्रमण के बाद तुर्क पंजाब और सिंध से ही संतुष्ट होकर चुप बैठे होते तो भी राजपूतों की सीमा संबंधी उपेक्षा कुछ हद तक क्षम्य हो सकती थी। परन्तु वस्तुस्थिति यह थी कि तुर्क बराबर पूरब की ओर धावे करते थे। यह ठीक है कि उनको इन धावों में अधिक सफलता नहीं मिली थी परन्तु कोई भी दूरदर्शी शासक यह सोच सकता था कि पतनोन्मुख ग़ज़नवी सम्राट् भले ही सफल आक्रमण करने में समर्थ न रहते हों किन्तु यदि पंजाब पर किसी योग्य सैनिक नेता का अधिकार होगया तो वह हमारे राज्य की सुरक्षा के लिए संकट उत्पन्न कर सकेगा। यदि राजपूत शासकों को यह बुद्धि आई होती तो वे तुर्कों की आन्तरिक स्थिति को ठीक-ठीक समझते रहने के लिये या तो उनसे दूत-संबंध स्थापित करते अथवा उनके राज्य में अपने गुप्तचर भेजते रहते। राजपूतों ने इनमें से एक भी काम नहीं किया। जब कभी तुर्कों ने धावा किया और वे उसको विफल कर सके तो उन्होंने केवल एक शिलालेख खुदवाकर तुरुष्कों को खदेड़ देने का उल्लेख करके अपने कर्तव्य की इति समझ ली। राजपूतों के शासकीय

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोषों में वैदेशिक विभाग के समुचित संगठन का अभाव काफी घातक सिद्ध हुआ।

बैहाकी लिखता है कि अहमद नियल्तगीन बनारस तक घुस गया था और उसने इस धावे के समय बहुत धन प्राप्त किया था। मसूद ने हांसी पर अधिकार कर लिया था। इब्राहीम के विषय में भी हिन्दुओं पर आक्रमण करने का उल्लेख मिलता है। यह सब घटनायें ११वीं शताब्दी की हैं। गोविंदचंद्र गहड़वाल के एक शिलालेख से विदित होता है कि राजपूत शासक 'तुरुष्क दण्ड' नामक एक कर लेते थे। प्रोफेसर हबीबुल्ला का मत है कि या तो इस कर से प्राप्त धन तुर्कों को घूस देकर लौटाने के काम में व्यय होता होगा अथवा तुर्कों के विरुद्ध युद्ध में होने वाले अतिरिक्त व्यय को वहन करने में। डाक्टर कुरेशी का कहना है कि संभव है यह कर उन मुसलमानों से लिया जाता रहा हो जो हिन्दू राजाओं के संरक्षण में रहते थे। यदि यह मत ठीक हो तो मानना पड़ेगा कि हिन्दू राजाओं की प्रजा में इतने अधिक मुसलमान थे कि उन पर कर लगा कर राज्य की आय बढ़ाई जा सकती थी। यह मुसलमान या तो आक्रमण-कारियों के बाद वहाँ रह गये होंगे अथवा शान्तिमय ढंग से वहाँ पहुँचे होंगे। प्रत्येक दशा में, तुर्कों का हिन्दू राज्यों में फैलता जाना प्रमाणित होता है। बारहवीं शताब्दी में कहीं अधिक बहुसंख्यक धावों का प्रमाण मिलता है। मदनपाल के ११०९ ई० के एक दानपत्र में लिखा है कि उसके पिता गोविंदचंद्र ने 'अपने अनुपम रणकौशल द्वारा हम्मीर को अपना वैरभाव परित्याग करने के लिये बाध्य किया था।' गोविन्दचंद्र की रानी के शिलालेख में लिखा है कि शिवजी ने वाराणसी की तुरुष्कों से रक्षा करने के लिए गोविंदचंद्र को विशेषरूप से नियुक्त किया था। संभवतः जिस तुर्क की ओर इसमें संकेत है वह हाजी तुगातिगीन था जो मसूद तृतीय के राज्यकाल में पंजाब का शासक था। विजयचंद्र ने अपने विषय में लिखा है कि उसने विश्वकष्ट को हम्मीर की स्त्रियों के अश्रुओं से निर्मित सरिता द्वारा बहा दिया था। हम्मीर को उसने पृथ्वी पर व्यर्थ विनाश का निवास-स्थल बताया है। उत्तरकालीन संस्कृत ग्रंथों में जयचंद्र गहड़वाल के विषय में भी ग़ोर के शासक को पराजित करने का उल्लेख है। सांभर के चौहान शासक दुर्लभ द्वितीय ने तुर्कों के विरुद्ध युद्ध करने में अपने प्राण गँवाये थे। पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने कहा है कि अजयदेव ने अनधिकृत मुस्लिम आगन्तुकों को बार-बार परास्त करके पीछे खदेड़ा था। अर्णोराज के काल में तुर्कों ने पुष्कर को ध्वस्त कर दिया और वे आनासागर तक बढ़ते चले गये। विग्रहराज चतुर्थ के ११६३ ई० के स्तंभलेख में म्लेच्छों को विनष्ट करने और देश में फिर आर्यों का अधि-कार स्थापित करने का दावा किया गया है। वह अपने उत्तराधिकारियों को म्लेच्छों के विरुद्ध निरन्तर युद्ध करते रहने का परामर्श दे गया है। पृथ्वीराज प्रथम ने सीमान्त दुर्ग हांसी को सुदृढ़ गढ़ बनाने का उल्लेख करते हुए लिखा है कि हम्मीर संसार के

महमूद के बाद के कतिपय तुर्क धावे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए चिन्ता का कारण बन गया है। अस्तु, उसकी प्रगति को रोकने के लिये इस दुर्ग का सुदृढ़ीकरण आवश्यक है। इसी भांति आगे चलकर इन्हीं तुर्कों की बाढ़ को रोकने के लिए चौहान शासकों ने पाकपट्टन और भटिण्डा में भी प्रबल सैनिक चौकसी का प्रबन्ध किया। इस भांति यह स्पष्ट है कि शंसबानी विजेता शहाबुद्दीन ने गंगा जमुना की तहलटी को जीतने का प्रथम प्रयास नहीं किया वरन् उसने केवल उस कार्य को पूरा किया जिसका सूत्रपात सौ वर्ष से भी पहले हो चुका था (हबीबुल्ला पृष्ठ ५४)

शहाबुद्दीन ने भारत को जीतकर अपने साम्राज्य के अन्तर्गत लाने के लिए जो कार्य किया वह एक सुविचारित योजना के अनुसार किया गया था। शहाबुद्दीन ने पिछले काल के यात्रियों के वर्णन से यह जान लिया था कि भारत में प्रवेश करने का सुगमतम मार्ग मुलतान, उच्छ होकर है। उसने यह भी समझ लिया था कि नदियों के किनारे-किनारे अथवा एक नदी की तलहटी को दूसरी से संयुक्त करने के लिये प्रमुख मार्ग बनाये गये हैं। अस्तु, उन्हीं मार्गों द्वारा जाने पर देश के प्रधान नगर मिलेंगे तथा रसद का सामान इकट्ठा करने में भी इसी मार्ग का अवलम्बन सहायक होगा। अस्तु, उसने निश्चय किया कि वह भी पहले मुलतान पर ही धावा करेगा और फिर उत्तर तथा दक्षिण की ओर फैलते हुए और सम्पूर्ण सिंधु-घाटी को अधीनस्थ बनाते हुए गजनवी तथा शिया शासन के स्थान पर अपने वंश का प्रभुत्व स्थापित करेगा। इस भाग में अपनी शक्ति सुदृढ़ करने के पश्चात् वह सुविधानुसार गुजरात के ऊपर अथवा गंगा-यमुना के अंतर्वेद पर अधिकार करने का प्रयत्न करेगा। शहाबुद्दीन की कार्यपद्धति को देखते हुए यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि उसका वास्तविक उद्देश्य और संकल्प भारत में मुस्लिम साम्राज्य स्थापित करने का था।

शहाबुद्दीन की भारतीय विजय की योजना

शहाबुद्दीन ने पहला वार मुलतान के शिया शासकों के विरुद्ध किया। मुलतान को जीतना कई दृष्टियों से उपयोगी था। ग़ज़नी और भारत के बीच का सबसे सीधा मार्ग मुलतान होकर जाता था। इसलिए भारतीय विजय की आकांक्षा रखने वाले ग़ज़नी के शासक शहाबुद्दीन के लिए मुलतान लेना नितान्त आवश्यक था। दूसरे, मुलतान की ऐसी स्थिति थी कि उस पर अधिकार करने के बाद दक्षिण की ओर सिंध तथा उत्तर की ओर पंजाब पर आक्रमण करना सुगम होगा। मुलतान में शहाबुद्दीन की सेना आवश्यक विश्राम करके और युद्ध की सामग्री एवं रसद की व्यवस्था करके आत्म-विश्वास के साथ आगे की ओर बढ़ सकती थी। तीसरे, भारतीय पश्चिमोत्तर सीमा पर यही सबसे कमजोर राज्य था। अस्तु, इस पर विजय प्राप्त करना सुगम था और इस विजय के द्वारा उसके सैनिकों का उत्साह बढ़ने पर आगे के युद्धकार्य में सुविधा होने की आशा की जा सकती थी। वहाँ के शासक शिया थे। अस्तु उनके विरुद्ध धार्मिक

मुलतान और उच्छ (११७५-७६ ई०)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जोश का भी लाभ उठाया जा सकता था। इन सब बातों पर ध्यान रख कर उसने ११७५ ई० में मुलतान पर धावा किया और उसे अपने अधिकार में कर लिया। सन् ११७६ में उसने उच्छ पर आक्रमण किया और यह दुर्ग भी उसके अधिकार में आ गया। लाहौर को लेने में असफल होने पर ११८२ में उसने देबल और समुद्रतट का सम्पूर्ण दक्षिणी सिंध जीतकर अपने अधीन कर लिया।

शहाबुद्दीन ने मुलतान और उच्छ को संगठित करने तथा भावी आक्रमण के लिए शक्ति संचित करने में दो वर्ष लगा दिये। उसने अब यह निश्चय किया कि राजपूताने के मरुस्थल को पार करके गुजरात पर आक्रमण करे। ऐसा निश्चय करने के अनेक कारण थे। गुजरात के चालुक्य सोलंकी शासक पश्चिमी राजपूताना के राजपूत राज्यों को अधीनस्थ बना चुके थे। अस्तु, सोलंकियों पर विजय प्राप्त कर लेने से गुजरात के साथ-साथ करद राजपूत राजाओं पर भी आधिपत्य जमाना संभव हो जायगा और फिर पूरबी राजपूताना होते हुए गंगा-यमुना के अंतर्वेद पर आक्रमण किया जा सकता था। इस नीति को अपनाने में दूसरा लाभ यह भी था कि गुजरात के शासकों तथा धनिकों ने उर्वर भूमि तथा समृद्ध वैदेशिक व्यापार द्वारा जो धन एकत्रित कर लिया था वह शहाबुद्दीन को प्राप्त हो जाता। तीसरे, उसे पंजाब पर आक्रमण करने के लिए कई मार्ग खुल जाते और तब ग़ज़नवी शासक खुसरो मलिक को हराना सुगमतर हो जाता। साथ ही गंगा-यमुना के अंतर्वेद में घुसने के लिए चौहानों की पश्चिमोत्तर सीमा पर स्थित दुर्ग-पंक्ति को भेदने में जो श्रम अनिवार्य था वह बच जाता और उनके राज्य पर उस ओर से आक्रमण किया जा सकता था जिधर उनकी सुरक्षा-व्यवस्था ढीली थी। परन्तु सोलंकियों की सैनिक शक्ति ने शहाबुद्दीन के मंसूबों पर पानी फेर दिया। उसकी पूर्ण पराजय हुई। शत्रु द्वारा पीछा किये जाने के भय से वह अधिकतम तेजी से भागने ़ गा और इस कारण मार्ग में उसे बहुत कष्ट हुआ और बहुत से सैनिक इस श्रम को सह ़ न कर सकने के कारण मर गये। ग़ज़नी पहुँचते-पहुँचते उसकी सेना का एक अंश मात्र ही बचा, शेष सब राजपूतों की तलवार और मार्ग के कष्टों के शिकार हो चुके थे।

गुजरात (११७८ ई०)

शहाबुद्दीन ने अब अपनी रणनीति को बदलना आवश्यक समझा। वह समझ गया कि गंगा-यमुना के अंतर्वेद में पहुँचने का अब एक ही दूसरा साधन शेष है। वह था पंजाब पर अधिकार करके चौहानों से लोहा लेना। अस्तु उसने ११७९ ई० में पेशावर पर आक्रमण किया। खुसरो मलिक का शासन इतना जर्जर था कि शहाबुद्दीन को पेशावर पर अधिकार करने में विशेष कठिनाई नहीं हुई। सन् ११८१ ई० में उसने लाहौर पर आक्रमण किया और यद्यपि वह खुसरो मलिक को पदच्युत करने में सफल

पंजाब-विजय (११७९-११८६ ई०)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं हुआ तो भी उसने ऐसा दबाव डाला कि खुसरो ने अपने चार-वर्षीय पुत्र को बंधक रूप में भेज दिया और संधि की शर्तों को पूरा करने का वादा किया। सन् ११८२ में उसने दक्षिणी सिंध पर आक्रमण करके काफी धन प्राप्त किया और फिर उसी की सहायता से एक विशाल सेना तैयार करके ११८४ ई० में उसने लाहौर पर दूसरा असफल आक्रमण किया। परन्तु यद्यपि वह लाहौर न ले सका, तो भी उसने स्यालकोट पर अधिकार कर लिया और वहाँ एक दुर्ग का निर्माण कराया। शहाबुद्दीन ने काश्मीर के राजा और खुसरो मलिक के पारस्परिक वैर से भी लाभ उठाने की चेष्टा की। उसने राजा को खोखरों के विरुद्ध सहायता देने का वचन दिया और उसके बदले में उसकी सहायता खुसरो मलिक के विरुद्ध प्राप्त कर ली। शहाबुद्दीन ने सैनिक तथा कूटनीतिक तैयारियों के बाद ११८६ ई० में फिर पंजाब पर आक्रमण किया और लाहौर को घेर लिया। खुसरो मलिक पकड़कर ग़ोर भेज दिया गया और लाहौर तथा शेष ग़ज़नवी पंजाब पर शहाबुद्दीन का अधिकार हो गया।

अब शहाबुद्दीन ने चौहानों के विरुद्ध सामरिक तैयारियाँ आरम्भ कीं। उसने लाहौर को केन्द्र बनाकर पंजाब में अपनी शक्ति सुदृढ़ की। तीन वर्ष की तैयारी के बाद उसने ११८९ ई० में भटिण्डा पर प्रथम बार धावा किया। ११९०-९१ ई० में उसने उसका घेरा डाला। पृथ्वीराज की चौकसी कुछ ढीली प्रतीत होती है क्योंकि इसके पूर्व कि वह सहायता भेजने का प्रबन्ध करे राजपूत सेना ने किला शत्रु के हवाले कर दिया। जियाउद्दीन तुलाक को १२००० सैनिकों के साथ वहाँ छोड़कर शहाबुद्दीन ग़ज़नी वापस चल पड़ा। उसकी इच्छा थी कि वह एक नई और बड़ी सेना लेकर अगले वर्ष दिल्ली की ओर बढ़ेगा। परन्तु इसके पूर्व कि वह भारत से लौटे, पृथ्वीराज एक विशाल सेना लेकर भटिण्डा वापस लेने के लिए पहुँच गया। शहाबुद्दीन को यह सूचना मिली तो वह मार्ग से ही उलटे पैर लौट पड़ा। तराइन के मैदान में शहाबुद्दीन और पृथ्वीराज की सेनाओं का सामना हुआ। प्रोफेसर हबीबुल्ला के अनुसार यह स्थान थानेश्वर अथवा कर्नाल के पास न होकर भटिण्डा और सिरसा के बीच में होना चाहिए। इस संबंध में उन्होंने कनिंघम के मत को स्वीकार करते हुए यह माना है कि भटिण्डा और सिरसा के बीच स्थित तोरवन ग्राम ही प्राचीन तराइन का वर्तमान रूप है। इस युद्ध में शहाबुद्दीन की सेना के दोनों पार्श्व परास्त हो गए और वे रणस्थल छोड़कर भाग निकले। शहाबुद्दीन ने केन्द्रीय भाग का नेतृत्व करते हुए जब प्रत्याक्रमण किया तो वह गोविंदराय के भाले की चोट खाकर पीछे हटने पर बाध्य हो गया। एक खिलजी सैनिक ने किसी प्रकार उसके प्राणों की रक्षा की परन्तु शहाबुद्दीन की पराजय हुई। इतना दुःख उसे उस समय भी नहीं हुआ था जब कि गुजरात के शासक ने उसे हराया था। उसकी सेना का राजपूतों ने चालीस मील तक पीछा किया और फिर भटिण्डा

शहाबुद्दीन और पृथ्वीराज (११८९-११९२)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का घेरा आरम्भ किया। तेरह महीने के घेरे के बाद भटिण्डा फिर राजपूतों के हाथ आया।

उधर शहाबुद्दीन जब ग़ज़नी पहुँचा तो वह अपने सेनानायकों पर अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। फरिश्ता कहता है कि सुलतान का आक्षेप था कि उसकी पराजय अफगान, खिलजी और खुरासानी नायकों की लापरवाही के कारण हुई है। उसने उनकी बहुत भर्त्सना की और उनको अपमानित करके कैद में डाल दिया। साल भर तक वह इसी चिन्ता में रहा कि किस प्रकार पराजय की कालिमा को धोकर फिर धवल यश प्राप्त करे। ११९२ ई० में वह एक लाख बीस हजार घुड़सवारों की विशाल सेना लेकर ग़ज़नी से चला। चलने के पूर्व कुछ लोगों ने बन्दी सर्दारोंकी रिहाई के लिए प्रार्थना की और कहा कि उन्हें एक बार और अवसर देना चाहिए। यदि इस बार उनका कार्य संतोषजनक न हो तो वह उन्हें जो दण्ड उचित समझे दे। शहाबुद्दीन ने सोचा कि इस प्रार्थना को स्वीकार कर लेना हितकर है क्योंकि जो लोग इस दया की माँग कर रहे थे वे लोग यह सोचकर संतुष्ट होंगे कि उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली गई। साथ ही जिन लोगों को मुक्तिदान दिया जायगा वे इस बार प्राणपण से अपने आत्मसम्मान को पुनः प्राप्त करने के लिये उद्योग करेंगे और प्राण रहते पीछे हटने का नाम न लेंगे। अस्तु, उसने बंदियों को चेतावनी देकर मुक्त कर दिया और उनको सेना में उचित पद दे दिये।

लाहौर पहुँचकर उसने अपनी सेना का फिर निरीक्षण किया और उसे पूरी तौर से तैयार करने के लिए अवकाश पाने के उद्देश्य से पृथ्वीराज के पास अपना दूत भेजा। उसका नाम क़िवामुल्मुल्क था। पृथ्वीराज को जब आधिपत्य स्वीकार करने का संदेश मिला तो वह आगबबूला हो गया। उसने कहला भेजा कि राजपूत भागते हुए सैनिक को अभयदान देने के अभ्यस्त हैं। अस्तु, उसे अपने सैनिकों के प्राण बचाने हों तो वह अपने देश को लौट जाय। कहते हैं कि इस बीच में शहाबुद्दीन तराइन के निकट तक फिर आ गया और वहीं डेरा डाल दिया। उसने पृथ्वीराज की दुर्बलताओं का पता लगाकर आक्रमण करने के इरादे से फिर कूटनीतिक चाल चली और कहला भेजा कि मैं तो अपने बड़े भाई का सेवक हूँ। उनकी आज्ञा के बिना न युद्ध कर सकता हूँ और न पीछे लौट सकता हूँ। हाँ, आप कुछ दिन युद्ध स्थगित रखें तो मैं उनका आदेश मँगा सकता हूँ। पृथ्वीराज ने समझा कि तुर्क डर गया है और भागने के लिये बहाना ढूँढ़ रहा है। अस्तु, उसने सोचा कि अब कोई चिन्ता की बात नहीं है। यदि यह पत्र-व्यवहार ऐतिहासिक दृष्टि से विश्वसनीय हो तो पृथ्वीराज ने बड़ी भूल की। शत्रु की कमजोरी का लक्षण देखते ही उसे उस पर टूट पड़ना चाहिये था। ऐसा न करके, कहते हैं, वह प्रतीक्षा करता रहा। शहाबुद्दीन ने इस बीच में आवश्यक सूचना प्राप्त कर ली, अपनी युद्धनीति स्थिर कर ली और तब यकायक यह सूचना भेज दी कि मेरे भाई और स्वामी ने युद्ध का ही आदेश दिया है। अस्तु, लड़ने के लिए तैयार हो जाओ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह संवाद भेजने के साथ-साथ उसने आक्रमण कर दिया। शहाबुद्दीन ने अपनी सेना में से चार दस-दस हजार की टुकड़ियों को आदेश दिया कि वे शत्रु दल पर, दाहिने, बायें और संभव हो तो पीछे से तेजी से आक्रमण करें और उसपर तीरों की वर्षा करें परन्तु शत्रु की पकड़ से दूर रहें ताकि वह अपने हाथियों का उचित उपयोग न कर सके और न संगठित ढंग से उनका सामना कर सके। शत्रु का दबाव प्रबल पड़ने पर उनको पीछे हट जाने का आदेश था और ऐसे व्यवस्थित ढंग से अव्यवस्थित प्रतीत होना था कि शत्रु को धोखा हो कि तुर्क हार कर भाग रहे हैं। दिन भर इसी प्रकार भीषण संग्राम होता रहा। अब शहाबुद्दीन ने अपनी सेना के बारह हजार सर्वश्रेष्ठ घुड़सवारों के दस्ते को अध्यक्षता करते हुए बड़ा उग्र आक्रमण किया। यह सैनिक अभी तक उचित अवसर की ताक में केवल विश्राम करते रहे थे। राजपूतों ने इस प्रकार की कोई कोतल सेना नहीं रखी थी। अस्तु उनके दिनभर के अविश्रांत युद्ध से थके सैनिक इस आक्रमण की बाढ़ को रोकने में असमर्थ हो गये और उनके पैर उखड़ने लगे। पृथ्वीराज की सेना भाग चली। चौहान नरेश को सर्दारों ने परामर्श दिया कि वह राजधानी की ओर भागकर दूसरी सेना को संगठित करने का उद्योग करे। अस्तु वह घोड़े पर चढ़कर भागा। उसको भागता देखकर राजपूत सेना का धैर्य पूरी तरह से छूट गया और तुर्कों ने विपुल नरसंहार किया तथा उनके घुड़सवारों ने पृथ्वीराज का पीछा करके उसे सरसुती (सिरसा) के पास पकड़ लिया और वह उसी समय अथवा कुछ काल बाद मरवा दिया गया।

इस युद्ध में विजय मिलने पर शहाबुद्दीन का भारतीय साम्राज्य स्थापित करने का संकल्प पूरा होना निश्चित हो गया। चौहानों की शक्ति के टूटने के कारण शहाबुद्दीन का प्रभाव अंतर्वेद तथा पूरबी राजपूताना पर जमना सुगम हो गया। हांसी, कुहराम तथा सरसुती पर उसका अधिकार हो गया और दिल्ली के निकट इंद्रप्रस्थ में क़ुत्बुद्दीन ऐबक की अध्यक्षता में एक सेना रख दी गयी जिसका कर्त्तव्य यह था कि वह दिल्ली और अजमेर के अधीन हिन्दू शासकों को संधि की शर्तें स्वीकार करने पर बाध्य करे।

तराइन के युद्ध का महत्व

शहाबुद्दीन ने अजमेर और दिल्ली तथा शेष सभी चौहान राज्य पर एक साथ अधिकार करने की चेष्टा करना बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं समझा। उसकी नीति थी कि इतना ग्रास भरो जितना चबाकर निगल सको न कि यह कि पहले लोभ में आकर भरते जाओ और फिर वमन करने के लिये विवश होओ। अस्तु, उसने दिल्ली में तोमर राजपूतों को करद शासक के रूप में स्वीकार कर लिया। इसी प्रकार अजमेर का शासन उसने पृथ्वीराज के पुत्र गोविंदराज को सौंप दिया परन्तु उसे वार्षिक कर देना स्वीकार करना पड़ा और वादा करना पड़ा कि जो गढ़ तथा इलाके शहाबुद्दीन ने अपने सीधे शासन में ले लिए हैं उनको वापस पाने की वह कोई चेष्टा नहीं करेगा। इन दो करद राजाओं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की नियुक्ति द्वारा उसने राजपूतों की एकता को तोड़ना चाहा। साथ ही उसने शासन का भार उन्हीं पर छोड़ कर अपना दायित्व हलका कर लिया। जीते हुए राज्य की ठीक व्यवस्था कर लेने पर आगे बढ़ने में उसे कोई कठिनाई नहीं होगी। इस प्रकार इन राजाओं को शासन के अधिकार देना भी शहाबुद्दीन की चातुरी-पूर्ण कूटनीति थी। यह सब व्यवस्था करके शहाबुद्दीन ग़ज़नी वापस लौट गया और भारतीय राज्य की रक्षा का भार क़ुत्बुद्दीन ऐबक पर छोड़ गया।

तराइन के युद्ध के बाद दूसरा महत्वपूर्ण युद्ध ११९४ ई० में चंदवार नामक स्थान पर हुआ। परन्तु इन दोनों युद्धों के बीच में अनेक घटनायें हुईं जिनके कारण क्रमशः तुर्की साम्राज्य का प्रभाव-क्षेत्र बढ़ता गया। तोमरों और चौहानों में से एक भी सचमुच तुर्कों की अधीनता में रहने के लिये प्रस्तुत नहीं था। अस्तु, दिल्ली और अजमेर षड्यन्त्र के केन्द्र बनने लगे। पहले एक चौहान सेना ने हांसी का घेरा डाला परन्तु ऐबक ने इस प्रयत्न को विफल कर दिया और चौहान सेनानायक युद्ध में मारा गया। पृथ्वीराज के भाई हरिराज ने अपने भतीजे गोविंदराज को अजमेर से मार भगाया और रणथंभौर का घेरा डाला। परन्तु क़ुत्बुद्दीन ऐबक के आने पर उसे दोनों ही स्थानों से हट जाना पड़ा। दिल्ली का तोमर शासक भी विद्रोह की तैयारी कर रहा था परन्तु ऐबक ने जब दिल्ली का घेरा डाला तो उसे दुर्ग तुर्कों के हवाले कर देना पड़ा। फिर भी उसे यह सुविधा मिल गई कि वह अपने अनुयायियों को लेकर बाहर चला जाय। हरिराज ने जब अजमेर पर अधिकार कर लिया तब तोमर शासक ने भी विद्रोह किया परन्तु वह पराजित हुआ। इन युद्धों के कारण दिल्ली पर अधिकार हो गया और अजमेर पर तुर्कों का प्रभाव बढ़ गया तथा चौहान और तोमर विरोधियों की शक्ति कुछ कम हो गई। इसी काल में ऐबक ने गहड़वालों के विरुद्ध युद्ध आरम्भ किया। उसने यमुना को पार करके बरन और मेरठ पर अधिकार कर लिया। यह दोनों ही स्थान गहड़वालों के राज्य में पड़ते थे और यहाँ पर उनके करद सामंत शासन करते थे। बरन के सामंत चंद्रसेन ने बहुत उग्र विरोध किया और ११९४ ई० में जब ऐबक ग़ज़नी से लौटा तो उसे फिर वहाँ जाना पड़ा। इस बार उसने कोयल (वर्तमान अलीगढ़) पर भी अधिकार कर लिया। इस भांति ११९३-९४ में गहड़वाल राज्य पर तुर्कों का दबाव प्रारम्भ हो गया और कन्नौज के राजा जयचंद्र को विदित हो गया होगा कि शीघ्र ही उसपर आक्रमण होगा।

तराइन से चंदवार तक (११९२-११९४ ई०)

शहाबुद्दीन ने यह तो निश्चय कर लिया था कि उसे अंतर्वेद पर अधिकार करना है परन्तु वह उचित अवसर की ताक में था। संभवतः उसी के आदेशानुसार ऐबक ने उत्तरी सीमा से आक्रमण करना आरम्भ किया था। ११९३ ई० में शहाबुद्दीन ने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐवक को ग़ज़नी बुलाया था जहाँ से वह ६ मास बाद लौटा था। संभवतः इसी समय जयचंद्र के राज्य पर आक्रमण की योजना स्थिर की गई थी। ऐवक ने आते हीं बरन होते हुए कोयल पर अधिकार कर लिया था। अभी वह दोआव में ही था कि उसे अपने स्वामी के आने की सूचना मिलीं। वह दिल्ली की सेना लेकर उससे जा मिला और शहाबुद्दीन पचास हजार घुड़सवारों को लेकर काशी की ओर चल पड़ा। कन्नौज के निकट चंदवार नामक स्थान पर दोनों सेनाओं की मुठभेड़ हुई जिसमें यद्यपि आरम्भ में जयचंद्र की विजय होती दिखलाई पड़ीं परन्तु अन्त में जब जयचंद्र की आँख में तीर लगने के कारण वह तत्काल मर गया तब उसकी सेना की शृंखला नष्ट हो गई और विजय पराजय में परिणत हो गई। बनारस, असनी तथा अन्य नगरों पर तुर्कों का अधिकार हो गया परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कन्नौज ११९९ तक गहड़-वालों के ही अधीन था। कतिपय प्रधान नगरों पर अधिकार हो जाने के कारण गहड़-वालों की शक्ति घट अवश्य गई परन्तु उनका अंत नहीं हुआ। ११९९ ई० में जयचंद्र के पुत्र हरिश्चन्द्र ने एक दानपत्र दिया जो मछलीशहर में मिला है। उसमें उसने अपने को एक स्वतंत्र शासक प्रगट किया है। जिस प्रदेश पर तुर्कों का अधिकार हो गया उसे मलिक हुसामुद्दीन को सौंप दिया गया और शहाबुद्दीन लूट का सामान लेकर ग़ज़नी लौट गया। उसी समय बरन के राजपूतों ने कोयल के पास फिर विद्रोह किया परन्तु ऐवक ने उनको परास्त कर दिया।

गहड़वालों की पराजय (११९४ ई०)

तुर्कों को गहड़वालों के युद्ध में उलझा देखकर हरिराज ने एक बार फिर अपने भतीजे को अजमेर से निकाल बाहर किया और उसने एक सेना दिल्ली-विजय के लिए भी भेजी। ऐवक ने इस सेना को अजमेर तक खदेड़ा और जब उसने दुर्ग के भीतर शरण ली तब उसने गढ़ का घेरा डाला। हरिराज ने बचने का कोई उपाय न देखकर जौहर द्वारा अपनी तथा अपने सहयोगियों की जीवन-लीला समाप्त की। देश और जन्मभूमि की स्वतंत्रता के लिये उसका प्रयत्न सफल न हो सका। परन्तु इसके कारण उसके कार्य का महत्व नष्ट नहीं होता। हरिराज का अनुकरण अनेक बाद वाले सामंतों एवं स्थानीय नेताओं ने किया और उन्होंने कभी तुर्कों को चैन की नींद सोने नहीं दी। ऐवक ने अब अजमेर में एक मुसलमान हाकिम नियुक्त किया और गोविन्दराज को रणथंभौर भेज दिया।

हरिराज का अंत (११९५ ई०)

११९५-९६ ई० में शहाबुद्दीन फिर भारत चढ़ आया और उसने बयाना तथा ग्वालियर की ओर प्रस्थान किया। दोनों ही स्थानों में उसे प्रतिरोध का सामना करना पड़ा और यद्यपि बयाना के भट्टियों के दुर्ग तहनगढ़ एवं विजयमंदिर गढ़ पर अधिकार हो गया परन्तु ग्वालियर का दुर्ग इतना दुर्भेद्य था कि जब वहाँ के शासक ने कर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देना स्वीकार कर लिया तब शहाबुद्दीन को उसे वहाँ का स्वामी स्वीकार करने पर बाध्य होना पड़ा। परन्तु कुछ दिन बाद बयाना के हाकिम बहाउद्दीन तुग़रिल के निरन्तर दबाव के कारण ग्वालियर-नरेश को किला दे देना पड़ा। यह घटना संभवतः ११९६ ई० में हुई यद्यपि एक इतिहासकार ने उसकी तिथि १२०० दी है।

बयाना और ग्वालियर (११९५-११९६ ई०)

तुर्कों को राजपूताना से निकाल बाहर करने का तृतीय प्रयत्न ११९६-९७ ई० में हुआ। अजमेर के पास बसने वाले मेंड़ और चौहान विरोधी सामंतों ने एक संघ स्थापित किया और फिर उन्होंने गुजरात के शासक को इस कार्य में योगदान करने के लिए आमंत्रित किया। संभव है उन्होंने सफलता मिलने पर उसकी अधीनता स्वीकार करने का भी वचन दिया हो। अजमेर के तुर्क शासक को जब इन प्रयत्नों और सामरिक तैयारियों का पता चला तो उसने ऐबक से तुरंत सेना भेजने के लिए प्रार्थना की। ऐबक स्वयं सेना लेकर युद्ध-स्थल में पहुँच गया और उसने मेंड़ों पर आक्रमण कर दिया। युद्ध चल ही रहा था कि गुजरात की सेना आ गयी और ऐबक की करारी हार हुई। वह किले के भीतर छिप गया और राजपूतों ने कड़ाई के साथ घेरा डाला। उस समय ऐबक के बंदी किये जाने की आशंका उत्पन्न हो गयी। परंतु उसका संवाद पाते ही शहाबुद्दीन ने ग़ज़नी से एक सहायक सेना भेज दी। उसके आने के कारण राजपूतों ने घेरा तोड़ दिया। ऐबक ने अपनी पराजय का बदला लेने के लिए गुजरात पर आक्रमण किया। राजपूतों ने बड़ी भयंकर लड़ाई की परन्तु अंत में हार उन्हीं की हुई और प्रायः पंद्रह हजार सैनिक हताहत हुए तथा बीस हजार बंदी बनाये गये। ऐबक ने अन्हिलवाड़ा को लूटा परंतु उसमें इतनी शक्ति नहीं थी कि वह गुजरात पर अधिकार कर ले। अस्तु, वह लूटपाट करके लौट आया। फरिश्ता कहता है कि ऐबक ने एक तुर्क हाकिम नियुक्त किया था परन्तु बाद में चालुक्यों ने उसे निकाल बाहर किया और ऐबक ने राजपूताना की स्थिति को देखते हुए पुनः आक्रमण करने का साहस नहीं किया।

गुजरात पर धावा (११९७ ई०)

अगले पाँच-छः वर्षों में ऐबक ने अनेक छिट-पुट लड़ाइयाँ कीं। गहड़वालों के राज्य का बहुत-सा भाग अभी भी उनके अधिकार में था। ऐबक ने इस काल में बदायूँ तथा कन्नौज पर अधिकार कर लिया और बनारस क्षेत्र में फिर सेना भेजी। चौहानों ने अजमेर के आसपास अपनी शक्ति जमने की आशा नहीं देखी तो वे दक्षिण की ओर चले गये और उन्होंने बूंदी, कोटा तथा सिरोही के राज्य स्थापित कर लिये। संभवतः इनके विरुद्ध भी ऐबक ने कुछ सरगर्मी दिखाई क्योंकि मिनहाजुस्सिराज उसके उज्जैन तक धावा मारने का उल्लेख करता है। परंतु इन

ऐबक की अन्य विजयें (११९७-१२०३ ई०)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धावों से तुर्की साम्राज्य की सीमा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

चंदेलों से युद्ध (१२०२-१२०३ ई०)

बुन्देलखण्ड में परमर्दिन चंदेल का राज्य था। १२०२ ई० तक उसके ऊपर केवल छिटपुट हमले ही हुए थे। १२०२ ई० में प्रथम बार उसे जीतने का प्रयत्न किया गया। परमर्दिन के राज्य में कालिंजर सर्वश्रेष्ठ दुर्ग था। तुर्कों ने उसी का घेरा डाला। परमर्दिन ने जब विजय की आशा न देखी तब उसने संधि की बात चलाई परंतु उसके पूरी होने के पूर्व ही वह मर गया और उसके मंत्री अजयदेव ने संधि न करके युद्ध जारी रखा। आगे चलकर तुर्कों के प्रयत्न अथवा आकस्मिक ढंग से कालिंजर में जिस स्रोत से पानी आता था वह बंद हो गया। फलतः चंदेल अजयगढ़ चले गये और कालिंजर, महोबा तथा खजुराहो पर तुर्कों का अधिकार हो गया जिन्होंने हसन अर्नाल को वहाँ का शासक नियुक्त किया।

बिहार और बंगाल (११९७-१२०५ ई०)

गहड़वालों की पराजय के बाद तुर्कों की सेना अवध तक फैल गयी थी। वहाँ की सेना में इख्तियारुद्दीन मुहम्मद बिन बख्तियार खिल्जी नामक एक सैनिक था। यद्यपि उसका शरीर बेडौल और कुरूप था परंतु वह बड़ा साहसी, उत्साही, शूरवीर तथा अध्यवसायी था। ऐबक उसके गुणों से परिचित होने के कारण उसे चाहने लगा था और उसी की कृपा से उसे बिहार की पश्चिमी सीमा के निकट एक छोटी जागीर मिल गयी थी। इख्तियारुद्दीन ने धीरे-धीरे एक छोटी सेना तैयार कर ली और उसकी सहायता से उसने बिहार पर धावे करना शुरू किया। बाद में उसने उद्दण्डपुर नामक बिहार पर आक्रमण किया और वहाँ अनेक बौद्ध-भिक्षुओं का वध किया। वहाँ उसे एक पुस्तकालय मिला जिससे उसे पता चला कि वहाँ एक विश्वविद्यालय था। तारानाथ के अनुसार इसी समय उसने विक्रमशिला तथा नालंदा विश्वविद्यालयों पर भी अधिकार कर लिया। अनेक बौद्ध मारे गये, कुछ तिब्बत की ओर भाग गये और कुछ देहात की ओर जा बसे जहाँ तुर्कों ने उनसे और छेड़ छाड़ नहीं की। यह घटना ११९७ और १२०२ के बीच किसी समय हुई। बिहार पर अधिकार करने के पश्चात् इख्तियारुद्दीन ने बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन की राजधानी नवद्वीप (नदीया) पर आक्रमण किया। इख्तियारुद्दीन के जाने के पूर्व ही बंगाल में तुर्कों की आश्चर्यजनक सफलता की कहानियाँ पहुँच चुकी थीं। कहते हैं कि किसी ज्योतिषी ने यह भविष्य-वाणी भी की थी कि एक अजानुबाहु तुर्क के द्वारा सेनवंश का विनाश होगा। कुछ लोगों ने लक्ष्मणसेन को नवद्वीप छोड़कर और अधिक पूरब की ओर हट जाने की सलाह भी दी। परंतु राजा ने उन लोगों को हटने की अनुमति देकर भी स्वयं वहाँ से हटना कापुरुषता समझी। अस्तु, वह वहीं बना रहा। इख्तियारुद्दीन ने घोड़ों के सौदागरों का वेश बनाकर नवद्वीप में प्रवेश किया और कहा कि राजा को यदि तुरंत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूचना न दी गयी तो वह आगे चला जायगा। इस बीच उसने नगर के भीतर की स्थिति को थोड़ा समझ लिया। उसके अन्य सैनिक भी उस समय तक निकट पहुँच गये। उसी समय उसने यकायक मार-काट आरंभ करदी और महल में घुसने की चेष्टा की। जब तक राजा के अंगरक्षक तथा दुर्गपाल सँभलें-सँभलें तब तक इख्तियारुद्दीन की सेना भी आ गयी और दुर्ग का द्वार खुला मिल जाने के कारण उसमें प्रवेश पा जाना सुगम हो गया। राजा लक्ष्मणसेन भाग गया और उसने पूरब की ओर जाकर अपनी सेना इकट्ठा करना आरंभ की। इख्तियारुद्दीन ने कुछ काल बाद नवद्वीप को लूटकर लक्ष्मणसेन की शक्ति से आतंकित होकर नगर खाली कर दिया और लखनौती को अपनी राजधानी बनाया। यह घटना किसी समय १२०५ ई० के पूर्व हुई क्योंकि मिनहाजुस्सिराज लिखता है कि इस पराजय के बाद शीघ्र ही लक्ष्मणसेन की मृत्यु हो गयी। सन् १२०६ ई० तक लक्ष्मणसेन जीवित था। इख्तियारुद्दीन स्वयं १२०६ ई० में मर गया। इख्तियारुद्दीन के अधिकार में बंगाल का बहुत थोड़ा भाग था जिसमें आजकल के मालदा, दीनाजपुर, मुर्शिदाबाद और वीरभूमि जिलों का अंश शामिल था।

इख्तियारुद्दीन की मृत्यु (१२०६ ई०)

प्रायः दो वर्ष के बाद इख्तियारुद्दीन ने भूटान-आसाम से होकर आने वाले घोड़ों के व्यापारियो को अपने राज्यान्तर्गत लाने के लिए तिब्वत की ओर आक्रमण किया। प्रोफेसर हबीबुल्ला ने गौहाटी के एक संस्कृत लेख का हवाला देकर बताया है कि उसने वर्धनकुटी नगर तथा ब्रह्मपुत्र नदी को पारकर तिब्बत के पहाड़ी क्षेत्र में प्रवेश किया परंतु वहाँ उसकी पूर्ण पराजय हुई और उसके दस हजार सैनिकों में से एक सौ भी नहीं बचे। इस पराजय की लज्जा के कारण वह बीमार पड़ गया और उसके एक सैनिक अलीमर्दान ने उसका बध कर दिया।

मुईज़ुद्दीन की मृत्यु (१२०६ ई०)

११९६-९७ ई० से लेकर १२०५ ई० तक ग़ज़नी और ग़ोर के शासकों को ख्वारिज्म के शाह से कई बार युद्ध करना पड़ा। १२०३ ई० में ग़यासुद्दीन की मृत्यु होने पर शहाबुद्दीन ग़ोर साम्राज्य का शासक हो गया। अब उसने मुईज़ुद्दीन की उपाधि धारण की और अपने जीवन के अंतिम तीन वर्षों में वह इसी नाम से परिचित रहा। १२०५ ई० में मुईज़ुद्दीन को ख्वारिज्म के शाह ने बुरी तरह हराया। उसी समय खोखरों ने पंजाब में विद्रोह कर दिया और लाहौर पर अधिकार करना चाहा। स्थानीय हाकिम इस विद्रोह को दबा न सके। अस्तु, मुईज़ुद्दीन स्वयं भारत आया और ऐबक को झेलम तट पर मिलने का आदेश भेजा। मुईज़ुद्दीन और ऐबक के संयुक्त प्रयत्न के कारण खोखरों की पराजय हो गयी। हजारों खोखर खेत रहे और अनेक बंदी बना लिये गये। कुछ भाग कर जंगल में छिप रहे परंतु सुलतान ने जंगल को घिरवा कर उसमें

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आग लगा दी। इस कारण वहाँ शरण लेने वालों में से भी अधिकांश कालमुख में चले गये। सुलतान वहाँ से लाहौर गया और पंजाब के शासन की व्यवस्था करके उसने ऐबक को दिल्ली भेज दिया तथा स्वयं ग़ज़नी के लिए प्रस्थान किया। जब वह सिंधु तट पर धामियक नामक स्थान पर पड़ाव डाले पड़ा था और शाम की नमाज़ पढ़ रहा था, यकायक कुछ लोग उसके खेमे में घुस गये और उन्होंने उसका वध कर दिया। इसमें शायद शिया और खोखर दोनों ही शामिल थे और उन्होंने मिलकर यह आक्रमण किया था। इस भांति मुईज़ुद्दीन की जीवन-लीला समाप्त हो गयी।

मुईज़ुद्दीन के कार्य का मूल्यांकन

मुईज़ुद्दीन का सबसे बड़ा गुण था अध्यवसाय और दृढ़ संकल्प। महमूद गज़नवी अथवा अपने समसामयिक ख्वारिज्म के सुल्तान अलाउद्दीन की अपेक्षा वह निम्न कोटि का सैनिक नेता था। परन्तु उसने अपनी दृढ़ता और निरुत्साहहीनता के कारण इतिहास में अपना स्थान बना लिया है। भारत में मुस्लिम साम्राज्य स्थापित करने की सर्वप्रथम निश्चित योजना बनाने का श्रेय उसी को है। अरबों ने सिंध पर केवल प्रतिशोध की भावना से आक्रमण किया था और प्रबल खलीफाओं के काल में भी भारत के अन्य भागों की विजय का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। महमूद ग़ज़नवी में उच्चकोटि के सैनिक गुण थे, उसने उत्तर भारत के काफी भाग में लूट-पाट की परन्तु उसने भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करने की कोई चेष्टा नहीं की। उसने पंजाब और मुलतान पर भी, जो उसके राज्य की ठीक सीमा पर थे, तभी अधिकार किया जब उसने देखा कि उन पर अधिकार किये बिना भारत के अन्य भागों का धन प्राप्त करना दुर्लभ है। अस्तु, यद्यपि अरबों और ग़ज़नवी शासकों के आक्रमणों से भावी तुर्की साम्राज्य की स्थापना में काफी परोक्ष सहायता मिली तो भी उसको भारत में तुर्की साम्राज्य स्थापित करने का श्रेय नहीं दिया जा सकता। यह कार्य शहाबुद्दीन ने ही किया। जैसा पहले वर्णन हो चुका है उसने एक सुविचारित, सुश्रृंखल योजना का पालन करते हुए आक्रमण किया और यद्यपि उसने लूट का माल एकत्रित करने में संकोच नहीं किया परन्तु उसका मुख्य लक्ष्य सदा साम्राज्य-स्थापन रहा न कि धन-प्राप्ति। इसीलिए उसने सभी भागों में अपने हाकिम नियुक्त किये और उनकी सुरक्षा के लिए समय-समय पर उनकी सहायता करता रहा तथा उनका चयन उसने इतनी बुद्धिमानी से किया कि उन्होंने उसे कभी धोखा नहीं दिया। वह निःसन्तान मर गया और उसका मध्य एशियाई साम्राज्य शीघ्र ही ख्वारिज्म के शाह ने हड़प लिया। परन्तु भारतवर्ष में उसके सैनिक सरदार उसके नाम और यश की रक्षा करते रहे और जिस तुर्क साम्राज्य की उसने भारत में नींव डाली थी वह डेढ़ सौ वर्ष तक अधिकाधिक उन्नति करता गया, यद्यपि राजवंशों में परिवर्तन होता रहा।

महमूद ग़ज़नवी और शहाबुद्दीन ग़ोरी का जो विवरण ऊपर दिया गया है, उससे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुर्कों की सफलता के कारण

विदित हो जाता है कि यद्यपि उनको कई बार या तो पराजय की स्थिति का सामना करना पड़ा अथवा वे पराजित हुए परन्तु अंततः राजपूतों को अपने राज्य के अनेक प्रधान गढ़ तथा उनके आसपास का प्रदेश तुर्कों के हवाले कर देना पड़ा। हम यह भी जानते हैं कि राजपूत ऐसे वीर तथा दुर्धर्ष योद्धा थे कि वे मृत्यु का सहर्ष आलिंगन कर सकते थे और युद्ध-क्षेत्र में वीरगति को प्राप्त करना वे बड़े सौभाग्य की बात समझते थे। देश में धनधान्य की भी कमी नहीं थी। प्रायः राजपूत सैनिकों की संख्या विरोधी तुर्क सैनिकों से विशेष कम भी नहीं रहती थी। व्यक्तिगत शौर्य में राजपूत सैनिक अपने तुर्क विपक्षी से किसी प्रकार घट कर नहीं था। तब फिर इन गुणों के बावजूद राजपूत शासक अपनी जन्मभूमि की रक्षा करने में असमर्थ क्यों सिद्ध हुए? कुछ लोगों ने तुर्कों की विजय और राजपूतों की पराजय के ऐसे कारण बताये हैं जो तर्क और सूक्ष्म विश्लेषण करने पर निराधार सिद्ध होते हैं। राजपूतों पर गर्म आबहवा का दुष्परिणाम, हाथियों का उपयोग, पारस्परिक फूट आदि इसी कोटि के कारण हैं। पंजाब और काबुल के शाहिये वैसी ही जलवायु में रहते थे जैसी ग़ज़नी की थी फिर भी उनकी हार हो गयी। महमूद ने हाथियों का उपयोग करके अपने मध्य एशिआई शत्रुओं पर विजय पाई परन्तु राजपूत उन्हीं हाथियों का उपयोग करके हार जायँ, यह तर्कपूर्ण बात नहीं प्रतीत होती। जिस भांति राजपूतों के भारतवर्ष में अनेक राज्य थे जो एक दूसरे से बैर रखते थे उसी प्रकार मध्य एशिया और अफ़ग़ानिस्तान में तुर्कों के भी अनेक राज्य थे और वे भी एक दूसरे का विनाश करने में सतत प्रयत्नशील रहते थे। अस्तु यह कारण तुर्कों की सफलता के वास्तविक कारण नहीं माने जा सकते। तुर्कों को भारतीय आक्रमणों में जिन कारणों से सफलता मिली उनको हम मोटे तौर से छः भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) सैनिक, (२) राजनैतिक (४) सामाजिक, (३) धार्मिक, (५) व्यक्तिगत और (६) आकस्मिक। आगे की पंक्तियों में इन सभी कारणों पर हम संक्षेप में विचार करेंगे।

(१) सैनिक कारण

तुर्कों की सेना में प्रधानतः अश्वारोही रहते थे और उनके घोड़े तथा घुड़सवार दोनों ही अपेक्षाकृत अधिक बलवान होते थे। इसके विपरीत राजपूत सेना में पैदल सिपाहियों की संख्या अधिक रहती थी जो गतिशीलता और पैंतरेबाजी में घुड़सवारों का सामना नहीं कर सकते थे और जिनको घुड़सवार सेना केवल गति के प्रभाव से अस्त-व्यस्त कर सकती थी। राजपूत अश्वारोहियों के पास अच्छे घोड़ों का भी अभाव रहता था क्योंकि देश में अच्छी जाति के घोड़े होते ही नहीं थे और उनको वे ही घोड़े मिलते थे जिनको अरब अथवा तुर्क व्यापारी अपने देश के शासकों की आवश्यकता पूरी करने के बाद यहाँ बेचने के लिए लाते थे। अस्तु, श्रेष्ठतम घोड़ों का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत में न आ सकना स्वाभाविक ही था। फलतः राजपूत अश्वारोही को अपने विपक्षी तुर्क अश्वारोही की अपेक्षा हानि रहती थी। तुर्क सैनिक उस क्षेत्र से आते थे जहाँ अनेक देशों और अनेक जातियों के कुशल सेनानायक नयी-नयी रण-शैलियों का सृजन करते रहते थे। अस्तु, उनकी लड़ाई का ढंग अधिक अच्छा होता था और वे आधुनिकतम हथियारों तथा रण-पद्धतियों से परिचित हो जाते थे। इसके विपरीत राजपूत राजे पुराने ढंग से ही युद्ध करते थे और विदेशियों के संपर्क में आने में हिचकते थे। राजपूत सेना में हाथी रहते थे जिनको वे प्रायः शत्रु की सैन्य पंक्तियों को ध्वस्त करने के लिए आगे रखते थे परन्तु यदि वे किसी कारण बिगड़ जाते थे तो अपनी सेना का ही संहार करने लगते थे। तुर्कों की सेना में ऐसा कोई अंग नहीं था जो किसी भी परिस्थिति में अपनी सेना को ही क्षति पहुँचाने लगे। वे यदि हाथी रखते थे तो उनका उपयोग अधिक सोच-विचार करके करते थे और प्रायः उनका उपयोग किलों के दरवाजे तोड़ने, घमासान युद्ध होते समय यकायक विपक्षी के सैनिकों को रौंद डालने अथवा शत्रु के हाथियों के बढ़ाव को रोकने के लिये करते थे और इसका ध्यान रखते थे कि बिगड़ने पर वे कम-से-कम क्षति पहुँचा सकें। राजपूत सैनिक निकट संपर्क में आने पर घमासान युद्ध में अधिक प्रवीण था और वह तलवार तथा भाले के उपयोग में अति दक्ष होता था। परन्तु वह तीरन्दाजी में तुर्कों से घट कर था। जब तुर्कों ने राजपूतों के गुण-अवगुण समझ लिये तब वे प्रायः पहले दूर दूर से ही हमला करते थे और तुमुल-युद्ध में गुंथ जाने से सदा बचते थे। वह तीर चलाने में इतने प्रवीण थे कि तैरते हुए, तथा भागते हुए काफी सटीक निशाना मार सकते थे। पलायनकारी सैनिक पूरे वेग से भागते होने पर भी बीच-बीच में पीछा करने वालों पर घातक वाण-वर्षा करने में समर्थ होते थे। तुर्क रणनीति राजपूत रणनीति से कई दृष्टियों से श्रेष्ठतर थी। तुर्क सेनापति प्रायः सैन्य-संचालन की ओर विशेष ध्यान देता था और केवल अत्यन्त नाजुक परिस्थितियों में साधारण सैनिक के समान युद्ध करके अपने व्यक्तिगत शौर्य से अपने सैनिकों को प्रोत्साहन देने की चेष्टा करता था। इसके विपरीत राजपूत नेता सैन्य-संचालन की अपेक्षा व्यक्तिगत शौर्यप्रदर्शन पर अधिक बल देता था। तुर्क सेनापति अपनी व्यक्तिगत रक्षा की ओर बहुत सतर्क रहता था क्योंकि वह जानता था कि विदेश में नेताहीन सेना कुछ भी न कर पायेगी। परन्तु राजपूत सेनापति प्रायः हाथियों पर चढ़ कर युद्ध करते थे और उनको इस प्रकार सजाते थे कि दूर से शत्रु-मित्र दोनों को पता चल जाता था कि सेनापति कहाँ है। शत्रु को इसमें यह सुविधा होती थी कि वह उसे घायल करने, मार डालने अथवा रण-क्षेत्र से दूर हटाने के लिये सुगमता से चेष्टा कर सकता था। मित्र-पक्ष को इसमें यह असुविधा होती थी कि यदि जयचंद्र की भांति वह घायल होकर गिर जाय अथवा पृथ्वीराज की भांति वह किसी कारण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उतर कर घोड़े पर चढ़ जाय तो वह उसे देख न पाते थे और समझ लेते थे कि वह या तो मर गया है, अथवा वह पराजय की आशंका के कारण भाग गया है। दोनों ही दशाओं में वे भी युद्ध बन्द कर देते थे और इधर-उधर भागने लगते थे। तुर्कों ने कई बार अपनी कोतल सेनाओं का उपयोग करके पराजय को विजय में परिणत कर दिया था परन्तु राजपूत सभी सैनिकों को आरम्भ से ही युद्ध में लगा देते थे। कावा काट कर पार्श्व पर टूट पड़ना अथवा पीछे से धावा करना, भागने का बहाना करके शत्रु को उसकी प्रबल मोर्चेबंदी से बाहर निकाल लाना, सामान्य नागरिकों को धन का लोभ अथवा मृत्यु का भय दिखाकर उपयोगी भौगोलिक और गुप्त सूचना प्राप्त करना, आदि तुर्कों की नीति के आवश्यक अंग थे। परन्तु राजपूतों ने इनमें से किसी का एक बार भी उपयोग नहीं किया। साधनों के नैतिक पहलू पर ध्यान न देकर तुर्क केवल विजयप्राप्ति का ध्यान रखते थे। राजपूत धर्मयुद्ध द्वारा ही विजय लाभ करना चाहते थे। पराजित शत्रु को अधिकतम क्षति पहुँचाने की चेष्टा करने के स्थान पर वे प्रायः उसे भाग जाने देते थे। तुर्क पराजित होने पर विजय के लिए और अधिक परिश्रम करते थे। राजपूत नेता सैनिकों के जीवन-मरण की उपेक्षा करके केवल वंशगत आन पर मर मिटते थे और पराजय होने पर अवसर रहते युद्ध बन्द करके अधिक-से-अधिक सैनिकों को निकाल ले जाने की चिन्ता बहुधा कम करते थे। इसी कारण पराजित होने पर उनके हताहतो तथा युद्धबन्दियों की संख्या अत्यधिक होती थी जिसके कारण भावी युद्धों में देश को क्षति उठानी पड़ती थी। तुर्कों के पास किलों को तोड़ने वाली मशीनें थीं जिनको मंजनिक, अर्रादा आदि कहते थे परन्तु राजपूतों के पास उस कोटि के हथियार नहीं थे। शहाबुद्दीन ने भटिण्डा पर सुगमता से अधिकार कर लिया परन्तु पृथ्वीराज को अपने ही देश में स्थित उसी परिचित गढ़ को लेने में तेरह महीने लग गए। ऐबक ने ११९५ में हरिराज को इतना त्रस्त किया कि वह अजमेर के गढ़ का स्वामी होने पर भी उसकी रक्षा न कर सका। परन्तु ११९६-९७ ई० में जब मेड़ों, चौहानों तथा चालुक्य सोलंकियों की विजयी सेना ने ऐबक को अजमेर में घेर लिया तब वे विदेशी तुर्क को पराजित करके अजमेर गढ़ न ले सके। तुर्कों ने सदा आक्रमणात्मक युद्ध किए और अपनी सुविधा के अनुसार रणस्थल का चयन किया। परन्तु राजपूत प्रायः हमेशा ही रक्षात्मक लड़ाई लड़ते रहे और उन्हें उसी समय वहीं लड़ना पड़ा जब जहाँ तुर्क सेना आ जाय। इससे भी तुर्कों को लाभ हुआ। सभी युद्ध भारत-भूमि पर हुए। अस्तु हार चाहे जिस दल की हो परन्तु क्षति सदा भारतीयों की ही होती थी। शत्रु अपना कार्य सिद्ध करने के लिए कभी-कभी आतंक फैलाने का उद्योग करते थे और विरोध करने वालों को बर्बरतापूर्वक मार डालते थे तथा उनके नगर-ग्राम जला देते थे। इस कारण तुर्कों के नाम का शान्तिमय जनता पर एक आतंक-सा छा गया था। तुर्क

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेना में काफी बड़ा अंश सुशिक्षित सैनिकों का रहता था जो अपने सुलतान के प्रति विशेष भक्ति का भाव रखते थे परन्तु राजपूत सेना प्रायः करद सामंतों द्वारा भेजी हुई होती थी जो राजा की अपेक्षा अपने सामंत के प्रति ही अधिक भक्ति रखती थी और जो सामंत के असंतुष्ट होने, मर जाने अथवा घायल हो जाने पर युद्ध-विरत हो जाती थीं। साथ ही राजपूत सेना में अक्सर समय-समय पर भर्ती किए जाने वाले पेशेवर सैनिक अधिक होते थे जिनके हृदय में किसी राज्य अथवा सम्राट् के प्रति विशेष भक्ति की भावना नहीं रहती थी। तुर्कों की सेना में अधिकांश सैनिक तुर्क एवं अन्य विदेशी लोग होते थे जो अपने नेता की सफलता से लाभान्वित होने की आशा कर सकते थे और इस कारण जी-जान से लड़ते थे। उनकी सेना में कभी-कभी कुछ हिन्दू भी रहते थे परन्तु वे सब ऐसे लोग होते थे जो किसी-न-किसी कारण स्वदेशियों से घृणा करते थे और उनको पराजित कराने के लिये सब कुछ करने को उद्यत रहते थे। जाति और धर्म की विभिन्नता तथा नमकहलाली का भाव इसके मुख्य कारण थे। अस्तु तुर्कों की सेना में धोखा देने वाले लोग नहीं रहते थे। परन्तु राजपूत सेना में मुसलमान सैनिक भी होते थे जो धर्म की भावना से प्रभावित होकर कभी-कभी कठिन समय पर धोखा देते थे। तुर्कों का सैनिक खुफिया विभाग काफी चतुर था और वे संभाव्य देश-द्रोहियों का पता लगाकर उनको अपनी ओर मिलाने की पूरी चेष्टा करते थे। महमूद गजनवी ने सेवकपाल और नारायणपुर के राजा का इसी भांति उपयोग किया था। सोमनाथ की चढ़ाई में भी उसे इस प्रकार की सहायता मिली थी। शहाबुद्दीन को पृथ्वीराज के पुत्र गोविंदराज से अजमेर में और चंद्रसेन के संबंधी अजयपाल से बरन में इसी प्रकार की सहायता मिली थी। राजपूत सेना राज्य के केवल एक अंश—क्षत्रिय जाति— से चुनी जाती थी और निरन्तर युद्धों के कारण युवक सैनिकों का क्रमशः ह्रास होता जा रहा था परंतु तुर्क सेना के लिए राज्य का प्रत्येक नागरिक उपयुक्त समझा जाता था। अस्तु तुर्कों की सेना में जीवन-शक्ति अधिक रहती थी। तुर्कों की सेना धन के लोभ, लौकिक सुख तथा पारलौकिक सद्‌गति की व्यक्तिगत भावनाओं से प्रेरित होकर युद्ध करती थी। अस्तु उसमें जितना उत्साह रहता था उतना राजपूत सैनिकों में नहीं होता था क्योंकि वे न देश की रक्षा के लिए लड़ते थे, न धर्म की प्रतिष्ठा के लिए, वरन् किसी व्यक्ति-विशेष के नमक को सार्थक करने के लिए। राजपूतों की सेना में जाति-गत भेद-भाव और मिथ्या अहंकार के कारण सामूहिक एकरूपता नहीं आ पाती थी और व्यक्तिगत उन्नति की संभावना सीमित रहती थी। तुर्कों के सैनिक—दास एवं स्वतंत्र दोनों—ही इस विश्वास से लड़ते थे कि व्यतिक्गत पराक्रम और साहस द्वारा वे सुलतान तक का पद प्राप्त कर सकते थे। इस कारण भी व्यक्तिगत लाभ की भावना सामूहिक सफलता को अधिक सुलभ बना देती थी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुर्कों की शासन-प्रणाली सर्वथा दोषमुक्त हो सो बात नहीं थी। परन्तु उनके शासन की कुछ ऐसी विशेषताएँ थीं जिनके कारण उनको भारतीय विजयों में लाभ हुआ। इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेने के बाद कम-से-कम सिद्धान्त की दृष्टि से उनका शासक निर्वाचन द्वारा नियुक्त किया जाता था। इस कारण अयोग्य व्यक्ति के लिए केवल वंश-परम्परा के कारण राजा बना रह सकना कठिन था।

(२) राजनीतिक कारण

साथ ही योग्य व्यक्ति के लिए चाहे वह राज-वंश से संबंधित न भी हो राजपद प्राप्त करना सम्भव था। इस भांति वे तुर्क शासक ही टिक पाते थे जो सचमुच योग्य हों अथवा जिनको योग्य व्यक्तियों की स्वामि-भक्ति प्राप्त हो। इन योग्य शासकों ने ही भारत पर आक्रमण किया। दूसरे, इस्लामी नियम के अनुसार जातियों का भेद किए बिना सभी मुसलमान समान अधिकार वाले माने जाते थे और उनको देश में सभी राजनीतिक तथा अन्य अधिकारप्राप्त रहते थे। अस्तु राज्य को न केवल उनका हार्दिक सहयोग प्राप्त होना सुगम होता था, वरन् राज्य के विभिन्न पदों के लिए उपयुक्त कर्मचारी एक विस्तृत क्षेत्र से चुने जा सकते थे। इसके विपरीत राजपूत शासक वंशानुगत राजतंत्र प्रणाली को मानते थे और वे प्रायः ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों को ही ऊँचे पद देते थे, इसमें भी कार्य-विभाजन का सिद्धान्त लागू था। ब्राह्मण भी प्रायः मंत्रियों और असैनिक कर्मचारियों के ही पद पर रखे जाते थे। बहुधा इन पदों पर भी बाप के बाद बेटे की नियुक्ति की जाती थी। इस भांति उन्हें सम्पूर्ण जनता का सहयोग प्राप्त होना असंभव था। उनके राजनियमों में भी जाति के अनुसार पक्षपात किया जाता था। फलतः छोटी जातियों के आत्मसम्मानी लोग इस व्यवस्था से असंतुष्ट थे। इस वर्ग के ही लोगों ने तुर्क आक्रमणकारियों की विशेष सहायता की। साधारण जनता को न शासन में हाथ बँटाने का अधिकार था और न युद्ध में भाग लेने का। इस कारण राजा और प्रजा में घनिष्ट संपर्क नहीं रहता था। जनता राजनीतिक प्रश्नों की ओर अन्यमनस्कता अथवा उदासीनता का भाव रखने लगी थी। वह समझती थी कि शासन-संचालन एवं देश की रक्षा उसका कर्तव्य नहीं है। इस राजनीतिक उदासीनता ने तुर्क विजेताओं का कार्य काफी सुगम कर दिया। दूसरे, राजपूत शासक प्रायः युद्धरत रहने के कारण जनहित के कार्यों की अपेक्षा सामरिक साधन इकट्ठा करने में ही व्यस्त रहते थे। इसलिए जनता में उनके शासन के प्रति कोई विशेष उत्साह भी नहीं था। राजपूतों का राजनीतिक आदर्श था चक्रवर्ती सम्राट् बनना। अस्तु, प्रत्येक महत्वाकांक्षी शासक अपने पड़ोसियों को हराने की चेष्टा करता रहता था। परन्तु सफलता मिलने पर वह केवल उसे करद अधीन शासक बना कर संतुष्ट हो जाता था और उसके वंश को समूल नष्ट करके वहाँ अपना शासन स्थापित करने का उद्योग नहीं करता था। इस भांति प्रत्येक बड़े राज्य में ऐसे लोग

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्यमान रहते थे जो केन्द्रीय सरकार की कमजोरी की आतुरता से बाट देखा करते थे और स्वामिभक्ति के स्थान पर विद्रोह की भावना से अधिक प्रभावित रहते थे। इस आदर्श का व्यवहारिक फल था अनन्तकाल व्यापी निरन्तर युद्ध और सामन्तशाही व्यवस्था। राजपूत इन घरेलू झगड़ों में ही इतने व्यस्त और मस्त रहते थे कि उन्होंने कोई वैदेशिक विभाग संगठित करने की ओर ध्यान ही नहीं दिया। इस कारण राजपूतों की शक्ति क्षीण होती जा रही थी। तुर्कों ने उस समय आक्रमण किया जब राजपूत अपने को काफी दुर्बल कर चुके थे। आश्चर्य की बात यह है कि इन दोषों के बावजूद राजपूत जाति इतनी सबल रह गई थी कि उसने शहाबुद्दीन की सेना को तीन बार पराजित किया और युद्धस्थल में पराजित होने तथा पुराने नेताओं के मारे जाने पर भी उसने स्थानीय विद्रोह कभी बन्द नहीं किए और इस भांति तुर्कों के अत्याचारों और सैनिक दबावों के बावजूद उसने भविष्य में तुर्कों को निकाल बाहर करने की आशा को कभी नहीं छोड़ा। यदि वे विदेशी विजेता के विरुद्ध किसी एक नेता की अध्यक्षता में लड़ सकते और पराजित राजवंशों के अनेक लोग राजपूताने और मध्यभारत की ओर न चले जाते तो उनका विरोध कहीं अधिक सफल होता।

किन्तु ऐसा करना संभव नहीं था। इसके लिए राजपूतों का सामाजिक संगठन विशेष रूप से उत्तरदायी था। राजपूत अनेक उपजातियों में विभक्त थे और प्रत्येक अपने कुल-परम्परा को विशेष महत्व देता था। प्राय: राज्यों में उच्च सैनिक तथा प्रशासकीय पद और स्थानीय सामन्तों के पद उसी राजघराने के संबंधियों को मिलते थे जो वहाँ सत्तारूढ़ होता था। इस भांति जातिगत एवं वंशगत ऊँच-नीच की भावना उनको सहसा एक नेता के संरक्षण में युद्ध-संचालन के लिए सर्वथा अनुपयुक्त बना देती थी।

(३) सामाजिक कारण

राजपूतों में अनेक गुण थे। उनके साहस, शौर्य, सत्यपरायणता, विद्याप्रेम, एवं आन पर मर मिटने की भावना की सभी ने प्रशंसा की है। स्त्रियों, बच्चों और वृद्ध पुरुषों का सम्मान, असैनिक जनता के हितों की उपेक्षा न करना, शरणागत को अभयदान आदि उनके चरित्र को ऊँचा उठाते हैं। परन्तु उनमें कुछ दोष भी थे और कुछ दशाओं में उनके गुण भी अवगुण बन जाते थे। वंश की मर्यादा के लिए जहाँ उनके कार्य प्रशंसनीय हैं वहाँ इस मर्यादा की आड़ में अत्यन्त अहंकारी हो जाना दुर्गुण था और इसी कारण उनके लिए मिलकर युद्ध करना कठिन होता था। आन पर मर मिटना साहस एवं आत्म-सम्मान का परिचायक है परन्तु देशकाल का ध्यान बिना रखे, केवल मर मिटने पर ही तुल जाना सैनिक दृष्टि से मूर्खता कही जायगी। इनके अतिरिक्त उनमें मादक द्रव्यों का उपयोग, द्यूतक्रीड़ा, बहुविवाह आदि की भी कुरीतियाँ थीं जिनके कारण उनका नैतिक स्तर गिर रहा था और उनमें अध्यवसाय तथा चारित्रिक दृढ़ता घटने लगी थी। इस भांति राजपूत जाति भीतर-भीतर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुर्बल हो रही थी। उसने विदेशी सम्पर्क का बहिष्कार करके और अपने को ही जगत् में सर्वश्रेष्ठ समझकर अपने सांस्कृतिक पतन का मार्ग भी खोल दिया। इस पतनोन्मुख समाज के लिये अन्य हिन्दू जातियों का संबल लेकर पुष्ट होना सम्भव नहीं था। हिन्दू-व्यवस्था के अनुसार कार्यों का विभाजन व्यक्तिगत रुचि एवं क्षमता के अनुसार न हो कर प्रायः वंश के आधार पर किया जाता था और इस प्रणाली में हिन्दू समाज का आधे से अधिक भाग देशरक्षा के कार्य से विमुख एवं विरत कर दिया गया। फलतः राष्ट्रीयता की भावना का विकास ही नहीं हो सका और तुर्कों को भारतीयों के स्थान पर केवल कुछ राजवंशों से युद्ध करना पड़ा। इसलिए विजय-कार्य सुगम हो गया और विजय होने पर शासन की समस्याएँ बहुत जटिल नहीं हुईं।

(४) धार्मिक कारण

धार्मिक दृष्टि से भी तत्कालीन भारतीय समाज उन्नत दशा में नहीं था। देश में अनेक संप्रदाय थे जिनकी पारस्परिक ईर्ष्या कभी-कभी शास्त्रीय मतभेद की सीमा को लाँघकर राजनीतिक कुचक्रों के स्तर पर आ जाती थी। हिन्दुओं का कर्मवाद उनको कर्मठ बनाने के स्थान पर भाग्यवादी बना रहा था और वे ज्योतिषियों की भविष्य-वाणियों, संस्कार के कुपरिणामों, नियति की अटलता पर ऐसा विश्वास करते कि कभी-कभी आत्मविश्वास ही खो बैठते थे और कभी लापरवाह हो जाते थे। राजा लक्ष्मणसेन की पराजय और इख्तियारुद्दीन की विजय में इस प्रकार की भावना का भी हाथ था। भारतीय जनता तुर्कों के शासन से असंतुष्ट होने पर भी उसे भगवत-इच्छा समझ कर अथवा अपने संचित पापों का परिणाम समझ कर कष्ट भोगने पर उद्यत हो गई परन्तु उसने उनका विरोध करना अपने देश और धर्म के प्रति अपना कर्त्तव्य नहीं समझा। इसके विपरीत मुसलमान पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते। वे इस जीवन के सुख-दुख के लिए बहुत कुछ अपने को ही दायी मानकर खूब चेष्टा करते हैं। भारतीय युद्धों में जेहाद का नारा लगाकर वे शारीरिक कष्टों की उपेक्षा करके डट कर संग्राम करते थे और विश्वास रखते थे कि जियेंगे तो भारत की प्रचुर संपत्ति और विस्तृत उर्वरा भूमि का लाभ उठायेंगे और यदि मर गये तो शहीदों की गिनती में आयेंगे और जन्नत का आनन्द लूटेंगे। इस भांति धार्मिक विश्वास भारतीय समाज को सैनिक दृष्टि से शिथिल और तुर्क को प्रबल एवं साहसी बनाने में योग देता था। अनेक मुसलमान धर्मप्रचारक भी देश में आ गये थे। उनके शिष्यवर्ग से भी तुर्कों को अपनी विजय में सहायता मिली। कुछ विद्वानों का मत है कि बौद्धों और जैनियों के अहिंसा के सिद्धान्त का भी भारतीय समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। इसने भी उसकी सैनिक शक्ति को कुण्ठित कर दिया है।

इन सब के अतिरिक्त सभी युद्धों में नेताओं के व्यक्तित्व का भी बहुत प्रभाव

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ता है। महमूद ग़ज़नवी, मुईजुद्दीन मुहम्मद बिन साम, तथा क़ुत्बुद्दीन ऐबक उच्च कोटि के सेनानायक थे—उनको विभिन्न रण-क्षेत्रों में अनुभव प्राप्त करने का अवसर मिल चुका था। उनमें नेतृत्व के गुण जन्मजात थे। भारतीय शासकों में जयपाल, निडर भीम, भोज परमार, पृथ्वीराज चौहान, जयचन्द्र राठौर आदि भी कुशल सेनानायक थे परन्तु, सब बातों पर विचार करके तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर वे तुर्क विजेताओं के समान अनुभवी, दूरदर्शी, तथा बुद्धि-विचक्षण नहीं थे। इसी से किसी न किसी स्थल में उनसे कोई न कोई चूक हो जाती थी और शत्रु उसी का लाभ उठाकर उनको हराने में सफल हो जाता था। अस्तु, तुर्कों की विजय का कारण तुर्क जाति का राजपूत जाति से श्रेष्ठ होना नहीं है, वरन् संबंधित तुर्क नेताओं का विपक्षी राजपूत नेताओं से अधिक योग्य होना। इस अन्तर ने भी युद्ध के परिणाम को प्रभावित किया।

(५) व्यक्तिगत कारण

इतिहास में प्रायः यह देखा जाता है कि विजेता को विजित से इस प्रकार श्रेष्ठ दिखा दिया जाता है जिससे लगता है कि पराजित दल के लिए विजयलाभ करना संभव ही नहीं था। यह दृष्टिकोण संभवतः बहुत ठीक नहीं है। मानव और देश के जीवन में संयोग और आकस्मिक घटनाओं का कभी-कभी ऐसा प्रभाव पड़ता है कि उससे जीवन की दिशा ही बदल जाती है। तुर्कों की विजय में अन्य कारणों के साथ-साथ सौभाग्यपूर्ण संयोग से भी सहायता मिली। जब जयपाल ने ९८६ ई० में सुबुक्तगीन के राज्य पर चढ़ाई की तब कई दिन के युद्ध के बाद भी किसी पक्ष की विजय नहीं हुई। उसी समय यकायक ऐसी भीषण हिम—और उपल-वर्षा हुई कि भारतीय सैनिकों में से अनेक शीत के कारण मृत्यु अथवा रोग के शिकार हो गये। फलतः जयपाल को अपमानजनक संधि करनी पड़ी। यहीं से उसके सैनिकों का नैतिक साहस क्षीण होने लगा। इस प्रकार की दुर्घटना यदि सुबुक्तगीन की सेना पर घटती तब नहीं कहा जा सकता कि इतिहास का क्या रूप होता। इसी भांति गण्ड चंदेल का यकायक रातोरात भाग जाना, आनन्दपाल के पुत्र के हाथी का बिगड़ जाना, महमूद की सेना का सोमनाथ विजय से लौटते समय समुद्र तैर कर निकल जाना और उस समय ज्वार का ना आना, जयचंद्र की आँख में तीर लग जाना आदि अनेक स्थल हैं जहाँ आकस्मिक घटनाओं ने युद्ध का परिणाम बदल दिया और यह बदलाव सदा तुर्कों के ही पक्ष में रहा।

(६) आकस्मिक

अतः तुर्कों की सफलता इन सभी कारणों के सामूहिक परिणाम-स्वरूप हुई। साथ ही यह भी स्मरणीय है कि तुर्कों की ऐसी विजय नहीं हुई कि राजपूत सदा के लिए नष्ट हो जायें। तुर्कों का अधिकार प्रायः प्रधान नगरों और गढ़ों तक ही सीमित था। वहाँ पर भी वे राजपूत छापामारों के कारण सुख की नींद नहीं सो पाते

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे। स्थानीय विद्रोह कभी शान्त हुए ही नहीं, स्वतंत्र राजपूत राज्य बराबर बने रहे और तुर्क सुलतानों से लोहा लेते रहे। इस कारण न तो तुर्कों को भारत में बहुत मनमानी करने का अवसर मिला और न भारतीयों का आत्मविश्वास तथा सांस्कृतिक श्रेष्ठता की भावना का ही विनाश हुआ।

सहायक ग्रन्थ

(१) इलियट और डासन—भाग २ भूमिका तथा पृष्ठ ११५-१५३ एवं २०२-२९४।

(२) हबीबुल्ला—दी फाउण्डेशन आफ मुस्लिम एम्पायर इन इण्डिया पृष्ठ २०-८०, ३०९-३१३, एवं परिशिष्ट ए० बी०।

(३) हेग—कैंम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग ३ पृष्ठ ३८ से ४९।

(४) मुहम्मद अजीज अहमद—अर्ली टर्किश एम्पायर आफ डेल्ही—पृष्ठ १-१२२।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खण्ड २

दिल्ली की सल्तनत की स्थापना

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४

ऐबक और इलबरी राजघराने

मुईजुद्दीन की मृत्यु के बाद उसका भतीजा ग़यासुद्दीन महमूद ग़ोर का शासक हो गया। परन्तु उसे आन्तरिक विद्रोहों तथा वैदेशिक आक्रमणों दोनों से ही भय था। ख्वारिज़म का शाह ग़ोर और ग़ज़नी को हड़पने पर तुला हुआ था और ग़यास में इतनी क्षमता नहीं थी कि वह उसके आक्रमणों की बाढ़ को रोक सके। इधर देश के भीतर मुईजुद्दीन के तुर्क सर्दारों में ताजुद्दीन यलदौज़, नासिरुद्दीन, क़ुबाचा और क़ुत्बुद्दीन ऐबक बहुत योग्य एवं महत्वाकांक्षी थे और स्वतंत्र होने की इच्छा रखते थे। ग़यासुद्दीन इनके विद्रोहों को रोकने में भी अशक्त था। अस्तु, मुईजुद्दीन के मरते ही उसके साम्राज्य का बँटवारा आरम्भ हो गया। ताजुद्दीन यलदौज़ करमान का हाकिम था। उसने ग़ज़नी पर अधिकार कर लिया और भारत को भी अपने आधिपत्य में लाने के मंसूबे बनाने लगा। नासिरुद्दीन क़ुबाचा १२०५ ई० से मुलतान और उच्छ का हाकिम था। उसने सारे सिंध पर अधिकार कर लिया और स्वतंत्र होने की इच्छा करने लगा।

मुईजुद्दीन मुहम्मद ग़ोरी के राज्य का विभाजन

मुईजुद्दीन के हाकिमों में सर्वाधिक शक्तिवान क़ुत्बुद्दीन ऐबक था। उसके माता-पिता तुर्किस्तान के निवासी तुर्क थे परन्तु वह जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में ही निशापुर के क़ाज़ी फखरुद्दीन अब्दुल अज़ीज़ कूफ़ी द्वारा खरीद लिया गया और दासता का जीवन विताने लगा। फ़ख़रुद्दीन ऐबक के शील और बुद्धि से ऐसा प्रभावित हुआ कि उसने उसे अच्छी प्रकार शिक्षित कर दिया। कालान्तर में वह ग़ज़नी के स्वामी शहाबुद्दीन मुहम्मद ग़ोरी के हाथ बेचा गया। यहीं से उसका भाग्य-सूर्य चमकना आरम्भ हुआ। शहाबुद्दीन उसके शौर्य और साहस से तो प्रसन्न था ही। परन्तु उसकी स्वामिभक्ति और दानशीलता ने उसे अपने स्वामी का विशेष कृपापात्र बना दिया। पहले उसे अमीर आख़ूर (घुड़सवारों का अध्यक्ष) नियुक्त किया गया और कुछ काल बाद जब

क़ुत्बुद्दीन ऐबक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शहाबुद्दीन ने पृथ्वीराज को पराजित किया तब वह पंजाब और अंतर्वेद का हाकिम नियुक्त हुआ। हम पिछले अध्याय में पढ़ चुके हैं कि उसने ११९२ से ११९७ तक किस प्रकार राजपूतों के उग्र विरोध के बावजूद नवस्थापित मुस्लिम राज्य की रक्षा की एवं उसकी सीमा को बढ़ाया तथा सदा अपने स्वामी की इच्छाओं का पालन किया। ११९७ से १२०५ ई० तक उसने चंदेलों, सेनों तथा खोखरों की पराजय में योग दिया और ११९६ से वह नियमित रूप से शहाबुद्दीन के भारतीय साम्राज्य का वाइसराय बना दिया गया। ११९२ से १२०५ तक भारतीय विजय का कार्य प्रायः ऐबक ने ही किया, केवल ११९४ में जयचंद्र के विरुद्ध, ११९५ में ग्वालियर और बयाना के विरुद्ध, ११९६-९७ ई० में मेड़ों और सोलंकियों के विरुद्ध तथा १२०५ ई० में खोखरों के विरुद्ध शहाबुद्दीन ने सेना भेजकर अथवा स्वयं आकर ऐबक का हाथ बटाया था। अस्तु ऐबक ही एक प्रकार से शहाबुद्दीन के भारतीय साम्राज्य का भाग्यविधाता बन गया था और सभी भारत-स्थित तुर्क कर्मचारी ऐबक को अपना प्रधान समझने के अभ्यस्त हो गये थे। इसलिए ऐबक के लिए भारत का स्वतंत्र शासक बन सकना सुगम था।

क़ुत्बुद्दीन भारत का सुल्तान

क़ुत्बुद्दीन चाहता था कि ग़ोरवंशी शासक से बिना बिगाड़ किये भारत में एक स्वतंत्र तुर्की सल्तनत स्थापित की जाय। इस इच्छा के दो प्रधान कारण थे। एक तो वह यह देख रहा था कि मुईज़ुद्दीन के उत्तराधिकारी की अयोग्यता तथा ख्वारिज़्म के शाह की शत्रुता एवं शक्ति के कारण ग़ोर साम्राज्य का अंत निकट था। यदि वह भारतीय तुर्की साम्राज्य को ग़ोर राज्य से संयुक्त किए रहता तो ख्वारिज़्म का शाह अवश्य ही भारत पर भी विजय करने और उसको अधीनस्थ बनाने का प्रयत्न करेगा। वह इसे तुर्की सल्तनत की उन्नति और शक्ति के लिए घातक समझता था। दूसरे, उसकी अपनी महत्वाकांक्षा भारत का स्वतंत्र शासक बनने की थी। उसने सोचा कि यदि ग़ोरवंशी शासक उसे स्वतः भारत का स्वतंत्र सुलतान मान ले तो उसके लिए अन्य विरोधियों अथवा प्रतिद्वंदियों को दबाना सुगम होगा। इसलिए उसने ग़यासुद्दीन महमूद के पास एक दूत के द्वारा भेंट भेजी और यह प्रस्ताव किया कि यदि उसे भारत का सुलतान नियुक्त कर दिया जाय तो वह ख्वारिज़्म के शाह के विरुद्ध उसकी सहायता करेगा। ग़यासुद्दीन ने समझ लिया कि ख्वारिज़्म की शत्रुता के कारण उसके लिए क़ुत्बुद्दीन को बलपूर्वक अधीन बनाये रखना प्रायः असंभव होगा। उसे अपनी व्यक्तिगत शक्ति का भी अनुमान था। इस कारण उसने क़ुत्बुद्दीन को संतुष्ट रख कर ख्वारिज़्म के शाह को बाढ़ को रोकना अपने वंश के भविष्य के लिए अधिक आवश्यक समझा। अस्तु, उसने ऐबक को एक सिंहासन, छत्र, दूरबाश, पताका तथा नक्क़ारा भेज दिया जो कि स्वतंत्रता के परिचायक थे और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसने उसे सुलतान की पदवी से भी विभूषित कर दिया। ऐबक इस भांति भारतीय तुर्की सल्तनत का सुलतान स्वीकार कर लिया गया और उसे वे सब वस्तुएँ भेजी गईं जो एक स्वतंत्र शासक को ही रखने का अधिकार रहता है। इधर ऐबक ने भारत में अपनी स्थिति दृढ़कर ली थी। लाहौर के तुर्क सर्दारों ने उसे अभिषेक के लिए आमंत्रित किया। दिल्ली में उसका अधिकार स्वीकृत था ही। ऐबक लाहौर गया और जून १२०६ ई० में उसका नियमानुसार अभिषेक हो गया।

परन्तु अभी उसके सामने अनेक जटिल समस्याएँ उपस्थित थीं जिनको बिना सुलझाये उसकी स्थिति डाँवाडोल ही रहती। उसे सुलतान स्वीकार अवश्य किया गया था और मिनहाजुस्सिराज के अनुसार उसी समय से उसके नाम के सिक्के ढाले जाने लगे तथा खुतबे में भी उसका नाम रख दिया गया, परन्तु अभी वह दास ही था और इस्लामी प्रथा के अनुसार कोई दास सुलतान होने का अधिकारी ही नहीं होता। शायद इस कमजोरी का अनुभव करके ही यद्यपि ऐबक ने सुलतान के अधिकारों का उपयोग करना आरम्भ कर दिया तो भी उसने अपने शिलालेखों में अपने को मलिक अथवा सिपहसालार ही कहा है। प्रोफेसर हबीबुल्ला का मत है कि उसने खुतबे और सिक्के में भी अपना नाम रखा नहीं होगा क्योंकि उसके नाम के असंदिग्ध सिक्के मिलते नहीं हैं। उनका यह भी कहना है कि मिनहाज ने सिक्के-खुतबे में नाम रखने की जो बात लिखी है वह केवल परिपाटी के कारण लिख दी है। अस्तु ऐबक की पहली आवश्यकता थी दासता-मुक्ति-पत्र की प्राप्ति। १२०८ ई० में ग़यासुद्दीन से उसे यह पत्र मिल गया और तब वह नियमित रूप से भारतीय तुर्की सल्तनत का सुलतान कहलाने का अधिकारी हुआ।

ऐबक की कठिनाइयां और उसकी नीति

दूसरे, मुईजुद्दीन के दासों एवं सेवकों में कई ऐसे लोग थे जो बहुत महत्वाकांक्षी थे और जिनको सम्मानित पद प्राप्त थे। उनकी महत्वाकांक्षा के कारण भारतीय साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने की आशंका थी। ऐसे व्यक्तियों में भारत में दो सर्दार विशेष उल्लेखनीय हैं। नासिरुद्दीन क़ुबाचा मुलतान और उच्छ का हाकिम था और १२०५ ई० से उसकी प्रतिष्ठा बढ़ने लगी थी। ऐबक ने उससे अपनी कन्या का विवाह कर दिया और क़ुबाचा ने ऐबक का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। दूसरा व्यक्ति था अलीमर्दान खिलजी जो इख्तियारुद्दीन का वध करके बंगाल का शासक बन बैठा था। वह स्वतंत्र होने का इच्छुक था। परन्तु खिलजी सर्दार उसे पसंद नहीं करते थे और इख्तियारुद्दीन का हत्यारा समझ कर उससे घृणा करते थे। जब अलीमर्दान बंगाल में अपना प्रभाव न जमा सका तब वह भाग कर ऐबक के पास गया और अपनी निर्दोषिता सिद्ध करके उसने उसकी सहानुभूति प्राप्त कर ली। ऐबक ने देखा कि वह अन्य कठिनाइयों के कारण बंगाल के आन्तरिक झगड़ों में हस्तक्षेप

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न कर सकेगा। अतएव उसने अलीमर्दान को बंगाल का अधिकारी स्वीकार करके दिल्ली के सुलतान का बंगाल पर अधिकार बनाये रखने की सोची। उसने अलीमर्दान को निर्दोष मान लिया तथा उसे बंगाल के हाकिम के पद पर नियुक्त करके उसको थोड़ी सेना देकर भेज दिया। कुत्बुद्दीन ऐबक का समर्थन प्राप्त होने के कारण खिलजी सर्दारों ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। इस भांति खिलजियों के विरोध और बंगाल के स्वतंत्र हो जाने की आशंका का अंत हुआ।

तीसरे, ऐबक को पश्चिमोत्तर सीमा को सुरक्षित करना था। ताजुद्दीन यलदौज ग़ज़नी का स्वामी बन बैठा था। ग़ज़नी मुईजुद्दीन की राजधानी रही थी। इस कारण यलदौज़ अपने को मुइज़ुद्दीन का उत्तराधिकारी समझता था और भारतीय सर्दारों को अपने आधिपत्य में लाने का इच्छुक था। यलदौज़ से भी अधिक भय ख्वारिज़्म के शाह का था जो मुईज़ुद्दीन के समस्त राज्य को हथियाना चाहता था। ऐबक ने क़ुबाचा को मिलाकर अपनी स्थिति सुदृढ़ की और फिर लाहौर में रहकर पंजाब की सुरक्षा की व्यवस्था करने लगा। यलदौज़ क़ुबाचा से बहुत असंतुष्ट हुआ और उसने एक सेना लेकर लाहौर पर अधिकार करने की चेष्टा की। ऐबक ने न केवल उसे पराजित करके देश के बाहर खदेड़ दिया, वरन् ग़ज़नी पर भी अधिकार कर लिया। ग़ज़नी-वासी जनता को ऐबक के शासन की अपेक्षा यलदौज़ का शासन अधिक अच्छा लगा। अस्तु उसने फिर से यलदौज़ को आमन्त्रित किया और ऐबक के खिलाफ विद्रोह करके उसे ग़ज़नी छोड़ने पर बाध्य किया। ग़ज़नी-वासियों के विद्रोह का कारण यह बताया जाता है कि ऐबक ने वहाँ जाकर रासरंग की धूम मचा दी। इससे जनता की दृष्टि में वह गिर गया। परन्तु शायद असली कारण कुछ और था। ग़ज़नी वाले यह सहन नहीं कर सकते थे कि अभी तक दिल्ली-पति के अधीश्वर की राजधानी रहकर अब वह दिल्ली के सुलतान के अधीन हाकिम का अधिष्ठान बने। ऐबक ग़ज़नी में रहकर भारत पर शासन न करता, वरन् वह दिल्ली में रहकर ग़ज़नी पर शासन करता। यह स्थिति उनको अपमानजनक प्रतीत हुई। इस कारण उन्होंने ताजुद्दीन को वापस बुलाकर अपने नगर के गौरव को सुरक्षित रखने की चेष्टा की। अस्तु १२०८ ई० में प्रायः ४० दिन ग़ज़नी का स्वामी रहने के बाद ऐबक लाहौर वापस आने के लिए बाध्य हुआ। एक दृष्टि से कह सकते हैं कि ऐबक इस प्रयत्न में असफल रहा परन्तु परिणाम को देखकर हम दूसरे निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। यलदौज़ ने ऐबक की शक्ति की थाह पा ली और उसने भविष्य में उसके विरुद्ध कोई आक्रमण नहीं किया। इस भांति यलदौज़ की ओर से ऐबक को कोई भय नहीं रहा।

चौथे, ऐबक को अनेक हिन्दू विद्रोहों का सामना करना था। मुईज़ुद्दीन के मरने की सूचना पाते ही राजपूतों ने प्रबलतर वेग से तुर्कों की जड़ उखाड़ फेंकने का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्योग आरम्भ किया। चंदेल शासक त्रैलोक्यवर्मा ने कालिंजर पर पुनः अधिकार कर लिया और उसने तुर्कों को अपने राज्य के बाहर खदेड़ कर उनका दक्षिण की ओर बढ़ सकना दुष्कर कर दिया। परिहारों ने ग्वालियर का दुर्ग छीन लिया और तुर्कों को वहाँ से मार भगाया। अंतर्वेद में भी कई छोटे-छोटे राजा थे जिन्होंने कर देना बंद कर दिया और तुर्कों को निकाल बाहर किया। जयचंद्र के उत्तराधिकारी हरिश्चंद्र ने गहड़वालों की शक्ति को पुनरुज्जीवित करने का सफल उद्योग किया और उसने बदायूँ तथा फर्रुखाबाद क्षेत्रों से तुर्क हाकिमों को हटने पर बाध्य किया। सेनवंशी शासक पूर्वी बंगाल से पश्चिम की ओर बढ़कर अपना राज्य लौटाने के लिए सचेष्ट थे। ऐसी स्थिति में भय यह था कि तुर्कों की फूट के कारण तुर्की सल्तनत का ही अन्त न हो जाय। ऐबक ने पूर्वी तथा पश्चिमी सीमाओं की सुरक्षा की व्यवस्था करके अंतर्वेद के राजाओं पर दबाव डाला। परन्तु यलदौज़ के भय के कारण वह सारी शक्ति के साथ राजपूतों से युद्ध नहीं कर सका। फल यह हुआ कि यद्यपि उसने बदायूँ पर अधिकार करके वहाँ अपने एक दास इल्तुतमिश को नियुक्त किया और दूसरे छोटे राजाओं से कर वसूल किया परन्तु वह कालिंजर अथवा ग्वालियर को जीतने की व्यवस्था न कर सका और १२१० ई० में चौगान खेलते समय घोड़े से गिर कर मर गया।

क़ुत्बुद्दीन एक प्रवीण घुड़सवार, अचूक तीरंदाज, योग्य सेनानायक तथा साहसी नेता था। उसने अपने स्वामी की सदा बड़ी लगन से सेवा की। हेग तथा अनेक अन्य विद्वानों ने उसी को भारत में मुस्लिम-साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक बताया है। प्रोफेसर हबीबुल्ला कहते हैं कि यद्यपि मुईजुद्दीन ने संचालन की प्रेरणा दी परन्तु ऐबक ने ही दिल्ली राज्य की हर पहलू को एक योजना और व्यवस्था के अनुसार संगठित किया। हम कह सकते हैं कि मुईजुद्दीन के जीवन-काल में ऐबक ने जो कुछ किया उसका श्रेय, प्रचलित परिपाटी के अनुसार, मुईजुद्दीन को ही मिलेगा क्योंकि ऐबक की नियुक्ति तथा ऐबक को लगातार भारत में बनाये रखने तथा समय-समय पर उसकी सहायता करने और उसकी आवश्यक निर्देश भेजने का कार्य मुईजुद्दीन ने ही किया। परन्तु मुईजुद्दीन की योजना को कार्यान्वित करते समय उसमें संशोधन अथवा परिवर्तन करके उसको सफल बनाने में ऐबक का बहुत बड़ा हाथ है। नव तुर्की साम्राज्य के शत्रुओं का दमन तथा विजित राज्य के शासन की काम चलाऊ व्यवस्था करना ऐबक का ही काम था। मुईजुद्दीन की मृत्यु के बाद ऐबक ने दिल्ली राज्य को ग़ोरीराज्य के अभारतीय भागों से अलग करके बड़ी दूरदर्शिता का परिचय दिया और दिल्ली की स्वतंत्र सत्ता की स्थापना की। अस्तु, वह भारत में तुर्की साम्राज्य का संस्थापक भले ही न कहा जा सके परन्तु उसने दिल्ली की सल्तनत का प्राथमिक संगठन अवश्य किया। उसकी शक्ति, उदारता एवं न्यायप्रियता की

क़ुत्बुद्दीन के कार्य का महत्व

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहानियों के बावजूद, वह स्थायी अथवा सुदृढ़ शासन की स्थापना नहीं कर पाया परन्तु तत्कालीन परिस्थिति में क्या यह किया जा सकता था? इसमें मतभेद हो सकता है।

क़ुत्बुद्दीन की मृत्यु के पश्चात् लाहौर के तुर्क सर्दारों ने आरामशाह को सुलतान घोषित कर दिया और वहीं उसका अभिषेक कराया। यह बात दिल्ली वालों को पसन्द नहीं आई। पश्चिमोत्तर सीमा की सुरक्षा की दृष्टि से ऐबक १२०६ और १२१० ई० के बीच में अधिकतर लाहौर में ही रहा था। अस्तु, लाहौर के लोग उसी नगर को भारतीय तुर्की सल्तनत की राजधानी बनाने के इच्छुक थे। उधर दिल्ली वाले अपने नगर के महत्व को घटने देना नहीं चाहते थे। आरामशाह का लाहौर में राज्याभिषेक होने के कारण राज्य के अधिकांश ऊँचे पद तथा सम्मानित स्थान लाहौर वालों को ही मिलते। इससे दिल्ली के तुर्कों के स्वार्थ पर आघात पहुँचने की आशंका थी। इस कारण उन्होंने आरामशाह को गद्दी पर से हटाने का उद्योग किया। यह भी संभव है कि इन लोगों ने यह कार्य तुर्की सल्तनत के हित की आड़ में किया हो और यह प्रचार किया हो कि चूंकि सल्तनत की स्थिति डाँवाडोल है, इसलिए आरामशाह जैसा व्यक्ति सुलतान का कार्य-भार संभालने में अशक्त होगा। अब्दुल्ला वस्साफ ने लिखा है कि क़ुत्बुद्दीन के कोई पुत्र नहीं था। मिनहाजुस्सिराज ने लिखा है कि सुलतान क़ुत्बुद्दीन की मृत्यु होने पर भारतीय सरदारों तथा राजाओं ने सेना के संतोष, जनता की शान्ति और देश की सुव्यवस्था के हित में यह उचित समझा कि आरामशाह को गद्दी पर बिठा दें। उसके बाद ही वह कहता है कि सुलतान क़ुत्बुद्दीन के तीन पुत्रियाँ थीं, जिनमें से एक इल्तुतमिश को ब्याही थी। इस भांति मिनहाजुस्सिराज भी आरामशाह को स्पष्टतः ऐबक का पुत्र नहीं कहता। अस्तु, यद्यपि कुछ विद्वानों ने आरामशाह को ऐबक का पुत्र माना है परन्तु कई लोगों ने उसके पुत्र होने पर संदेह भी किया है। बाद की घटनाओं से पता चलता है कि आरामशाह कोई योग्य व्यक्ति नहीं था। तब उसको गद्दी पर बिठाये जाने का क्या कारण हो सकता है? अधिकतर विद्वानों का मत है कि यह इसी कारण किया गया होगा क्योंकि आरामशाह ऐबक का पुत्र था। जो भी हो, ऐबक के मरते ही तुर्कों में फूट हो गई और दिल्ली सल्तनत के टूटने की स्थिति पैदा होने लगी। क़ुबाचा ने मुलतान और उच्छ में अपने को स्वतंत्र सुलतान घोषित कर दिया। बंगाल में अलीमर्दान भी स्वतंत्र सुलतान बन गया। दिल्ली के तुर्क सर्दारों ने, जिनमें अली इस्माइल प्रमुख था, इल्तुतमिश को सुलतान का पद स्वीकार करने के लिए आमंत्रित किया। इल्तुतमिश बदायूं से दिल्ली आया। आरामशाह उसे पराजित करने के लिए एक सेना के साथ चला परन्तु इल्तुतमिश ने उसे हरा दिया और स्वयं शम्सुद्दीन के

आरामशाह
(१२१०-१२११)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाम से दिल्ली का सुलतान हो गया। आरामशाह या तो मार डाला गया या बंदी-गृह में मर गया। इस भांति ऐबक के वंश का अन्त हुआ और उसके स्थान पर इलबरी तुर्कों का राज्य स्थापित हुआ। शम्सुद्दीन इल्तुतमिश ही प्रथम इलबरी वंश का संस्थापक था।

इल्तुतमिश इलबरी तुर्कों के एक सर्दार आलम खाँ का पुत्र था। वह अत्यन्त सुन्दर तथा होन हार था। इस कारण वह अपने पिता का विशेष प्रेम-भाजन था।

इल्तुतमिश का प्रारंभिक जीवन

परन्तु उसके भाइयों अथवा संबंधियों को इस कारण उससे बहुत ईर्ष्या होने लगी और उन्होंने एक दिन चोरी से उसे एक घोड़ों के व्यापारी के हाथ बेच दिया। कई व्यक्तियों द्वारा क्रय-विक्रय के पश्चात् इल्तुतमिश ऐबक के दासों में प्रविष्ट हो गया और उसने अपनी योग्यता के कारण शीघ्र ही उसका विश्वास प्राप्त कर लिया। सन् १२०५ ई० में खोखरों के विरुद्ध युद्ध करते समय उसने ऐसे शौर्य और साहस का परिचय दिया कि मुईज़ुद्दीन ने उसकी बहुत प्रशंसा की और उसने उसी समय ऐबक से कहकर उसको दासत्व से मुक्त करा दिया। ऐबक के शासन-काल में वह बदायूँ का हाकिम नियुक्त हुआ जहाँ उसे गहड़वाल सामंतों के विरुद्ध अनेक युद्ध करने पड़े। इन युद्धों में उसने ऐसी दृढ़ता, रण-निपुणता तथा योग्यता का परिचय दिया कि दिल्ली के बहु-संख्यक तुर्क सर्दारों ने उसी को ऐबक का उत्तराधिकारी बनाना निश्चित किया। यद्यपि मिनहाजुस्सिराज के वर्णन से पता चलता है कि उसने दिल्ली पर अधिकार करने के पश्चात् ऐबक की कन्या से विवाह किया परन्तु अन्य इतिहासकारों का मत है कि इल्तुतमिश से ऐबक की कन्या का विवाह उसके जीवन-काल में ही हो गया था।

जब इल्तुतमिश दिल्ली का स्वामी हो गया तब उसकी कठिनाइयाँ पहले से कहीं अधिक बढ़ गईं। बदायूँ छोड़ते ही, गहड़वालों ने उस क्षेत्र में अपने धावों का वेग

इल्तुतमिश की कठिनाइयां

बढ़ा दिया। इधर आरामशाह की पराजय होने पर भी दिल्ली तथा उसके पड़ोस के प्रान्तों में अनेक शासक इल्तुतमिश की अधीनता स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं थे। उनके विरोध के कारण इल्तुतमिश का राजधानी पर भी निष्कंटक अधिकार नहीं था। पूरब, पश्चिम तथा दक्षिण की ओर प्रायः समस्त राज्य स्वतंत्र हो गया। कुबाचा ने मुलतान और उच्छ में अपना राज्याभिषेक कराया और पंजाब का बहुतेरा भाग दबा लिया तथा लाहौर, भटिण्डा, सरसुती कुहराम आदि गढ़ों पर अपनी चौकियाँ बैठा दीं। थोड़ी और शक्ति प्राप्त करने पर वह दिल्ली पर भी अधिकार करने की चेष्टा कर सकता था। ग़ज़नी का शासक यलदौज़ भारतीय तुर्की सल्तनत पर अपना आधिपत्य जमाने का विचार रखता था। पूरब की ओर बनारस तक अनेक हिन्दू राजा तथा तुर्की सर्दार थे जिन्होंने कर देना बन्द कर दिया था और अपने को सुलतान

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का समकक्ष समझते थे। बनारस के पूरब की ओर खिलजियों का प्रभुत्व था। अलीमर्दान ने अलाउद्दीन का विरुद धारण करके अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी थी। दक्षिण की ओर कालिंजर तथा ग्वालियर ऐबक के समय से ही स्वतंत्र थे। अब जालौर तथा रणथंभौर भी स्वतंत्र हो गये। इन सब राजनीतिक संकटों के अतिरिक्त कुछ व्यक्तिगत कठिनाइयाँ भी थीं। इल्तुतमिश ऐबक का दास था और ऐबक स्वयं मुईजुद्दीन का दास था। अस्तु, स्वयं तुर्क सर्दार इस दास के दास को अपना स्वामी मानने में अपना अपमान समझते थे। इल्तुतमिश थोड़े दिन पहले तक एक छोटे से प्रान्त का हाकिम था, अधिकांश तुर्क सर्दार उसी की कोटि के थे और कुबाचा तथा अलीमर्दान जैसे लोग ऐबक के समय में पद और प्रतिष्ठा में उससे कहीं ऊँचे थे। अस्तु, इन सबको अपने वश में करने के लिये बहुत साहस, शक्ति, एवं बुद्धि की आवश्यकता थी। सौभाग्य से इल्तुतमिश में यह सभी गुण पर्याप्त मात्रा में वर्तमान थे जिसके कारण वह नष्टप्राय तुर्की सल्तनत का जीर्णोद्धार करके उसकी नींव को दृढ़ करने में सफल हो गया।

मध्यदेश के विद्रोहों का दमन

इल्तुतमिश ने पहले मध्यदेश में अपनी स्थिति सुदृढ़ करना आवश्यक समझा। ऐबक के तुर्की अंगरक्षकों का सर्दार तथा अनेक क़ुत्बी और मुइज्ज़ी सर्दार दिल्ली के निकट सेना एकत्रित करने लगे। इल्तुतमिश ने तुरन्त उनका सामना किया। और उनको हरा कर तितर-बितर कर दिया। अधिकांश विद्रोही नेता मारे गये। इसके बाद कई महीने की लड़ाई के बाद उसने दिल्ली, बदायूँ, अवध, बनारस तथा तराई के क्षेत्र के तुर्क सरदारों तथा हिन्दू राजाओं को हराया और उन्हें आधिपत्य स्वीकार करने पर विवश किया। इस भांति सुलतान की राजधानी सुरक्षित हो गयी और उसे इतनी शक्ति प्राप्त हो गयी कि वह सल्तनत के प्रबलतर विरोधियों का सामना करने की योजना बना सके।

पश्चिमोत्तर सीमा के युद्ध

इल्तुतमिश ने अब पश्चिमोत्तर सीमा को सुरक्षित करने की चेष्टा की। क़ुबाचा की शक्ति-वृद्धि से इल्तुतमिश को विशेष भय था क्योंकि वह दिल्ली के बहुत निकट तक अधिकार जमा चुका था। दूसरे, वह भी ऐबक का दामाद था तथा मुईजुद्दीन के प्रधान सेवकों में से था। अस्तु, इल्तुतमिश की पश्चिमोत्तर सीमा की नीति का प्रधान अंग था क़ुबाचा की शक्ति को नाश करना। इसके अतिरिक्त खोखरों की बाढ़ को भी रोकना आवश्यक था क्योंकि वे भी सारे पंजाब पर अधिकार जमाने के इच्छुक थे। इल्तुतमिश ने बड़ी कूटनीतिज्ञता से काम लिया। उसने यलदौज़ को पत्र लिखा कि वह उसे दिल्ली का सुलतान स्वीकार कर ले। संभव है उसने यलदौज़ को क़ुबाचा के विरुद्ध भी भड़काया हो और उसकी शक्ति से ग़ज़नी तथा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
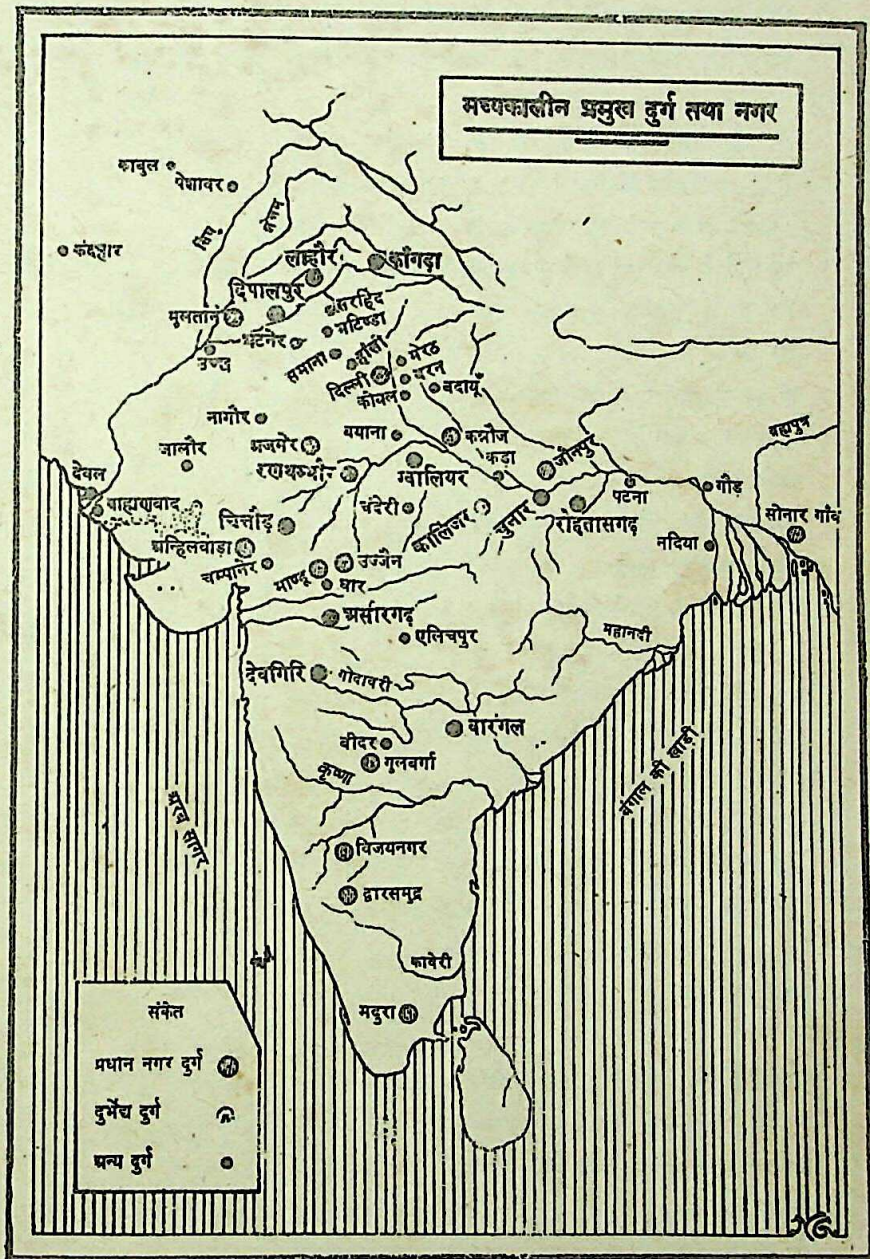
दिल्ली के शासकों को क्षति होने की संभावना की ओर संकेत किया हो। यलदौज़ ने इल्तुतमिश को सुलतान तो स्वीकार किया परन्तु उसके पास राज-चिन्ह भेजकर यह दर्शाया कि वह दिल्ली के सुलतान का सम्राट् है। यह एक प्रकार से बहुत ही अपमानजनक बात थी परन्तु स्थिति का ध्यान रखते हुए इल्तुतमिश ने उस समय कुछ प्रतिवाद नहीं किया।

सन् १२१५ ई० के पूर्व यलदौज़ ने क़ुबाचा को भी अपने आधिपत्य में लाने के उद्देश्य से पंजाब पर आक्रमण किया और लाहौर तथा पंजाब के अधिकांश भाग पर अधिकार करके क़ुबाचा को दक्षिण की ओर भगा दिया।

यलदौज़ का पंजाब पर अधिकार

क़ुबाचा की शक्ति का ह्रास इल्तुतमिश के लिए इस अर्थ में हितकर हो सकता था कि अब वह सरसुती, कुहराम, भटिण्डा आदि पर अधिकार करने में सफल हो सकता था। परन्तु इस लाभ की अपेक्षा हानि की आशंका कहीं अधिक थी। ग़ज़नी का साम्राज्य ख्वारिज्म के शाह के हमलों से जर्जर होकर अपनी अंतिम घड़ियाँ गिन रहा था। यलदौज़ ग़ज़नी खोकर निश्चय ही अब भारत की ओर भागेगा और वह इल्तुतमिश तथा क़ुबाचा दोनों के ही राज्यों को अपने वश में करना चाहेगा। इससे भी बड़ा भय यह था कि ग़ज़नी लेने के पश्चात् स्वयं ख्वारिज़्म का शाह भी यलदौज़ को समूल नष्ट करने के उद्देश्य से भारत आ सकता था और एक बार पंजाब पर अधिकार कर लेने पर दिल्ली पर भी अवश्य दाँत लगाता।

अस्तु, इल्तुतमिश बड़ी सतर्कता के साथ तैयारी करने लगा। इसी बीच में ख्वारिज़्म के शाह ने ग़ज़नी पर अधिकार कर लिया और यलदौज़ लाहौर आ गया। उसने इल्तुतमिश पर फिर आधिपत्य जतलाया और दिल्ली की ओर कूच किया। परन्तु अब इल्तुतमिश पहले से ही तैयार था। वह दिल्ली की सेना के साथ आगे बढ़ा और उसने तराइन के मैदान में यलदौज़ को हराकर बन्दी बना लिया। दिल्ली की शाहंशाही का दावा करने वाला फटे-पुराने वस्त्र पहनाकर अपमान-पूर्वक दिल्ली की सड़कों पर घुमाया गया और फिर बदायूँ में बन्दी रखा गया जहाँ कुछ साल बाद वह मर गया अथवा मार डाला गया।

यलदौज़ की पराजय और मृत्यु (१२१५-१२१७)

यलदौज़ की पराजय के बाद नासिरुद्दीन क़ुबाचा का कुछ काल के लिए फिर लाहौर पर अधिकार हो गया और संभवतः उसने इल्तुतमिश की अधीनता स्वीकार कर ली। परन्तु वास्तव में वह इल्तुतमिश को अपना सम्राट् मानना नहीं चाहता था। इसी कारण जैसे ही इल्तुतमिश दिल्ली चला गया, क़ुबाचा पहले के वादों के विरुद्ध कार्य करने लगा। १२१७ ई० में इल्तुतमिश ने लाहौर-विजय के लिए एक सेना

क़ुबाचा की प्रथम पराजय (१२१७ ई०)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भेजी। क़ुबाचा इल्तुतमिश का सामना न कर सका और लाहौर पर इल्तुतमिश का अधिकार हो गया। सुल्तान का बड़ा बेटा नासिरुद्दीन महमूद वहाँ शासक नियुक्त किया गया।

इल्तुतमिश चाहता था कि पंजाब में अपना अधिकार सुदृढ़ करने के बाद सिंध पर आक्रमण करे। इसलिए उसने तत्काल क़ुबाचा को और नहीं छेड़ा। इल्तुतमिश अभी अपनी शक्ति ही संगठित कर रहा था कि एक नयी विपत्ति उठ खड़ी हुई। इस समय मध्य एशिया में मंगोलों के आक्रमण होने लगे और उनके प्रचण्ड वेग के कारण मुसलमान राज्य तेजी से टूटने लगे। ख्वारिज़्म का शाह भी उनकी बाढ़ रोकने में असमर्थ हुआ और हारकर कैस्पियन सागर की ओर भागा। उसी समय उसका बेटा जलालुद्दीन मंगबरनी सिंधु को पार कर के पंजाब आया। उसने क़ुबाचा के हाकिमों को निकाल बाहर किया और लाहौर पर अधिकार कर लिया। उसने इल्तुतमिश से मंगोलों के विरुद्ध सहायता माँगी और उसको धार्मिक भावनाओं को उत्तेजित करने का प्रयास किया। परन्तु इल्तुतमिश बहुत तीखी सूझ-बूझ का व्यक्ति था। वह समझ गया कि दिल्ली की सल्तनत का हित इसी में है कि जलालुद्दीन शीघ्र से शीघ्र पंजाब छोड़कर सिंधु पार चला जाय। वह जानता था कि जलालुद्दीन के वंश एवं व्यक्तित्व के प्रभाव से भारत में उसका राज्य जम सकता था और इस प्रकार इल्तुतमिश को स्थिति खटाई में पड़ सकती थी। इसके अतिरिक्त उसे यह भी भय हुआ कि जलालुद्दीन का पीछा करते हुए यदि मंगोल भारत आ गये तो वे अन्य मुस्लिम रियासतों की भांति दिल्ली की सल्तनत को भी तहस-नहस करने की चेष्टा करेंगे। अस्तु, उसने जलालुद्दीन के दूत को मरवा डाला और जलालुद्दीन के पास कहला भेजा कि भारत की जलवायु आपके अनुकूल न पड़ेगी। अस्तु, आप को भारत छोड़कर चला जाना चाहिए। इस उत्तर से जलालुद्दीन अप्रसन्न हो गया और उसने खोखरों के राजा की कन्या से विवाह करके पंजाब तथा सिंध पर अपना प्रभाव बढ़ाने का उद्योग किया। इल्तुतमिश एक सेना लेकर पंजाब की ओर बढ़ा। जलालुद्दीन ने इल्तुतमिश की अपेक्षा क़ुबाचा को अधिक दुर्बल समझा। साथ ही खोखरों और क़ुबाचा में व्यक्तिगत शत्रुता होने के कारण उसे क़ुबाचा के विरुद्ध खोखरों की सहायता मिलने की अधिक आशा थी। फलतः जलालुद्दीन ने क़ुबाचा के राज्य को लूटना और बर्बाद करना आरम्भ किया। उसी समय उसे यह सूचना मिली कि खुरासान में उसके समर्थकों की संख्या बढ़ रही हैं। इसलिए १२२४ ई० में वह सिंधु नदी पार करके स्वदेश लौट गया। इस तीन चार वर्ष के भीतर उसने क़ुबाचा की शक्ति को बहुत क्षीण कर दिया। क़ुबाचा को अन्य उलझनों का भी सामना करना पड़ा। मंगोल सेना ने मुलतान पर आक्रमण करके उसे बहुत क्षतिग्रस्त किया

जलालुद्दीन मंगबरनी और क़ुबाचा (१२२०-२४ई०)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिससे क़ुबाचा की प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का लगा। उसी बीच बहुसंख्यक खिलजी तुर्क भारत में घुस आए और सीमान्त क्षेत्रों में बस गये। वे भी क़ुबाचा के लिए बराबर संकट उत्पन्न करते रहे। इन सब कठिनाइयों का फल यह हुआ कि क़ुबाचा का सारा ध्यान मुलतान, उच्छ और लाहौर पर ही केन्द्रित रह गया।

इस स्थिति से लाभ उठाकर इल्तुतमिश ने पहले भटिण्डा, कुहराम तथा सरसुती पर अपना अधिकार दृढ़ किया। फिर सन् १२२७ में उसने लाहौर पर आक्रमण किया और उसके बाद वहाँ के हाकिम नासिरुद्दीन ऐतिगीन को मुलतान का घेरा डालने का आदेश दिया। सुलतान स्वयं अपने वज़ीर कमालुद्दीन मुहम्मद जुनैदी के साथ उच्छ की ओर बढ़ा। क़ुबाचा इस स्थिति में घबड़ा गया। वह भक्कर भाग गया और अपने मंत्री पर उच्छ की रक्षा का भार सौंपा। क़ुबाचा के पलायन का फल यह हुआ कि मुलतान ने आत्मसमर्पण कर दिया और तीन मास के बाद उच्छ पर भी सुलतान का अधिकार हो गया। अब उसने जुनैदी के साथ एक सैन्य दल भक्कर विजय के लिए भेजा। क़ुबाचा ने संधि का प्रस्ताव किया परन्तु वह ठुकरा दिया गया और जब वह खज़ाने को लेकर नाव द्वारा भाग रहा था उसकी नाव डूब गई जिससे उसकी मृत्यु हो गई। इस भांति इल्तुतमिश का उत्तरी सिंध पर अधिकार हो गया और उसने वहाँ अपने हाकिम नियुक्त कर दिए। उसी समय दक्षिण सिंध के सुमरा शासक मलिक सिनानुद्दीन ने कर देना स्वीकार कर लिया। इल्तुतमिश ने जुनैदी को संगठनकार्य संपादित करने के लिए पीछे छोड़ दिया और वह स्वयं विपुल धनराशि लेकर दिल्ली लौटा।

क़ुबाचा की अंतिम पराजय और मृत्यु (१२२७-१२२८ ई०)

पंजाब में इल्तुतमिश के अब दो प्रधान शत्रु रह गए। एक थे खोखर और दूसरा उनका मित्र सैफ़ुद्दीन करलुग़ था जो पश्चिमी पंजाब में मंगबरनी का आधिपत्य बनाये रखने के लिए सचेष्ट था। इल्तुतमिश ने खोखरों से कई महीने तक युद्ध किया और उनका कुछ राज्य दबा लिया। पंजाब में लाहौर के अतिरिक्त अन्य प्रमुख स्थान जो निश्चित रूप से उसके अधिकार में थे स्यालकोट, जालंधर और नंदना थे। इल्तुतमिश ने नंदना में ऐतिगीन को नियुक्त किया और जहाँ खोखरों के उपद्रवों का भय था वहाँ उसने कई चौकियाँ स्थापित कीं जिनमें अफ़ग़ान और तुर्क सैनिक बसा दिये गये। इनको खोखरों के ग्राम जागीर में दे दिये गये। इन चौकियों की स्थापना तथा पूर्ववर्ती युद्धों के कारण मध्यवर्ती, उत्तर पूर्वी एवं पूर्वी पंजाब पर इल्तुतमिश का अधिकार स्थापित हो गया।

इल्तुतमिश की पंजाब-विजय

ऐबक की मृत्यु के बाद से ही बंगाल स्वतन्त्र हो गया था, परन्तु अलीमर्दान के अत्याचारों से ऊब कर जनता ने विद्रोह कर दिया। १२१२ ई० के लगभग अली-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मर्दान का वध करके खिलजी सरदारों ने हिसामुद्दीन इवाज़ को अपना शासक चुना और उसने ग़यासुद्दीन का विरुद् धारण किया। इवाज़ ने बिहार को जीतकर अपने अधिकार में कर लिया तथा उसने जाजनगर, तिरहुत, कामरूप, उड़ीसा, एवं पूर्वी बंगाल के हिन्दू राजाओं से युद्ध किया और उनसे कर अथवा लूट के रूप में धन प्राप्त किया। उसने जनहित का ध्यान रखकर शासन किया। इस कारण उसका अधिकार बरावर दृढ़तर होता गया।

बंगाल-विजय (१२२५-१२३० ई०)

इल्तुतमिश ने पहले दक्षिण बिहार पर अधिकार किया और फिर सन् १२२५ ई० में बंगाल की ओर प्रस्थान किया। इवाज़ ने पहले युद्ध की तैयारी की परन्तु जब उसे इल्तुतमिश की शक्ति का ठीक अनुमान लग गया तब उसने व्यर्थ रक्तपात बचाने की दृष्टि से बिना युद्ध किये ही उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। उसने सभी स्वतंत्र राजत्व के लक्षणों को परित्याग करने तथा इल्तुतमिश का नाम सिक्के और ख़ुतबे में चालू करने का वचन दिया। साथ ही उसने ३८ हाथी तथा ८० लाख मुद्राएँ भेंट कीं और वार्षिक कर भेजने तथा बिहार पर दिल्ली का अधिकार स्वीकार करने की प्रतिज्ञा की। यह उल्लेख नहीं मिलता कि कितना वार्षिक कर देना निश्चित हुआ था। इल्तुतमिश इस व्यवस्था से संतुष्ट हो गया और वह दिल्ली वापस लौट आया। बिहार में उसने अलाउद्दीन जानी को शासक नियुक्त किया।

इल्तुतमिश ने बंगाल से लौट कर दूसरे आक्रमणों की व्यवस्था करना आरम्भ की ही थी कि उसे सूचना मिली कि इवाज़ ने अलाउद्दीन जानी को बिहार से खदेड़ कर फिर वहाँ अपना हाकिम नियुक्त कर दिया है तथा संधि की अन्य शर्तों की भी उपेक्षा की है। इल्तुतमिश तुरंत फिर पूर्व की ओर आना नहीं चाहता था। इसलिए उसने अपने बेटे नासिरुद्दीन महमूद को जो अवध का शासक था आदेश दिया कि वह उपयुक्त अवसर पाते ही बंगाल पर आक्रमण करे। महमूद बहुत योग्य सेना-नायक था। उसने पहले अवध-क्षेत्र के हिन्दू राजाओं के विरुद्ध धावे करके अपने सैनिकों का उत्साह बढ़ा लिया तथा वहाँ की लूट के धन से अपनी सेना में और सैनिक भर्ती कर लिए। इस बीच सन् १२२६ ई० में जब इवाज़ पूरब की ओर किसी युद्ध में फँसा था महमूद ने तेज़ी से लखनौती पर आक्रमण किया और उस पर अधिकार कर लिया। इवाज़ राजधानी की रक्षा के लिए शीघ्रातिशीघ्र वापस आया परन्तु वह युद्ध में परास्त हुआ और मारा गया। अब महमूद ने अपने पिता की ओर से बंगाल पर शासन करना आरंभ किया। उसने अपनी शक्ति तथा योग्यता का प्रदर्शन करने के लिए युद्ध-नीति जारी रखी। परन्तु खिलजी सरदारों में अनेक ऐसे थे जो दिल्ली की अधीनता में रहने के विरुद्ध थे। उन लोगों ने विद्रोह की आग शांत न होने दी। इसी बीच में महमूद की यकायक मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु होते ही

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बंगाल में फिर विद्रोह हो गया। प्रोफेसर हबीबुल्ला का मत है कि विद्रोही सर्दारों के दो नेता थे। इनमें से एक था दौलतशाह जिसने अपने को सुलतान घोषित करने के बावजूद इल्तुतमिश की अधीनता स्वीकार करने का वचन दिया तथा उसका नाम सिक्कों पर खुदवाया। परन्तु दूसरा सर्दार जिसका नाम बलका था पूर्ण स्वतंत्रता का पक्षपाती था। इन दोनो में संघर्ष हो गया। उसी समय सन् १२३० ई० में इल्तुतमिश ने दूसरी बार बंगाल पर आक्रमण किया और सभी विरोधियों को परास्त करके वहाँ अलाउद्दीन जानी को शासक नियुक्त किया। इस समय से बंगाल बराबर इल्तुतमिश के अधीन रहा।

राजपूतों के विद्रोहों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। सन् १२२५ ई० तक इल्तुतमिश पश्चिमोत्तर सीमा की उलझनों में बहुत व्यस्त था। पूरब की ओर भी उसे तुर्क सर्दारों को अधीन करना शेष था। इसलिए उस समय तक उसने अंतर्वेद तथा अवध के छोटे-छोटे राजाओं को छोड़कर अन्य किसी स्वतंत्र राजपूत राज्य से युद्ध नहीं किया। अब उसने अपनी दक्षिणी सीमा की ओर ध्यान दिया। राजपूताने में चौहानों का प्रभाव बहुत बढ़ गया था और जालौर में उदयसिंह तथा रणथंभौर में बल्लनदेव ने इतनी शक्ति प्राप्त कर ली थी कि अन्य पड़ोसी राजाओं ने उनका आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। मध्यभारत तथा बुन्देलखण्ड में चंदेलों और परिहारों की शक्ति काफी बढ़ गयी थी और कालिंजर तथा ग्वालियर के अतिरिक्त बयाना, अजमेर तथा तहनगढ़ पर भी तुर्कों का अधिकार ढीला पड़ गया था।

राजपूतों से युद्ध तथा दक्षिण की ओर प्रसार (१२२६-१२३४ ई०)

इल्तुतमिश ने पहले रणथंभौर पर आक्रमण किया और सन् १२२६ ई० में उस पर अधिकार कर लिया। सन् १२२७ ई० में उसने मंदौर विजय किया और उसके बाद संभवतः १२३० ई० के पूर्व जालौर, अजमेर, बयाना, तहनगढ़ तथा साँभर पर भी उसका अधिकार हो गया। परन्तु गुजरात के सोलंकियों तथा नागदा के गुहिलोतों ने उसकी सेनाओं को परास्त करके अपनी स्वतंत्रता की रक्षा की।

सन् १२३१ ई० में इल्तुतमिश ने ग्वालियर का घेरा डाला। यहाँ के राजा मंगलदेव (अथवा मलयवर्मदेव) ने बड़ी तत्परता से रक्षात्मक लड़ाई का संचालन किया। परंतु प्रायः एक वर्ष के घेरे के बाद जब उसे विजय की आशा नहीं रही, तब वह किला छोड़कर चला गया और इल्तुतमिश ने गढ़ पर अधिकार करके रशीदुद्दीन को वहाँ का शासक नियुक्त किया।

इन विजयों के अतिरिक्त इल्तुतमिश ने १२३३ ई० में चंदेलों के विरुद्ध और १२३४-३५ ई० में उज्जैन तथा भिलसा की ओर भी सेनायें भेजी। परन्तु इनमें

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसे विशेष सफलता नहीं मिली। नगर लूट लिये गये, कुछ काल के लिए तुर्कों का आतंक जम गया परन्तु तुर्क साम्राज्य की सीमा पर इन युद्धों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

कटेहर, दोआव, अवध तथा बिहार में भी राजपूतों से अनेक युद्ध हुए। परन्तु उनके विषय में विस्तृत वर्णन प्राप्त नहीं है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि इल्तुतमिश ने इस क्षेत्र के राजपूत राजाओं को कर देने पर वाध्य किया, उनके कुछ प्रमुख गढ़ों पर अधिकार कर लिया और आसपास के गाँवों पर सीधा शासन स्थापित करके वहाँ तुर्कों को बसा दिया ताकि वे राजपूत विद्रोहों को शक्तिसंपन्न होने के पूर्व ही दबा सकें। इन तुर्कों को बराबर सजग रखने के लिए उसने उनको वेतन न देकर यह गाँव ही जागीर में दे दिये। यह व्यवस्था बहुत सफल सिद्ध हुई और इस क्षेत्र में राजपूतों के विद्रोह प्रायः समाप्त हो गये।

इल्तुतमिश के युद्धों का महत्व

इल्तुतमिश के सैनिक कार्यों की समीक्षा करने से विदित होता है कि उसे तत्कालीन परिस्थिति में जो सफलता मिली वह प्रशंसनीय है। जब वह शासक हुआ था तब तुर्की सल्तनत के टूटकर कई भागों में विभक्त हो जाने की भयावह आशंका उत्पन्न हो चुकी थी। उसका अधिकार राजधानी पर भी दृढ़ नहीं था। बाहरी शत्रु तथा आन्तरिक विद्रोही दिल्ली पर भी आँख लगाये थे। उस स्थिति में इल्तुतमिश ने बड़े धैर्य, साहस तथा दूरदर्शिता से काम लिया। उसने बहुत तेजी से विजयें नहीं कीं परन्तु जब उसने विजय-कार्य के लिये किसी क्षेत्र में सेना भेजी तो प्रायः सदा ही वह सफल रही। धीरे-धीरे उसने उस सभी भाग पर अधिकार कर लिया जो किसी समय मुईज़ुद्दीन के भारतीय राज्य में शामिल था। साथ ही उसने दक्षिण की ओर कुछ नया प्रदेश भी जीता। इससे भी अधिक महत्व की बात यह है कि उसने इस विजित क्षेत्र के राजपूत विद्रोहियों की शक्ति काफी कुण्ठित कर दी और उनको तुर्की सल्तनत की आपेक्षिक अनिवार्यता स्वीकार करने पर विवश किया। ऐबक ने सिंध और बंगाल में अधिक हस्तक्षेप नहीं किया था वरन् वह केवल अपना आधिपत्य स्वीकार कराके ही संतुष्ट हो गया था। इस कारण बंगाल और सिंध में स्वतंत्रता की भावना मरी नहीं। इल्तुतमिश ने इन दोनों ही स्थानों में अपने व्यक्तिगत सेवकों को शासक नियुक्त किया और उनका अधिकार-क्षेत्र सीमित करके उनके विद्रोही होने की आशंका कम कर दी।

इल्तुतमिश के पहले भारतीय तुर्की राज्य के संगठन की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया जा सका था। उस समय शासन का स्वरूप प्रधानतः सैनिक था। प्रमुख गढ़ों पर अधिकार करके वहाँ सेना रख दी जाती थी और उस सेना के सरदार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का कर्तव्य यह होता था कि वह सैनिक शक्ति के प्रदर्शन द्वारा स्थानीय हिन्दू राजाओं, सामन्तों, एवं भूमिपतियों से वार्षिक कर उगाहे। साथ ही वह पड़ोस के विशेष विरोधी क्षेत्रों पर धावे भी करता था और करद हिन्दू सामन्तों की संख्या बढ़ाने का प्रयत्न करता था। अभी तुर्कों को भारतीय ग्रामीण जनता के निकट सम्पर्क में आने का नहीं के बराबर अवसर मिला था। इस व्यवस्था में अनेक दोष थे। जनता में नये शासकों के प्रति राजभक्ति की भावना का उदय होना कठिन था। हिन्दू राजे तथा सामन्त अपनी पिछली स्थिति का स्मरण रखने के कारण तथा म्लेच्छों की सभ्यता तथा संस्कृति को हेय समझने के कारण सदा विद्रोह करने और कर देना बंद कर देने के अवसर की ताक में रहते थे। अस्तु तुर्कों का शासनाधिकार मुख्यतः सैनिक बल पर आश्रित था। यही कारण है कि मुईज़ुद्दीन और क़ुत्बुद्दीन की मृत्यु के पश्चात् हिन्दू विद्रोहों ने प्रचण्ड रूप धारण कर लिया। इल्तुतमिश ने इस स्थिति को सुधार कर तुर्की शासन को आपेक्षिक स्थायित्व प्रदान करने के लिए कई कार्य किए।

इल्तुतमिश की शासन नीति

इल्तुतमिश ने सबसे पहली आवश्यकता इस बात की समझी कि शासक का पद और उसकी प्रतिष्ठा देश में सर्वोपरि हो। उसने राज्यभार ग्रहण करते ही अनुभव किया था कि जिन व्यक्तियों की उन्नति मुईज़ुद्दीन अथवा क़ुत्बुद्दीन की कृपा से हुई थी, उनमें अनेक सरदार उसकी श्रेष्ठता स्वीकार करने को उद्यत नहीं थे। अस्तु उसने यह समझ लिया कि अधीन कर्मचारियों की पूर्ण स्वामिभक्ति प्राप्त करने का उचित साधन यही है कि प्रायः सभी पदों पर वे लोग रखे जायँ जो अपनी उन्नति के लिये पूर्णतः अथवा मुख्यतः उसी की कृपा पर आश्रित हों। फलतः उसने एक चालीस गुलामों के दल का निर्माण किया और प्रायः सभी ऊँचे पद उन्हीं लोगों को दिये। क़ुत्बी और मुइज़्ज़ी अमीरों में से विरोधी व्यक्ति युद्ध में मार डाले गये या अवसर मिलने पर पदच्युत कर दिये गये। इस कारण शेष अमीर भी इल्तुतमिश के अधीन हो गये। चालीस गुलामों के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर उन्होंने समझ लिया कि यदि वे उन्हीं के समान स्वामिभक्त न सिद्ध हुए तो सुलतान उन्हें भी निकाल देगा। इस भांति अमीरों का एक नया दल संगठित करके उसने सम्राट् की प्रतिष्ठा को बढ़ा लिया। हम आगे चलकर देखेंगे कि मुगलों के राज्यकाल के पूर्व प्रत्येक राजवंश अथवा प्रमुख राजा के आते ही अमीरों का भी एक नया दल प्रभुत्व प्राप्त करता था और पिछले काल के अमीर एक साथ अथवा धीरे-धीरे गौण स्थानों पर स्थानांतरित कर दिये जाते थे। इस नीति का आरम्भ इल्तुतमिश के समय से ही हुआ। इल्तुतमिश ने शासन की दृढ़ता की दृष्टि से योग्य व्यक्तियों के चयन में विदेशियों तथा भारतीय मुसलमानों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को भी स्थान दिया। मिनहाजुस्सिराज को प्रधान क़ाज़ी तथा सद्रेजहाँ के पद पर और फ़खरुल्मुल्क इसामी को वज़ीर के पद पर नियुक्त करना इसी नीति के अंग हैं। मिनहाजुस्सिराज एक बहुत प्रकाण्ड विद्वान् था और इसामी तीस वर्ष तक खलीफ़ा का वज़ीर रह चुका था।

इल्तुतमिश का दूसरा उल्लेखनीय कार्य है तुर्कों को उन पार्वत्य अथवा जंगली क्षेत्रों में बसा देना जहाँ स्थानीय विद्रोह बराबर हुआ करते थे। दोआब और खोखर प्रदेश में ऐसी बस्तियों की स्थापना का उल्लेख पहले किया जा चुका है।

तीसरे, उसने न्याय का समुचित प्रबन्ध किया। इब्नबतूता ने लिखा है कि शाही महल के द्वार पर दो सिंहों की मूर्तियाँ रखी रहती थीं जिनके मुख में लगी जंजीर को खींचने से घण्टी बजती थी। जिसे कोई फरियाद करनी होती थी वह इस जंजीर के द्वारा सूचना देता था और शाही कर्मचारी तुरन्त उसकी बात सुनते थे। यह व्यवस्था रात के लिए थी। दिन में केवल लाल वस्त्र पहनकर आने से ही समझ लिया जाता था कि इस व्यक्ति को कुछ कष्ट है। सुलतान के आदेशानुसार तुरन्त ऐसे व्यक्तियों की फरियाद सुनी जाती थी। यह कहानियाँ मात्र भी हों तो भी इनसे यह प्रगट होता है कि सुलतान का ध्यान न्याय-युक्त शासन स्थापित करने की ओर था। दिल्ली में अनेक क़ाज़ी थे। राज्य के प्रधान नगरों में अमीर दाद नियुक्त किये गये तथा उन सबके कार्यों की देख-रेख करने तथा उनके निर्णयों के विरुद्ध अपील सुनने का भार प्रधान क़ाज़ी और सुलतान पर रहता था। इल्तुतमिश ने इस कार्य को बराबर मुस्तैदी के साथ किया।

चौथे, उसने एक पूर्णतः अरबी ढंग का नया सिक्का चलाया जो तौल में १७५ ग्रेन का होता था और जिसे टंक कहते थे। यह सिक्के चाँदी तथा सोने दोनों ही धातुओं के होते थे। नूतन सिक्के के चलन के कारण जनता का नये शासन के स्थायित्व में विश्वास बढ़ने लगा।

उसका अन्तिम कार्य—संभवतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य—था अपने राज्याधिकार के लिए १२२८ ई० में अब्बासी खलीफ़ा इमाम मुस्तंसिर बिल्ला का प्रमाण-पत्र पा लेना। खलीफ़ा ने उसकी विजयों से प्रभावित होकर उसे दिल्ली का सुलतान स्वीकार कर लिया और उसे 'नासिर अमीर उल मोमिनीन' (मुसलमानों के प्रधान अथवा खलीफ़ा के सहायक) की पदवी दी। अब इल्तुतमिश का अधिकार पूर्णतः वैधानिक हो गया और वंश अथवा पूर्व-पद के आधार पर किये जाने वाले आक्षेप शान्त हो गये। यहीं से दिल्ली की वैधानिक स्वतंत्र सल्तनत का प्रारम्भ हुआ। इस भांति इल्तुतमिश का सम्मान बढ़ गया और इतिहासकारों ने उसे दिल्ली का प्रथम सुलतान होने के कारण उसी को दिल्ली की सल्तनत का वास्तविक संस्थापक कहा है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इल्तुतमिश ने धर्म के मामले में उस उलमावर्ग का समर्थन किया जो सुन्नी सिद्धान्तों का समर्थक था। इल्तुतमिश ने इस नीति को न केवल निजी विश्वास वरन् राजनीतिक सुविधा के कारण भी अपनाया क्योंकि अधिकांश भारतीय मुसलमान तथा तुर्क सुन्नी मत के मानने वाले थे। इल्तुतमिश ने अपनी स्थिति दृढ़ करने के लिए उलमावर्ग की सम्मति को इतना महत्व दे दिया कि वे अन्य लोगों पर अत्याचार करने लगे। इस कारण शिया संप्रदाय के लोग विद्रोही हो गये। उनमें एक वर्ग इस्माइलिया मुसलमानों का था। उन्होंने इल्तुतमिश का वध करके राजशक्ति अपने हाथ में लेने की चेष्टा की और उन्होंने इल्तुतमिश पर उस समय आक्रमण किया जब वह नमाज पढ़ रहा था। सौभाग्य से वह किसी प्रकार बच निकला और प्रायः सभी षड्यंत्रकारी पकड़ लिये गये तथा मार डाले गये। यह घटना १२३५ के लगभग की है। उसके थोड़े ही दिन बाद इल्तुतमिश ने खोखरों के विरुद्ध फिर युद्ध छेड़ने का निश्चय किया परन्तु वह मार्ग में ही बीमार पड़ गया और दिल्ली लौटने पर कुछ समय बाद उसकी मृत्यु हो गई।

इल्तुतमिश की मृत्यु (१२३६ ई०)

इल्तुतमिश की वाह्य आकृति जिस प्रकार सुन्दर एवं आकर्षक थी उसी प्रकार उसका हृदय उदार तथा विशाल था। उसमें दीन दुखियों के प्रति सहानुभूति और दया इतनी अधिक थी कि समकालीन इतिहासकारों ने तद्विषयक अनेक कहानियाँ लिखी हैं। इल्तुतमिश न तो उच्च कोटि का विजेता था और न अत्यन्त प्रभावशाली शासक। परन्तु जिस कठिन परिस्थिति में वह शासक हुआ था उसको देखते हुए उसने युद्ध तथा शांति के क्षेत्र में जितना किया वह प्रशंसनीय अवश्य है। सर वुल्जले हेग ने उसके कार्य को ऐबक के कार्य की अपेक्षा घटकर बताया है परन्तु उन्होंने भी स्वीकार किया है कि ऐबक को जो सफलता मिली उसमें मुईज़ुद्दीन की सहायता का भी हाथ था परन्तु इल्तुतमिश ने जो कुछ किया वह केवल अपने बल-बूते पर। उसने ऐबक के छिन्न-भिन्न हो गये राज्य को फिर से जीतकर संगठित किया, उसमें कई दिशाओं में कुछ वृद्धि की और उस समस्त राज्य के शासन के लिए एक ऐसी व्यवस्था बनाई जो दोषरहित न होने पर भी पहले से अवश्य अच्छी थी। उसके व्यक्तित्व तथा शक्ति का विदेशियों पर भी अच्छा प्रभाव पड़ा और इसी कारण न केवल खलीफ़ा ने उसका सम्मान किया वरन् मंगोलों द्वारा पराजित शासकों ने भी उसके यहाँ शरण ली। वह तेरहवीं शताब्दी के साम्राज्य-निर्माताओं में एक विशिष्ट स्थान रखता है और तुर्की सल्तनत को स्थायित्व प्रदान करने में उसका काफी हाथ है।

इल्तुतमिश का चरित्र तथा उसकी महत्ता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इल्तुतमिश जानता था कि उत्तराधिकार के अनिश्चित नियम के कारण मुस्लिम राज्यों में बहुधा बड़ी गड़बड़ी होती है। वह चाहता था कि नव-संगठित दिल्ली की सल्तनत इस संकट से बच जाय क्योंकि उत्तराधिकार के झगड़े के कारण सल्तनत का अस्तित्व ही मिट जाने की आशंका उत्पन्न हो सकती थी। ऐबक की मृत्यु के उपरांत जो स्थिति हुई थी उससे वह भलीभांति परिचित था। इसलिए उसकी इच्छा थी कि वह अपने जीवन-काल में ही अपने उत्तराधिकारी का निर्वाचन कर दे, उसे शासन का अनुभव प्राप्त करने का अवसर दे और जनता तथा धार्मिक एवं राजनीतिक नेताओं का समर्थन प्राप्त कर ले। इस भांति न केवल उसके वंश की नींव दृढ़ होगी वरन् तुर्की सल्तनत की भी शक्ति बढ़ जायगी। अस्तु, उसने अपने बड़े बेटे नासिरुद्दीन महमूद को क्रमशः लाहौर, अवध, तथा बंगाल का शासक नियुक्त किया। राजकुमार ने इन सभी स्थानों में बड़ी योग्यता से कार्य किया और अपने सुशासन तथा प्रबल सैनिक कार्यों द्वारा स्थानीय हिन्दू नेताओं की शक्ति कम की तथा जनसाधारण का अधिकाधिक सहयोग प्राप्त किया। परन्तु भाग्य की ऐसी विडम्बना कि जिस समय इल्तुतमिश को खलीफ़ा का नियुक्ति-पत्र प्राप्त करके नूतन गौरव और हर्ष का अनुभव हुआ, उसी समय उसका अनुभवी एवं लोकप्रिय भावी उत्तराधिकारी काल के गाल में चला गया।

इल्तुतमिश के उत्तराधिकारी

इल्तुतमिश के लिए यह बड़ा भारी आघात था क्योंकि यद्यपि उसके और भी कई बेटे थे परन्तु उनमें से एक भी राजपद के लिए उपयुक्त नहीं था। उनमें सबसे बड़ा था रुकनुद्दीन परंतु वह विलासी आलसी एवं क्षीण-संकल्प था। इल्तुतमिश ने उसे बदायूं तथा लाहौर का शासक नियुक्त करके उसे सुधारने का व्यर्थ प्रयत्न किया। उसमें दायित्व-बोध न जग सका और तुर्क सर्दार भी उसके दोषों से परिचित हो गये। अब इल्तुतमिश ने अपनी लड़की रज़िया को उत्तराधिकार देने की सोची। उसने केन्द्रीय शासन में उसे सहयोग देने का अवसर दिया। रज़िया ने बड़ी दक्षता तथा तत्परता से कार्य किया और सन् १२३१-३२ ई० में जब सुलतान ने ग्वालियर-विजय के समय उसे राजधानी का कार्य सँभालने का अवसर दिया तब उसने ऐसी योग्यता और बुद्धि का परिचय दिया कि इल्तुतमिश ने अपने बेटों की बजाय उसी को उत्तराधिकारी बनाने का निर्णय किया। उसके आदेश से तुरंत एक विज्ञप्ति तैयार की गई जिसमें रज़िया को उत्तराधिकारी नियुक्त करने की घोषणा की गई। मिनहाजुस्सिराज लिखता है कि वयस्क राजकुमारों के रहते एक स्त्री को शासन-भार सौंपने की बात अनेक तुर्क सर्दारों को अनुचित एवं अपमानजनक लगी। उन्होंने दरबार में अपना विरोध व्यक्त किया। उस समय इल्तुतमिश ने कहा कि मैं जानता हूँ कि मेरे बेटों की अपेक्षा रज़िया ही राजपद के लिए अधिक उपयुक्त है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस उत्तर से तुर्क सर्दार चुप हो रहे। परंतु उन्होंने सचमुच यह कार्य पसंद नहीं किया।

फलतः इल्तुतमिश की मृत्यु के बाद उन्होंने रुकनुद्दीन फ़ीरोज़ को ही सुलतान अभिषिक्त किया। १२३२ और १२३६ के बीच में या तो रुकनुद्दीन के चरित्र में कुछ सुधार के लक्षण दिखाई पड़े अथवा तुर्क सर्दारों ने उसके पक्ष में विशेष दबाव डाला। इसलिए १२३६ ई० में इल्तुतमिश उसे लाहौर से अपने साथ ले गया। परंतु इसके पूर्व कि वह रज़िया को उत्तराधिकार-पद से नियमतः वंचित करके रुकनुद्दीन को युवराज-पद प्रदान करे, वह मर गया। प्रांतीय हाकिमों तथा प्रधान मंत्री की सहायता से रुकनुद्दीन को सुलतान निर्वाचित किया गया और उसे राजगद्दी प्राप्त हो गई।

रुकनुद्दीन फ़ीरोज (१२३६ ई०)

रुकनुद्दीन की माता शाह तुर्कन अपने सौंदर्य के कारण चेरी से रानी और तब राजमाता बनी थी। इल्तुतमिश की दूसरी पत्नियों ने उसे सदा हेय माना था। शाह तुर्कन इस अपमान का बदला लेना चाहती थीं। रुकनुद्दीन ने राजपद को अपनी पाशविक वृत्तियों की तुष्टि का साधन समझा और वह वासनाओं की तृप्ति में जुट गया तथा शासन-संचालन का अप्रीतिकर कार्य अपनी माता पर छोड़ दिया। तुर्कन ने ईर्ष्या एवं द्वेष के वशीभूत होकर अपनी सपत्नियों तथा उनकी संतति को सताना शुरू किया। फलतः विरोध बढ़ने लगा। इल्तुतमिश द्वारा गठित चालीस दासों के दल ने अपने स्वामी के यश तथा वंश की रक्षा के लिए रुकनुद्दीन को हटाना आवश्यक समझा। लाहौर, मुलतान, हाँसी और बदायूँ के शासकों ने अपनी सेनायें एकत्रित करके राजधानी की ओर प्रस्थान किया। प्रधान मंत्री जुनैदी भी उनसे मिल गया और जब फ़ीरोज़ उनका सामना करने के लिए गया तब उसी की सेना ने विद्रोह कर दिया। फ़ीरोज़ भागकर दिल्ली आया। परंतु वहाँ की स्थिति में क्रांतिकारी परिवर्तन हो गया था। रज़िया ने शुक्रवार के दिन जब लोग मध्याह्न की नमाज़ के लिए एकत्रित हो रहे थे, यकायक लाल वस्त्र धारण करके उनके बीच में प्रवेश किया और उनसे न्याय की फरियाद की। उसने ओजस्वी वक्तृता द्वारा उनकी भावनाओं को अपने अनुकूल कर लिया और कहा कि पिता की स्पष्ट आज्ञा के अनुसार उसी को राजगद्दी मिलना चाहिए थी। उसने तुर्कन के अत्याचारों का मार्मिक वर्णन किया और फिर नाटकीय ढंग से जनता-जनार्दन के दैवी अधिकार की याद दिलाकर उससे माँग की कि वह उसे सुलतान का पद देकर अपने अधिकार का उपयोग करे, अपने भूतपूर्व प्रजाहित-चिंतक शासक की भावनाओं की रक्षा करे और तुर्कन के अत्याचारों का अंत करे। उसने गंभीर शब्दों में वादा दिया कि यदि वह कार्य द्वारा अपनी योग्यता प्रमाणित न कर सकी तो वह सहर्ष अपनी गर्दन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देने को उद्यत होगी। जनता में उत्तेजना फैल गई, तुर्कन बंदीगृह में डाल दीगई और रज़िया को सुलताना घोषित कर दिया गया। यह सब हो चुकने के बाद फ़ीरोज़ दिल्ली लौटा। वह पकड़कर बंदीगृह में डाल दिया गया और वहीं उसकी मृत्यु हो गयी। इस भांति सात महीने के भीतर ही तुर्कन और फ़ीरोज़ का शासन समाप्त हो गया।

सुल्ताना रज़िया (१२३६-१२४०)

(क) कठिनाइयां

सुलताना रज़िया को राजमुकुट तो प्राप्त हो गया परंतु वह था कंटकाकीर्ण। उसकी प्रारम्भिक कठिनाइयाँ चारो ओर इस भीषणता से मुंह फैलाये हुए थीं कि साहसी पुरुषों का भी एक बार दिल दहल जाता। उसके समर्थक थे कुछ विद्रोही सैनिक सर्दार और दिल्ली के सामान्य नागरिक। प्रधान मंत्री जुनैदी तथा वे तुर्क जो फ़ीरोज़ को राज्यच्युत करके अपनी इच्छानुसार राजा को चुनना चाहते थे, रज़िया को सहसा शासनाधिकार न लेने देंगे। उनकी देखा-देखी अन्य प्रांतीय हाकिम भी विद्रोह कर सकते थे। इल्तुतमिश के कई पुत्र जीवित थे जिनके समर्थक राजधानी में तथा तुर्क सर्दारों में विद्यमान थे। राजपूतों ने अवसर पाते ही फिर सिर उठाना आरंभ किया और उन्होंने रणथंभौर का घेरा डाला। अनेक लोग रज़िया को स्त्री होने के कारण राजपद के लिए अनुपयुक्त समझते थे। इन सभी विरोधियों का दमन करके रज़िया को राजपद की शक्ति और महत्ता को फिर स्थापित करना था। साथ ही उसे अपनी नीतिनिपुणता, कार्यकुशलता, पराक्रम तथा अध्यवसाय द्वारा यह सिद्ध करना था कि वह राजपद के लिए पुरुषों से अधिक उपयुक्त है।

(ख) नीति

(१) विद्रोह-दमन

मुलतान, हांसी, लाहौर और बदायूं के विद्रोही हाकिम दिल्ली की ओर बढ़ते जा रहे थे। वज़ीर निज़ामुल्मुल्क जुनैदी भी उनसे मिल गया और इनकी संयुक्त सेनाओं ने दिल्ली के पास पड़ाव डाला। रज़िया के पास इतनी सेना नहीं थी कि वह खुल कर इनसे युद्ध कर सकती। परंतु वह किले के भीतर भी रहना नहीं चाहती थी क्योंकि शत्रु के दरवाज़ा खटखटाने पर बाहर न निकलना आधी पराजय के बराबर है। अस्तु रज़िया अपनी सेना लेकर बाहर आ गई और उसने युद्ध के स्थान पर कूटनीति से विजय पाने का उद्योग प्रारंभ किया। विद्रोही नेताओं की आपसी ईर्ष्या और महत्वाकांक्षा से लाभ उठा कर उसने इज़ुद्दीन सालारी और कबीर खां को अपनी ओर मिला लिया और फिर विद्रोही सेना में प्रचार करा दिया कि कुछ तुर्क सर्दार रज़िया से मिल गये हैं और दूसरे सर्दारों को बंदी बनाने का वचन दे चुके हैं। इस प्रचार का फल यह हुआ कि विरोधियों में ऐसा अविश्वास फैला कि सभी किसी पर भरोसा किए बिना अपनी-अपनी जान बचाने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए भाग चले। रज़िया ने सालारी और कबीर खां को छोड़कर शेष तीन नेताओं का तेज़ी से पीछा किया। उनमें से एक युद्ध में मारा गया, दूसरा बंदी हो गया और मार डाला गया। वज़ीर जुनैदी भाग गया और सिरमूर पहाड़ियों में निरीहावस्था में मृत्यु को प्राप्त हुआ। इस विजय से रज़िया का प्रभाव बहुत बढ़ गया। सभी प्रांतीय शासक ऐसे आतंकित हुए कि उन्होंने उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया और राजकीय कर भेजने का वादा किया।

(२) राजपक्ष का सुदृढ़ीकरण

अब रज़िया ने राजपद की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए कई कार्य किये। उसने नायब वज़ीर मुहज्ज़बउद्दीन को वज़ीर पद पर नियुक्त किया। कबीर खाँ तथा सालारी की जागीरें उसने बढ़ा दीं। परंतु वह यथासंभव तुर्कों के स्थान पर अन्य मुसलमानों को भी ऊँचे पद देने लगी ताकि तुर्कों का अहंकार एवं एकाधिकार नष्ट हो जाय और रानी उन पर सचमुच शासन कर सके। उसने एक हब्शी को, जिसका नाम जमालुद्दीन याकूत था, घुड़सवारों का सर्दार (अमीरआखूर) नियुक्त किया और मलिक हसन ग़ोरी को प्रधान सेनापति बनाया। उसने रणथंभौर के विद्रोही राजपूतों को पराजित किया परंतु इस भय से कि कहीं किला किसी समय फिर राजपूतों के हाथ में न चला जाय उसने वहाँ के गढ़ को ध्वस्त करवा दिया। वह पर्दे का परित्याग करके दर्बार में बैठने लगी, सब लोगों की फरियाद सुनने लगी और खुले दरबार में बैठकर विभिन्न विभागों के कार्य की देखभाल करने लगी। उसने अपनी योग्यता, न्यायशीलता, कार्यक्षमता, गुणग्राहकता तथा अध्यवसाय से सभी को प्रभावित किया।

विरोध बढ़ने के कारण

परंतु कुछ लोग उसके स्त्रीत्व के कारण भीतर-भीतर उसका पतन चाहते रहे। कुछ लोग इसी लिए खिन्न थे कि वह उनको मनमानी करने का अवसर नहीं देती थी। कुछ लोग इस बात से रुष्ट होने लगे कि रज़िया याक़ूत पर कृपा क्यों करती है और उन्होंने उसको बदनाम करने के लिए उन दोनों में अनैतिक संबंध होने की चर्चा आरंभ की। दिल्ली में बहुत से इस्माइलिया मुसलमान बस गये थे। उन्होंने षड्यंत्र द्वारा शक्ति प्राप्त करना चाही परंतु वे दबा दिये गये। सन् १२३८ ई० में ग्वालियर का हाकिम ज़ियाउद्दीन जुनैदी दिल्ली बुलाया गया क्योंकि उस पर विद्रोह की तैयारी करने का संदेह किया जाता था। दिल्ली आने के बाद वह एकदम ग़ायब हो गया। इस घटना का बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। लोगों ने समझा कि रानी ने संदेह मात्र होने पर विश्वासघात करके उसके प्राण लिये हैं। कुछ लोग यह भी कहने लगे कि यद्यपि वास्तव में ज़ियाउद्दीन निर्दोष था परंतु वज़ीर जुनैदी का संबंधी होना ही उसका अक्षम्य अपराध था। इस भांति रज़िया को कीना रखने के कारण राजनीतिक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हत्याएँ करने वाली कहकर बदनाम किया गया। फल यह हुआ कि वे सब लोग, जिनको यह भय था कि वे संदेह के पात्र हो सकते हैं, भीतर-भीतर शंकित होने लगे और छिपे-छिपे विद्रोह की तैयारी करने लगे। कुछ प्रान्तीय शासक यह सोचने लगे कि रानी शम्सी तुर्क सर्दारों को ध्वस्त करने की इच्छुक है। अस्तु वे आत्मरक्षा की दृष्टि से षड्यंत्र करने लगे। लाहौर-मुलतान के हाकिम आयाज ने १२३९ ई० में इस कारण विद्रोह किया क्योंकि वह याक़ूत और रज़िया का संबंध तुर्कों के लिये अत्यन्त अपमान-जनक समझता था। रज़िया ने उसे हरा दिया और उसके क्षमा-याचना करने पर उससे लाहौर छीन कर मुलतान उसके पास रहने दिया। परंतु इसी समय ग़ज़नी के एक भगोड़े सर्दार सैफ़ुद्दीन ने मुलतान पर आक्रमण करके उसे वहाँ से भी निकाल दिया। इस भांति आयाज़ पूर्णतः अपदस्थ होगया। इससे तुर्क सर्दारों में विरोध की भावना और भी बढ़ी। उन्हें संदेह हुआ कि आयाज़ से असन्तुष्ट होने के कारण ही शायद रज़िया ने सैफ़ुद्दीन के विरुद्ध उसकी रक्षा नहीं की।

तुर्क सर्दारों ने अब संगठित होकर आक्रमण करने की योजना बनाई। उनकी इच्छा थी कि राजा की शक्ति को स्थायी रूप से सीमित कर दें और तुर्क सर्दारों का प्रभाव दृढ़ बना दें। इस षड्यंत्र का प्रधान नेता था ऐतिगीन जो बदायूँ के हाकिम के पद से उन्नति करके इस समय मीर हाजिब था। ऐतिगीन ने देखा कि रज़िया के दिल्ली में अवस्थान करते समय कोई व्यापक विद्रोह राजधानी में हो सकना असंभव है। रज़िया की सतर्कता के कारण उसकी हत्या कर सकना भी कठिन है। विद्रोही प्रांतपतियों की संगठित सेना यदि दिल्ली का घेरा डालने के लिये आ भी सके तो भी निश्चय नहीं था कि वह विजयिनी होगी ही। अस्तु बड़ी सतर्कता के साथ कार्य किया गया। भटिण्डा के हाकिम अल्तूनिया ने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। रज़िया को जैसे ही इसकी सूचना मिली वैसे ही वह एक सैन्यदल के साथ भटिण्डा के लिए चल पड़ी। ऐतिगीन तथा उसके सह-षडयंत्रकारियों ने इस अवसर से पूरा लाभ उठाना चाहा। उन्होंने अवसर पाकर याक़ूत का बध कर दिया और फिर अल्तूनिया से मिलकर रज़िया को बंदी बना लिया। अल्तूनिया के संरक्षण में रज़िया कैद कर दी गई। विद्रोही सर्दार अब दिल्ली लौटे। वहाँ रज़िया के बंदित्व की सूचना मिलते ही इल्तुतमिश का तीसरा बेटा बहराम गद्दी पर बिठा दिया गया था। दिल्ली की जनता रज़िया के पक्ष में रहने पर भी नेतृत्वहीनता के कारण इसका विरोध नहीं कर सकी। लौटे हुए सर्दारों ने बहराम को सुलतान स्वीकार कर लिया और इस प्रकार उसका अधिकार अपेक्षाकृत दृढ़ हो गया। बहराम ने मुईजुद्दीन का विरुद् धारण किया। उसने १२४० से १२४२ तक शासन किया।

रज़िया का गद्दी से उतारा जाना

बहराम सुलतान पद तो पा गया परंतु उसकी स्थिति कभी भी सचमुच दृढ़

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं रही। गद्दी पाने के पूर्व उसे तुर्की अमीरों की सभी शर्तें मान लेना पड़ी थीं। मुहज्ज़बउद्दीन को पूर्ववत् वज़ीर रखा गया परंतु ऐतिगीन को अब उसके ऊपर नायब-ए-मुमलिकत का पद दिया गया और सम्भवतः एक वर्ष के लिए शासन-संचालन के पूर्ण अधिकार उसी को सौंप दिये गये। दूसरे विद्रोही सर्दारों को भी उपयुक्त पारितोषिक दिये गये। परंतु इस बंदर-बाँट में अल्तूनिया को कुछ न दिया गया। वह दिल्ली में था नहीं, इसलिए उसका जैसे किसी को स्मरण ही नहीं रहा। इस व्यवस्था के अनुसार बहराम सचमुच गुड़िया सुलतान था और वास्तविक शक्ति तुर्की अमीरों के हाथ में रही। बहराम को दूसरी चिंता रज़िया की ओर से थी क्योंकि वह जीवित थी और उसके समर्थकों का एकदम सफाया कर सकना संभव नहीं था। तीसरे, यदि वह तुर्की सर्दारों का विरोध करे तो उसके परिवार के किसी अन्य राजकुमार को उसके स्थान पर राजा बनाया जा सकता था। सुलतान इस स्थिति से संतुष्ट नहीं था। वह वास्तविक अधिकार प्राप्त करना चाहता था। इसलिए उसने ऐतिगीन का वध करा दिया। ऐतिगीन ने अपने दाम्भिक व्यवहार से प्रायः सभी को इतना असंतुष्ट कर दिया था कि किसी को उसकी मृत्यु से विशेष क्षोभ नहीं हुआ। सुलतान ने अब किसी को नायब-ए-मुमलिकत नहीं नियुक्त किया और शासन-संचालन का अधिकार अपने हाथ में लेना चाहा। इसी समय रज़िया ने अल्तूनिया को अपने सौंदर्य एवं बुद्धि के वशीभूत कर लिया और उन दोनों का विवाह हो गया। अल्तूनिया ने अब अपनी पत्नी एवं सम्राज्ञी की ओर से दिल्ली पर अधिकार जमाना चाहा। परंतु वह पराजित हुआ और वेश बदल कर भागते समय वे दोनों ही अनजान में हिन्दू डाकुओं द्वारा वध कर दिये गये।

रज़िया की मृत्यु (१२४० ई०)

तेरहवीं शताब्दी के भारतीय सुलतानों में रज़िया का व्यक्तित्व उपेक्षणीय नहीं है। इल्तुतमिश के उत्तराधिकारियों में वह सबसे अधिक योग्य तथा राजपद के लिए सर्वाधिक उपयुक्त थी। उसने रुकनुद्दीन के समय की बिगड़ी हुई स्थिति को बहुत कुछ सँभाल लिया और उग्र विरोध के बावजूद बड़े कौशल से अपनी शक्ति सुदृढ़ कर ली। यदि वह पुरुष होती तो वह निश्चय ही अधिक सफल हुई होती क्योंकि उस दशा में जुनैदी आदि तुर्की अमीर उसका विरोध ही नहीं करते और याकूत से प्रेम करने के संदेह के आधार पर अन्य तुर्कों को षड्यन्त्र करने का अवसर न मिलता। उसने तुर्कों की शक्ति को एक सीमा तक घटा दिया था और बड़ी सतर्कता के साथ एक प्रतिद्वन्दी दल तैयार कर रही थी किन्तु बीच में ही उसकी जीवन-लीला समाप्त हो गई। रज़िया को अपने कार्य में केवल आंशिक सफलता मिली। १२३६ से १२३८ तक वह प्रायः बराबर सफल रही। परन्तु १२३९ से उसके

रज़िया का व्यक्तित्व

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रति विरोध बढ़ने लगा और वह उसे शांत करने में असफल रही। उसकी असफलता के अनेक कारण थे। मध्यकालीन इतिहास-लेखकों ने उसकी असफलता का मूल कारण उसका स्त्री होना बताया है। परन्तु उतना ही अथवा उससे भी अधिक महत्वपूर्ण कारण तुर्की सर्दारों का स्वार्थी तथा सशक्त होना है। भारतीय जनता का पूर्ण समर्थन प्राप्त कर सकना उस समय के सुलतानों के लिए संभव नहीं था क्योंकि वे विधर्मी तथा विदेशी थे। अस्तु, उस ओर से भी रज़िया को विशेष सहारा नहीं मिल सका यद्यपि दिल्ली की जनता ने उसके हाथों को सबल बनाने में काफी योगदान दिया। इल्तुतमिश के वयस्क बेटे जीवित थे। इस कारण षड्यन्त्रकारियों को स्वार्थ-सिद्धि में अधिक सुविधा मिली और वे इल्तुतमिश के वंश को हटाये बिना अधिक शक्ति हथियाने का अवसर पा सके। अंतिम कारण यह था कि अभी तक केन्द्रीय सरकार का स्थानीय हाकिमों पर पूर्ण नियंत्रण नहीं था। तुर्की साम्राज्य अभी प्रारंभिक दशा में था और स्थानीय हिन्दू विद्रोह बराबर चलते रहने के कारण सुलतानों को अपने स्थानीय हाकिमों को काफी सैनिक एवं आर्थिक अधिकार देने पड़ते थे। इस कारण कई स्थानीय हाकिमों के मिल जाने पर केन्द्रीय शक्ति इतनी निर्बल हो जाती थी कि वह उनका दमन करने में अशक्त हो जाती थी। बलबन के राज्यारोहण के पूर्व इन्हीं सब कारणों के फलस्वरूप काफी गड़बड़ी रही और सुलतान का अधिकार प्रायः क्षीण रहा।

मुईज़ुद्दीन बहराम-शाह (१२४०-१२४२)

बहराम का दो वर्ष का राज्य-काल अशांतिपूर्ण रहा। वह स्वेच्छा से शासन करने का इच्छुक था परन्तु तुर्की सर्दारों की शक्ति इतनी बढ़ गई थी और उसकी निजी योग्यता इतनी कम थी कि वह एक सर्दार की शक्ति कम करके ज्योंही बंधन-मुक्त होने का अनुभव करता था त्योंही कोई दूसरा सारी शक्ति पर हावी हो जाता था और वह पुनः पूर्ववत् गुड़िया शासक रह जाता था। अंत में इसी चेष्टा में वह एक कुचक्र का शिकार हुआ और उसे अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा।

पहले ऐतिगीन ने अधिकार प्राप्त किया। परन्तु जब बहराम ने उसका तथा वज़ीर मुहज्ज़बउद्दीन का वध कराने की चेष्टा की तो वज़ीर जीवित बच गया और उसने राजभक्ति का दिखावा करके बदला लेना चाहा। ऐतिगीन की हत्या के बाद बद्रुद्दीन सुंक़र अमीर हाजिब हुआ और उसने ऐतिगीन के समान प्रभुत्व प्राप्त करने की चेष्टा की। इस भय से कि कहीं सुलतान उसका भी वध न करा दे उसने सुलतान का ही वध करने की योजना बनाई और इस कार्य में दिल्ली के प्रायः सभी अमीरों का सहयोग प्राप्त करना चाहा। उसने बहराम को गद्दी से उतारने का निश्चय करने के लिए एक सभा की जिसमें धार्मिक नेताओं का अध्यक्ष सद्रुलमुल्क भी सम्मिलित था। सद्रुल्मुल्क के द्वारा ही वज़ीर को बुल-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाया गया। परन्तु वज़ीर सुंक़र से जलता था। इसलिए उसने भण्डाफोड़ कर दिया। सुलतान ने आक्रमण करके सभी षड्यन्त्रकारियों को रंगे हाथ पकड़ लिया। वह सामूहिक रूप से इतने प्रबल थे कि उनको सिवाय दूर-दूर भेजे जाने के अन्य कोई दण्ड नहीं दिया जा सकता था। सुंक़र को बदायूँ भेजा गया परन्तु जब वह वहाँ से बिना अनुमति के दिल्ली लौट आया तो उसका बध करा दिया गया। सुंक़र के पतन के बाद मुहज्जबउद्दीन का सितारा बुलंद हुआ। अब उसने सुलतान से बदला लेने की सोची। संयोग से जल्दी ही इसका अवसर भी मिल गया।

सन् १२४१ में मंगोलों ने लाहौर पर अधिकार कर लिया, हज़ारों मुसलमानों की हत्या की और नगर को खूब लूटा। इस स्थिति से तुर्की सल्तनत के लिए भय की स्थिति उत्पन्न हो गई। सल्तनत के रहने पर ही तुर्की सर्दारों के हितों की रक्षा संभव थी। अस्तु बहराम के प्रति स्वामि-भक्ति के कारण नहीं वरन् अपने स्वार्थ की दृष्टि से सर्दारों ने मंगोलों का मिलकर विरोध करना स्वीकार कर लिया। वज़ीर भी इस दल के साथ गया। मार्ग से उसने सुलतान को एक संवाद भिजवाया कि सभी सर्दार उसके इतने कट्टर विरोधी हैं कि वह कभी भी स्वामि-भक्त नहीं हो सकते। अस्तु यदि सुलतान आज्ञा दे तो वह उन सबको क़त्ल करा दे। सुलतान ने इस प्रकार की आज्ञा लिख भेजी। वज़ीर ने सर्दारों की एक सभा की और उसमें सुलतान का पत्र पढ़कर सुना दिया। अब तो सभी अमीर अत्यन्त उत्तेजित हो उठे और उन्होंने बहराम को गद्दी से उतारने का निश्चय किया। उन्होंने वापस आकर दिल्ली का घेरा डाला। युद्ध प्रायः ३ मास तक चलता रहा। इस बीच में कभी-कभी समझौते की संभावना प्रगट होती थी परंतु वज़ीर समझौता चाहता नहीं था। इस कारण यह प्रयत्न सफल नहीं हुए। वज़ीर ने दिल्ली की जनता में फूट डालने के लिए कुछ धार्मिक नेताओं को धन देकर मिला लिया जिससे नगर के भीतर भी विद्रोह हो गया। अब विद्रोही सर्दारों का क़िले के भीतर प्रवेश पाना संभव हुआ। उन्होंने बहराम को बंदीगृह में डाल दिया और बाद में उसका बध करा दिया गया। इस भांति बहराम का २ वर्ष का शासन-काल समाप्त हुआ।

बहराम के हटाये जाने पर इज्ज़ुद्दीन किशलू खां ने अपने को सुलतान घोषित कर दिया। वह एक योग्य सेनापति एवं प्रभावशाली शासक था। परंतु तुर्क अपने में से किसी की अधीनता स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं थे। दूसरे, वे यह भी नहीं चाहते थे कि कोई योग्य व्यक्ति सुलतान हो। अस्तु उन्होंने किशलू खां के कार्य का विरोध किया और इल्तुतमिश के पौत्र तथा रुकनद्दीन के पुत्र मसूद को अलाउद्दीन मसूदशाह के नाम से गद्दी पर बिठाया। उन्होंने अपनी स्थिति दृढ़ करने के लिए दो उपाय किये। उन्होंने इल्तुतमिश के दोनों

अलाउद्दीन मसूदशाह (१२४२-१२४६)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

पाणिनि-प्रज्ञा... तिथी... पु०सं०...३५७
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भतीजों—नासिरुद्दीन तथा जलालुद्दीन—को बंदीगृह में डाल दिया जिससे राजवंश का कोई दूसरा दावेदार खड़ा न हो सके। दूसरे, उन्होंने प्रायः सभी ऊँचे पद इस भांति अपने लोगों में बाँट लिये जिससे सुलतान को स्वेच्छाचारी होने का अवसर न मिले। इस नीति के अनुसार क़ुत्बुद्दीन हसन को वकील निजामुल्मुल्क मुहज्ज़ब-उद्दीन को वज़ीर, मलिक क़राक़ुश को अमीर हाजिब और किशलू खाँ को नागौर, अजमेर तथा मण्डावर का हाकिम नियुक्त किया गया।

मसूद के प्रारंभिक काल में वज़ीर का प्रभाव बहुत बढ़ गया परंतु ज्योंही उसने अन्य तुर्की अमीरों को दबाकर अपना प्रभुत्व स्थायी करने की चेष्टा की त्योंही लोग उसके रक्त के प्यासे हो गये और पाँच महीने बाद ही उसकी हत्या कर दी गयी। उसके स्थान पर अबूबक्र वज़ीर बनाया गया जो अपेक्षाकृत नर्म स्वभाव का था। इस परिवर्तन से मसूद को भी थोड़ी अधिक स्वतंत्रता मिली। उसने लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए अपने दोनों चचाओं को बंदीगृह से मुक्त कर दिया और नासिरुद्दीन को बहराइच का तथा जलालुद्दीन को कन्नौज का शासक नियुक्त किया।

सुलतान की स्थिति में सुधार

मसूद दिल्ली और आसपास के क्षेत्र में काफी लोकप्रिय हो गया ; परंतु वह सल्तनत के पतन को रोकने में समर्थ नहीं हुआ। रज़िया की मृत्यु के बाद से ही दूरस्थ प्रान्तों के हाकिम प्रायः स्वतंत्र से हो गये थे। मसूद के काल में यह बात विशेष रूप से प्रगट होने लगी। बंगाल का हाकिम तैमूर खां स्वेच्छा से युद्ध-संधि करने लगा और उसने काफी धन संचित कर लिया। मुलतान के हाकिम आयाज़ ने मंगोलों तथा क़रलुग़ों के विरुद्ध दिल्ली की सहायता न पाने पर भी अपनी रक्षा की, इस कारण वह अब दिल्ली का आधिपत्य मानने को प्रस्तुत नहीं था। खोखरों ने उत्तरी पंजाब का काफी भाग दबा लिया। कटेहर और बिहार में राजपूतों ने विद्रोह किये और बिहार में राजपूतों का स्वतंत्र राज्य बन गया।

मसूद का गद्दी से उतारा जाना

इन सब घटनाओं से प्रगट हो गया कि मसूद भी तत्कालीन स्थिति को सँभाल न सकेगा। इधर किशलू खां तथा उसके दल के प्रभाव से क़राक़ुश के स्थान पर बलबन को, जो आगे चल कर ग़यासुद्दीन के नाम से दिल्ली का शासक हुआ, अमीर हाजिब नियुक्त किया गया। बलबन किशलू खां का संबंधी था और उसे इल्तुतमिश ने खरीदा था। रज़िया तथा बहराम के काल में भी उसे सम्मानित पद प्राप्त थे परंतु मसूद के काल में पहले-पहल उसे विशेष महत्व का पद मिला। वह बड़ा महत्वाकांक्षी था। उसने गुप्त रूप से एक षड्यंत्र में भाग लिया जिसके अनुसार नासिरुद्दीन को गद्दी देने की बात थी। १२४५ ई० में मंगोलों का आक्रमण हुआ। बलबन ने इस अवसर से लाभ उठाया। सुलतान को मंगोलो के विरुद्ध तो सफलता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिली परंतु थोड़े ही दिन बाद उसे गद्दी से उतार दिया गया। नासिरुद्दीन महमूद स्त्री का वेश बनाकर दिल्ली आ गया, उसके पक्ष में एक विद्रोह हुआ, मसूद गद्दी से उतार दिया गया और क़त्ल कर दिया गया। बलबन ने नासिरुद्दीन महमूद को गद्दी पर बिठा दिया और दूसरे सर्दारों ने इस परिवर्तन को बिना विरोध किये स्वीकार कर लिया।

नासिरुद्दीन महमूद (१२४६-१२६६)

नासिरुद्दीन के विषय में अनेक कथाएँ लिखी गयी हैं जिनमें उसकी सादगी, धर्मभीरुता, मितव्ययिता, उदारता आदि का उल्लेख है। परंतु वे ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित नहीं हैं। संभव है, नासिरुद्दीन का चरित्र अन्य समकालीन उच्चवंशीय व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक ऊँचा और धर्मपरायण हो। साथ ही यह मत भी ऐतिहासिक दृष्टि से स्वीकार्य नहीं है कि वह राजकाज में बिल्कुल रुचि नहीं लेता था और उसके काल का वास्तविक शासक उलुग़ खां बलबन था। नासिरुद्दीन के राज्य-काल की घटनाओं का विश्लेषणात्मक अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कम-से-कम १२५५ तक निश्चय ही नासिरुद्दीन शासन-संचालन में काफी प्रभाव रखता था और बाद के काल की घटनाओं का विस्तृत विवरण प्राप्त न होने पर भी बलबन के राजत्व-काल की घटनाओं को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उस समय भी उसका प्रभाव नगण्य नहीं था।

मिनहाजूस्सिराज लिखता है कि जब वह बहराइच का हाकिम था तब उसने स्थानीय हिन्दू राजाओं के विरुद्ध अनेक युद्ध किये और अपने कुशल शासन-संचालन द्वारा उसने ऐसी शांति एवं व्यवस्था स्थापित की जिससे वहाँ की जनता सुखी एवं समृद्ध हो गयी। उसकी विजय-कीर्ति एवं शासन की सफलता की धाक चारों ओर जम गयी और इसलिए जब सर्दार तथा अमीर अलाउद्दीन से असंतुष्ट हो गये तो उन्होंने गुप्त पत्र भेजकर नासिरुद्दीन को राज्यारोहण के लिए आमंत्रित किया। इससे प्रगट है कि नासिरुद्दीन युद्ध एवं शासन दोनों में ही योग्य था और इसके लिए ख्याति लाभ कर चुका था। वह दिल्ली स्त्री वेश में आया। इससे विदित होता है कि वह न केवल महत्वाकांक्षी वरन कार्य साधने में चतुर भी था। जब वह दिल्ली आ गया तब वह निर्विरोध सुलतान स्वीकृत हो गया। इससे भी अनुमान होता है कि वह केवल क़ुरान की प्रतिलिपियाँ तैयार करने में लगा रहने वाला व्यक्ति न रहा होगा।

राज्यारोहण के बाद उसने किसी को भी सहसा वकील अथवा नायब-ए-मुमलिकत का पद नहीं दिया क्योंकि वह अपने पूर्ववर्ती शासकों के काल की घटनाओं से परिचित था। उसने उलुग़ खां को तथा अबूबक्र को पुराने पदों पर रहने दिया तथा अन्य अमीरों के पदों में भी कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया। नासिरुद्दीन ने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीन वर्ष तक सभी सर्दारों के कार्य का निरीक्षण करने के पश्चात् जो उनमें सबसे योग्य था उसे वकील अर्थात् नायब-ए-मुमलिकत का पद दिया। यह पद देने के बाद भी सुलतान ने अपने हाथ कटा नहीं दिये। इसी कारण यह संभव हो सका कि ४ वर्ष बाद १२५३ ई० में वह अपने नायब को विश्वासपूर्वक पदच्युत करके हाँसी का हाकिम नियुक्त कर सका। जिस व्यक्ति को १२५३ में शासन-भार सौंपा गया उसकी अयोग्यता सिद्ध होने पर नासिरुद्दीन के विरुद्ध नहीं वरन् उस व्यक्ति विशेष के विरुद्ध सैनिक प्रदर्शन किया गया और नासिरुद्दीन उस समय भी इतना सबल था कि उसने नये नायब को बदायूँ भेजकर फिर पुराने नायब को वापस बुला लिया। इसी प्रकार प्रारंभिक वर्षों के सैनिक अभियानों में सुलतान बराबर बलबन के साथ युद्ध-स्थल पर गया और वहाँ से वह रणनीति का निरीक्षण एवं संचालन करता रहा। बलबन ने शासक होने पर मेवातियों और कटेहरियों के विरुद्ध जैसी कड़ाई की वैसी वह नासिरुद्दीन के समय में न कर सका। ऐसा न कर सकने का कारण नासिरुद्दीन की अप्रसन्नता का भय ही हो सकता था। इन सब घटनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि नासिरुद्दीन अपने पूर्ववर्ती शासकों की भांति सर्दारों के हाथ की कठपुतली न होकर वास्तविक शासक था। इतिहासकार फरिश्ता लिखता है कि 'वह अपने पिता के राजसिंहासन को अलंकृत करने के लिय अपने वंश के अतिरिक्त, अपनी शूरता, योग्यता, विद्वता एवं अपने अनेक अन्य सद्गुणों के कारण विशेष रूप से उपयुक्त था।' उसने बीस वर्ष तक केवल बलबन की कृपा के आधार पर शासन नहीं किया वरन् अपनी योग्यता के बल-बूते पर और बलवन उसका सेवक ही रहा न कि स्वामी। जब बलबन बाद में शासक हुआ तब उसने बड़ी सफलता से शासन किया इसलिए नासिरुद्दीन के काल की सफलताओं का श्रेय भी उसी को प्रमुखतः न देकर पूर्णतः दे दिया गया है और इस भूल का आधार शायद यह है कि इल्तुतमिश के ही मत के अनुसार उसके सभी बेटे राज्य करने के लिए अयोग्य थे। इसलिए नासिरुद्दीन भी अयोग्य ही मान लिया गया है और इस बात पर समुचित ध्यान नहीं दिया गया कि १२३२-१२३६ ई० में नासिरुद्दीन इतना छोटा था कि उसको राज्य देने का प्रश्न ही नहीं था। नासिरुद्दीन जब बड़ा हुआ तब उसने अपनी योग्यता का परिचय देना आरंभ किया। फलतः वह सुलतान पद के लिए निर्वाचित किया गया और उसने अपने दीर्घ शासन-काल में ऐसी कोई दुर्बलता व्यक्त नहीं की जिसके कारण उसके स्थान पर कोई दूसरा व्यक्ति सुलतान बनाया जाता। १२५५ ई० में सुलतान के हटाये जाने की संभावना हो सकती थी और उसके भाई जलालुद्दीन ने इसी आशा में यह विश्वास कर लिया था कि वह स्वयं उसका उत्तराधिकारी होगा। परंतु विद्रोही सर्दारों ने नासिरुद्दीन से लोहा लेने का साहस नहीं किया। इस भांति यह प्रमाणित हो जाता है कि नासिरुद्दीन एक योग्य शासक था जिसके हाथ में शासन-संचालन की वास्तविक शक्ति थी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नासिरुद्दीन के सामने तीन समस्याएँ थीं। इल्तुतमिश की मृत्यु के साथ-साथ तुर्की अमीरों का प्रभाव बहुत बढ़ गया था। उनमें व्यक्तिगत स्वार्थ एवं ईर्ष्या के आधार पर फूट थी और उनके कई दल बन गये थे जो एक दूसरे को दबाकर शासन के प्रमुखतम स्थानों पर अपना अधिकार रखना चाहते थे। नासिरुद्दीन के सिंहासनारोहण के पूर्व जितने राजपरिवर्तन हुए उनका एक प्रमुख कारण इन सर्दारों की पारस्परिक प्रतिद्वन्दिता थी। नासिरुद्दीन को इन तुर्की सर्दारों को वश में रखते हुए शासन करना होगा अन्यथा उसे भी अल्प काल के उपरांत ही प्राण तथा राजमुकुट से हाथ धोना पड़ेगा। दूसरे, इस समय मंगोलों के हमले हो रहे थे जिनके कारण सीमा-प्रान्तों की जनता को बहुत कष्ट भोगना पड़ता था और जिनकी बाढ़ को रोके बिना दिल्ली की सल्तनत को बचा सकना ही दुर्लभ था। तीसरे, राजपूत सर्दार अवसर पाते ही तुर्की सल्तनत पर छापा मारने लगते थे और कर देना बंद कर देते थे। उनकी शक्ति इतनी प्रबल हो गई थी कि राजधानी के निकट ही नहीं वरन् कभी-कभी वे राजधानी में घुसकर भी लूटपाट करने लगते थे। उनकी शक्ति बढ़ने से नवनिर्मित तुर्की सल्तनत की इतिश्री हो सकती थी। नासिरुद्दीन ने इन सभी समस्याओं को यथेष्ट सफलता के साथ हल किया।

तत्कालीन समस्याएँ

नासिरुद्दीन ने प्रारंभिक नियुक्तियाँ इस ढंग से कीं जिससे किसी भी दल अथवा व्यक्ति का अत्यधिक प्रभाव न बढ़ने पावे। परंतु जब उसने देखा कि बलबन सचमुच योग्य एवं स्वामि-भक्त है तब उसने उसके ऊपर विश्वास करके उसके दल की सहायता से अन्य अमीरों को दबाना चाहा। अस्तु उसने १२४९-५० ई० में बलबन की लड़की से विवाह कर लिया और उसे नायब के पद पर नियुक्त किया। उसने बलबन को सभी शक्ति दी परंतु दो शर्तें लगा दीं—(१) वह ऐसा कोई काम न करेगा जिसके लिए वह अल्लाह के सामने जवाब न दे सके, और (२) वह ऐसा कोई कार्य न करे जिससे राज-सम्मान पर आँच आये। बलबन के कहने पर उसने शेर खाँ सुंक़र को भटिण्डा और लाहौर का हाकिम नियुक्त किया तथा पश्चिमोत्तर सीमा की रक्षा का भार उसी को सौंपा। बलबन का एक दूसरा संबंधी किशलू खाँ था। वह नागौर का हाकिम था। बलबन की बढ़ती हुई शक्ति देखकर वज़ीर अबूबक्र भी उसका अनुयायी हो गया। इस भांति बलबनी दल की कुछ समय के लिए प्रधानता हो गयी।

नासिरुद्दीन और तुर्क सरदार

परंतु तुर्क सर्दारों ने कई स्थलों में अशांति पैदा की जिसे नासिरुद्दीन और बलबन पूर्णतया दबा नहीं सके। इनमें से सबसे अधिक गड़बड़ी लखनौती में हुई। वहाँ इस बीस वर्ष के भीतर सात आठ व्यक्तियों ने शासन किया। उनमें से तुग़न, युज़बक तुग़रिल खाँ, तथा असंला खां ने पूर्णतः अथवा प्रायः दिल्ली के सुलतान की अवहेलना की

लखनौती

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और दिल्ली का अधिकार वहाँ अल्पकालीन ही रहा और वह भी प्रायः उसी समय जम सका जब लखनौती के शासकों ने पड़ोसियों से खतरा मोल लिया। मोटे तौर से यह कहना ठीक होगा कि लखनौती इस काल में स्वतंत्र अथवा अर्द्धस्वतंत्र शासकों के अधीन रहा और नासिरुद्दीन अन्य समस्याओं की उलझनों के कारण वहाँ स्थायी प्रभुत्व स्थापित कर न सका।

गंगा-यमुना दोआब में अधिकतर विद्रोह हिन्दुओं ने किये जिनका उल्लेख आगे किया जायगा। परंतु बीच-बीच में तुर्क सर्दार भी छिटपुट विद्रोह करते थे।

दोआब

इनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय नाम जलालुद्दीन का है। वह सुलतान का भाई था और कन्नौज का हाकिम था। उसने १२४८ में सुलतान को परामर्श दिया कि बलबन को अपदस्थ कर दे क्योंकि उसकी बढ़ती हुई शक्ति का परिणाम राजवंश के लिए अहितकर होगा। परंतु जब सुलतान ने इस सलाह की न केवल उपेक्षा की वरन् बलबन को अपने श्वसुर और नायब होने का सम्मान प्रदान किया तब जलालुद्दीन अपनी रक्षा के विषय में चिंतित होकर तुर्किस्तान भाग गया और वहाँ मंगोलों से मिलकर दिल्ली की गद्दी पाने की चेष्टा करने लगा। सन् १२५५ ई० में वह भारत वापस आया और यद्यपि नासिरुद्दीन के गद्दी से न उतारे जाने से उसे कुछ निराशा हुई परंतु सुलतान ने उसे लाहौर का शासक नियुक्त करके अपनी उदारता से उसके विरोध का अंत कर दिया और उसने फिर कोई अशांति पैदा नहीं की।

पश्चिमोत्तर सीमा का प्रधान संरक्षक शेरखां था। उसने मुलतान और उच्छ से आयाज़ को हटाकर अथवा उसकी मृत्यु के बाद इख्तियारुद्दीन क़ुरैज़ को वहाँ का शासक बनाया। १२५०-५१ ई० में नागौर के हाकिम किशलू खां ने मुलतान और उच्छ का इक़ता (प्रांत) पाने के लिए सुलतान से प्रार्थना की। सुलतान ने फर्मान भेजा कि वह मुलतान और उच्छ का हाकिम नियुक्त किया जाता है और नागौर क़ुरैज को दिया जाता है। यह सूचना क़ुरैज़ तथा शेरखां सुंकर को भी दी गयी। किशलू खाँ ने इस फर्मान के अनुसार मुलतान और उच्छ पर तो अधिकार कर लिया परन्तु नागौर क़ुरैज़ के सिपुर्द नहीं किया। इससे शेरखां असंतुष्ट हो गया और उसने बलपूर्वक उसे मुलतान से हटाने की तैयारी की। इसके पूर्व कि वह कुछ कर सके, क़रलुगों (एक विदेशी जाति) ने आक्रमण किया और उन्होंने किशलू खां से मुलतान छीन लिया। शेरखां ने क़रलुगों के विरुद्ध किशलू खां को सहायता न दी यद्यपि सीमा के संरक्षक की दृष्टि से यह उसका कर्त्तव्य था। इसके विपरीत उसने पहले तटस्थ रहकर बाद में क़रलुगों को पश्चिम की ओर खदेड़ दिया। परंतु मुलतान में फिर क़ुरैज़ को ही रखा। सुलतान ने अनुभव

पश्चिमोत्तर सीमा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया कि क़रलुगों को मुलतान पर अधिकार करने का अवसर किशलू खाँ की अनाज्ञाकारिता एवं गलती से ही हुआ। अस्तु उसने नागौर जाकर उसे वहाँ से हटाकर बदायूँ भेज दिया और नागौर में दूसरा हाकिम नियुक्त किया।

किशलूखां और शेरखां दोनों ही बलवन के संबंधी थे और दोनों ही एक दृष्टि से अनुशासन भंग करने के दोषी थे। फिर भी उनमें से किसी को भी विशेष दण्ड नहीं दिया गया। इससे बलबन के विरोधियों ने लाभ उठाना चाहा। भीतर-भीतर एक षड्यंत्र रचा गया। उसमें सुलतान की माता, इमादुद्दीन रैहन (धर्म परिवर्तक हिन्दू हिजड़ा) क़ुतलुगखां, किशलूखां और अर्सलाखां प्रधान थे। इन लोगों ने सुलतान को समझाया कि शेरखां का कार्य दण्डनीय है और उसे अवश्य दण्ड देना चाहिए। उन्होंने वलबन की शक्ति कम करने की उपादेयता को भी समझाया। इन लोगों की बात में कुछ तथ्य था भी इस कारण नासिरुद्दीन बलबन को साथ लेकर शेरखां को आज्ञा-भंग करने का दण्ड देने के लिए चल दिया। उसके साथ रैहन, अर्सलाखां तथा अन्य विरोधी सर्दार भी हो लिये। इन लोगों ने बलवन की हत्या करनी चाही पर इसमें वे सफल नहीं हुए। अस्तु, उन्होंने सुलतान को समझाया कि बलबन अब शंकित होगया है और उसकी स्वामि-भक्ति की परीक्षा करने के लिए उसे पदच्युत कर देना चाहिए तथा शेर खां के स्थान पर अर्सला खां को नियुक्त करना चाहिए। उधर शेरखां भयभीत होकर मंगोलों की शरण में भाग गया। ऐसी स्थिति में नासिरुद्दीन ने बलबन को नायब के पद से हटाकर हाँसी का हाकिम नियुक्त किया और अर्सलाखां को शेर खां का उत्तराधिकारी बनाया। इस भांति १२५३ ई० में बलवन के स्थान पर इमादुद्दीन रैहन प्रधान मंत्री की तरह काम करने लगा और उसे वकील-ए-दर का पद दिया गया। सुलतान यह व्यवस्था करके दिल्ली लौट गया।

बलवन के विरुद्ध षड्यंत्र

रैहन ने तुर्कों की प्रधानता को कम करने तथा केन्द्रीय सरकार की शक्ति को बढ़ाने का उद्योग किया। इस उद्देश्य से उसने धर्म-परिवर्तक हिन्दुओं के दल का संगठन किया। रैहन में अहंकार की वृद्धि हो गयी। अस्तु, उसके मित्र भी शत्रु हो गये और विरोध बढ़ने लगा। बलबन ने इस स्थिति से लाभ उठाकर तुर्कों के दल का गुप्त संगठन किया और सैन्य-बल द्वारा रैहन को हटाने की योजना बनाई। मंगोलों के शरणापन्न राजकुमार जलालुद्दीन तथा शेरखां भी बुलाये गये। अर्सला खाँ भी इस गुट में मिल गया। इस संयुक्त दल ने दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। रैहन-विरोधी अन्य तुर्क भी विद्रोही दल से जा मिले। फिर भी नासिरुद्दीन निरुत्साहित नहीं हुआ और वह सेना के साथ समाना पहुँचा जहाँ विद्रोही सेना से उसका सम्पर्क स्थापित हुआ। नासिरुद्दीन के पास विद्रोही दल के नेताओं ने कहला भेजा कि वे सुलतान

बलबन का पुनः नायब होना

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के नहीं वरन् रैहन के विरुद्ध हैं और यदि रैहन को हटाकर बलबन को पुनः नायब बना दिया जाय तो वे पूर्ववत् स्वामिभक्ति की शपथ लेने को प्रस्तुत हैं। रैहन नासिरुद्दीन से कहता था कि सैनिक विद्रोह का उत्तर सैनिक विजय से देना चाहिए। परंतु सुलतान ने रैहन की बात न मानकर सल्तनत की तत्कालीन स्थिति का ध्यान रखते हुए शीघ्र-से-शीघ्र शान्ति-स्थापना की दृष्टि से रैहन को बदायूं का हाकिम नियुक्त कर दिया और बलवन को फिर नायब बना दिया। बलबन के परामर्श के अनुसार लाहौर जलालुद्दीन को और कड़ा-मानिकपुर का शासन अर्सलाखां को दिया गया। इस भांति १२५५ ई० में एक भीषण गृहयुद्ध टल गया और विश्वसनीय बलबन फिर सुलतान का सहायक हो गया।

१२५५ से १२५८ ई० तक बलबन के विरोधियों ने विभिन्न क्षेत्रों में विद्रोह किये जिनके कारण सल्तनत को बहुत क्षति हुई। इन विद्रोहों के प्रमुख सूत्रधार रैहन, क़ुतुलुग़खां तथा किशलूखां थे। बलबन चाहता था कि पिछले षड्यन्त्र के कर्णधार दिल्ली से अधिक-से-अधिक दूर रहें ताकि उनको फिर षड्यन्त्र करने का अवसर न मिले। अस्तु, उसने रैहन को बदायूं से बहराइच स्थानान्तरित करवा दिया और क़ुतलुग़खां को अपनी पत्नी के सहित, जो नासिरुद्दीन की माता थी, अवध भेज दिया। किशलूखां के असंतोष का प्रधान कारण मुलतान और उच्छ से हटाया जाना था। इसलिए उसे वहाँ का शासक नियुक्त किया गया। सबसे पहले रैहन ने अशान्ति का सृजन आरंभ किया और क़ुतलुग़खां के पास होने के कारण उसे इस कार्य में सुविधा हुई। परंतु उसके विरुद्ध एक सेना भेजी गयी और वह हार गया तथा उसकी मृत्यु हो गयी (१२५६ ई०)

अन्य विद्रोह (१२५५-१२५८)

इस विद्रोह में क़ुतलुग़ खां का भी सहयोग रहा था। इसलिए उसे अवधसे बहराइच स्थानान्तरित किया गया। परंतु उसने इस आदेश को नहीं माना और सुलतान के प्रतिनिधि को युद्ध में हरा दिया। अब बलबन ने स्वयं अवध पर आक्रमण किया। क़ुतलुग़खां हिमालय की तराई में भाग गया, बलबन ने उसको बंदी बनाने के लिए दूर तक पीछा किया परंतु अंत में उसका ठीक पता न मिलने पर वह दिल्ली वापस चला आया। बलबन के लौटतेही क़ुतलुग़खां ने फिर अवध पर अधिकार कर लिया और कड़ा-मानिकपुर पर धावा किया। वहाँ से पराजित होकर वह फिर भागा। बलबन ने क़ुतलुग़खां का फिर पीछा किया। वह सिरमूर पहाड़ियों के क्षेत्र में संतोरगढ़ के राजा रणपाल की शरण में चला गया और बलबन ने यद्यपि रणपाल के राज्य को रौंदना या बर्बाद करना जारी किया तो भी राजा ने शरणागत को हवाले नहीं किया और बलबन को फिर असफल लौटना पड़ा। (१२५७ ई०)।

इसके वाद बलबन और नासिरुद्दीन को एक अत्यन्त भयावह स्थिति का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामना करना पड़ा। लाहौर का हाकिम जलालुद्दीन मंगोलों की शरण में रह चुका था। दिल्ली की सल्तनत न पाने से वह असंतुष्ट भी था। इसलिए उसने दिल्ली के सुलतान के स्थान पर मंगोलों से ही संबंध रखा। मुलतान और उच्छ का हाकिम किशलूखां एक बार सुलतान होने की निष्फल चेष्टा कर चुका था। उसे बलबन का प्रभुत्व खलता था। मुलतान और उच्छ पर मंगोलों का दबाव बढ़ रहा था। उसे भय हुआ कि वैमनस्यता के कारण यदि बलबन ने उपयुक्त अवसर पर सहायता न दी तो एक बार फिर उसे मुलतान और उच्छ से हाथ धोना पड़ सकता है। अस्तु, उसने बग़दाद-स्थित मंगोल शासक हलाकूखां से संबंध स्थापित किया, उसकी अधीनता स्वीकार करली और उसके दर्बार में अपना एक पौत्र रख दिया। पश्चिम की ओर से अपनी स्थिति को सुदृढ़ करके उसने बलबन से बदला लेने की सोची। वह अपनी सेना लेकर व्यास नदी के किनारे से होता हुआ हिमालय की तराई में पहुँच गया और वहाँ उसने क़ुतलुग़ की सेना से सहयोग करके दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। दिल्ली के अंदर भी कुछ उलमा और अमीर इन विद्रोहियों के समर्थक थे। जब बलबन सेना लेकर समाना की ओर गया तब इन राजधानी में विद्यमान विद्रोहियों ने किशलूखाँ को लिख भेजा कि वह बलबन की सेना से बिना भिड़े दिल्ली आ जाय तो वह आसानी से उसमें प्रवेश प्राप्त कर सकेगा क्योंकि वे फाटक खोल देंगे। किशलूखाँ दिल्ली के पास पहुँच गया। परंतु उधर बलबन को दिल्ली वाले विद्रोहियों के राजद्रोह का पता चल गया था और उसने सुलतान को परामर्श दिया था कि वह इनको राजधानी से बाहर निकाल दे। यह संसाद पाकर नासिरुद्दीन ने इनको उनकी जागीरों में भेज कर दिल्ली की सुरक्षा का प्रबंध कर लिया था। बलबन भी शीघ्र ही दिल्ली की ओर लौटा और यह सूचना पाकर विद्रोही सर्दार भाग खड़े हुए। किशलूखाँ ने मंगोलों से सहायता माँगी और एक मंगोल सेना आ भी गयी। इसलिए बलबन मुलतान और उच्छ पर अधिकार न कर सका। परंतु इसामी लिखता है कि १२५८ ई० के कुछ वर्ष बाद बलबन ने मुलतान पर अधिकार कर लिया। किशलूखाँ ने मंगोलों की सहायता से उसे फ़िर लेने की चेष्टा की परंतु वह सफल मनोरथ नहीं हुआ। यह घटना १२६० और १२६६ ई० के बीच किसी समय हुई होगी। १२६६ ई० में भटिण्डा, भटनेर, समाना और सुनाम का हाकिम शेरखाँ सुंकर था जो १२५५ से १२६० ई० तक दिल्ली, ग्वालियर, बयाना आदि क्षेत्रों में रहा था। इससे अनुमान होता है कि किशलूखाँ के हटाये जाने पर पश्चिमोत्तर प्रांत का शासन फिर से शेरखाँ को मिल गया था। इससे भी विदित होता है कि किशलूखाँ १२६० ई० और १२६६ के बीच में ही हटाया गया होगा। इस भांति तुर्क सर्दारों के विद्रोह प्रायः बराबर होते रहे यद्यपि बलबन और नासिरुद्दीन बड़ी सतर्कता से उनको दबाने का यत्न करते रहे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नासिरुद्दीन के राज्यकाल की दूसरी प्रमुख समस्या थी पश्चिमोत्तर सीमा की सुरक्षा। इल्तुतमिश के समय में ही पश्चिमोत्तर सीमा का प्रश्न विकराल रूप धारण करने लगा था। यलदौज, जलालुद्दीन मंगबरनी तथा मंगोलों ने, एक के बाद दूसरे ने, ग़ज़नी को केन्द्र बना कर पहले पंजाब पर और फिर और पूरब के भाग पर अपना आधिपत्य जमाने की इच्छा की थी। इल्तुतमिश इनमें से एक को भी सहसा दबा सकने में समर्थ नहीं था। अनुकूल परिस्थिति ने प्रत्येक बार उसे संकट से उबारा था। यलदौज ख्वारिज्म के शाह के दबाव के कारण निर्बल होने पर ही सुगमता से हराया जा सका। जलालुद्दीन मंगबरनी प्रायः ३ वर्ष तक पंजाब और सिंध को रौंदता रहा और अंत में इल्तुतमिश को तभी त्राण मिला जब वह स्वेच्छा से भारत छोड़कर चला गया। मंगोल भारत-विजय की कामना से नहीं वरन् जलालुद्दीन को समूल नष्ट करने के उद्देश्य से आये थे। उन्होंने शायद जलालुद्दीन को पराजित करने की सुविधा की दृष्टि से इल्तुतमिश से मित्रता की संधि करनी चाही और उसी संधि का ध्यान रखकर एक ओर इल्तुतमिश ने जलालुद्दीन को सहायता देने से इन्कार किया तथा दूसरी ओर मंगोल नेता चंगेज ने लखनौती कामरूप और हिमालय पर्वत को लाँघकर चीन जाने का विचार इल्तुतमिश की इच्छा के कारण परित्याग कर दिया। इस भाँति इल्तुतमिश की शक्ति नहीं वरन् चंगेज की तत्कालीन राजनीतिक अवस्था के कारण भारत को मंगोलों के हमले से मुक्ति मिली।

नासिरुद्दीन और मंगोल

इल्तुतमिश के उत्तराधिकारियों के काल में पश्चिमोत्तर सीमा की स्थिति उत्तरोत्तर दुरवस्था को प्राप्त होती गई। उत्तरी पंजाब में खोखरों की जाति विद्यमान ही थी जो तुर्की सल्तनत के पड़ोसी क्षेत्र पर बराबर छोटे-बड़े धावे करती रहती थी और न केवल लूट-मार करके ही संतुष्ट हो जाती थी वरन् राज्य-विस्तार की भी कामना रखती थी। मंगोलों ने अफ़ग़ानिस्तान और ख़ुरासान की विजय करके ख्वारिज्म के अधीन हाकिमों का मूलोच्छेद करने का निश्चय कर लिया था और चूंकि जलालुद्दीन मंगबरनी के भारत आने के फलस्वरूप उसके सर्दारों का अधिकार सिंध तथा पश्चिमी पंजाब के कुछ भाग पर बराबर बना हुआ था, वे सिंध-पंजाब पर भी हमले करने लगे। जलालुद्दीन के हाकिमों में से हसन क़रलुग़ येन केन प्रकारेण कुछ न कुछ राज्य अधिकृत किए ही रहा और बराबर उसके विस्तार की योजनायें बनाता रहता था। दिल्ली के प्रान्तीय हाकिम जो पश्चिमोत्तर सीमा पर नियुक्त किए जाते थे स्वार्थ अथवा दुर्बलता के कारण कभी-कभी विदेशियों का आश्रय ग्रहण करने को उद्यत हो जाते थे। इस कारण पंजाब और सिंध में बहुत उथल-पुथल रही और दिल्ली के सुलतानों का अधिकार लाहौर, मुलतान और उच्छ को मिलाने वाली रेखा के पश्चिम की ओर प्रायः नहीं ही रहा। लाहौर, मुलतान और उच्छ पर भी दिल्ली

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के सुलतानका स्थायी अधिकार नहीं रहा। बहराम और मसूद के समय में इन नगरों पर भी विदेशियों का अधिकार हो गया था परन्तु १२४५-१२४६ में बलबन के उद्योग से फिर उन पर अधिकार कर लिया गया।

१२४६ ई० में सबसे अधिक भय मंगोलों की ओर से था। उन्होंने हसन क़रलुग़ को काफी निर्बल कर दिया था। खोखर भी उनके दबाव के कारण कुछ त्रस्त थे। भारतीय सीमा के निकट उनके राज्य के उत्तरोत्तर सुदृढ़ीकरण के साथ-साथ दिल्ली की सल्तनत पर उनका ध्यान अधिकाधिक जाने लगा। इस परिस्थिति में नासिरुद्दीन और बलबन को सल्तनत की रक्षा की व्यवस्था करनी पड़ी। सन् १२४६-४७ ई० में बलबन ने खोखरों पर आक्रमण किया। उसने उनके विद्रोह को सरगर्मी के साथ दबाया। उसी समय एक मंगोल सेना सिंध-पार पड़ी हुई थी। सुलतान की सेना के आगमन का समाचार जान कर वह वापस लौट गई। बलबन ने भी उसका पीछा करने की चेष्टा नहीं की। इसके बाद १२६६ ई० तक मंगोलों और दिल्ली के सुलतान के बीच होने वाले किसी युद्ध का विवरण नहीं मिलता। फिर भी अन्य घटनाओं से पता चलता है कि कुछ कशमकश बराबर चलती रही और दिल्ली की सल्तनत की स्थिति अच्छी नहीं रही। यहाँ पर उनमें से कुछ घटनाओं की ओर संकेत किया जायगा।

तुर्क सरदारों का मंगोलों की शरण में जाना

बलबन के बढ़ते हुए प्रभाव से घबड़ा कर राजकुमार जलालुद्दीन मंगोलों के नेता मंगूखां के दरबार में गया और उससे दिल्ली की गद्दी दिलाने के लिए सहायता माँगी। मंगूखां ने उसकी सामान्य आवभगत तो अवश्य की परंतु उसकी ओर से दिल्ली के सुलतान से झगड़ना उचित नहीं समझा। जलालुद्दीन की परीक्षा करने के लिये उसने सिंधु तट से लाहौर तक का जो प्रदेश मंगोलों के अधीन था उसे जलाल को दे दिया। सन् १२५५ ई० में जलाल ने रैहन-विरोधी गुट में मिल कर फिर राज्य पाने की चेष्टा की परन्तु विफल होने पर लाहौर के शासन से ही संतुष्ट रहा। यह ठीक नहीं कहा जा सकता कि १२५५ ई० के बार भी वह मंगोलों के ही अधीन रहा या नहीं परन्तु यह भी कहना कठिन है कि वह दिल्ली की अधीनता में आ गया। यदि मंगोलों की इच्छा उस समय दिल्ली पर आक्रमण करने की होती तो वे जलाल का उपयोग कर सकते थे।

इसी भांति कुछ काल के लिए क़ुतलुग़खां और शेरखां सुंक़र भी मंगोलों के शरणापन्न हुए थे। परन्तु उनकी ओर से भी मंगोलों ने कोई युद्ध करना ठीक नहीं समझा। मुलतान और उच्छ का हाकिम किशलू खाँ मंगोलों से मिलकर और उनकी सैनिक सहायता प्राप्त करके दिल्ली पर अधिकार करना चाहता था। परन्तु हलाकू ने इसे स्वीकार नहीं किया। इन राजद्रोही तुर्कों के कारण सल्तनत के लिए भारी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संकट उत्पन्न हो सकता था।

परन्तु १२४६-४७, १२५७ और १२५८-५९ में मंगोलों ने दिल्ली की सेना की संख्या और शक्ति के बारे में जो सुना या देखा था उससे उन्हें यह विश्वास हो गया था कि नासिरुद्दीन और बलबन अपने राज्य की रक्षा करने में समर्थ होंगे। उन्होंने यह भी देख लिया था कि दिल्ली का सुलतान मंगोल अधिकृत क्षेत्र के प्रति उदासीनता की नीति बरतने को तैयार है। नासिरुद्दीन क़रलुग़—मंगोलों की अधीनता स्वीकार करने के बाद—अपनी कन्या का विवाह बलबन के बेटे से करके मंगोलों और दिल्ली के सुलतान के बीच मैत्री भाव को बढ़ाना चाहता था। हलाकू ने १२५८-५९ में एक दूत-मण्डल दिल्ली भेजा था। बलबन ने उसके स्वागत के समय ऐसे ठाट-बाट और सजधज का प्रदर्शन किया कि वे लोग यह प्रतिक्रिया लेकर गए कि दिल्ली का सुलतान बहुत समृद्ध, लोकप्रिय एवं सशक्त है और उसकी सेना संख्या, शिक्षा तथा रणकौशल में उच्च कोटि की है। इसलिए मंगोलों ने सिंध और पश्चिमी पंजाब पर अधिकार रखते हुए भी आगे बढ़ने की इच्छा नहीं की। वरन् उन्होंने अपने कर्मचारियों को स्पष्ट चेतावनी दे रखी थी कि वे दिल्ली राज्य की सीमा की अवहेलना न करें। मंगोलों की इस नीति का कारण केवल दिल्ली के सुलतान के प्रति सद्भाव ही नहीं था, वरन् खलीफा का अन्त करने के बाद उनको पश्चिमी एशिया में अपनी शक्ति सुदृढ़ करने के लिए अवकाश भी अपेक्षित था।

सन् १२६० ई० के बाद शान्तिपूर्ण वातावरण में कुछ परिवर्तन हुआ। बलबन के राज्यारोहण के पूर्व ही मुलतान, उच्छ और लाहौर पर फिर सुलतान का अधिकार हो गया क्योंकि यह सभी स्थान बलबन के राज्याभिषेक के समय उसके साम्राज्य के अन्तर्गत गिनाये गये हैं। अस्तु, सब बातों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि पश्चिमोत्तर सीमा की नीति अधिक असफल नहीं रही।

हिन्दू विद्रोह

इल्तुतमिश के उत्तराधिकारियों की दुर्बलता से लाभ उठाकर हिन्दू राजाओं ने प्रायः सभी स्थानों में शक्ति बढ़ाना और तुर्की सल्तनत की सीमा को संकुचित करना आरम्भ कर दिया। नासिरुद्दीन के काल में भी यह गति चलती रही परन्तु उसके मंत्री बलबन के अध्यवसाय के कारण उनकी शक्ति कुछ हद तक कुण्ठित होने लगी।

लखनौती

पहले लिखा जा चुका है कि लखनौती के तुर्क शासक समय पाते ही दिल्ली के अधिकार को नकार देते थे। वे उड़ीसा, कामरूप तथा पूर्वी बंगाल के हिन्दू शासकों से भी स्वेच्छा से युद्ध करके शक्ति-संग्रह करने की चेष्टा करते रहते थे। इस काल में गंगवंशीय नृसिंह प्रथम (१२३८-१२६४) ने बंगाल पर कई धावे किए और उसने दक्षिणी-पश्चिमी बंगाल पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया जो उसके उत्तराधिकारियों ने कायम रखा। इसी काल में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कामरूप के राजा ने भी लखनौती के शासक को बुरी तरह हराया और उसे बन्दी बना लिया (१२५५ ई०)। दक्षिणी तथा पूर्वी बंगाल के हिन्दू शासक भी प्राय स्वतंत्र रहे। परन्तु वे लखनौती के तुर्क अधिकारियों को बंगाल से बाहर नहीं खदेड़ सके।

बुंदेलखण्ड और बघेलखण्ड में चंदेलों का राज्य था परन्तु ऐबक के काल में उनकी शक्ति को एक भीषण आघात पहुँचा था। इस काल में त्रैलोक्यवर्मा, वीरवर्मा तथा हम्मीर वर्मा ने चंदेल शक्ति को फिर बढ़ाया और प्रायः सम्पूर्ण बघेलखण्ड और बुंदेलखण्ड उनके प्रभाव-क्षेत्र में आ गया। मध्यवर्ती क्षेत्र में उनका सीधा शासन था। झांसी से कालपी तक का क्षेत्र इसमें शामिल था। और उत्तर में यमुना-तट तक उनका अधिकार जम गया था। कालपी से चुनार तक का क्षेत्र बघेल राजाओं के अधीन था जो चंदेलों को अपना सम्राट् मानते थे। बलबन ने १२४८ में बुंदेलखण्ड पर आक्रमण किया परन्तु उसको इसमें केवल इतनी ही सफलता मिली कि राजा का उत्तर की ओर का बढ़ाव रुक गया। बघेलों और अवध के हाकिमों के बीच भी अनेक युद्ध हुए परन्तु उनसे बघेलों की शक्ति घटी नहीं।

बुन्देलखंड और बघेलखण्ड

नरवर, चंदेरी तथा ग्वालियर के क्षेत्र में राजा चाहरदेव की शक्ति बढ़ रही थी। उसने ग्वालियर को जीतकर उसे तुर्कों से युद्ध करने का केन्द्र बनाया। बलबन ने १२५१-५२ ई० में उस पर आक्रमण किया परन्तु चाहरदेव की स्वतंत्रता तथा शक्ति पर इससे कोई आँच नहीं आई, केवल कुछ गाँव बरबाद हो गये और बलबन को कुछ लूट का सामान मिल गया।

मालवा

राजपूताने में सबसे अधिक शक्ति चौहानों की थी। इस काल में चौहानों और उनके अधीन सामंतों ने दिल्ली तक धावे मारे और उन्होंने तुर्क सल्तनत को नष्ट करने की चेष्टा की। रणथंभौर पर चौहानों के बार-बार हमले होने पर रज़िया ने उसे खाली कर दिया था। उस समय भागवत ने उसपर अधिकार करके स्वतंत्र चौहान राज्य की पुनः स्थापना की। उसके पुत्र जैत्रसिंह तथा पौत्र हम्मीर के काल में चौहानों की शक्ति में और वृद्धि हुई। जैत्रसिंह ने अपने शिलालेखों में मालवा, गुजरात, मारवाड़ और तुर्कों को पराजित करने का उल्लेख किया है। एक स्थान पर मालवा के राजा को बन्दी बनाने का भी उल्लेख है। सम्भव है, कोटा के चौहान, मेवात के जादों भट्टी तथा मालवा और मारवाड़ के कुछ सामंत भी उनके अधीन रहे हों। इनकी शक्ति-वृद्धि का प्रभाव यह हुआ कि राजपूताने में तुर्कों के राज्य का अन्त हो गया। जालौर के चौहान तथा जैसलमेर के भट्टी राजपूतों ने भी केवल स्वतंत्रता की रक्षा ही नहीं की वरन् उन्होंने पड़ोसी राज्यों पर धावे भी किए।

राजपूताना

इसी काल में मेवाड़ में गुहिलवंशी शासकों का प्रभाव बढ़ने लगा और उनकी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजधानी चित्तौड़ का गढ़ राजपूताने में विख्यात होने लगा। उनके राजाओं ने भी शायद तुर्कों से सफल युद्ध किये।

इस क्षेत्र में अलाउद्दीन खिलजी के शासनकाल के पूर्व सुलतानों को कोई विशेष सफलता नहीं मिली। बलबन ने १२४८, १२५४ और १२५८ में रणथंभौर पर आक्रमण किये और बूंदी तथा चित्तौड़ तक धावा मारा परंतु इनका कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा और राजपूत पूर्ववत् स्वतंत्र बने रहे।

विभिन्न राजपूत राजवंशों में जिनके विरोध का इस काल में सर्वाधिक उल्लेख मिलता है वे हैं मेवात के जादों भट्टी जिन्हे मुसलमान इतिहासकार मेवाती के नाम से पुकारते हैं। मेवातियों ने छापामार नीति का अनुसरण किया और उन्होंने हाँसी, रेवाड़ी तथा राजधानी दिल्ली पर अनेक बार धावे किये। वे मुसलमान राहगीरों को लूट लेते थे, सरकारी खजाने और रसद के सामान को छीन लेते थे और आवश्यकता पड़ने पर जंगलों में जा छिपते थे। बलबन ने १२४९ ई० में मेवात पर पहला आक्रमण किया और जिसको पाया उसे कत्ल कर दिया तथा उनके कई गाँव जला दिये। परंतु इससे वे विशेष भयभीत नहीं हुए। कुछ दिन बाद उन्होंने फिर वही कार्य आरंभ किया। बलबन पहले तो और कामों में उलझा था और बाद में वह स्वयं पदच्युत कर दिया गया। १२५५ में पुनः नायब पद पर नियुक्त किये जाने के बाद भी उसे तुर्क सरदारों के विद्रोह और मंगोलों के भय ने अवकाश नहीं दिया। मेवातियों ने इस दशा से खूब लाभ उठाया। उन्होंने दिल्ली में दिन-दहाड़े घुसकर लूट-मार आरंभ कर दी। अस्तु, १२६० ई० में बलबन ने फिर आक्रमण किया। उसने उन जंगलों को कटवा दिया जहाँ मेवाती छिपते थे, जिनको पकड़ पाया मरवा डाला और उनके गाँवों-नगरों को जलाता-लूटता तथा उनके प्रमुख नेताओं को बंदी बनाता हुआ दिल्ली लौट गया। इन नेताओं में मलका के नाम का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। उसके कारनामों से बलबन विशेष रूप से बौखलाया हुआ था। बंदी नेताओं को यातनायें देकर मार डाला गया, कुछ की जिन्दा हालत में खाल खिंचवा ली गयी परंतु मेवातियों का उपद्रव अब भी शान्त नहीं हुआ क्योंकि उनके राज्य पर तुर्क-शासन स्थापित करने की शक्ति उस समय सुलतान में नहीं थी।

मेवात

यह दशा उन भागों की थी जिनको हम तुर्कों के राज्य की सीमा के बाहर अथवा ठीक सीमा पर स्थित पाते हैं। परंतु तुर्की सल्तनत के केन्द्रीय भाग में भी राजपूतों के विद्रोह हुए। इनमें विशेष उल्लेख योग्य दोआब और कटेहर के विद्रोह हैं। नासिरुद्दीन ने १२४७ में बलबन को साथ लेकर दोआब पर आक्रमण किया। विद्रोही राजा का गढ़, जिसका नाम मिनहाजुस्सिराज ने तलसंदा लिखा है, जीत

दोआब और कटेहर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिया गया और विद्रोह शान्त हो गया। १२५० में फिर दोआब में विद्रोह हुआ और बलबन ने जा कर विद्रोहियों का दमन किया। १२५६ ई० में जब क़ुतलुग़खां ने विद्रोह किया तब स्थानीय राजपूतों ने भी लूट-मार आरंभ कर दी। इस भांति दोआब में अशान्ति के लक्षण पूरे तौर से कभी नष्ट नहीं हुए।

कटेहर के लोगों ने सल्तनत की कठिनाइयों से लाभ उठाकर तुर्की अड्डों पर धावा करना आरंभ किया और कर देना बंद कर दिया। उन्होंने बदायूँ और सम्भल पर हमले किये और सरकारी कर्मचारियों का स्वच्छंदतापूर्वक आना-जाना संकटापन्न कर दिया। सन् १२५४ ई० में बलबन ने स्वयं कटेहरियों के विरुद्ध युद्ध छेड़ा। उसने कटेहरियों को कत्ल किया परंतु राजपूतों ने भी तुर्की सेना को काफी क्षति पहुँचाई और यद्यपि बलबन की यात्रा के मार्ग में कुछ काल के लिए शान्ति हो गयी परंतु कटेहरियों को दमन करके अधीन बनाने का कार्य शेष ही रह गया।

मिनहाजुस्सिराज ने १२६० के आगे की घटनाओं का विवरण नहीं दिया है और बर्नी ने १२६६ के बाद से अपना इतिहास-ग्रंथ आरंभ किया है। इसलिए नासिरुद्दीन की मृत्यु और बलबन के राज्यारोहण के विषय में विस्तृत वर्णन प्राप्त नहीं है। नासिरुद्दीन की मृत्यु १२६६ ई० में हुई। इसका कारण था सुलतान का रोगग्रस्त हो जाना। कुछ लोगों ने यह भी अटकल लगाई है कि शायद बलबन ने उसे विष दे दिया। परंतु इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता और न इसके लिए कोई विशेष हेतु ही दिखाई देता है। मिनहाजुस्सिराज लिखता है कि नासिरुद्दीन को एक पुत्र हुआ था। परंतु ऐसा लगता है कि वह बाल्यावस्था ही में मर गया क्योंकि नासिरुद्दीन की मृत्यु के समय इल्तुतमिश के वंश का कोई राजकुमार जीवित नहीं था। इसी कारण कहा जाता है कि सुलतान ने बलबन को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था। इस भांति नासिरुद्दीन की मृत्यु के साथ-साथ प्रथम इलबरी वंश का अंत हो गया और दूसरे इलबरी वंश का शासन आरंभ हुआ।

नासिरुद्दीन की मृत्यु

नासिरुद्दीन एक सच्चरित्र, धर्मपरायण एवं शान्तिप्रिय शासक था। परंतु उसमें युद्ध करने की क्षमता थी और उसने राज्यारोहण के पूर्व तथा पश्चात् अनेक युद्धों में भाग लिया था। फिर भी युद्ध में उसकी विशेष रुचि नहीं थी। वह योग्य कर्मचारियों को पाने पर उनका पूर्ण विश्वास करना जानता था परंतु उनके हाथ की कठपुतली नहीं बन जाता था और आवश्यकता प्रतीत होने पर बड़े-से-बड़े कर्मचारी को पदच्युत अथवा स्थानान्तरित कर सकता था। वह अपनी माता का

नासिरुद्दीन का व्यक्तित्व

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदर करता था। परंतु जब उसने देखा कि वह षड्यन्त्रों में भाग लेकर अशान्ति बढ़ा रही है तो उसने उसे राजधानी से बाहर भेजने की व्यवस्था कर दी। उसका राज्य-काल, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, बड़े संकट का काल था। परंतु अपनी सतर्कता और बलबन की योग्यता के कारण वह सल्तनत की रक्षा करने में समर्थ हुआ तथा मंगोलों, हिन्दुओं और तुर्क सर्दारों के विरोध का पूर्ववर्ती शासकों की अपेक्षा कहीं अधिक सफलता से सामना कर सका।

सहायक ग्रंथ

१. इलियट और डासन—भाग ३ पृष्ठ २३३-२४८, २९५-३९९, ५६१-५८६।
२. हबीबुल्ला—पृष्ठ ८१-१५०, १८९-२१४।
३. मुहम्मद अजीज अहमद—पृष्ठ १२३-२५३।
४. त्रिपाठी—सम ऐस्पेक्ट्स आफ मुस्लिम ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृष्ठ १६-३३।
५. कुरेशी—ऐडमिनिस्ट्रेशन आफ दी सल्तनत आफ डेल्ही।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५

द्वितीय इलबरी वंश—ग़यासुद्दीन बलबन

ग़यासुद्दीन बलबन का प्रारम्भिक जीवन

राज्यारोहण के पश्चात् बलबन अपने को अफ़रासियाब के वंश का बताता था। परन्तु यह कहा नहीं जा सकता कि यह कहाँ तक सत्य पर आधारित है। उसका पितामह इलबरी तुर्कों के दस हजार परिवारों का प्रधान था। इससे स्पष्ट है कि वह एक उच्च परिवार में जन्मा था। अपनी युवावस्था में वह मंगोलों का बंदी हो गया और उन्होंने उसे बसरा के ख्वाजा जमालुद्दीन के हाथ बेच दिया। जमालुद्दीन ने उसे अच्छी शिक्षा-दीक्षा देकर एक सुसंस्कृत व्यक्ति बना दिया और फिर सन् १२३२ई० में उसे सुलतान इल्तुतमिश को बेच दिया। सुलतान ने उसे पहले एक छोटे पद पर नियुक्त किया परन्तु वह अपनी योग्यता के कारण रज़िया के राज्यकाल में अमीर-ए-शिकार बना दिया गया। सुलतान मुईज़ुद्दीन बहराम के काल में उसे अमीर-ए-आखूर का पद प्राप्त हुआ और सन् १२४४ ई० में सुलतान अलाउद्दीन मसूद ने उसे अमीर-ए-हाजिब का पद प्रदान किया। राजधानी के बाहर वह रेवाड़ी और हाँसी का हाकिम भी रह चुका था और वहाँ अपनी सैनिक तथा प्रशासकीय योग्यता का परिचय दे चुका था। सन् १२४६ में उसने मसूद के स्थान पर नासिरुद्दीन महमूदशाह को राजा बनाने में प्रमुख भाग लिया और उसी के उपलक्ष में वह सुलतान का प्रधान परामर्शदाता एवं नायब-ए-मुमलिकत नियुक्त हो गया। १२४६ के बाद १२६६ तक तुर्क सरदारों ने अनेक विद्रोह किये जिनका एक प्रमुख कारण था बलबन के प्रति ईर्ष्या। ऐसा लगता है कि दूसरे तुर्क सर्दार बलबन के प्रभुत्व को सहन करने के लिए उद्यत नहीं थे क्योंकि उसने दिल्ली सल्तनत की राजनीति में उनसे बहुत पीछे प्रवेश किया था। दूसरे दृष्टिकोण से देखने पर यह प्रतीत होता है कि बलबन बहुत महत्वाकांक्षी था और इल्तुतमिश की मृत्यु के बाद वह शीघ्र-से-शीघ्र उच्चतम पद प्राप्त करने के लिए सभी संभव साधन अपनाने को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत था। वह देखता था कि किस दल में रहने से अधिक लाभ की आशा है और व्यक्तिगत हित का ध्यान रखकर उसी में मिल जाता था। परंतु १२४६ के बाद १२६६ तक उसने स्वार्थ के साथ नासिरुद्दीन के प्रति भक्ति को भी संयुक्त कर दिया था। कहा जा सकता है कि ऐसा करने का उद्देश्य भी स्वार्थ-सिद्धि ही था परंतु सब घटनाओं को ध्यान में रखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि उसे नासिरुद्दीन के प्रति वास्तविक स्नेह था और वह उसके साथ विश्वासघात करना नहीं चाहता था। नासिरुद्दीन ने भी उसको न केवल उच्चतम पद प्रदान किया वरन् उसे अपना विश्वास भी दिया और वैवाहिक संबंधों द्वारा उसे राज्य में सर्वाधिक प्रतिष्ठित सम्मान का अधिकारी बनाया। सन् १२४९ ई० में उसने उसकी कन्या से स्वयं विवाह किया और अपनी एक दूसरी पत्नी से उत्पन्न कन्या का विवाह बलबन के बेटे बुग़रा खां के साथ कर दिया। अस्तु, जब नासिरुद्दीन महमूद दीर्घकालीन रुग्णावस्था के बाद मर गया तब बलबन को राज्यारोहण में कोई कठिनाई नहीं हुई। सम्राट् ने संभवतः उसे अपना उत्तराधिकारी भी घोषित कर दिया था। राज्य के प्रधान कर्मचारी वर्षों से बलबन के निर्देश में कार्य करने के अभ्यस्त हो चुके थे और जानते थे कि उससे अधिक उपयुक्त कोई दूसरा व्यक्ति नहीं है। अतः १२६६ ई० में ग़यासुद्दीन बलबन के नाम से दिल्ली के सिंहासन पर बैठ गया और सभी वर्ग के लोगों ने उसके राज्यारोहण का स्वागत किया। इस भांति द्वितीय इलबरी वंश का आरंभ हुआ।

१२६६ ई० में सल्तनत की स्थिति

इस वंश-परिवर्तन के कारण न्यूनाधिक अशांति होना चाहिए थी। परंतु जैसा ऊपर ऊपर कहा जा चुका है, इल्तुतमिश के वंश के किसी पुरुष उत्तराधिकारी के अभाव में सम्राट द्वारा मनोनीत, राजवंश से अनेक विवाहों द्वारा संबद्ध, तथा पिछले बीस वर्षों से राजशक्ति का प्रधान उपभोक्ता होने के कारण बलबन द्वारा एक नये राजवंश की स्थापना ऐसी स्वाभाविक -सी घटना प्रतीत हुई जैसे कि वह नासिरुद्दीन का वंशानुगत उत्तराधिकारी हो। फिर भी बलबन को सिंहासन पर बैठते ही अनेक कठिन समस्याओं का सामना करना पड़ा और उनका ठीक समाधान प्रस्तुत कर सकने के कारण ही उसे तेरहवीं शताब्दी के भारतीय तुर्क सुलतानों में इतना अधिक गौरव प्राप्त हुआ है। जियाउद्दीन बर्नी तथा उसका अनुकरण करने वाले बाद के इतिहासकारों ने इन समस्याओं को इतना बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया है कि वे स्पष्टतः अनैतिहासिक प्रतीत होती हैं। ऐसा करने का एकमात्र उद्देश्य बलबन की महत्ता को महत्तर बनाने की भावना ही हो सकती है। परन्तु, इस वर्णन में जो सत्यांश छिपा दिखाई पड़ता है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि अपनी दीर्घकालीन नयाबत के बावजूद सुलतान की स्थिति सुदृढ़ नहीं थी। साम्राज्य के विभिन्न भागों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में विद्रोह होते रहने के कारण राजकोष का एक बड़ा भाग सेना पर व्यय होता रहा था। मंगोलों के हमलों को रोकने तथा अशांति का दमन करने में भी बराबर बहुत व्यय होता रहा था। दूसरी ओर, दूरस्थ प्रांतों की व्यावहारिक स्वतंत्रता, तुर्क सरदारों की स्वेच्छाचारिता एवं मेवात, कटेहर तथा दोआब के हिन्दुओं की छापामार युद्ध-प्रणाली के कारण राज्य की आय भी घट गई थी। फलतः राज्य का आर्थिक ढांचा लड़खड़ा रहा था। उसे सँभाल सकने पर ही अन्य सुधार संभव हो सकेंगे। अस्तु, बलबन की पहली समस्या थी रिक्त राजकोष की पूर्ति। दूसरे, वह ३० वर्ष से देख रहा था कि इल्तुतमिश के जिन चालीस दासों के कारण उस सुलतान को संगठन-कार्य में इतनी सहायता मिली थी, वे ही उसकी आँख बन्द होते ही उसके साम्राज्य के सेवक बने रहने के स्थान पर विघटनकारी शक्तियों का नेतृत्व करने लगे। नासिरुद्दीन महमूद के नायब की हैसियत से बलबन ने उनमें से अनेक का दमन कर लिया था। कुछेक स्वाभाविक गति से ही मर गये थे। परंतु कई व्यक्ति अभी भी जीवित थे जिनके मन में सम्राट् का पद पाने की इच्छा किसी समय भी जग सकती थी। इनका दमन करके सम्राट् के पद को श्रेष्ठ, सुदृढ़ एवं सम्मानित बनाना, बलबन की दूसरी प्रमुख समस्या थी। तीसरे, भीषण रक्तपात एवं बर्बर यातनाओं के बावजूद साम्राज्य के केन्द्रीय भाग में स्थित राजपूत सर्दार एवं भूमिपति सुलतान के कर्मचारियों को सताने और उसके खजाने अथवा रसद के सामान को लूटने से ही संतुष्ट न होते थे वरन् उनमें से कुछ इतने साहसी एवं बलवान हो गये थे कि वे राजधानी में घुसकर दिन-दहाड़े लूटमार करते और मुसलमान स्त्रियों के न केवल आभूषण वरन् वस्त्र भी उतरवाकर सुलतान की शक्ति और प्रतिष्ठा को बराबर चुनौती देते रहते थे। मुसलमान इतिहासकारों ने इनको डाकुओं और लुटेरों की संज्ञा दी है। परंतु मालूम होता है कि वे राजपूत प्रत्याक्रमण और प्रतिशोध के अग्रगामी दस्ते थे। इनका शीघ्र-से-शीघ्र दमन न कर सकने पर साम्राज्य की सुरक्षा भीषण संकट में पड़ सकती थी। चौथे, जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, राजपूताना, बुन्देलखण्ड एवं बघेलखंड के राजपूतों के स्वतंत्र राज्य उत्तरोत्तर अधिक बलवान होते जा रहे थे और वे तुर्कों को निकाल बाहर करने के लिए कृत-संकल्प थे। वे बराबर सल्तनत की सीमा को अधिकाधिक संकुचित करने में संलग्न थे। सल्तनत के सौभाग्य से उनका अभी तक कोई एक सर्वस्वीकृत नेता नहीं था। परंतु, यदि बलबन उनकी शक्ति की बाढ़ न रोक सके तो यह कमी भी पूर्ण होना असंभव नहीं था और उस दशा में नवजात तुर्की साम्राज्य शैशव-काल में ही काल के मुख में चला जाता। इधर, देश के भीतर, यह सब जटिल प्रश्न उपस्थित थे और उधर, सिंधु को पार करके मंगोल नेताओं ने सिंध तथा पश्चिमी पंजाब में अपने शासक नियुक्त कर रखे थे। मध्य एशिया के सभी मुसलमान राज्य पदाक्रांत हो चुके थे। दिल्ली का सुलतान उनमें से अनेकों पराजित राज-पुरुषो

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्वानों एवं महात्माओं को आश्रय-दान कर चुका था। मंगोल, मुसलमानों के इस अंतिम आश्रय-स्थल को शीघ्र-से-शीघ्र मंगोल साम्राज्य का अंग बनाने के इच्छुक थे। बलबन को सबसे अधिक भय इन्हीं विदेशी आक्रमणकारियों से था। अतः बलबन के लिए दिल्ली का राजमुकुट ऊपरी जगमगाहट के बावजूद काँटों का ताज था। वृद्ध सम्राट् ने न केवल राजमुकुट को अपने सिर पर बनाये रखने में सफलता पाई, वरन् उसकी मर्यादा में भी अभूतपूर्व वृद्धि की और दिल्ली के सुलतान की यशध्वनि समस्त मध्य एशिया में गूँज उठी।

सम्राट् के पद की प्रतिष्ठा-वृद्धि

बलबन ने सर्वप्रथम सम्राट् के पद को ही सम्मानित बनाने की चेष्टा की। उसका यह व्यक्तिगत अनुभव एवं विश्वास था कि पिछले तीस वर्षों की गड़-बड़ियों का मूल कारण सम्राटों की दुर्बलता थी। बलबन ने यह भी अनुभव किया था कि इल्तुतमिश के दासों में भी ऐसे अनेक लोग थे जो बलबन को अपने से निम्न श्रेणी का समझते थे। अस्तु, उसने अपनी व्यक्तिगत मर्यादा बढ़ाने के लिये सम्राट् के पद को भी अधिक गौरवपूर्ण एवं प्रतिष्ठित बनाया। बलबन कहता था कि रसूल के अतिरिक्त और कोई पद इतना सम्मानित और महान नहीं है जितना कि शासक का। सम्राट्-पद की सृष्टि भगवान् ने की है और उसी की कृपा से मनुष्य इस पद को प्राप्त करता है। अस्तु, सम्राट् ईश्वर का प्रतिनिधि-स्वरूप है और उसके कार्यों द्वारा ईश्वरी मर्यादा लक्षित होनी चाहिए। बलबन यह भी कहता था कि ईश्वर शासन का अधिकार उच्चवंशीय लोगों को ही प्रदान करता है। अपने को वह सुप्रसिद्ध तूरानी शासक अफरासियाब का वंशज बताता था और उसने अपने पौत्रों के नाम प्राचीन शासकों की परंपरा में कैखुसरो, कैक़ूबाद आदि रख दिये थे। बलबन उच्चवंश की अनिवार्य आवश्यकता पर इतना जोर देता था कि वह संदिग्ध सम्मान वाले व्यक्तियों तथा तुर्केतर जातियों के लोगों को कोई ऊँचा पद नहीं देता था। अमरोहा के प्रशासकीय पद के लिये कमाल महया का नाम प्रस्तावित किये जाने पर जब जाँच से यह पता चला कि वह नवमुस्लिम है तब न केवल वह उस पद के लिए अयोग्य मान लिया गया वरन् अन्य कई व्यक्ति भी पदच्युत कर दिये गये। दिल्ली का एक समृद्ध व्यापारी फखरू सम्राट् द्वारा दर्शन दिये जाने के उपलक्ष में लाखों टंक भेंट करने के लिए प्रस्तुत था परंतु बलबन ने उसे सम्राट् का दर्शन पाने का अनधिकारी ठहराकर भेंट की जाने वाली धनराशि को ठुकरा दिया। उसने अपने दर्बार को ईरानी ढंग पर संगठित किया। सजावट की मात्रा खूब बढ़ा दी गई। सम्राट् के अंगरक्षक चमचमाते हथियारों और आकर्षक वस्त्रों से लैस नंगी तलवारें लिए क़तार बाँधे पीछे की ओर खड़े रहते थे। कहते हैं कि उनकी तलवारों की चमक से आनेवालों की आँखें चौंधियाँ जाती थीं। उसने पंद्रह पदच्युत राजाओं को आश्रय दे रखा था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन सब को दर्बार में उपस्थित रहना पड़ता था और खलीफा-वंशी दो व्यक्तियों को छोड़कर शेष सब को खड़ा रहना पड़ता था। खलीफा के वंशजों को बलबन के सिंहासन से काफी नीचे चौकियों पर बैठाया जाता था। इससे बलबन का रोब बढ़ जाता था। सम्राट् के दर्बार म आने और जाने के पूर्व उच्च कण्ठ-स्वर से एक-एक करके अनेक विशिष्ट कर्मचारियों द्वारा इसकी सूचना दी जाती थी। आनेवाले व्यक्ति को दर्बार में पेश करते समय भी एक विशिष्ट पद्धति का अनुसरण किया जाता था और दर्बार में आने पर उसे 'सिजदा' और 'पाबोस' की रस्में अदा करनी पड़ती थीं। इन सब का सामूहिक प्रभाव यह पड़ता था कि दर्बार में आने वाला व्यक्ति सम्राट् के गौरव से एकदम आतंकित हो जाता था।

बलबन दर्बार में बड़े ठाट-बाट के साथ आता था। वह एक शब्द भी अनर्गल नहीं बोलता था। छोटे अमीरों को भी उससे सीधे बात करने की अनुमति नहीं थी। हँसी-मज़ाक न वह करता था न किसी को करने देता था। उसके भ्रू विलास को देख कर ही बड़े-बड़े सर्दारों की रूह काँप जाती थी। वह अपने परम प्रिय पुत्र की मृत्यु का संवाद पाकर भी अविचलित ढंग से दर्बार का काम करता रहा और अपने व्यक्तिगत दुःख को उसने एकान्त में ही व्यक्त किया।

बलबन के राजत्व-सिद्धान्त

राजपद पाने के बाद बलबन ने अपने आचरण में आश्चर्य-जनक परिवर्तन कर दिया और उसे सम्राट् के गौरव के अनुकूल ढालने के लिए सराहनीय संयम एवं दृढ़ता का परिचय दिया। बर्नी कहता है कि बलबन ने अपने बेटे मुहम्मद और बुग़रा खां से अपने सिद्धान्तों का अनेक स्थलों पर उल्लेख किया था और उन्हें भी उनको मान कर चलने का आदेश दिया था। 'सम्राट् को चाहिए कि वह अल्लाह के भय और प्रजा के सुख को बिना भूले हुए मर्यादा और गौरव का आह्वान करे तथा अपनी शक्ति का उपयुक्त अवसरों पर उपयोग करे। उसे अपने राज्य के अंदर अशिष्टता और अनाचार को रोकने के लिए सचेष्ट रहना चाहिए और तदर्थ दण्ड अथवा जुर्माने की व्यवस्था करनी चाहिए। उसे चरित्रवान व्यक्तियों को ही सरकारी पद देने चाहिए और कुख्यात चरित्र-भ्रष्ट लोगों को अपने राज्य में ठहरने न देना चाहिए। उसे न्याय करते समय शांत, धीर एवं निष्पक्ष रहना चाहिए।'

जब बलबन बंगाल का विद्रोह दबा कर दिल्ली लौटा और युवराज मुहम्मद उसका दर्शन करने आया तब उसने उससे जो कहा उसका सारांश अधोलिखित है—

"जब तुम सिंहासनारूढ़ होना तब तुम अपने को भगवान का प्रतिनिधि मानकर चलना। अपने महान् दायित्व का उचित ध्यान रखना और किसी प्रकार के ओछे कार्य द्वारा अपने उच्च पद के गौरव को कलंकित अथवा निष्प्रभ न करना। लोभी और नीच-प्रवृत्ति के लोगों को न मान देना और न उन्हें शासन कार्य में कोई स्थान देना।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी वासनाओं को संयमित रखना और कभी अत्यधिक क्रोध के वशीभूत न होना क्योंकि सम्राट् का क्रोध मृत्यु का उपकरण है। अपने व्यक्तिगत चरित्र को ऐसा रखना कि लोग तुम्हारा अनुकरण करें, भगवान की पूजा अर्चना में उनकी रुचि बढ़े, और तुम्हारे प्रति उनमें ऐसी श्रद्धा एवं सम्मान की भावनाओं का संचार हो जिससे वे तुम्हारे आदेशों को आदरपूर्वक मान सकें। योग्य व्यक्तियों की खोज में कोई कसर बाकी न रखना और उनके प्रति उदारता तथा दयालुता का व्यवहार करना। राजकोष का धन राज्य के हित में ही मितव्ययिता से व्यय करना परन्तु समुचित दानशीलता और उदारता का भी प्रदर्शन करना। राज्य-कार्य की ओर सदा ध्यान रखना ताकि कुचक्री मंत्रियों को तुम पर हावी होने का अवसर न मिले। साथ ही इसे विशेष रूप से देखना कि वे तुम्हारे आदेशों को बिना किसी हेर-फेर अथवा लापरवाही के पालन करें। न्यायाधीशों तथा प्रशासकों के पद पर धर्मशील, चरित्रवान एवं कार्यनिपुण व्यक्तियों को नियुक्त करना और न तो किसी की बहुत तेजी से पदोन्नति करना और न किसी को एकबारगी ऊँचे पद से हटा कर निम्न पद पर गिराना। कोई कार्य करने के पूर्व हमेशा विचार लेना कि क्या वह सचमुच आवश्यक और साध्य है। परंतु किसी कार्य को आरंभ करने के बाद उसे कभी अधूरा न छोड़ना क्योंकि जिद्दी कहे जाने की अपेक्षा कायर समझा जाना सम्राट् के लिए कहीं अधिक अप्रतिष्ठामूलक है।"

बलबन ने इन सिद्धान्तों पर स्वयं भी आचरण किया। उसने शराब पीना बंद कर दिया। वह मुसलमान संतों का आदर करता तथा उनसे मिलकर धर्मचर्चा करता था। वह विद्वानों का आश्रयदाता, दीन-दुखियों का सहायक तथा धर्म के नियमों का पालनकर्त्ता था। इन सब बातों का फल यह हुआ कि बलबन ने राजत्व में देवत्व का आरोप कर दिया और राजा की खोई हुई शक्ति को पुनः प्राप्त करके उसे द्विगुणित कर दिया।

हिन्दू विद्रोहों का दमन

बलबन के दर्बार-संबंधी नियमों ने अधिकांश मुसलमान हाकिमों को ऐसा आतंकित किया कि उन्होंने स्वेच्छा से उसके अधिकार को स्वीकार कर लिया और उपयुक्त भेंटे भेज कर उसको प्रसन्न करने की चेष्टा की। परंतु हिन्दू विद्रोहियों पर इस राजवंश की स्थापना का कोई अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। अस्तु बलबन को सर्वप्रथम उन्हीं से लोहा लेना पड़ा। पहले बलबन ने मेवातियों का दमन किया। उसने एक बड़ी सेना इकट्ठा की और उसकी सहायता से उस जंगल को घिरवा लिया जहाँ मेवाती लोग छिपते थे। एक ओर से जंगल काटना आरंभ किया गया और उसी के बीच से सेना के तेजी से जाने योग्य मार्ग बनाया गया। जो मेवाती दिखाई पड़ता उसे तुरंत मार दिया जाता था। इसी विधि से बढ़ते हुए उनके गाँवों और नगरों में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रवेश किया गया और बस्तियों में जो स्त्रियां मिलीं वह पकड़ कर दासी बनाकर बेंच दी गई तथा बारह वर्ष से अधिक आयु वाले सभी पुरुष काट डाले गये। मेवाती इधर उधर भागने लगे। परंतु तब भी प्रायः एक लाख व्यक्ति मार डाले गये। उनके भावी विद्रोहों को रोकने के लिए गोपालगिर में एक सुदृढ़ गढ़ बनाया गया और उसमें अफ़ग़ान सैनिक रख दिये गये। इसी प्रकार और भी छावनियाँ बनाई गईं और उन सबको सड़कों द्वारा एक दूसरे से तथा राजधानी से मिला दिया गया। इन पड़ावों में रखे जाने वाले सैनिकों को पड़ोस की भूमि जागीर के रूप में दे दी गयी और उनको चौकसी रखने का आदेश दिया गया। सुलतान बीच-बीच में शिकार के बहाने आकर देखता था कि वे लोग पूरी सतर्कता रखते हैं या नहीं। इस भांति राजधानी में मेवातियों का उपद्रव शांत हो गया और बलबन के जीवन-काल में उनकी ओर से फिर कोई चिन्ता नहीं रही। यह घटना १२६६ ई० की है।

अभी यह कार्य चल ही रहा था कि अंतर्वेद और अवध में उपद्रव बढ़ने लगा। सुलतान शीघ्र ही वहाँ गया। उसने उस क्षेत्र को कई इलाकों में विभक्त करके प्रत्येक को एक अफसर के सिपुर्द कर दिया। उन सबको आदेश दिया गया कि वे अपने-अपने क्षेत्र में जंगलों को कटवा कर सड़कें बनायें, शांति भंग करने वालों का वध कर दें और उनके गढ़ों को नष्ट कर दें या उन पर अधिकार कर लें। सम्राट् स्वयं भी उसी क्षेत्र में रह कर उस कार्य का संचालन करता रहा। फलतः यहाँ भी काफी रक्तपात के बाद उपद्रवकारी शांत हो गये। सुलतान ने यहाँ पर अफ़ग़ानों की सैनिक बस्तियाँ भी स्थापित कीं। इनमें से मुख्य चौकियाँ उन गढ़ों में स्थापित की गईं जहाँ पहले उपद्रवकारी शरण लेते थे। इनमें भोजपुर, पटियाली और कम्पिल का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सड़कों की रक्षा करना, शान्ति-भंग करने वालों का दमन करना तथा राज-कर्मचारियों को राजकर वसूल करने में सहायता देना, इन सैनिकों का मुख्य कर्तव्य था।

बलबन इस क्षेत्र में ही व्यस्त था कि उसे सूचना मिली कि कटेहर प्रांत में विद्रोह आरंभ हो गया है। अमरोहा तथा बदायूँ के हाकिमों ने विद्रोहियों को दबाने की चेष्टा की। परंतु राजपूतों ने उन्हें पराजित कर दिया। यह सूचना पाते ही बलबन केवल क्रुद्ध ही नहीं हुआ वरन् उसे राजधानी की रक्षा की भी चिन्ता हुई। अस्तु वह द्रुतगति से जाकर राजधानी पहुँचा और वहाँ पर एक विशाल सेना इकट्ठा करके वह विद्रोहियों का दमन करने चल पड़ा। विद्रोहियों की बस्तियों में आग लगादी गई, स्त्रियाँ और बच्चे बंदी बना लिये गये, और ९ वर्ष के ऊपर वाले सभी पुरुष-जातीय व्यक्ति बर्बरता से मार डाले गये। विद्रोहियों के साथ-साथ निरपराध लोग को भी जान से हाथ धोना पड़ा। खून की नदी बहने लगी जिससे गंगा का जल दुर्गंधपूर्ण हो गया और स्थान-स्थान पर सड़ने वाली लाशों के कारण महामारि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फैलने लगी जिससे लौट कर आने वाले लोगों की मृत्यु हुई। इस भाँति नृशंस हत्याओं, क्रूर अत्याचारों एवं प्रबल सैनिक प्रदर्शन द्वारा मेवात, अंतर्वेद, अवध और कटेहर के विद्रोही शांत किये गये।

हिन्दू विद्रोहों का दमन करने के पश्चात् बलबन ने तुर्क सर्दारों तथा अमीरों को वश में करने के लिए अनेक उपाय किये। वह जानता था कि शम्सी सर्दार पूर्ण रूप से स्वामिभक्त नहीं है। अस्तु, उसने उनको दबाने के उद्देश्य से अपने व्यक्तिगत सेवकों का एक नया दल निर्माण किया और उन्हीं को ऊँचे पदों पर नियुक्त किया। रक्त की शुद्धता एवं तुर्कों की श्रेष्ठता के सिद्धान्त को लेकर उसने कई ऐसे लोगों को निकाल बाहर किया जिन्होंने हिन्दू धर्म परित्याग करने पर ऊँचे पद पा लिये थे अथवा जिनके परिवार के विषय में किसी प्रकार का संदेह था। शम्सी सर्दारों में उस समय सबसे प्रबल शेर खां सुंक़र था। वह सुलतान का निकट संबंधी था तथा नासिरुद्दीन के काल में वह बराबर बलबन का विश्वासभाजन रहा था। इसी कारण बलबन ने उसे सीमान्त प्रदेश का संरक्षक नियुक्त किया था। शेरखां एक अनुभवी शासक तथा वीर सेनानायक था और उसने अनेक युद्धों में मंगोलों को पराजित किया था। वह बलबन के राज्यारोहण के समय भटिण्डा, भटनेर, समाना, सुन्नम और दिपालपुर का शासक था। जब उसने देखा कि बलबन की नई नीति में योग्य शम्सी सर्दारों के लिए स्थान नहीं है तो वह अपने विषय में शंकित हुआ और शायद इसी कारण वह सुलतान से मिलने नहीं गया। बलबन नियमों की पाबंदी में अपने को भी जकड़े हुए था तब भला शेरखाँ की इस उपेक्षा को वह कैसे सहन कर सकता था। पश्चिमोत्तर सीमा के कई अमीर पिछले दिनों मंगोलों की शरण में जा चुके थे। शेरखाँ ने भी एक बार ऐसा ही किया था। बलबन को भय हुआ कि कहीं शेरखाँ मंगोलों की सहायता से अपने अधिकृत क्षेत्र में दिल्ली के सुलतान का अधिकार समाप्त करने की चेष्टा न करे। वह किसी प्रकार भी इस भयंकर संभावना का अंत करना चाहता था। अस्तु, उसने शेरखाँ को दर्बार में उपस्थित होने का आदेश दिया और जब वह ४ वर्ष तक हीला-हवाला ही करता रहा तो उसने उसे विष देकर मरवा डाला।

बलबन और तुर्क अमीर

शेरखाँ के स्थान पर बलबन ने बंगाल के शासक तातारखाँ तथा अन्य शम्सी सर्दारों को नियुक्त किया और तातारखाँ के स्थान पर तुग़रिल बेग को बंगाल का हाकिम नियुक्त किया। इस परिवर्तन से अनेक लाभ हुए। बंगाल पर सुलतान का अधिकार केवल नाम-मात्र के लिए ही था। परंतु तातारखाँ के हट जाने से फिर उस प्रांत पर दिल्ली के सुलतान का वास्तविक अधिकार जम गया। इधर सीमान्त दुर्गों में अनेक योग्य एवं अनुभवी व्यक्तियों के होने से उनकी स्वाभाविक ईर्ष्या के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण, उनके लिए मिल कर काम करना कठिन हो गया। इस फूट के कारण मंगोलों को सुविधा हो गई। बलबन ने अब इन सर्दारों पर यह दोष लगाया कि उन्होंने अपने कार्य में बड़ी लापरवाही की है जो सल्तनत के लिए घातक हो सकती है अस्तु, इस आधार पर उसने उन्हें पदच्युत करके बंदीगृह में डाल दिया अथवा मरवा डाला। इस भांति बचे-खुचे शम्सी सर्दारों का भी सफाया हो गया।

स्थानीय अधिकारियों पर केन्द्र का समुचित नियंत्रण रखने के लिये बलबन ने कई उपाय किये। वह शिकार के बहाने राजधानी से चलकर पड़ोस के अधिकारियों के अधिकरण में पहुँच जाता था और उनके कार्य का निरीक्षण करता था। उसने गुप्तचरों का जाल साम्राज्य भर में फैला दिया था और उनको आदेश दिया कि वे सच्ची घटनाओं की शीघ्रता के साथ सूचना भेजते रहें। उसने इन गुप्तचरों को अपने बेटों के विरुद्ध भी तैनात कर रखा था। यदि कोई गुप्तचर भय अथवा लालच के वशीभूत होकर किसी बात को छिपाता या गलत सूचना देता था तो उसे मृत्युदंड तक दे दिया जाता था। इसका प्रमाण उस घटना से मिलता है, जिसका संबंध बदायूँ के हाकिम मलिक बक़बक़ से है। बक़बक़ ने अपने एक नौकर को इतने कोड़े लगवाये कि वह मर गया। गुप्तचर ने इसकी सूचना नहीं भेजी और सुलतान को इसका पता तब चला जब मृत व्यक्ति की विधवा ने न्याय के लिए सुलतान से फरियाद की। बलबन ने उस गुप्तचर को बदायूँ नगर के प्रवेश-द्वार पर फाँसी लटकवा दिया। फलतः उसके पास साम्राज्य भर की सूचनायें शीघ्रता के साथ पहुँचती रहती थीं।

बलबन ने किस प्रकार सम्राट् के पद की प्रतिष्ठा को बढ़ा कर सभी सर्दारों को आतंकित कर रखा था, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। बलबन ने, निष्पक्ष न्याय-व्यवस्था एवं कठोर दण्ड-विधान को अपनी शक्ति की रक्षा का एक दूसरा साधन बनाया। बदायूँ की जिस घटना का ऊपर उल्लेख किया गया है उसमें बलबन ने आदेश दिया कि जिस प्रकार बक़बक़ ने कोड़े मारकर उस व्यक्ति की हत्या की है उसी भाँति उसको भी इतने कोड़े लगाये जायें कि वह मर जाय। बक़बक़ के पद अथवा वंश का इस दण्डविधान में कोई ध्यान नहीं रखा गया। इसी भाँति जब अवध के शासक हैबत खां ने शराब के नशे में अपने एक सेवक की हत्या कर डाली तो सुलतान ने उसको कोड़े लगवायें और फिर उस व्यक्ति की विधवा को अनुमति दी कि वह अपने पति की मृत्यु का बदला हैबत खाँ को क़त्ल करके ले। हैबत खां ने उसे रुपया देकर किसी भाँति अपनी जान तो बचा ली परन्तु वह खोये हुए सम्मान को वापस न पा सका और वह शर्म के मारे कभी घर से बाहर निकलने का साहस नहीं करता था। इसी दशा में कुछ दिन के बाद उसकी मृत्यु हो गई। किसी युद्ध में असफल होने वाले सरदारों को भी बलबन मृत्यु-दण्ड दे देता था जैसा मंगोलों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के विरुद्ध असफल होने वाले शम्सी सर्दारों के संबंध में किया गया और भविष्य में तुग़रिल बेग के विरुद्ध असफल होने पर अमीन खां और तिरमती को मृत्युदण्ड मिला।

बलबन के राज्यकाल में केवल एक तुर्क सरदार ने विद्रोह किया। परन्तु वह जिस कड़ाई और तत्परता के साथ दबाया गया उससे बलबन की निरंकुशता का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। तुग़रिल बलबन का ही दास था। सुलतान ने उसकी योग्यता और स्वामिभक्ति से प्रभावित होकर उसे बंगाल का हाकिम नियुक्त कर दिया। वहीं पर वह कई वर्ष तक शांतिपूर्वक शासन करता रहा और उसने दिल्ली के सुलतान से कभी बिगाड़ नहीं किया। किन्तु १२७९ ई० में बलबन अचानक बीमार पड़ गया तथा उसी समय मंगोलों के हमले के कारण उसके पुत्र पश्चिमोत्तर सीमा में फँस गये। कुछ लोगों ने अनुमान किया कि वृद्ध बलबन इस बीमारी से अब न उठेगा। ऐसे लोगों के ही परामर्श से तुग़रिल ने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। पड़ोसी हिन्दू राजाओं के विरुद्ध सफलतापूर्वक युद्ध चलाते रहने के कारण उसके पास अनेक हाथी तथा अपार धन एकत्रित हो गया था। इससे उसका गर्व भी बढ़ा हुआ था। चापलूसों ने उसकी शक्ति और स्थिति को इस ढंग से व्यक्त किया कि उसे विश्वास हो गया कि स्वतंत्रता घोषित करने में किसी प्रकार का भय नहीं है। अस्तु, उसने अपने को लखनौती का सुलतान घोषित कर दिया और मुग़ीसुद्दीन की पदवी धारण की। उसने अपने नाम के सिक्के चलाये, खुतवे में अपना नाम रख दिया और स्वतंत्र राजाओं की भांति छत्र आदि का उपयोग करने लगा। जब बलबन को इस विद्रोह की सूचना मिली तो वह क्रोध के मारे चंचल हो उठा। उसने अवध के हाकिम अमीन खां को विद्रोह दबाने के लिए रवाना किया परन्तु अमीन खां के अनेक सैनिक शत्रु से मिल गये। इस कारण अमीन खां असफल होकर लौट आया। जब बलबन को यह संवाद मिला तो उसने अमीन खां को मरवा डाला और तिरमती की अध्यक्षता में एक दूसरी सेना भेजी। यह सेना भी पराजित हुई। तिरमती को भी मृत्युदण्ड मिला। इसके बाद एक तीसरी सेना शहाबुद्दीन की अध्यक्षता में भेजी गई परन्तु उसकी भी वही दशा हुई जो पहली दो सेनाओं की हुई थी।

तुग़रिल का विद्रोह (१२७९ ई०)

बलबन इस पराजय-जनित अपमान को और अधिक सहन न कर सका और वह स्वयं विद्रोही को दण्ड देने के लिए चल पड़ा। उसने बुग़रा खाँ को साथ ले लिया क्योंकि तुग़रिल के स्थान पर वह उसी को बंगाल का शासक बनाना चाहता था। दिल्ली का प्रबन्ध फखरुद्दीन के हाथों में सौंप कर वह पूरब की ओर चल पड़ा। अवध में उसने प्रायः दो लाख नये सैनिक भर्ती किये और वर्षा की पर्वाह किये बिना वह तेजी से आगे बढ़ने लगा। उसने प्रण कर लिया था कि तुग़रिल

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को बिना दण्ड दिये वह कभी दिल्ली नहीं लौटेगा। बंगाल की लड़ाइयों में नावों की आवश्यकता भी पड़ सकती थी। इस लिए उसने बहुत-सी नावें भी तैयार कराईं जो सेना के साथ-साथ जल मार्ग से गईं।

सम्राट् के आने का समाचार सुनकर तुगरिल राजधानी छोड़कर अपनी सेना तथा संपत्ति के साथ पूर्वी बंगाल के जंगली क्षेत्र में चला गया और उसने निश्चय किया कि जब कभी बलबन दिल्ली लौटेगा तब वह फिर लखनौती पर अधिकार कर लेगा। बलबन ने लखनौती पर अधिकार करके उसे प्रधान सेनापति हिसामुद्दीन के अधिकार में छोड़ दिया और वह स्वयं तुगरिल का पता लगाने के लिए सोनारगाँव की ओर चल पड़ा। वहाँ के राजा दनुज माधव ने बलबन की सहायता करने का वचन दिया। इसी समय बलबन ने सेना को छोटी-छोटी टुकड़ियों में विभक्त करके विभिन्न दिशाओं में खोज लेने के लिए भेजना आरम्भ किया। इनमें से एक का नेता शेरअंदाज मलिक मुहम्मद था। उसने कुछ बंजारों को अनाज लिये जंगल की ओर जाते देखा। उसे संदेह हुआ और उसने उनको पकड़ कर पूछ-ताछ आरम्भ की। पहले उन्होंने भेद नहीं दिया। परंतु जब उसने उनमें से दो का सिर काट दिया तब उन्होंने तुगरिल के छिपने का स्थान दिखा दिया। इन लोगों ने और सैनिकों की प्रतीक्षा किये बिना ही यकायक हमला कर दिया। तुग़रिल एक घोड़े की नंगी पीठ पर चढ़ कर भागा परंतु वह मार दिया गया और उसका सिर काट लिया गया।

तुग़रिल के सहयोगियों में से कुछ भाग निकले परंतु बहुत से पकड़ लिये गये और सुलतान उनको साथ लेकर लखनौती वापस आ गया। बाजार के दोनों किनारों पर प्रायः दो मील तक फाँसी के तख्ते लटकाये गये और वे लोग भी जिनका तुग़रिल से कोई संबंध था इन्हीं तख्तों पर लटका दिये गये। लोग इस भीषण दण्ड से थर्रा गये। सुलतान चाहता भी यही था। उसने बुग़रा खां को भी चेतावनी दी कि यदि उसने कभी विद्रोह किया तो उसकी तथा उसके संबंधियों की भी यही दशा होगी। उसे शासन-संबंधी अन्य आवश्यक परामर्श देकर सुलतान दिल्ली के लिये चल पड़ा और प्रायः तीन वर्ष के बाद उसने फिर राजधानी में प्रवेश किया। दिल्ली सेना के जो सैनिक तुगरिल से मिल गये थे उनको दिल्ली में दण्ड देने की बात थी। परंतु कई लोगों के अनुनय विनय पर बलबन ने उनको हलकी सजायें देकर क्षमा कर दिया। साधारण सैनिकों को चेतावनी देकर मुक्त कर दिया गया, जो उनसे उच्च पद पर थे उनको कुछ काल के लिए निष्कासित कर दिया गया, उनके बड़े अफसरों को बंदीगृह में डाल दिया गया और सेनानायकों को भैंसों के ऊपर बिठा कर नगर में घुमाया गया। बर्नी कहता है कि उसने वृद्ध लोगों के मुख से सुना था कि कभी भी भारतवर्ष में इस प्रकार के दण्ड पहले नहीं दिये गये थे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बलबन ने सीमाओं की सुरक्षा के लिये भी समुचित व्यवस्था की। बलबन के समय में मंगोलों का दबाव बढ़ रहा था। खिलाफत का अंत होने के बाद भारतीय सीमा पर मंगोलों का दबाव बराबर बढ़ने लगा। दिल्ली का सुलतान ही एक ऐसा मुसलमान शासक था जो मंगोलों के हमलों के बावजूद अपनी स्थिति की सुरक्षा कर रहा था और पदच्युत राजाओं तथा अन्य विशिष्ट मुसलमान शरणार्थियों को आश्रय-दान कर रहा था। अस्तु, मंगोलों की स्वाभाविक इच्छा थी कि इस राज्य को रौंद कर यहाँ से भी मुस्लिम सत्ता को विदा कर दें। बलबन को आंतरिक विद्रोहों और प्रशासकीय समस्याओं का सामना करने के साथ-साथ इस विदेशी आक्रमण के भय का भी निराकरण करना था।

बलबन और सीमाओं की सुरक्षा

बलबन ने अपनी नीति में सीमाओं की सुरक्षा को इतना महत्व दिया कि उसने साम्राज्य की सारी नीति को ही तदनुकूल मोड़ दिया। हम ऊपर कह चुके हैं कि उसने किस भांति आंतरिक विद्रोहों को एकदम बंद कर देने के लिए अत्यन्त कठोर दण्ड-विधान का सहारा लिया था। स्थानीय अफसरों पर कड़ा नियंत्रण रखना तथा सम्राट् की अपरिहार्य श्रेष्ठता की स्थापना भी सीमाओं की रक्षा के लिए आवश्यक थी क्योंकि जब तक बलबन की आंतरिक स्थिति खूब दृढ़ न होती तब तक वह सीमाओं की रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकता था।

बलबन ने यह भी अनुभव किया कि तत्कालीन स्थिति में सैनिक संगठनको सुदृढ़ करना परम आवश्यक है। इसलिए उसने इस ओर भी ध्यान दिया। उसने एक विश्वासपात्र व्यक्ति को, जिसका नाम इमादुलमुल्क था, दीवान-ए-अर्ज़ (प्रधान सैनिक पदाधिकारी) नियुक्त किया और उसे आर्थिक विषयों में वज़ीर के नियंत्रण से मुक्त कर दिया। सेना में नये सैनिक भर्ती करके सेना की संख्या बढ़ा दी गई। सैनिकों को सन्तुष्ट रखने के लिये उनका वेतन बढ़ा दिया गया। इमादुल्मुल्क ने बड़ी ईमानदारी और तत्परता से कार्य किया। इसलिये सैनिकों की भर्ती तथा उनकी वर्दी और हथियारों के विषय में समुचित सतर्कता रखी गई। बलबन ने शायद घोड़ों को दगवाने की प्रथा भी आरंभ कर दी जिसके कारण सेना में अच्छे घोड़ों की संख्या बढ़ गई और उनको बदल कर रद्दी घोड़े ले आना कठिन हो गया। बलबन ने यह भी अनुभव किया कि सैनिकों को नक़द वेतन देना अधिक उपयोगी है क्योंकि कालान्तर में वेतन के रूप में दी हुई भूमि पैतृक सम्पत्ति में परिवर्तित होने लगती है। उसने स्वयं देखा कि पंजाब तथा दोआब में प्रायः दो हज़ार ऐसे सैनिक पदाधिकारी थे जिनको इल्तुतमिश ने जागीरें दी थीं परंतु वे लोग अब नियमित सैनिक सेवा किये बिना ही उन जागीरों पर अधिकार बनाये हुए थे जैसे कि वे उनको इनाम या मिल्क के रूप में दी गई हों। बलबन ने इन जागीरदारों के अधिकार की जाँच

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कराई। उससे पता चला कि सभी जागीरें सैनिक सेवा करने के उपलक्ष में वेतन के स्थान पर दी गई थीं। परन्तु उस समय कुछ लोग नन्हें-नन्हें बच्चों अथवा वृद्धा विधवाओं को छोड़ कर मर गये थे। यह अनाथ उत्तराधिकारी उन भूमियों की आय से पल रहे थे और मौलिक सैनिक के स्थान पर उनका कोई सम्बन्धी या दास आवश्यकता पड़ने पर सैनिक कार्य करने चला जाता था। दूसरा वर्ग उन लोगों का था जो स्वयं वयस्क थे और सैनिक सेवा के लिए उपयुक्त थे। परन्तु जागीर सचमुच उनके मृत पिताओं को दी गयी थी। तीसरे वर्ग में वे लोग थे जो वास्तविक जागीरदार थे परन्तु जो वार्धक्य के कारण सैनिक सेवा के लिए सर्वथा अनुपयुक्त थे। बलबन ने पहले इन सबकी जागीरें जब्त कर लीं और उपयुक्त व्यक्तियों को सेना में भर्ती करके उस समय के नियमों के अनुसार उनको नकद वेतन देने की व्यवस्था कर दी। शेष लोगों को सरकार की ओर से नक़द पेंशन या वजीफे मिलने लगे परन्तु भूमि पर उनका कोई अधिकार नहीं रहा। इस आदेश से यह लोग बहुत परेशान हुए और उसमें से कुछ ने दिल्ली के कोतवाल काज़ी फख्रुद्दीन के द्वारा सम्राट से प्रार्थना की कि वह आदेश बदल दिया जाय। कोतवाल की शिफारिश पर बलबन ने केवल इतना परिवर्तन करना स्वीकार किया कि वृद्ध सैनिक अपने जीवन काल में जागीरों की आय का उपभोग करते रहें। शेष व्यक्तियों की जागीरें जब्त ही रहीं और लौटाई नहीं गईं।

बलबन ने यथासंभव नक़द वेतन देने की प्रथा चलाई। परन्तु भूमि देना बिल्कुल ही बंद कर दिया गया हो, ऐसी बात नहीं है। प्रांतीय तथा स्थानीय हाकिम प्रायः आम सैनिकों को नक़द वेतन न देकर भूमि दिया करते थे। इन सब नियमों का फल यह हुआ कि सेना पहले से संख्या में अधिक, युद्ध-कार्य में अधिक कुशल तथा सुलतान के प्रति अधिक स्वामिभक्त हो गई।

दूसरी समस्या थी इस सेना को व्यवहारिक अनुभव द्वारा शिक्षित करना तथा इसकी सैनिक क्षमता की जाँच करना। इस कार्य के लिए नये राज्यों का विजय करना उपयोगी होता है। परन्तु बलबन जानता था कि यदि वह अधिक दिन के लिए राजधानी से बाहर गया और उसने सैनिक शक्ति को बिखरा दिया तो मंगोलों का विजय-कार्य सुगम हो जायगा। वह सीमा की रक्षा को प्राथमिकता देता था क्योंकि उसके राज्य का अस्तित्व ही उस पर निर्भर करता था। अस्तु बलबन ने विजय-कार्य बन्द करके केवल सीमा की चौकसी में ही सारी शक्ति लगा दी। परन्तु छावनी में पड़ी-पड़ी सेना काहिल न हो जाय, इसलिए वह प्रति सप्ताह शिकार खेलने जाया करता था जिसमें हजारों सैनिक पारी-पारी से तैनात होते थे। इस भाँति समुचित शिक्षा मिल जाती थी और वे बराबर चुस्त तथा फुर्तीले बने रहते थे। मंगोल नेता हलागू ने बलबन के इस कार्य को सुनकर उसकी बुद्धिमत्ता की बड़ी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रशंसा की थी।

बलबन के राज्याभिषेक के समय मुलतान, उच्छ, दिपालपुर, और लाहौर उसके अधिकार में थे। सिन्धु नदी के पश्चिम की ओर मंगोलों का अधिकार था और पंजाब का अधिकांश भाग भी उन्हीं के अधीन था। बर्नी के वर्णन से विदित होता है कि व्यास नदी सल्तनत की पश्चिमी सीमा थी जिसके पार का सम्पूर्ण देश मंगोलों के शासन में था। बलबन का मुख्य उद्देश्य मंगोलों की बाढ़ को रोकना मात्र था। उन्हें पंजाब से निकाल बाहर करना न तो सुलतान के लिए संभव था और न उसने इसके लिए कोई प्रयत्न ही किया। बलबन ने केवल अपनी सीमा को सुदृढ़ करके व्यास-रावी दोआब में ही मंगोलों को रोक रखने की व्यवस्था की।

राज्यारोहण के बाद उसने पहला काम यह किया कि लाहौर के दुर्ग की मरम्मत करके उसे एक सुदृढ़ गढ़ बना दिया और उसमें सीमारक्षक सेना की एक टुकड़ी रख दी। प्रायः १२७० ई० तक शेरखां पश्चिमोत्तर सीमा की देख-रेख करता रहा। परन्तु जैसा कि पहले वर्णन हो चुका है, १२७० ई० के लगभग उसकी मृत्यु हो गई। इसके बाद बलबन ने पहले अनेक शम्सी अमीरों को वहां नियुक्त किया परन्तु जब वे मंगोलों के दबाव को रोक न सके तब उसने सीमांत क्षेत्र की रक्षा का भार अपने पुत्रों को सौंपा। उसने अपने बड़े बेटे मुहम्मद को मुलतान और उच्छ में रखा और उसे पश्चिमोत्तर क्षेत्र का वाइसराय नियुक्त किया। पंजाब-क्षेत्र में उसने अपने दूसरे बेटे बुग़रा खां को सुन्नम और समाना का हाकिम नियुक्त किया। लाहौर और दिपालपुर भी उसी के अधिकार-क्षेत्र में थे। इन सभी स्थानों पर चुने हुए सैनिक रखे गये। राजधानी में बलबन और मलिक बेकतर्स एक विशाल सुसज्जित सेना के साथ सदा तैयार रहते थे और आवश्यकता पड़ने पर मलिक बेकतर्स तीस हजार अश्वारोही लेकर राजकुमारों की सहायता के लिए पहुँच जाता था। इस व्यवस्था का परिणाम यह हुआ कि यद्यपि मंगोलों ने कई बार व्यास पार करके भीतर घुसने की चेष्टा की परन्तु वे हर बार रोक लिए गये और हार कर वापस लौटने को बाध्य होते रहे। सिंध प्रान्त में भी प्रायः बराबर ही छिटपुट युद्ध होते रहे परन्तु उनके कारण सल्तनत की पश्चिमी सीमा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। सन् १२८५ ई० में अफ़ग़ानिस्तान के मंगोल शासक तैमूरखां ने एक प्रबल आक्रमण किया। उसने लाहौर और दिपालपुर के क्षेत्र को लूटा और बर्बाद किया। राजकुमार मुहम्मद उसका सामना करने के लिए आगे बढ़ा परन्तु वह मंगोलों की रणनीति का शिकार हुआ और मारा गया। मंगोलों ने कुछ देर युद्ध करने के बाद भागना आरम्भ कर दिया। राजकुमार की सेना ने उनका पीछा किया। मंगोल ऐसे भाग रहे थे जैसे कि उन्हें बचने की आशा ही नहीं है। परन्तु जब राजकुमार की सेना का अधिकांश भाग पीछे रह गया और मुहम्मद केवल

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ साथियों के साथ पीछा करता दिखाई पड़ा तो वे लौट पड़े। उनकी पूर्वनिश्चित योजना के अनुसार छिपे हुए सैनिक भी मुहम्मद पर पीछे से टूट पड़े और वह तथा उसके सभी साथी मार डाले गये। इसके बाद मंगोलों ने पीछे आती हुई सेना पर भी लौट कर हमला किया और अनेक लोगों का वध किया। इस पराजय से बलबन को उतना धक्का नहीं लगा जितना कि युवराज मुहम्मद की मृत्यु से और वृद्ध सुलतान इसके बाद अधिक दिन जीवित नहीं रहा। परंतु मंगोल मुलतान, उच्छ अथवा कोई अन्य भाग अधिकृत करने में सफल नहीं हुए। मुहम्मद के बेटे कैखुसरो ने वहाँ की कमान सँभाल ली और सीमा की चौकसी पूर्ववत् सुदृढ़ बनी रही। इससे विदित होता है कि यद्यपि बलबन मंगोलों की शक्ति कम करने में सफल नहीं हुआ परंतु उसकी रक्षात्मक व्यवस्था सफल रही और मंगोल दिल्ली के राज्य का कोई नया भाग छीनने में अक्षम रहे।

बलबन के कार्य का मूल्यांकन

यदि हम बलबन के कार्य को एक शब्द में व्यक्त करना चाहें तो वह शब्द है 'सुदृढ़ीकरण'। यही उसकी नीति का मूलमंत्र था। सल्तनत को सुदृढ़ करने के लिए उसे जो कुछ उपयोगी प्रतीत हुआ उसने वही किया। उसके गद्दी पर बैठने के पूर्व सम्राट् और साम्राज्य की प्रतिष्ठा काफी कम हो चुकी थी। परन्तु 'जब वह सिंहासनारूढ़ हुआ तो उसने उसे नूतन आभा प्रदान की, उसने शासन को व्यवस्थित किया और जिन संस्थाओं की शक्ति हिल गई थी या नष्ट हो गई थी उनको उसने पुनः निपुणता प्रदान की। सरकार की मर्यादा और प्रतिष्ठा पुनः स्थापित की गई और उसके कठोर नियमों एवं दृढ़ संकल्प ने उसके साम्राज्य के सभी छोटे और बड़े लोगों को उसके अधिकार का वशीभूत बनाया। सभी लोगों के हृदय में उसका भय और आतंक व्याप्त हो गया परंतु उसके न्याय और जनहित-चिन्तन ने उसकी प्रजा का समर्थन प्राप्त कर लिया और वे उसके शासन के उत्साही समर्थक हो गयें' (ज़ियाउद्दीन बर्नी)। अन्य मुसलमान इतिहासकारों ने भी बलबन की बहुत प्रशंसा की है। सभी स्वीकार करते हैं कि उसने राजपद पाने के बाद व्यक्तिगत जीवन में अत्यन्त उच्च नैतिक आदर्शों का पालन किया और अपने बेटों तथा सर्दारों को भी उसका अनुकरण करने की प्रेरणा दी। वह अपने धर्म का यथासाध्य तत्परता से पालन करता था क्योंकि मुस्लिम आदर्शों के अनुसार राजा का कर्तव्य है कि वह अपने आचरण द्वारा प्रजा में धर्म के प्रति आस्था बढ़ावे। वह जानता था कि उलमा पतित एवं स्वार्थी हैं। तो भी वह समय-समय पर उनके प्रति आदर का भाव प्रगट करता था। परंतु राज्य-व्यवस्था में बाधक होने पर वह उन्हें भी मृत्यु-दण्ड तक देने में संकोच नहीं करता था। वह विद्वानों तथा धर्मनिष्ठ व्यक्तियों की सुसंगति में समय बिताता था और उन्हें धन [illegible] मान देकर संतुष्ट करता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। वह निरंकुश शासक बनने का इच्छुक था। खलीफा के वंशज उसके आश्रित थे, तोभी उसने खलीफा-पद के लिए व्यक्त की जाने वाली श्रद्धा में कमी नहीं की। उसने सम्राट् के पद की प्रतिष्ठा बढ़ाई और दर्बार की सजावट, अंगरक्षकों की भयावह आकृति किन्तु प्रभावोत्पादक वर्दी, नौरोज़ तथा अन्य उत्सवों एवं जुलूसों के समय ऐश्वर्य-प्रदर्शन तथा दरबार-संबंधी नये नियमों द्वारा जनता के हृदय को आतंकित कर दिया। 'उसने मध्य एशिया के अनेक विशिष्ट व्यक्तियों को आश्रय देकर न केवल अपनी मर्यादा को बढ़ाया वरन् उसने शासन का अनुभव रखने वाले योग्य व्यक्तियों की सेवायें भी प्राप्त कर लीं। आंतरिक विद्रोहों तथा वाह्य आक्रमणों से रक्षा के हेतु उसने एक विशाल रणवाहिनी संगठित की और उसे योग्य सेनानायकों की अध्यक्षता में राजधानी के निकट तथा अन्य मार्कों के स्थानों में तैनात किया और उसको गतिशील, रणनिपुण, एवं आज्ञाकारी बनाने के लिए अनेक नियम बनाये। उसने तलवार के जोर से हिन्दू विद्रोहों का दमन किया और तुर्कों को वश में रखा परंतु उसने उनके हृदयों पर विजय नहीं पाई। उसके अधिकार का आधार था भय और आतंक न कि स्नेह, कृतज्ञता एवं भक्ति की भावना। इसी कारण उसकी मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य तेज़ी से विश्रृंखल होने लगा। उसका दण्ड-विधान कठोर था और उसने अपराधियों के संबंधियों तथा मित्रों को भी दण्ड दिया। कटेहर और मेवात में उसने निरपराध बालकों (९ या १२ वर्ष से अधिक आयु वाले) को भी मरवा दिया ताकि कुछ समय तक विद्रोह करने योग्य वयस्क पुरुष-समुदाय ही न रहे। परंतु नृशंस हत्याओं द्वारा स्थापित शांति अधिक दिन तक टिक न सकी और हिन्दुओं के विद्रोह उसकी मृत्यु के कुछ समय बाद फिर आरंभ हो गये। निष्पक्ष न्याय और देशव्यापी गुप्तचर व्यवस्था ने उसकी निरंकुशता को सफल बनाने में बहुत सहायता की। भावी अशांति को रोकने के उद्देश्य से उसने पहले से ही राजकुमार मुहम्मद को युवराज घोषित कर दिया और उसे हर प्रकार से सम्राट् के पद के उपयुक्त बनाने का उद्योग किया। उसकी मृत्यु हो जाने पर उसने बुग़रा खां को उत्तराधिकारी बनाना चाहा और राजधानी में रखकर उसे शासन के सिद्धान्तों और प्रयोगों में दक्ष करने की चेष्टा की। परंतु जब बुग़रा खां बिना अनुमति लिये ही बंगाल लौट गया तब उसे भीषण धक्का लगा और उसने विवश होकर पुत्र के रहते हुए पौत्र को उत्तराधिकारी घोषित किया। मुहम्मद का बेटा कैखुसरो सीमान्त युद्धों में तत्परता के साथ अपने पिता की मृत्यु द्वारा रिक्त स्थान की पूर्ति कर रहा था। बलबन ने उसकी वीरता एवं कार्यक्षमता से प्रभावित होकर उसी को उत्तराधिकारी घोषित किया। इस भांति बलबन ने न केवल अपने जीवन-काल में सल्तनत की सीमा और मर्यादा की रक्षा की वरन् उसने भविष्य में भी उसके गौरव की रक्षा के लिए व्यवस्था करनी चाही। यदि बलबन के समान दृढ़-संकल्प, अनुभवी, प्रतिभा-संपन्न एवं नीति-निपुण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शासक उस समय दिल्ली का स्वामी न होता तो सल्तनत का अस्तित्व भी रह सकना दुष्कर था। यही कारण है कि बलबन को तेरहवीं शताब्दी के शासकों में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। उसके द्वारा आरंभ की गई नीति का अवलम्बन एवं संवर्द्धन करके अलाउद्दीन ने निरंकुश खिलजी साम्राज्यवाद की स्थापना की। इस कारण बलबन को अलाउद्दीन का मार्ग-प्रशस्तक भी कहा गया है।

कैक़ुबाद (१२८७-१२८९ ई०)

बलबन की मृत्यु के बाद दिल्ली के अमीरों में दो दल हो गये। फ़ख्रुद्दीन और उसके समर्थक कैख़ुसरो के स्थान पर बुग़रा खां के पुत्र कैक़ुबाद को सुलतान बनाना चाहते थे। इसका मूल कारण यह था कि राजकुमार मुहम्मद और फ़ख्रुद्दीन में कुछ व्यक्तिगत मनोमालिन्य था। फ़ख्रुद्दीन को भय हुआ कि यदि कैख़ुसरो शासक हो गया तो वह उसके हितों पर आघात न करे। अस्तु, उसने सल्तनत के हित की आड़ में अपने स्वार्थ की रक्षा का उपाय किया। उसने कहा कि बुग़रा ख़ाँ शक्तिवान शासक है। उसके पुत्र को गद्दी पर बिठाने से वह शांत रहेगा और सल्तनत की शांति भंग न होगी। परंतु यदि उसके भतीजे को गद्दी दी गई तो वह निश्चय ही विरोध करेगा और इस भांति सल्तनत को गृह-युद्ध के संकट का सामना करना पड़ेगा जो उसके लिये घातक हो सकता है। दूसरे, कैख़ुसरो तीखे स्वभाव का व्यक्ति था और इस कारण सम्राट्-पद के लिए उतना उपयुक्त नहीं था जितना कि कैक़ुबाद जो अत्यन्त सच्चरित्र, मृदुभाषी, सहृदय एवं मिष्टस्वभाव का था। वह राजधानी में उपस्थित था। इसलिए उसे गद्दी पर बिठाने में ही बलबन के वंश का वास्तविक लाभ है। दूसरे दल ने, जिसके नेताओं में वज़ीर हसन बसरी मुख्य था, इसका विरोध किया और कैख़ुसरो की सैनिक योग्यता तथा बलबन के समर्थन पर बल दिया। परंतु इस दल की एक न चली। उसके अनेक सदस्य बंदीगृह में डाल दिये गये और बाद में निष्कासित कर दिये गये। कैख़ुसरो को मुलतान और उच्छ का हाकिम नियुक्त कर दिया गया और कैक़ुबाद को मुईजुद्दीन के नाम से गद्दी पर बिठा दिया गया।

कैक़ुबाद का शासन

बलबन ने कैक़ुबाद की शिक्षा-दीक्षा का प्रबंध अपने आदर्शों के अनुसार किया था। इतिहासकार बर्नी लिखता है कि उसने राज्याभिषेक के समय तक न तो एक बूंद मदिरा का पान किया था और न किसी रूपवती स्त्री का दर्शन किया था। अब यौवन काल के पदार्पण के साथ-साथ उसने अपने को उन्मुक्त एवं राजकीय सुविधाओं का स्वामी पाया। फलतः वह आमोद-प्रमोद और विषयवासनाओं में इस प्रकार फँस गया कि राजकार्य की पूर्ण उपेक्षा होने लगी। दर्बार का भी वातावरण बदल गया। नर्तकियों, भांड़ों और विदूषकों की बाढ़ आ गई और राज्य-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अनेक उच्च पदाधिकारी भी राजा का अनुकरण करके इन्द्रिय-सुखों के दास हो गये। ऐसी परिस्थिति में योग्य एवं महत्वाकांक्षी व्यक्तियों में षड्यंत्र करके राज-सत्ता हथियाने की इच्छा उदित होने लगी।

निज़ामुद्दीन का कुचक्र

हसन बसरी के हटाये जाने पर उसका स्थान उपवज़ीर ख्वाजा खातिर को मिला। इस नये वज़ीर का प्रभाव तेज़ी से बढ़नेलगा। उसका प्रतिद्वंदी था मलिक निज़ामुद्दीन जो फख्रुद्दीन का दामाद तथा दिल्ली का दादबक (न्यायाधीश) एवं वकील-ए-दर था। निज़ामुद्दीन अत्यन्त वाक-पटु एवं महत्वाकांक्षी था। उसने धीरे-धीरे सुलतान पर इतना प्रभाव जमा लिया कि वह नायब-ए-मुमलिकत के समान हो गया और उसी के परामर्श के अनुसार शासन-कार्य चलने लगा। निज़ामुद्दीन चाहता था कि सुलतान को सुरा एवं सुंदरी में फँसा कर उसकी अकाल मृत्यु निश्चित कर दे तथा उसके पूर्व एक-एक करके सभी संभावित प्रतिद्वंदियों का विनाश करके कैक़ुबाद की मृत्यु के उपरांत स्वयं राजपद प्राप्त करे। उसने अपनी पत्नी को राज-महल में निवास करने के लिए भेज दिया और उसके द्वारा कैक़ुबाद को पूर्णतया अपनी मुट्ठी में कर लिया।

अब उसने निश्चित होकर अपना प्रभुत्व निष्कंटक बनाने का कार्य आरंभ किया। उसने राजकुमार कैखुसरो के नाम शाही फ़रमान भेजकर उसे दिल्ली बुलाया तथा जब वह रोहतक पहुँचा तब उसका बध करा दिया। ख्वाजा खातिर के ऊपर एक झूठा दोष लगाकर उसे गधे पर चढ़ाकर [illegible]ार में घुमाया गया और इस प्रकार वह नितान्त अपमानित हो गया। तदुपरान्त निज़ामुद्दीन ने विदेशी सर्दारों पर षड्यंत्र का अपराध लगाकर उन्हें क़त्ल करा दिया [illegible] निष्कासित कर दिया। जो स्थान रिक्त हुए उसमें उसने अपने समर्थकों की नियुक्ति करा दी। इस भाँति निज़ामुद्दीन का प्रभाव दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगा। इसी समय एक मंगोल आक्रमण हुआ। निज़ामुद्दीन ने उस समय सुलतान को समझाया कि जो मंगोल इस्लाम धर्म स्वीकार करके दिल्ली में बस गये हैं उनका स्वाभाविक आकर्षण मंगोलों के प्रति है। अस्तु, सल्तनत की सुरक्षा की दृष्टि से उन्हें विनष्ट करना आवश्यक है। सुलतान ने इस परामर्श को स्वीकार कर लिया और उनके बध की आज्ञा दे दी। मंगोल नव-मुस्लिमों की हत्या के बाद उसने उन तुर्क अमीरों का भी बध करा दिया जो मंगोलों के मित्र अथवा सम्बन्धी थे। इस हत्याक्रम से सभी सर्दार घबड़ा उठे। मलिक फख्रुद्दीन ने निज़ामुद्दीन को समझा-बुझाकर राजभक्ति के पथ पर लाने की चेष्टा की। परन्तु इसमें उसे सफलता नहीं मिली। अन्य अमीरों [illegible] मिलने पर सुलतान को निज़ामुद्दीन के कुचक्र की सूचना दी। परन्तु [illegible] कठपुतली बन गया था कि वह तुरंत उनका नाम निज़ामुद्दीन को [illegible] हें बंदीगृह में डलवा देता था। इस भाँति कैक़ुबाद अबाध

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गति से मृत्यु-मुख में जाता प्रतीत होने लगा।

बलबन की मृत्यु का समाचार पाते ही बुग़राखां ने नासिरुद्दीन का विरुद् धारण किया और स्वतंत्र शासकों की भांति सिक्के तथा ख़ुतबे में अपने नाम का प्रयोग आरंभ कर दिया। बुग़राखां अपने बेटे से दिल्ली का राज्य छीनने का इच्छुक नहीं था, परंतु वह उसकी अधीनता में रहने के लिए भी प्रस्तुत नहीं था। इसी कारण यद्यपि उसने दिल्ली पर अधिकार जताने की कोई चेष्टा नहीं की तो भी उसने अपनी स्वतंत्रता उद्घोषित कर दी। प्रायः २ वर्ष तक वह दिल्ली की गतिविधि को देखता रहा परंतु जब उसे विश्वास हो गया कि कैक़ुबाद अपने कार्यों द्वारा न केवल अपनी वरन बलबन के वंश की ही क़ब्र खोद रहा है तब उसने हस्तक्षेप करने का निश्चय किया। उसने कैक़ुबाद के पास अनेक पत्र भेजे जिनमें उसने आचरण तथा शासन के संबंध में बराबर सत्परामर्श दिया। इन पत्रों का कैक़ुबाद पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

बुग़राखां का आगमन

मलिक निज़ामुद्दीन वास्तव में एक योग्य शासक था। उसने बलबन के सशक्त केन्द्रीयकरण के सिद्धान्तों का कठोरता से पालन किया और जिस किसी को केन्द्रीय सरकार की (जो उस समय निज़ामुद्दीन के प्रभुत्व की पर्याय-मात्र थी) किसी प्रकार अवहेलना करते देखा उसी को कड़ा-दण्ड दिया। यदि निज़ामुद्दीन यह कार्य केवल कैक़ुबाद के हित में कर रहा होता तो उसको वही प्रतिष्ठा प्राप्त होती जो बलबन को सुलतान नासिरुद्दीन के काल में प्राप्त थी। परंतु निज़ामुद्दीन सचमुच सुलतान के नाम की आड़ में अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था और कैक़ुबाद यदि घोरतम असंयम करने पर भी जीवित बना रहे (जिस असंयम के लिए वह सभी संभव उपादान जुटाता रहता था), तो उपयुक्त अवसर पर उसका वध करके वह गद्दी पर अधिकार करना चाहता था। उसकी यह दुर्नीति प्रायः सभी लोगों पर प्रगट हो गई थी। इसी कारण राज्य में अशांति बढ़ रही थी और बुग़रा खां विशेष उद्विग्न हो उठा था।

अमीर ख़ुसरो ने अपनी रचना क़िरान उस्सादैन में लिखा है कि बुग़राखां ने दिल्ली की ओर प्रस्थान उस पर अधिकार करने के उद्देश्य से किया था। परंतु बर्नी इस मत का समर्थन नहीं करता और कहता है कि वह केवल कैक़ुबाद को समझा-बुझाकर सही मार्ग पर लाने का इच्छुक था। बुग़रा खां, संभव है, चला था शांति के उद्देश्य से परंतु निज़ामुद्दीन की नीति और प्रभाव से परिचित होने के कारण उसने दलबल के साथ आना ही उपयुक्त समझा। निज़ामुद्दीन ने बुग़राखां का आना अपने लिए अनिष्टकर समझा। उसने सुलतान को समझाया कि बुग़राखां का सेना सहित आना शुभ लक्षण नहीं है। अस्तु उसको बलपूर्वक रोककर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अनेक उच्च पदाधिकारी भी राजा का अनुकरण करके इन्द्रिय-सुखों के दास हो गये। ऐसी परिस्थिति में योग्य एवं महत्वाकांक्षी व्यक्तियों में षड्यंत्र करके राज-सत्ता हथियाने की इच्छा उदित होने लगी।

हसन बसरी के हटाये जाने पर उसका स्थान उपवज़ीर ख्वाजा खातिर को मिला। इस नये वज़ीर का प्रभाव तेजी से बढ़ने लगा। उसका प्रतिद्वंदी था मलिक निज़ा-

निज़ामुद्दीन का कुचक्र

मुद्दीन जो फख्रुद्दीन का दामाद तथा दिल्ली का दादबक (न्यायाधीश) एवं वकील-ए-दर था। निज़ामुद्दीन अत्यन्त वाक-पटु एवं महत्वाकांक्षी था। उसने धीरे-धीरे सुलतान पर इतना प्रभाव जमा लिया कि वह नायब-ए-मुमलिकत के समान हो गया और उसी के परामर्श के अनुसार शासन-कार्य चलने लगा। निज़ामुद्दीन चाहता था कि सुलतान को सुरा एवं सुंदरी में फँसा कर उसकी अकाल मृत्यु निश्चित कर दे तथा उसके पूर्व एक-एक करके सभी संभावित प्रतिद्वंदियों का विनाश करके कैक़ुबाद की मृत्यु के उपरांत स्वयं राजपद प्राप्त करे। उसने अपनी पत्नी को राज-महल में निवास करने के लिए भेज दिया और उसके द्वारा कैक़ुबाद को पूर्णतया अपनी मुट्ठी में कर लिया।

अब उसने निश्चित होकर अपना प्रभुत्व निष्कंटक बनाने का कार्य आरंभ किया। उसने राजकुमार कैखुसरो के नाम शाही फ़रमान भेजकर उसे दिल्ली बुलाया तथा जब वह रोहतक पहूँचा तब उसका बध करा दिया। ख्वाजा खातिर के ऊपर एक झूठा दोष लगाकर उसे गधे पर चढ़ाकर [illegible]गर में घुमाया गया और इस प्रकार वह नितान्त अपमानित हो गया। तदुपरान्त निज़ामुद्दीन ने विदेशी सर्दारों पर षड्यंत्र का अपराध लगाकर उन्हें क़त्ल करा दिया या निष्कासित कर दिया। जो स्थान रिक्त हुए उसमें उसने अपने समर्थकों की नियुक्ति करा दी। इस भाँति निज़ामुद्दीन का प्रभाव दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगा। इसी समय एक मंगोल आक्रमण हुआ। निज़ामुद्दीन ने उस समय सुलतान को समझाया कि जो मंगोल इस्लाम धर्म स्वीकार करके दिल्ली में बस गये हैं उनका स्वाभाविक आकर्षण मंगोलों के प्रति है। अस्तु, सल्तनत की सुरक्षा की दृष्टि से उन्हें विनष्ट करना आवश्यक है। सुलतान ने इस परामर्श को स्वीकार कर लिया और उनके बध की आज्ञा दे दी। मंगोल नव-मुस्लिमों की हत्या के बाद उसने उन तुर्क अमीरों का भी बध करा दिया जो मंगोलों के मित्र अथवा सम्बन्धी थे। इस हत्याक्रम से सभी सर्दार घबड़ा उठे। मलिक फख्रुद्दीन ने निज़ामुद्दीन को समझा-बुझाकर राजभक्ति के पथ पर लाने की चेष्टा की। परन्तु इसमें उसे सफलता नहीं मिली। अन्य अमीरों [illegible] मिलने पर सुलतान को निज़ामुद्दीन के कुचक्र की सूचना दी। परन्तु [illegible] कठपुतली बन गया था कि वह तुरंत उनका नाम निज़ामुद्दीन को [illegible] हें बंदीगृह में डलवा देता था। इस भांति कैक़ुबाद अबाध

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गति से मृत्यु-मुख में जाता प्रतीत होने लगा।

बलबन की मृत्यु का समाचार पाते ही बुग़राखां ने नासिरुद्दीन का विरुद् धारण किया और स्वतंत्र शासकों की भांति सिक्के तथा खुतबे में अपने नाम का प्रयोग आरंभ कर दिया। बुग़राखां अपने बेटे से दिल्ली का राज्य छीनने का इच्छुक नहीं था, परंतु वह उसकी अधीनता में रहने के लिए भी प्रस्तुत नहीं था। इसी कारण यद्यपि उसने दिल्ली पर अधिकार जताने की कोई चेष्टा नहीं की तो भी उसने अपनी स्वतंत्रता उद्घोषित कर दी। प्रायः २ वर्ष तक वह दिल्ली की गतिविधि को देखता रहा परंतु जब उसे विश्वास हो गया कि कैक़ुबाद अपने कार्यों द्वारा न केवल अपनी वरन बलबन के वंश की ही क़ब्र खोद रहा है तब उसने हस्तक्षेप करने का निश्चय किया। उसने कैक़ुबाद के पास अनेक पत्र भेजे जिनमें उसने आचरण तथा शासन के संबंध में बराबर सत्परामर्श दिया। इन पत्रों का कैक़ुबाद पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

बुग़राखां का आगमन

मलिक निज़ामुद्दीन वास्तव में एक योग्य शासक था। उसने बलबन के सशक्त केन्द्रीयकरण के सिद्धान्तों का कठोरता से पालन किया और जिस किसी को केन्द्रीय सरकार की (जो उस समय निज़ामुद्दीन के प्रभुत्व की पर्याय-मात्र थी) किसी प्रकार अवहेलना करते देखा उसी को कड़ा-दण्ड दिया। यदि निज़ामुद्दीन यह कार्य केवल कैक़ुबाद के हित में कर रहा होता तो उसको वही प्रतिष्ठा प्राप्त होती जो बलबन को सुलतान नासिरुद्दीन के काल में प्राप्त थी। परंतु निज़ामुद्दीन सचमुच सुलतान के नाम की आड़ में अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था और कैक़ुबाद यदि घोरतम असंयम करने पर भी जीवित बना रहे (जिस असंयम के लिए वह सभी संभव उपादान जुटाता रहता था), तो उपयुक्त अवसर पर उसका वध करके वह गद्दी पर अधिकार करना चाहता था। उसकी यह दुर्नीति प्रायः सभी लोगों पर प्रगट हो गई थी। इसी कारण राज्य में अशांति बढ़ रही थी और बुग़रा खां विशेष उद्विग्न हो उठा था।

अमीर खुसरो ने अपनी रचना क़िरान उस्सादैन में लिखा है कि बुग़राखां ने दिल्ली की ओर प्रस्थान उस पर अधिकार करने के उद्देश्य से किया था। परंतु बर्नी इस मत का समर्थन नहीं करता और कहता है कि वह केवल कैक़ुबाद को समझा-बुझाकर सही मार्ग पर लाने का इच्छुक था। बुग़रा खां, संभव है, चला था शांति के उद्देश्य से परंतु निज़ामुद्दीन की नीति और प्रभाव से परिचित होने के कारण उसने दलबल के साथ आना ही उपयुक्त समझा। निज़ामुद्दीन ने बुग़राखां का आना अपने लिए अनिष्टकर समझा। उसने सुलतान को समझाया कि बुग़राखां का सेना सहित आना शुभ लक्षण नहीं है। अस्तु उसको बलपूर्वक रोककर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसे दिल्ली का आधिपत्य स्वीकार करने पर बाध्य करना चाहिए। सुलतान ने यह मत स्वीकार कर लिया और वह भी एक विशाल सेना लेकर पूरब की ओर चल पड़ा।

सरयू तट पर अवध की पूरबी सीमा के निकट पिता-पुत्र मिलन हुआ। पहले इसमें कुछ बाधा पड़ी। निज़ामुद्दीन चाहता था कि किसी प्रकार दोनों सेनाओं में मुठ-भेड़ हो जाय और बुग़राखां को पराजित करके बंगाल पर दिल्ली के सुलतान का अधिकार स्थापित कर दिया जाय। परंतु कैक़ुबाद अपने पिता के दर्शनों का इच्छुक था और अकारण उससे युद्ध करने के लिए प्रस्तुत नहीं था। निज़ामुद्दीन ने तब उस पर यह प्रभाव डाला कि पिता होने पर भी बुग़राखां दिल्ली-सम्राट् का सेवक और प्रांतपति है। इसलिए उसे दर्बार में आते समय दर्बार की नियमावली का पालन करना चाहिए, अन्यथा सुलतान के पद की प्रतिष्ठा में धक्का लगेगा। इसे कैक़ुबाद ने मान लिया। बुग़राखां ने जब देखा कि कैक़ुबाद में स्वतंत्र निर्णय करने की शक्ति ही नहीं है और निज़ामुद्दीन उसे आसानी से मिलने नहीं देगा तब उसने सभी शर्तें स्वीकार कर लीं। पारस्परिक सद्भाव-प्रदर्शन एवं विश्वास-अर्जन की दृष्टि से बुग़रा खां ने अपने छोटे बेटे कैकाऊस को सुलतान के खेमे में भेज दिया और सुलतान ने अपने शिशु पुत्र कैमूर्स को बुग़रा खां के खेमे में भेज दिया। उसके बाद बुग़रा खां ने सरयू पार करके सुलतान से भेंट की। उसने दर्बार-गृह के बाहर घोड़े से उतर कर तीन बार भूमि को चूमा और फिर अदब के साथ भीतर प्रवेश किया। जब वह बिल्कुल निकट आ गया तब कैक़ेबाद अपने को संभाल न सका। वह सिंहासन से उतरकर अपने पिता की ओर बढ़ा और उसके पैरों पर गिर पड़ा। बुग़रा खां ने उसे उठाकर छाती से लगा लिया और दोनो ही ओर से प्रेमाश्रुओं की धारा बह चली। कैक़ुबाद ने अपने पिता को सिंहासन पर बिठाना चाहा परन्तु बुग़रा खां ने उसी को बिठा कर प्रांतपतियों के समान उसका अभिवादन किया और उसका आधिपत्य स्वीकार किया। निज़ामुद्दीन ने बुग़रा खां को एकांत में मिलने की सुविधा नहीं दी। अस्तु, अंतिम भेंट के समय जब पिता-पुत्र गले मिल रहे थे तब बुग़रा खां ने उसके कान में कहा कि अपना चरित्र सँभालो और निज़ामुद्दीन की हत्या कराके अपनी रक्षा करो।

इसके बाद बुग़रा खां लखनौती चला गया और कैक़ुबाद दिल्ली की ओर लौटा। रास्ते में कुछ समय तक उसने मद्य और वाला से अपनी रक्षा की परन्तु जब एक अत्यन्त रूपवती एवं काम-कला-निपुण युवती ने उस पर प्रेमजाल फैलाया

निज़ामुद्दीन की हत्या

तो वह अपने को और रोक न सका और फिर सुरा एवं सुन्दरी का दौर आरंभ हो गया। बुग़रा खां की सलाह निष्फल हो गई। किन्तु उसे जब एक बार चेत आया तो उसने निज़ामुद्दीन को मुलतान का शासन सँभालने का आदेश दिया। निज़ामुद्दीन इस आज्ञा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का पालन करने में हीला-हवाला करने लगा। निज़ामुद्दीन के विरोधियों को जब सुलतान के इस नये रुख का पता चला तो उन्होंने निज़ामुद्दीन को विष देकर मार डाला।

निज़ामुद्दीन की मृत्यु का समाचार पाते ही अनेक तुर्क अमीर दिल्ली में एकत्रित होने लगे और उन्होंने सुलतान की रक्षा तथा तुर्कों की प्रधानता अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए चेष्टा की। सुलतान ने इस समय कुछ नई नियुक्तियाँ कीं। समाना का हाकिम जलालुद्दीन खिलजी राजधानी में बुला लिया गया और उसे बरन का हाकिम तथा आरिज़-ए-मुमालिक (प्रधान सैनिक पदाधिकारी) नियुक्त किया गया। मलिक ऐतमार कच्छन को बारबक (राजदर्बार का निरीक्षक) और मलिक ऐतमार सुर्ख़ा को वकील-ए-दर (राजमहल का प्रधान कर्मचारी) नियुक्त किया गया। इस भांति खिलजियों और तुर्कों को प्रायः समान अधिकार दिये गये। जलालुद्दीन खिलजी एक अनुभवी सेनापति एवं उदार प्रकृति का मनुष्य था। ऐतमार कच्छन और सुर्ख़ा ने तुर्की दल का संगठन आरंभ कर दिया। फलतः खिलजियों के साथ हिन्दुस्तानी मुसलमान भी मिल गये। वास्तव में खिलजी भी तुर्क ही थे परंतु चूँकि वे बहुत दिनों से अफ़गानिस्तान में बसे हुए थे इस कारण लोग उन्हें अफ़गान समझने लगे थे। इसी कारण तुर्क उन्हें हेय समझते थे। इस समय तुर्कों का दुर्भाग्य यह था कि यद्यपि उनमें से अनेक प्रभुत्व पाने के लिए लालायित थे परंतु उनमें एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं था जो उन सब का नेतृत्व कर सकता। कच्छन और सुर्ख़ा ने तुर्कों की एक बैठक की और उसमें उन सबके नाम सूचीबद्ध कर लिये गये जिनसे तुर्की प्रभुत्व-स्थापना में किसी प्रकार का भय था। इसी सूची में सबसे ऊपर जलालुद्दीन खिलजी का नाम था। निश्चय किया गया कि सुलतान से इस सूची के सभी व्यक्तियों की हत्या करने का आदेश प्राप्त करके उन पर यकायक हमला करना चाहिए और उनका बध कर देना चाहिए।

बलबन के वंश का अन्त

परन्तु उसी समय कैक़ुबाद को पक्षाघात हुआ और वह कुछ भी करने में अक्षम हो गया। तुर्कों को अपने गुप्त निर्णय को कार्यान्वित करने की जल्दी थी। उन्होंने कैमूर्स को शम्सुद्दीन द्वितीय के नाम से गद्दी पर बिठा दिया और अपने में से एक को उसका संरक्षक नियुक्त करके उक्त आज्ञा प्राप्त कर ली। इसकी सूचना जलालुद्दीन के सम्बन्धी अहमद चप को मिल गई जो मलिक कच्छन के नीचे नायब था। उसने जलालुद्दीन को सब सूचना दे दी।

जलालुद्दीन ने अपने समर्थकों एवं संबंधियों को सेना का निरीक्षण करने तथा मंगोलों के हमलों के सम्बन्ध में व्यवस्था करने के बहाने बुला लिया और दिल्ली के पास, बहारपुर में सैनिक निरीक्षण का कार्य आरम्भ किया। मलिक कच्छन ने उच्चस्तरीय वार्ता के बहाने जलालुद्दीन को बुलवाया परन्तु वह कोई-न-कोई बहाना

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करके टालता रहा। तब मलिक कच्छन स्वयं उसे बुलाने गया। खिलजियों को सारे षड्यंत्र का पता लग ही चुका था अस्तु उन्होंने कच्छन को अकेला पाकर उसे घोड़े से नीचे खींच लिया और अलाउद्दीन ने तुरन्त उसका सिर काट लिया। जलालुद्दीन के पुत्रों ने राजमहल पर धावा करके कैमूर्स को अपने अधिकार में कर लिया। मलिक सुर्खा तथा अन्य सर्दारों ने इनका पीछा किया। उसमें सुर्खा तथा अन्य अनेक सर्दार मारे गये और फरूद्दीन के पुत्र बंदी बना लिये गये।

दिल्लीवासियों में बहुत उत्तेजना फैली और उन्होंने खिलज़ियों पर धावा करने के उद्देश्य से एकत्रित होना आरम्भ किया। फरूद्दीन को भय हुआ कि कहीं उसके पुत्र बध न कर दिये जायँ। इस कारण उसने इनको शान्त करके रोक लिया। इधर जलालुद्दीन ने कैमूर्स को गद्दी पर बिठा दिया। उसी समय एक खिलजी सैनिक ने कैक़ुबाद के महल में घुसकर उसे ठोकर मार-मार कर मार डाला और उसके शव को यमुना नदी में फेंक दिया। जलालुद्दीन ने बलबनवंशीय मलिक छज्जू से अनुरोध किया कि वह शिशु-सुलतान का संरक्षक-पद स्वीकार कर ले। परन्तु उसने इन्कार कर दिया और वह केवल कड़ा तथा मानिकपुर का शासन पाकर संतुष्ट हो गया। जब उसने भी इनकार कर दिया तब वह स्वयं संरक्षक हो गया। उसके कुछ समय बाद कैमूर्स कारागार में डाल दिया गया जहाँ वह शीघ्र ही मर गया और जलालुद्दीन स्वयं सुलतान हो गया।

सन् १२९० में खिलजियों के शासनाधिकार पाने के साथ एक युग का अन्त हुआ और दूसरे का आरम्भ हुआ। १२९० ई० तक दिल्ली की सल्तनत में तुर्कों का प्राधान्य रहा। परन्तु अब उनका स्थान खिलजी तथा भारतीय मुसलमानों ने ले लिया। पिछले सौ वर्षों की घटनाओं का सिंहावलोकन करने पर हम देखते हैं कि इस काल में तुर्कों के तीन राजवंशों ने शासन किया। राजवंशों के जल्दी-जल्दी परिवर्तित होने के कई कारण थ। प्रथम, मुसलमानों में उत्तराधिकार का निश्चित नियम न होने के कारण किसी एक राजवंश के प्रति विशेष श्रद्धा एवं भक्ति की भावना उत्पन्न होना कठिन था। दूसरे, वह समय सैनिक अशांति का युग था। अस्तु, कोई भी सुलतान जो योग्य सेनापति न हो अधिक दिन तक टिक नहीं सकता था। तीसरे, तुर्क सर्दार बड़े स्वार्थी एवं महत्वाकांक्षी थे और पदोन्नति के लिए षड्यंत्र करते रहते थे जिससे सुलतान की शक्ति दृढ़ होने में बाधा पड़ती थी। चौथे, प्रायः प्रत्येक योग्य सुलतान (क़ुत्बुद्दीन, शम्सुद्दीन, बलबन) ने अपने शासन की सफलता के लिए पुराने अमीरों को हटाकर अपने व्यक्तिगत सेवकों और दासों को सभी ऊँचे पद दिये। यह लोग सम्राट् के प्रति व्यक्तिगत स्वामिभक्ति रखते थे परन्तु उसके मरने के बाद उनके उत्तराधिकारी के प्रति वैसी-निष्ठा या भक्ति न रखकर

उपसंहार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसे अपने वश में करके स्वयं राजशक्ति का अधिकाधिक उपयोग करने की चेष्टा करने लगते थे। इस कारण दलबंदियाँ और विद्रोह अनिवार्य हो जाते थे। पाँचवें, हिन्दू नेता तुर्कों की अधीनता स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं थे और निरंतर विरोध करते रहते थे। इस कारण स्थानीय हाकिमों को काफी बड़ी संख्या में सैनिक रखने पड़ते थे जिनका वे सुलतान के विरुद्ध भी उपयोग करते थे। पश्चिमोत्तर सीमा की सुरक्षा के लिए एक बड़ी सेना उस ओर भी रखनी पड़ती थी। पिछले पृष्ठों में हम देख चुके हैं कि इस क्षेत्र के अधिकारियों के विद्रोह के कारण सुलतानों को कितनी परेशानी उठानी पड़ती थी। यदि वे आज्ञाकारी और सतर्क रहते तब भी मंगोलों के निरंतर हमलों के कारण सुलतानों को बहुत संकट उठाना पड़ता था। इन सब कारणों से निर्बल सुलतानों का अधिक दिन तक टिक सकना दुर्लभ था।

दूसरी विशेष बात यह है कि तुर्कों के चाहे जो दोष रहे हों और उनकी चाहे जो अक्षमतायें रही हों परन्तु यह निर्विवाद है कि उन्होंने तेरहवीं शताब्दी में मंगोलों, हिन्दू विद्रोहियों तथा स्थानीय कर्मचारियों के आक्रमणों और षड्यन्त्रों का जिस लगन से सामना किया उसी के कारण दिल्ली की सल्तनत दृढ़ हो सकी और भारत में मुस्लिम सत्ता की नींव मजबूत हो गई। उनका शासन प्रधानतः सैनिक था और वे धार्मिक पक्षपात से सदा अछूते नहीं रह सके तो भी उन्होंने एक ऐसी शासन-व्यवस्था की स्थापना करने में सफलता पाई जो भारत के लिए नवीन और मुस्लिम परम्परा के अनुकूल थी। इस दिशा में ऐबक, इल्तुतमिश और बलबन की सेवायें विशेष रूप से स्मरणीय हैं।

तीसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस काल में हिन्दुओं ने बार-बार प्रत्याक्रमण करके तुर्की सल्तनत को समाप्त करने की चेष्टा की। उन्होंने कई स्थानों में फिर स्वतंत्रता प्राप्त कर ली। परन्तु वे कोई संगठित प्रयत्न नहीं कर सके। कुछ छोटे-छोटे राजपूत सर्दार थे जो तुर्कों के विरुद्ध छापामार युद्ध करके और उनकी छावनियों को लूटकर उन्हें तंग करते रहते थे। इससे यह प्रगट होता है कि यद्यपि तुर्कों ने हिन्दू राजाओं के अनेक प्रसिद्ध गढ़ों पर अधिकार कर लिया था और उनके आस-पास के क्षेत्र की जनता से कर भी वसूल किया परन्तु नैतिक स्तर में हिन्दू अविजित रहे और उन्होंने यह विश्वास नहीं खोया कि वह भविष्य में तुर्कों को अपने देश से बाहर खदेड़ देंगे।

सहायक ग्रंथ

१. इलियट और डासन—भाग ३।
२. हबीबुल्ला—पृष्ठ १५१-१८८।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३. मुहम्मद अजीज अहमद—पृष्ठ २५४-३२२।
४. त्रिपाठी—पृष्ठ ३३-४१।
५. क़ुरेशी—ऐडमिनिस्ट्रेशन आफ दी सल्तनत आफ डेल्ही।
६. किशोरीशरण लाल—हिस्ट्री आफ दी खिल्जीज़ पृष्ठ १-१७।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खण्ड ३

सल्तनत का चरम उत्कर्ष

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६

सुलतान जलालुद्दीन .फ़ीरोज़ खिलजी

इतिहासकार बर्नी लिखता है कि खिलजी तुर्कों से भिन्न थे। परन्तु वह यह स्पष्ट नहीं करता कि तब वह किस जाति के थे। उत्तरकालीन इतिहासकारों ने खिलजियों की उत्पत्ति के विषय में अनेक प्रकार की अटकलें लगाई हैं। परन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि जैसा कि तारीख-ए-फख्रुद्दीन मुबारकशाही के लेखक फख्रुद्दीन ने लिखा है तुर्कों की ६४ जातियों में से एक का नाम खिलजी था। आधुनिक अनुसंधानों से भी इस बात की पुष्टि होती है। तुर्कों की यह शाखा ईस्वी चौथी शताब्दी में अफ़ग़ानिस्तान के दक्षिणी भाग में बस गई और वहाँ रहते-रहते इसमें अफ़ग़ानों की सी आदतें और प्रथायें घर कर गईं। यही कारण है कि कुछ ग़ैरजानकार व्यक्ति उनको लफ़ग़ान समझने की भूल कर बैठे। मंगोलों के दबाव ने खिलजियों को अफ़ग़ानिस्तान से भारत की ओर ढकेल दिया। यह घटना तेरहवीं शताब्दी की तीसरी दशाब्दी में हुई। परन्तु इसके पूर्व भी इक्के-दुक्के खिलजी ग़ज़नी और ग़ोर की सेनाओं के साथ भारत आ चुके थे। इल्तुतमिश के काल से वह बहु-संख्यक दलों में आने लगे और उनमें से अनेक योग्य व्यक्ति इलबरी सुलतानों की नौकरी करने लगे।

खिलजियों की उत्पत्ति

जलालुद्दीन खिलजी के पूर्वजों अथवा उसके जीवन की प्रारम्भिक घटनाओं का कोई विश्वसनीय विवरण उपलब्ध नहीं है। केवल इतना ही मालूम है कि उसने नासिरुद्दीन महमूदशाह अथवा बलबन के राज्यकाल में सेना में प्रवेश किया। बलबन ने जिन सेनानायकों को सीमा की रक्षा के लिए नियुक्त किया था उनमें एक जलालुद्दीन भी था। कैक़ुबाद के काल में वह समाना का हाकिम था और उसे सुलतान के अंगरक्षकों का प्रधान नियुक्त किया गया। निज़ामुद्दीन के पतन के बाद

जलालुद्दीन का प्रारम्भिक जीवन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कैक़ुबाद ने उसे शायस्ता खां की उपाधि दी और उसे युद्धमंत्री के पद पर नियुक्त किया। यहीं से जलालुद्दीन की उन्नति द्रुतगति से आरम्भ हुई। सेना पर अधिकार पाने के कारण खिलजियों के अतिरिक्त कुछ तुर्क तथा बहुत से तुर्केतर मुसलमान अमीर उसके मित्र एवं समर्थक हो गए। खिलजियों में अनेक महत्वाकांक्षी व्यक्ति थे। वे जलालुद्दीन को राजगद्दी प्राप्त करने के लिए उकसाने लगे और उन्होने कुछ ऐसे काम कर डाले जिससे जलालुद्दीन के लिए राजसत्ता लेने के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग ही नहीं रहा। ऐतमार कच्छन का बध अलाउद्दीन ने किया। इस कारण कुमार सुलतान को वश में करना आवश्यक हो गया। बाद में उन्हीं लोगों की प्रेरणा से तथा तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति से बाध्य होकर उसने पहिले संरक्षक का पद ग्रहण किया और बाद में जून, १२९० ई० में सुरक्षा तथा शांति के हित में स्वयं गद्दी पर अधिकार कर लिया।

जलालुद्दीन के प्रति दुर्भाव के कारण

सुलतान जलालुद्दीन फ़ीरोज़ ने राजशक्ति तो प्राप्त कर ली परन्तु प्राचीन राजधानी दिल्ली में उसने प्रवेश करने की चेष्टा नहीं की। उसके स्थान पर उस-कैक़ुबाद के 'नूतन नगर' किलूखरी में ही अपना राज्याभिषेक कराया। राजा होने पर भी जलालुद्दीन के प्रति दिल्ली-वासियों तथा अनेक तुर्क सर्दारों का दुर्भाव बना रहा। इसके कई कारण थे। बलबन ने इलबरी शासन को दृढ़ करने के लिए जो उपाय किए थे उनसे साधारण जनता इतनी आतंकित और प्रभावित हुई कि वह समझने लगी कि बलबन का वंश चिरकाल तक स्थायी रहेगा। जलालुद्दीन ने अपने उसी महान स्वामी के वंश को यकायक समाप्त कर दिया था। जनता न इस परिवर्तन के लिए तैयार थी और न वह इस कृतघ्नता को क्षमा करने को प्रस्तुत थी। दूसरे, जलालुद्दीन अथवा उसके समर्थकों ने कैक़ुबाद और कैमूर्स का बध करके अपना अधिकार सुरक्षित किया था। इस कारण भी लोगों में असंतोष था। तीसरे, जलालुद्दीन अभी थोड़े दिन पहले तक एक छोटे पद पर नियुक्त था। उसके समकक्ष तथा उससे ऊँचे पद वाले लोग अब उसी को सुलतान स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं थे। चौथे, जलालुद्दीन किसी उच्च घराने में भी नहीं जन्मा था। संभवतः उसके पूर्व-पुरुष कई पीढ़ियों से निम्न श्रेणी के पदों पर ही रहे थे। लोग चाहते थे कि राजवंश का संस्थापक कोई उच्च घराने का ही व्यक्ति हो। पाँचवें, बहुत से लोगों में यह भ्रम फैला हुआ था कि वह तुर्क नहीं वरन् अफ़ग़ान है। दिल्ली के नागरिक और तुर्की अमीर समझते थे कि राजपद केवल तुर्कों की ही बपौती है।

जलालुद्दीन ने अपने चरित्र की उत्कृष्टता, न्याय, उदारता और धार्मिकता के कारण स्वल्प काल में ही जनता का विश्वास प्राप्त कर लिया और घृणा का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थान स्नेह ने ले लिया। यह भाव-परिवर्तन जलालुद्दीन के प्रारंभिक कार्यों के कारण हुआ। सुलतान ने यह अच्छी तरह समझ लिया कि तुर्कों का विश्वास प्राप्त करने में कुछ समय लगेगा और संभवतः उनका पूर्ण विश्वास उसे कभी भी न मिले। अस्तु, उसने सरकार के अधिकांश ऊँचे पद खिलजियों को दिये। परन्तु अपनी शक्ति का आधार अधिक व्यापक बनाने के उद्देश्य से उसने कुछ पद अन्य जाति के लोगों को भी प्रदान किये। सुलतान ने दरबार में यह सब नियुक्तियाँ घोषित कीं ताकि सभी को विदित हो जाय कि सुलतान अपने को किसी जाति अथवा वर्ग-विशेष का ही प्रतिनिधि नहीं मानता; वरन् वह समस्त प्रजा का, और विशेषकर मुसलमान जनता का, नेतृत्व करना चाहता है।

जलालुद्दीन के प्रारंभिक कार्य

उसने ख्वाजा खातिर को वज़ीर पद पर, मलिक-उल-उमरा फ़ख़रुद्दीन को दिल्ली के कोतवाल-पद पर और मलिक छज्जू को कड़ा-मानिकपुर के हाकिम के पद पर पूर्ववत् रहने दिया। यह सभी लोग बलबनी वंश के समर्थक थे परन्तु तो भी जलालुद्दीन ने उनको अपने पद पर रहने दिया। दूसरे प्रमुख पदों पर उसने अपने संबंधियों तथा समर्थकों को नियुक्त किया और उनको नूतन पदवियाँ प्रदान कीं। उसने अपने बड़े बेटे इख़्तियारुद्दीन को राजधानी के समीप वाले क्षेत्र का शासक नियुक्त किया और उसे खान-ए-खानान की पदवी देकर शायद यह प्रगट करना चाहा कि वह उसी को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता है। दूसरे बेटे को उसने अरकली खां की पदवी दी और कुछ समय बाद उसे मुलतान का हाकिम नियुक्त किया एवं सीमा की रक्षा का भार उसी पर छोड़ा। तीसरे बेटे को उसने क़द्र खां की उपाधि दी। अपने चाचा मलिक हुसेन को उसने ताजुलमुल्क की उपाधि दी और अपने भाई मलिक खामोश को यग़रेश खां की उपाधि देकर आरिज़ का पद प्रदान किया। अपने भतीजों में से अलमसबेग को उसने आख़ूरबेग (हयपति) का पद दिया तथा अलाउद्दीन को अमीर-ए-तुज़क नियुक्त किया। उसने अपने एक अन्य संबंधी मलिक अहमद चप को जो उसका भानजा था बारबक के पद पर रखा। अन्य पदों के वितरण में भी उसने खिलजी तथा गैरखिलजी दोनों ही वर्गों के लोगों का ध्यान रखा।

इस उदारतापूर्ण व्यवहार का फल यह हुआ कि लोगों को धीरे-धीरे उसकी योग्यता में विश्वास होने लगा। मलिक-उल-उमरा फ़ख़रुद्दीन ने दिल्ली के प्रमुख नागरिकों को किलूघरी में सुलतान से भेंट करने भेजा। उन लोगों पर सुलतान की दृढ़ता, न्यायप्रियता एवं उदारता का बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। धीरे-धीरे, दिल्ली-वासी जनता का विरोध समाप्त हो गया और कोतवाल के आश्वासन तथा आमंत्रण पर

राजधानी में प्रवेश

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुलतान ने दिल्ली में प्रवेश करने का निश्चय किया। जब वह बलबन के लालमहल के द्वार पर पहुँचा तब उसने घोड़े से उतरकर उसी प्रकार मस्तक नवाया जैसे कि वह बलबन के जीवन में किया करता था। भीतर जाने पर उसने बलबन के सिंहासन पर बैठने से भी इनकार कर दिया और बलबन के वंश की दयनीय दशा का स्मरण करके आँसू बहाने लगा। उसने कहा कि मैं बलबन जैसे शासक के सिंहासन पर बैठने योग्य नहीं हूँ और यदि ऐतमार कच्छन और सुर्खा ने मुझे विवश न कर दिया होता तो मैं कभी राजपद प्राप्त करने की स्पृहा न करता। यह कहते-कहते उसकी अश्रुधारा दूने वेग से बह चली और उसने अपनी पगड़ी उतारकर अपनी आँखों को ढक लिया। सुलतान की इस विनम्रता, सरलता एवं भावालुता से दिल्ली के बड़े-बूढ़े लोग बहुत प्रभावित हुए और उनको सुलतान की नेकनीयती पर विश्वास हो गया। परन्तु युवक खिलजी सर्दारों को यह भावातिरेक सुलतान के पद की प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं प्रतीत हुआ। अहमद चप ने इस विरोध को मुखरित भी किया परन्तु जलालुद्दीन ने उसके मत को ग्राह्य नहीं किया।

जलालुद्दीन की नीति

जलालुद्दीन ने अपने ६ वर्ष के शासन काल में एक नयी शासन-पद्धति का अनुसरण किया। अभी तक सुलतान आतंक और तलवार के आधार पर शासन करते आये थे। जलालुद्दीन ने अपने शासन का आधार सार्वजनीन कृतज्ञता, स्नेह एवं भक्ति को बनाना चाहा। वह मानव-प्रकृति के पाशविक अंग का कठोरता के साथ दमन करने के स्थान पर उसके मानवीय एवं दैवी अंग को प्रोत्साहित करना चाहता था। वह दण्ड देने के स्थान पर क्षमा देकर भविष्य में सुधार की प्रेरणा देना चाहता था। वह द्वेष और अविश्वास को प्रश्रय न देकर मनुष्य की भलमनसाहत पर विश्वास करके उसका विश्वासपात्र बनना चाहता था। वह विद्रोही अथवा आक्रमणकारी का विरोध करने में आवश्यक रक्तपात करने के लिए उद्यत था परन्तु वह प्रत्येक मानव जीवन को मूल्यवान समझकर एक बूँद भी अनावश्यक रक्त गिराना नहीं चाहता था। वह शासन की चौकसी में बिना तनिक भी ढिलाई किये इन उदार सिद्धांतों का प्रयोग करने के लिए कृत-संकल्प था। अहमद चप ने कई अवसरों पर सुलतान की उदारता को भीरुता की संज्ञा दी और कहा कि इस प्रकार सफल शासन-संचालन संभव नहीं है। राज्य में शांति और व्यवस्था रखने के लिए बलबन द्वारा प्रतिपादित एवं व्यवहृत सिद्धान्तों को मानना चाहिए और कठोर दण्ड-विधान द्वारा राजसत्ता का आतंक जमाकर अपराधियों को वश में करना चाहिए। सुलतान ने अहमद चप को मीठी झिड़की देते हुए कहा कि वह बलबन के सिद्धान्तों अथवा शासन से अपरिचित नहीं है। उसने कठोर दण्ड विधान का प्रयोग तब से देखा है जब अहमद चप का जन्म भी नहीं हुआ था। वह युद्ध से भय नहीं खाता। मंगोल

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके साक्षी हैं। और यदि मंगोलों ने कभी फिर आक्रमण किया तो इसका नूतन प्रमाण भी मिल जायगा। परन्तु वह इसको मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि ईश्वर ने मनुष्य को इतना नीच और कुटिल बनाया है कि उसके हृदय पर भय और आतंक का ही प्रभाव हो सकता है और वह उदारता एवं स्नेह की भावनाओं का प्रतिदान देने में सर्वथा अक्षम है। कम-से-कम वह इस पर विश्वास नहीं करता। वह इसी मनोवृत्ति के आधार पर शासन करना चाहता है। यदि इस आधार पर शासन करना संभव ही न हो तो वह शासनाधिकार को ठुकराने के लिए भी प्रस्तुत है।

उक्त नीति की आलोचना

जलालुद्दीन की नीति की तत्कालीन लोगों ने बड़ी भर्त्सना की है। खिलजी अमीर कहते थे कि जो व्यक्ति न शत्रु को उपयुक्त दण्ड दे सकता है और न मित्र को समुचित उपहार उसके प्रति भक्ति और श्रद्धा रखने से क्या मिलेगा? इससे तो अच्छा है कि अहमद चप को गद्दी पर बिठा दिया जाय। अन्य सरदारों ने जलालुद्दीन की उदारता को उसकी कायरता का परिचायक समझने की भूल की। एक दिन ताजुद्दीन कूची के यहाँ भोज था। जब शराब का दौर आरम्भ हो गया और लोग संयम को भूल कर स्वच्छंदता-पूर्वक अपने विचारों को व्यक्त करने लगे तो एक ने कहा कि जलालुद्दीन की अपेक्षा तो ताजुद्दीन कहीं अधिक उपयुक्त सुलतान होगा। हम लोग जलाल को हटाकर ताजुद्दीन को ही सम्राट् बनायेंगे।' इस पर दूसरे ने कहा कि 'मैं जलाल को सहज ही में काट डालूँगा जैसे कि वह ककड़ी-खीरा हो।' इस प्रकार के कथोपकथनों से विदित होता है कि जलालुद्दीन के सर्दार उसकी नीति से न संतुष्ट थे और न उससे किसी प्रकार का भय खाते थे। आधुनिक लेखकों में से प्रायः सभी ने कहा है कि जलालुद्दीन सठिया गया था। उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी। परलोक की चिन्ता में वह इस लोक के कर्तव्यों की उपेक्षा करता था और शासन के ऐसे सिद्धान्त प्रतिपादित कर रहा था जो तेरहवीं शताब्दी के भारतवर्ष में सर्वथा अव्यवहार्य थे। परन्तु जलालुद्दीन के काल की घटनाओं के साथ इन आलोचनाओं का मिलान करने से ऐसा परिलक्षित होता है कि अला-उद्दीन द्वारा उसकी हत्या कर दिये जाने के कारण ही उसकी समूची नीति को ही अनुपयुक्त ठहरा दिया गया है। इस नीति की सफलता-असफलता आँकने के विषय में यह ध्यान देने योग्य बात है कि जलालुद्दीन के समय में न तो कोई सफल विद्रोह हुआ, न कोई विदेशी आक्रमण क्षति पहुँचा सका, न किसी षड्यंत्र का समाचार सुलतान से छिपा रहा और न एकबार क्षमा किये हुए व्यक्तियों ने दोबारा विद्रोह में भाग लिया। उसे धोखा हुआ केवल अपने सगे संबंधियों से जिनको वह समझता था कि उसने कृपा और स्नेह के भार से इस प्रकार बाँध रखा है कि वे उसके प्रति विश्वासघात न करेंगे। यही उसको प्रथम और अंतिम

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूल हुई, जिससे उसे भारी क्षति हुई। एक बार उसे कुछ संदेह हुआ भी परन्तु उसने बलपूर्वक संदेह को हटा दिया और उस क्षणिक पाप-बुद्धि के लिये अपने को धिक्कारते हुए भगवान से क्षमा माँगी। जलालुद्दीन को इतना अधिक विश्वास किसी का न करना चाहिए था। परन्तु मानव-जीवन में केवल मनुष्य की बुद्धि से ही सब कुछ नहीं सधता। अनेक महान व्यक्तियों के जीवन-चरित्र का अवलोकन करने से विदित होता है कि जब भाग्यचक्र विपरीत गति से चलना आरंभ करता है तब वे उन्हीं दोषों के शिकार होते हैं जो उनकी साधारण प्रकृति के प्रतिकूल हैं। नियति मृत्यु-मुख में घसीटने के लिये उनकी मति ही पलट देती है। क्या जलालुद्दीन की मृत्यु के विषय में कुछ ऐसी ही बात नहीं हुई ? यहाँ केवल इतना ही कहकर हम पहले जलालुद्दीन के कार्यों की विवेचना करेंगे और अंत में एक बार फिर उसकी समीक्षा के रूप में जलालुद्दीन की नीति पर दृष्टिपात करेंगे।

मलिक छज्जू का विद्रोह (१२९० ई०)

जलालुद्दीन के राज्य-काल की सर्वप्रथम उल्लेखनीय घटना मलिक छज्जू का विद्रोह है। जलालुद्दीन ने उससे कैमूर्स का संरक्षक बनने का अनुरोध किया था। इससे विदित होता है कि मलिक छज्जू बलबनी सर्दारों में अपने वंश तथा अनुभव के कारण काफी सम्मानित रहा होगा। मलिक छज्जू ने उस समय केवल कड़ा-मानिकपुर लेकर संतोष कर लिया था और इस भांति जलालुद्दीन का कम-से-कम ऊपरी दृष्टि से समर्थक बन गया था। जलालुद्दीन के राज्यारोहण के समय भी उसने सुलतान के अधिकार को स्वीकार किया था और इसी के आधार पर उसको अपने पद पर रहने दिया गया था। परन्तु जब मलिक छज्जू ने देखा कि राजधानी के अन्दर तथा बाहर अनेक तुर्क सर्दार ऐसे हैं जो खिलजियों के शासन का स्वागत करने को प्रस्तुत नहीं हैं तो उसके मन में विद्राह करके सम्राट-पद प्राप्त करने की इच्छा जग उठी। अवध के सूबेदार ने उसको खुल्लम-खुल्ला सहायता देने का वचन दिया। अन्य तुर्क सर्दारों ने गुप्तरूप से सहायता देने का आश्वासन दिया। स्थानीय हिन्दू जमीदारों ने भी मलिक छज्जू को सहायता करना स्वीकार किया और वे सहस्रों की संख्या में उसके झण्डे के नीचे एकत्रित होने लगे। हिन्दुओं का यह उत्साह छज्जू के प्रति भक्ति अथवा जलाल के प्रति असंतोष के कारण नहीं था। वह तुर्कों की आपसी फूट से अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते थे। इन विभिन्न क्षेत्रों से सहायता मिलने की आशा देखकर मलिक छज्जू ने अपना राज्याभिषेक कराया, मुग़ीसुद्दीन की पदवी धारण की और अपने नाम के सिक्के ढलवाये तथा अपने नाम से खुतबा पढ़वाया। उसके बाद वह एक बड़ी सेना लेकर दिल्ली विजय करने के लिए चल पड़ा।

इसकी सूचना मिलते ही जलालुद्दीन तुरन्त विद्रोहियों का दमन करने के लिए

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेना के साथ रवाना हुआ और अपने बड़े बेटे को उसने किलूघरी में शासन की देख-रेख के लिए छोड़ दिया। सुलतान का द्वितीय पुत्र अरकली खां सेना के साथ गया। सुलतान ने अरकली खां को हरावल के साथ आगे भेजा और वह स्वयं अपेक्षाकृत धीमी गति से रसद आदि की व्यवस्था करता हुआ चला। अरकली खां ने मलिक छज्जू पर हमला किया। परन्तु वह बार-बार बचकर निकलता गया। अन्त में मलिक छज्जू और उसके साथी पकड़ लिये गये और वे सुलतान के सामने लाये गये। उस समय की परिपाटी के अनुसार, सभी प्रधान विद्रोही गंदे चीथड़े पहने हुए, हाथ-पैर में हथकड़ी-बेड़ी डाले और सिर पर धूल तथा तृण रखे हुए दर्बार में लाये गये। सुलतान ने जब उनके उदास और भयभीत चेहरों को देखा तथा पहचाना कि वे लोग उच्चवंशीय व्यक्ति हैं तब उसे दया आ गई। उसने आज्ञा दी कि उनको बंधन-मुक्त करके, नहला-धुलाकर स्वच्छ वस्त्र पहना कर पेश किया जाय। उस उदारता को देखकर सभी विद्रोही मन-ही-मन अपने को धिक्कारने लगे और शर्म के मारे वे गर्दन ऊँची नहीं कर रहे थे। जलालुद्दीन ने उनको आश्वस्त करने के लिए उन्हें मदिरा पिलाई और कहा कि उन्होंने पिछले राजवंश के व्यक्ति का समर्थन करने में कोई बहुत अस्वाभाविक कार्य तो किया नहीं। तब उसके लिए इतना लज्जित होने की क्या बात है? परन्तु भविष्य में उनको वैसा नहीं करना चाहिए क्योंकि उन्हें अपने अनुभव से ही विदित हो गया होगा कि विद्रोह की सफलता की आशा करना व्यर्थ है। उसके बाद उसने अरकली खां को मुलतान का शासक नियुक्त किया और मलिक छज्जू को वहीं नजर-बन्द कर दिया। वहाँ उसके लिए सभी साधारण सुख के साधन प्रस्तुत कर दिये गये परन्तु उस पर कड़ी दृष्टि रखी जाती थी ताकि वह फिर अशांति सृष्टि न कर सके। अन्य प्रधान विद्रोहियों को स्थानान्तरित कर दिया गया और कड़ा-मानिकपुर का शासन अलाउद्दीन को दे दिया गया।

बलबन के सिद्धान्तों के अनुसार इन विद्रोहियों में से एक को भी प्राणदान न मिलना चाहिए था। उसके विपरीत उनका स्वागत किया गया जैसे कि वे सम्मानित अतिथि हों। यह व्यवहार अनेक लोगों को अप्रीतिकर लगा और उनमें से एक, अहमद चप, ने इस नीति का विरोध किया और कहा कि इस प्रकार का व्यवहार सम्राट् की प्रतिष्ठा एवं राज्य की सुरक्षा के विरुद्ध है क्योंकि इससे अन्य लोगों को विद्रोह करने के लिए प्रोत्साहन मिलेगा। जलालुद्दीन ने जो उत्तर दिया उसमें महत्व की बात यह थी "जो सर्दार बन्दी बनाये गये हैं, उनके सम्बन्ध में मैंने गम्भीरता-पूर्वक विचार किया है और मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि यदि मैं उनके विद्रोह पर ध्यान न देकर उनको प्राण-दान दूं तो वे भी मनुष्य होने के नाते परमात्मा के समक्ष अपने कार्य के लिए लज्जित होंगे और मुझे विश्वास है कि वे मेरे प्रति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृतज्ञता का भाव रखेंगे और भविष्य में न तो मेरे राजसिंहासन को पाने के लिए षड्यंत्र करेंगे और न विद्रोह को प्रोत्साहन देंगे।" इस भांति वह उन पर कृपा करके उनके हृदय पर विजय पाना चाहता था। उसने क्षमा किया—परन्तु दुर्बलता के कारण नहीं क्योंकि उसने यह भी कहा था कि यदि मंगोलों ने भारत पर आक्रमण किया तो शक्ति-प्रदर्शन का उपयुक्त अवसर होगा और उस समय लोग देख सकेंगे कि वह किस भांति उनको परास्त कर सकता है। अस्तु, जलालुद्दीन ने अपना निर्णय बदला नहीं और उसकी नीति इस दृष्टि से सफल भी हुई कि भविष्य में उन लोगों ने विद्रोह नहीं किया।

ठगों का दमन

जलालुद्दीन ने दिल्ली लौटने पर देखा कि आस-पास के क्षेत्र में ठगों का अत्याचार बढ़ गया है। उसने उनको शान्त करने के लिए तुरन्त कार्य आरम्भ किया। अनेक ठक पकड़े गये। उनको कड़ी चेतावनी दी गई कि उनके अपराध का दण्ड काफी कठोर है परन्तु यदि वे भविष्य में शांतिपूर्ण नागरिक जीवन बिताने का आश्वासन दें तो उनको क्षमा कर दिया जायगा। आरम्भ में जिनको पकड़ा गया उन लोगों ने क्षमा-याचना के साथ-साथ भविष्य में सदाचरण की प्रतिज्ञा की और उनको छोड़ दिया गया। उसके बाद लगभग एक सहस्र ठगों का दल पकड़ा गया। सुलतान ने उनको दिल्ली से अति दूर बंगाल में छुड़वा दिया और उनको चेतावनी दी कि वे फिर राजधानी के पास वापस न आयें। सल्तनत के इतिहास में इस कोटि के अपराधियों के साथ इतनी उदारता का व्यवहार कभी नहीं किया गया था। तत्कालीन इतिहासकारों के वर्णन से यह पता लगाना कठिन है कि इस नीति के कारण ठगों का उत्पात सचमुच बन्द हुआ कि नहीं। जलालुद्दीन की उदारता के दुष्परिणामों का उल्लेख करते हुए उन्होंने यह कहीं नहीं लिखा कि ठगी का जोर बहुत बढ़ गया। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि संभवतः सुलतान ने ठगों को पकड़ने में जो मुस्तदी दिखाई उससे वे डर गये और उसकी अपेक्षाकृत उदारता से प्रभावित होकर वे या तो कहीं अन्यत्र चले गये अथवा उन्होंने अपना वह कार्य बन्द करके रोटी कमाने के अन्य साधन अपना लिए।

राजा के विरुद्ध षड्यन्त्र—

(१) अमीरों द्वारा

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, कुछ लोगों ने सुलतान की उदारता को उसकी दुर्बलता का लक्षण मान लिया। उसनें केवल खिलजियों को ही राज्य की सभी सुविधाएँ नहीं दीं। इससे खिलजी सर्दार भी उससे मन-ही-मन असंतुष्ट होने लगे। सम्राट् की उदारता की सभी जगह चर्चा होने लगी। साधारण जनता इस नीति से प्रसन्न हुई। परन्तु अमीरों में अनेक ऐसे लोग थे जो समझते थे कि सुलतान भूल कर रहा है। यह लोग जब एकान्त पाते तब सुलतान की दब्बू

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नीति की हँसी उड़ाते। कभी-कभी शराब के प्रभाव में वे लोग यह भी कह जाते कि सुलतान को गद्दी से उतार कर किसी अन्य व्यक्ति को गद्दी देना उचित होगा। इस प्रकार की बातें होने से कुछ महत्वाकांक्षी व्यक्ति सुलतान होने का स्वप्न देखने लगे। ऐसे व्यक्तियों में से एक ताजुद्दीन कूची था। उसने एक दिन अपने यहाँ दावत की। उसमें वे ही लोग आमंत्रित थे जो प्रायः सुलतान की नीति की कटु आलोचना करते सुने गये थे। इन लोगों ने शराब के प्रभाव में अथवा अपनी वास्तविक इच्छा के अनुसार यह कहना आरम्भ किया कि ताजुद्दीन को सुलतान पद पर आसीन करना अधिक उपयुक्त है। तब एक ने यह भी कहा कि वह जलाल को ककड़ी की तरह काटकर फेंक देगा। इसी प्रकार की बातें होती रहीं।

दूसरे दिन जब दरबार लगा तब जलालुद्दीन ने पिछली रात की घटना का विवरण देते हुए तलवार फेंक कर कहा कि तुममें से जिसकी इच्छा हो मुझसे युद्ध करे। मैं देखना चाहता हूँ कि तुम कितने वीर और साहसी हो। यह सुन कर वे स्तब्ध रह गये। वे समझते थे कि सुलतान को कुछ पता ही नहीं लगेगा। अब उनकी आँखें खुलीं और उनको मालूम हुआ कि सुलतान के गुप्तचर सभी जगह फैले हैं जो उसको सभी आवश्यक सूचना देते रहते हैं। तब उनमें से एक ने सुलतान की चापलूसी द्वारा अपनी रक्षा करने की सोची। उसने कहा कि आप जैसा बुद्धिमान नशे में चूर लोगों की बातों का अधिक विश्वास कदापि नहीं करेगा। दूसरे, हममें से ऐसा मूर्ख कौन होगा जो आप ऐसे दयालु शासक का विरोध करे। इस चाटुकारी का प्रभाव यह हुआ कि सुलतान का क्रोध शान्त हो गया। उसने उनको क्षमा कर दिया परन्तु उनको राजधानी से दूर तितर-बितर कर दिया, एक वर्ष तक दिल्ली जाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया और यह चेतावनी भी दे दी कि यदि भविष्य में उन्होंने फिर वैसी हरकत की तो वह उन्हें राजकुमार अरकलीखां के सिपुर्द कर देगा।

(२) सीदी मौला का षड्यन्त्र

सुलतान के विरुद्ध दूसरा षड्यन्त्र सीदी मौला की अध्यक्षता में हुआ। सीदी फारस का एक दरवेश था जिसने अजोधन के शेख फरीदुद्दीन गंज-शकर से दीक्षा ली थी। शेख फरीद ने उससे कहा था कि राजनीति के मामलों में न पड़कर अध्यात्म-चिंतन में समय बिताना। परन्तु जब वह दिल्ली आया और उसके पास युवराज खान-ए-खाना तथा अन्य बड़े-बड़े अमीर जाने लगे तो उसमें राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने की इच्छा प्रबल होने लगी। उसके पास आने वाले अमीरों में से अनेक ऐसे थे जो सुलतान से किसी-न-किसी कारण असंतुष्ट थे। उन लोगों ने सीदी के षड्यन्त्र म सहर्ष योगदान करने का वचन दिया। यह निश्चित हुआ कि सुलतान का वध करके सीदी को खलीफा बना दिया जाय और उसका विवाह नासिरुद्दीन की एक कन्या

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के साथ करके उसका राजवंश से सम्बन्ध जोड़ दिया जाय। सभी अमीरों को उनकी योग्यता अथवा प्रभाव के अनुसार कोई-न-कोई पद देने को बात भी पक्की हो गई। इसी समय इस षड्यन्त्र का भेद खुल गया और सभी प्रमुख षड्यन्त्रकारी एवं सीदी पकड़ लिये गये।

सीदी के ऊपर साधारण लोगों को भी कुछ संदेह होता था। वह साधारण दृष्टि से निर्मल चरित्र वाला व्यक्ति था और ब्रह्मचर्य व्रत का कठोरता से पालन करता था। वह खाने-पीने में स्वल्पाहारी तथा संयमशील था। वह किसी से पैसा नहीं लेता था। इन सब बातों के कारण उसकेप्रति लोगों की श्रद्धा बढ़ने लगी थी। परन्तु लोगों को यह बात अच्छी नहीं लगती थी कि सीदी कभी भी जामा मस्जिद में जाकर जमात के साथ नमाज़ नहीं पढ़ता था। बलबन के काल तक सीदी की कुटिया एक साधारण फ़क़ीर का निवासस्थान बनी रही। परन्तु कैक़ुबाद के समय से उसका खर्च बढ़ने लगा यद्यपि उसकी आय का कोई साधन नहीं था। जलालुद्दीन के समय में उसका खर्च अत्यधिक बढ़ गया। बर्नी लिखता है कि उसने एक बहुत बड़ी खानक़ाह बनवाई जहाँ लोगों को मुफ्त भोजन मिलता था। उसमें दो हजार मन मैदा, पाँच सौ मन आमिष, पाँच सौ मन घी-तेल, दो-तीन सौ मन शक्कर और सौ-दो-सौ मन तरकारी नित्य खर्च होती थीं। वहाँ इतने प्रकार के व्यंजन बनते थे और उन पर इतना अधिक व्यय होता था कि बड़े-से-बड़ा अमीर भी सीदी का मुका-बला नहीं कर सकता था। फलतः उसके शिष्यों की संख्या बढ़ते-बढ़ते दस सहस्र हो गई। उनमें से प्रमुख व्यक्ति नित्य रात्रि में एकत्रित होते थे। कहा जाता था कि वे सत्संग, साधन तथा अध्यात्म-चिन्तन के लिए एकत्रित होते हैं। परन्तु उसमें जिस प्रकार के लोग जाते थे, उससे लोगों को सन्देह होने लगा। राजकुमार खान-ए-खाना के जाने के कारण जलालुद्दीन एवं अरकली खां के मन में भी विशेष सन्देह हुआ। कहते हैं एक कि दिन जलाल स्वयं वेश बदल कर अंतरंग शिष्य-मण्डली की रात वाली बैठक में सम्मिलित हुआ और उसको सारा भेद मालूम हो गया। उस वर्ग में से एक व्यक्ति ने भी सुलतान को इसकी सूचना दी। इसी को आधार बना कर षड्यन्त्रकारियों की धर-पकड़ आरम्भ की गई।

सुलतान ने अभी तक साधारण आदमियों के विद्रोहों, षड्यन्त्रों अथवा अवैध कार्यों का सामना किया था और उसने उनको क्षमा न करने पर भी विशेष कड़ा दण्ड नहीं दिया था। अब उसे एक उच्च कोटि के संत से पाला पड़ा था जो दिखावा करता था साधुता एवं सिद्ध होने का और चेष्टा करता था हत्या द्वारा धन और धरती प्राप्त करने की। यही लोग मुस्लिम समाज के लिए आदर्श-निर्माता थे। इनको क्षमा करना समाज को पतन की ओर घसीटना होगा। अस्तु जिस धार्मिकता ने उसे अन्य व्यक्तियों के प्रति उदार बनाया था उसी धर्मभावना ने उसे सीदी को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कड़ा दण्ड देने की प्रेरणा दी। अभियुक्तों पर मुकदमा चलाया गया। उन लोगों ने यातनायें देने पर भी अपना अपराध स्वीकार नहीं किया। केवल एक व्यक्ति के साक्षित्व के आधार पर न्यायाधीशों ने दण्ड देने में असमर्थता दिखाई। क़ाजियों तथा उलमा ने अग्नि-परीक्षा का विरोध किया परन्तु सुलतान इस बार दण्ड देने पर तुला हुआ था। अरकली खां भी इसी पक्ष में था क्योंकि वह सीदी के सहयोगियों का छूट जाना अपने भावी उत्तराधिकार के लिए घातक समझता था। कुछ संत समुदाय भी था जो सीदी को इस्लाम का कट्टर अनुयायी न होने के कारण पसन्द नहीं करता था। दर्बार में इन लोगों का प्रश्न लेकर बड़ी उत्तेजना फैली हुई थी। सुलतान किसी वैध ढंग से इन सबको दण्ड देना चाहता था और ढंग दिखाई नहीं पड़ता था। उसी समय एक दरवेश ने सीदी पर वार करके उसे घायल कर दिया और अरकलीखां की आज्ञा से उसको हाथी के पैर तले कुचलवा दिया गया।

अन्य षड्यन्त्रकारियों को स्थान-परिवर्तन, निष्कासन, संपत्ति-अपहरण आदि के दण्ड दिये गये और इस षड्यन्त्र का भी अंत हो गया। बर्नी के वर्णन से ऐसी ध्वनि निकलती है कि वह सीदी को निर्दोष मानता है और जलाल के इस दुष्कर्म तथा सीदी के सिद्धत्व के कारण राज्य में भीषण अकाल पड़ा तथा कालान्तर में सुलतान की हत्या हुई। परंतु संपूर्ण घटनावली को देखने से विदित होता है कि सीदी दोषी था और उसे अपने कुचक्र का उचित दण्ड मिला।

सन् १२९२ ई० में मंगोलों के आक्रमण की सूचना मिली। अब्दुल्ला डेढ़ लाख सैनिकों के साथ भारत की ओर बढ़ रहा था। जलालुद्दीन ने सीमान्त सेना की सहायता के लिए ३०,००० सैनिक लेकर स्थान किया। सिंधु नदी के पश्चिमी तट पर मंगोलों की सेना पड़ाव डाले थी। जलालुद्दीन ने पूरबी तट पर सेना को रोककर मंगोलों का मार्ग रोक लिया। पहले कुछ छिटपुट युद्ध हुए परन्तु अंत में मंगोलों का एक बड़ा दल नदी पार करने में समर्थ हो गया। जलालुद्दीन ने इस पर तेजी से आक्रमण करके इसे पराजित कर दिया और हजारों मंगोल युद्धबंदी बनाये गये। इसके बाद मंगोल सर्दार अब्दुल्ला और जलालुद्दीन में संधि हो गई और मंगोल वापस चले गये। प्रायः चार सहस्र मंगोलों ने इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया और वे भारत में बस गये। सुलतान ने उनके नेता और चंगेज के वंशज के साथ अपनी कन्या का विवाह कर दिया और उन सब को दिल्ली के पास बसा दिया। यह स्थान मुगलपुरा के नाम से विख्यात हो गया। सुलतान की शक्ति और उदारता का फल यह हुआ कि मंगोलों और दिल्ली के सुलतान में मैत्री स्थापित हो गई तथा जलालुद्दीन के जीवन-काल में मंगोलों का कोई दूसरा आक्रमण नहीं हुआ। फिर भी सुलतान ने सीमा की सुरक्षा का ध्यान रखते हुए लाहौर, मुलतान, सिंध का समस्त क्षेत्र अरकली खां के अधीन कर दिया।

मंगोल आक्रमण (१२९२ ई०)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जलालुद्दीन ने साम्राज्य-विस्तार के लिए भी उद्योग किया। सर्व-प्रथम सन १२९१ में उसने रणथंभौर पर आक्रमण किया। राजपूताना के सर्वश्रेष्ठ दुर्ग में इस गढ़ की गणना की जाती थी। सुलतान जानता था कि बलबन भी इसे जीतने में असमर्थ रहा था। उसने पहले झाईं पर आक्रमण किया और उसे अपने अधिकार में कर लिया। उसके पश्चात उसने एक दल मालवा की ओर भेजा जिसने सफलतापूर्वक धावा करके बहुत-सा लूट का माल प्राप्त किया। अब सुलतान् रणथंभौर की ओर बढ़ा। उसने दुर्ग का स्वयं निरीक्षण किया। उसके गुप्तचरों ने उसे यह सूचना दी कि राजा एक बड़ी सेना के साथ दुर्ग की रक्षा के लिए दृढ़-संकल्प है। जलालुद्दीन ने दुर्ग की दुर्भेद्य दीवालों तथा राजपूतों की शक्ति का अनुमान करके यह समझ लिया कि दुर्ग पर आसानी से अधिकार न हो सकेगा। अभी जलालुद्दीन को गद्दी पर बैठे एक वर्ष ही हुआ था और खिलजियों के विरोधी मौके की प्रतीक्षा में थे। ऐसे समय पर राजधानी से बहुत दिन तक बाहर रहना उसने उचित नहीं समझा और उसने सेना को घेरा उठाकर दिल्ली वापस चलने की आज्ञा दी। कुछ लोगों ने सुलतान के इस कार्य को भी उसकी दुर्बलता का परिचायक बताया है। बर्नी लिखता है कि अहमद चप ने भी सुलतान से अनुरोध किया था कि वह दुर्ग को बिना जीते वापस न जाय। परंतु बर्नी के लेखानुसार सुलतान ने उसकी बात नहीं मानी और कहा कि मैं मुसलमानों के एक केश से ऐसे-ऐसे दस दुर्गों को भी हेय समझता हूँ इसलिए मैं उसको जीतने की चेष्टा में मुसलमानों के रक्त का अपव्यय नहीं करना चाहता। बर्नी का यह कथन विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता क्योंकि यदि सुलतान को मुसलमानों को बचाने की इतनी चिन्ता होती तब वह विजय-कामना को ही तिलांजलि दे देता। परंतु उसने इस युद्ध के बाद भी विजय-कार्य बंद नहीं किया। इससे विदित होता है कि रणथंभौर से लौटने का कारण मानसिक दुर्बलता नहीं वरन राजनैतिक परिस्थिति एवं सैनिक आवश्यकता थी।

जलालुद्दीन और राजपूत

सन् १२९२ ई० में उसने मंडौर और झाईं पर एक बार फिर आक्रमण किया। परंतु उन पर स्थायी अधिकार करना कठिन होने के कारण वह केवल लूटपाट कर के ही संतुष्ट हो गया। जलालुद्दीन के इन आक्रमणों का उद्देश्य भी संभवतः रणथंभौर की विजय का मार्ग प्रशस्त करना था।

परंतु १२९२ से जलालुद्दीन के भतीजे और दामाद अलाउद्दीन खिलजी का महत्व बढ़ने लगा और सुलतान उसकी शूरता एवं सफलता से ऐसा प्रभावित हुआ कि उसने मालवा-विजय का कार्य उसी पर छोड़ दिया। अलाउद्दीन का नाम अली भी था। उसका पिता शहाबुद्दीन भी बलबन की सेना में रह चुका था परंतु उसकी मृत्यु १२९० के पूर्व ही हो चुकी

अलाउद्दीन खिलजी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थी। जलालुद्दीन ने शहाबुद्दीन के बेटों के साथ बड़ी उदारता का व्यवहार किया। उसने अलाउद्दीन तथा अलमस वेग के साथ अपनी कन्याओं का विवाह कर दिया और राजसिंहासन प्राप्त होने के बाद उसने उन दोनों को राज-दरबार में ऊँचे पद प्रदान किये तथा उनकी गणना बड़े अमीरों में होने लगी।

अलाउद्दीन की शायद लिखने-पढ़ने में रुचि नहीं थी और वह संभवतः पूर्ण निरक्षर था। परंतु उसकी बुद्धि प्रखर थी और वह सैनिक कार्यों में प्रवीण था। अस्त्र-शस्त्रों के उपयोग में वह दक्ष था और उसमें शौर्य, साहस, दृढ़ता, महत्वाकांक्षा के गुण विद्यमान थे। यह पहले उल्लेख किया जा चुका है कि उसने किस प्रकार कच्छन का वध करके खिलजी क्रांति का सूत्रपात किया तथा उसकी वीरता के कारण उसे कड़ा का हाकिम नियुक्त किया गया।

इस समय अलाउद्दीन की आयु संभवतः पच्चीस वर्ष थी। कड़ा जाने के पूर्व अलाउद्दीन का घरेलू जीवन सुखी नहीं था। वह स्वयं आदर्श चरित्रवाला व्यक्ति नहीं था और उसका प्रेम-संबंध मलिक संजर (भावी अलप खां) की भगिनी से हो गया। इस बात को लेकर पति-पत्नी में बहुत झगड़ा हुआ। जलाल की कन्या अपनी श्रेष्ठता के मद में रहती थी क्योंकि उसका पिता सुलतान था। अलाउद्दीन स्त्रैण होकर रहने के लिए प्रस्तुत नहीं था। वह जलाल की कन्या से मन-ही-मन असंतुष्ट होने के कारण उसकी उपेक्षा करता और वह इस उपेक्षा को देखकर और भी कुढ़ती तथा जली-कटी बातें सुनाती रहती थीं। जलाल की पत्नी को इस पारस्परिक कटुता का ज्ञान था। परंतु वह धमका कर अलाउद्दीन को सही मार्ग पर लाने की चेष्टा करने लगी जिससे स्थिति और बिगड़ गई। अलाउद्दीन को एक समय इन महिलाओं के कारण जीवन ही भार प्रतीत होने लगा और वह उत्साहहीन, आलसी एवं नीरस होने लगा। अब इन माँ-बेटी ने यह कहना शुरू किया कि वह बिल्कुल निकम्मा है और उसकी उदर-पूर्ति केवल सुलतान की कृपा पर निर्भर करती है। यह सुनकर अलाउद्दीन और चिढ़ता था परंतु उसे कोई त्राण का मार्ग दिखाई नहीं पड़ता था। ऐसी ही मनस्थिति में उसकी कड़ा में नियुक्ति हुई।

कड़ा का विद्रोह अभी ही शांत हुआ था। प्रधान विद्रोही वहाँ से अन्य स्थानों में भेज दिये गये थे। परंतु तिस पर भी अनेक ऐसे लोग रह गये थे जो खिलजियों के शुभचिंतक नहीं थे और जिनको अपने स्वार्थ पर आघात होने के कारण जलालुद्दीन से चिढ़ थी। इन लोगों ने अलाउद्दीन की चाटुकारी और जलालुद्दीन की बुराई आरंभ करदी। वे उसे विद्रोह करने की प्रेरणा देने लगे और कहने लगे कि खिलजी वंश की रक्षा के लिए जलालुद्दीन के स्थान पर उसी को सुलतान होना चाहिए। अलाउद्दीन को यह बातें सुनने में आनन्द मिलता परंतु वह ऊपर से कहता रहता कि वह अपने श्वसुर और सुलतान के विरुद्ध कुछ भी नहीं करना चाहता। धीरे-धीरे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ विद्रोही प्रवृत्ति के लोग अलाउद्दीन के अंतरंग होने लगे। उन्होंने अलाउद्दीन को समझाया कि कड़ा-अवध की जनता का सहयोग उसे सहज में ही मिल जायगा। मलिक छज्जू को भी सफलता मिल सकती थी परंतु उसके पास पर्याप्त मात्रा में धन ही नहीं था। इसी कारण उसकी पराजय हुई। अलाउद्दीन इन सब बातों को सुनता रहता और मन-ही-मन स्थिर करने लगा कि उसका भविष्य किस प्रकार बन सकता है। उसने सोचा होगा कि जलालुद्दीन की दयालुता और दुर्बलता के कारण संभव है और भी षड्यन्त्र हों। अरकली खां, अहमद चप, अथवा कोई अन्य व्यक्ति मौका पाकर सुलतान को हटाकर गद्दी पर बैठ सकता है। तब वही क्यों न ऐसा कार्य करे जिससे दिल्ली का ताज उसे प्राप्त हो जाय और उसकी अहंकारी पत्नी का दर्प चूर्ण हो? उसने निश्चय किया कि वह सुलतान का अधिकाधिक विश्वास प्राप्त करके ही उसे अपने जाल में फँसा सकेगा। अस्तु, उसने स्वामिभक्ति और कृतज्ञता के प्रदर्शन में कोई कसर नहीं रखी। साथ ही उसने धन एकत्रित करने तथा अपने सलाहकारों की क्षमता एवं निष्ठा की परीक्षा करने की ठानी।

भिलसा विजय १२९२ ई०

कड़ा के शासन की ठीक व्यवस्था करने के पश्चात् अलाउद्दीन ने अपने सैनिकों की शिक्षा की ओर ध्यान दिया। अन्य आवश्यक तैयारी करने के बाद उसने भिलसा पर आक्रमण करने के लिए अनुमति माँगी। सुलतान ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। अलाउद्दीन इतनी तेजी से बढ़ा कि भिलसा के लोगों को उसके आने की सूचना तब मिली जब वह बिलकुल ही निकट आ गया। वे अपनी रक्षा का कोई प्रबंध नहीं कर सके। अस्तु, अलाउद्दीन का भिलसा पर अधिकार हो गया और उसने नगर के मंदिरों तथा सेठों को खूब लूटा। इस भांति उसे एक विशाल धन-राशि प्राप्त हो गई। अलाउद्दीन संपूर्ण लूट का सामान लेकर दिल्ली गया और उसे सम्राट् को भेंट किया। जलालुद्दीन विभिन्न प्रकार की सामग्री देख कर अत्यंत हर्षित हुआ और उसने उसे आरिज़-ए-मुमालिक के पद पर नियुक्त किया तथा अवध का सूबा भी उसके अधिकार में दे दिया।

देवगिरि-विजय १२९६ ई०

इस भांति अलाउद्दीन की प्रतिष्ठा यकायक बहुत बढ़ गई। इस अप्रत्याशित सफलता के कारण उसका हौसला और भी बढ़ गया। अब उसने देवगिरि पर आक्रमण करने की योजना बनाई। जब वह भिलसा-विजय के लिए गया था तब उसे देवगिर के राजा की विपुल संपति की कथाएँ सुनने को मिली थीं। देवगिरि-राज्य विन्ध्य पर्वतमाला के दक्षिण और कृष्णा नदी के उत्तर प्रायः उस समस्त प्रदेश पर फैला हुआ था जो महाराष्ट्र के नाम से प्रख्यात है। वहाँ के यादव राजाओं ने क्रमशः अपनी

(क) यादवों की समृद्धि

शक्ति बहुत बढ़ा ली थी और उन्होंने मालवा, गुजरात तथा मैसूर पर अनेक सफल आक्रमण करके अपनी प्रतिष्ठा, शक्ति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा संपत्ति बहुत बढ़ा ली थी। तेरहवीं शताब्दी के आरंभ से ही उनका ऐसा आतंक फैला कि किसी पड़ोसी राज्य को उनकी राजधानी की ओर बढ़ने का साहस ही नहीं हुआ। अस्तु देश में आंतरिक शांति विराज- मान रही और इस शांति के कारण व्यापार और कला-कौशल की उन्नति हुई और देश धन-धान्य से परिपूर्ण हो गया। उस समय वहाँ राजा रामचंद्रदेव शासन कर रहा था। अलाउद्दीन ने सुना था कि न केवल देवगिरि के नागरिक बहुत समृद्ध हैं वरन् राजकोष में भी अपार धन तथा रत्न एकत्रित हैं। उसने निश्चय किया कि वह उपयुक्त अवसर निकाल कर इस संपत्ति पर अधिकार करेगा।

अस्तु, उसने भिलसा-विजय के बाद सुलतान से प्रार्थना की कि उसे चंदेरी पर आक्रमण करने की अनुमति दी जाय। बर्नी लिखता है कि उसने सुलतान से यह भी वादा किया कि वहाँ जो लूट की संपत्ति प्राप्त होगी वह उस सबको राजकोष में जमा कर देगा। सुलतान अलाउद्दीन से प्रसन्न था ही। अस्तु, उसने केवल आक्रमण करने की अनुमति ही नहीं दी वरन् उसे अवध तथा कड़ा से भेजे जाने वाले धन को सैनिक तैयारी में व्यय करने की छूट भी स्वेच्छा से दे दी। अलाउद्दीन ने ८००० सैनिकों का एक दल तैयार किया। अपनी अनुपस्थिति में उसने कड़ा तथा अवध के शासन का भार क़ाज़ी अलाउल्मुलक पर छोड़ा और उसे असली रहस्य बताया कि वह चंदेरी का नाम करके वास्तव में देवगिरि पर आक्रमण करने जा रहा है। अलाउल्मुल्क को उसने यह आदेश दिया कि वह कुछ दिन तक अलाउद्दीन के आक्रमण की झूठी मनगढ़न्त रिपोर्ट सुलतान के पास भेजता रहे। फिर यह खबर दे कि पता नहीं, वह क्या कर रहा है क्योंकि कोई सूचना नहीं आ रही है। वह अलाउल्मुल्क को यह भी बता गया कि वह शीघ्र-से शीघ्र लौटने का प्रयत्न करेगा।

(ख) चंदेरी विजय के लिए अनुमति-प्राप्ति

(ग) कड़ा का प्रबंध

अलाउद्दीन चँदेरी-भिलसा होता हुआ और विन्ध्याचल के अंचल को चीरता हुआ एलिचपुर नगर के सामने पहुँच गया। मार्ग में उसको किसी से मुठभेड़ नहीं हुई क्योंकि उसने यह अफवाह फैला दी कि वह दिल्ली-नरेश से असंतुष्ट होकर दक्षिण में राजमुन्दरी के राजा के यहाँ नौकरी करने जा रहा है। अलाउद्दीन ने इस क्षेत्र में अपने गुप्तचर पहले से फैला दिये थे। उन्होंने उसे ज्योंही यह सूचना दी कि रामचन्द्र का ज्येष्ठ पुत्र सिंघन दक्षिण की ओर विजय की लालसा से अधिकांस सेना लेकर चला गया है, त्योंही वह एलिचपुर पर टूट पड़ा और वहाँ दो दिन ठहर कर आगे बढ़ गया। देव-गिरि पहुँचने के पूर्व उसे रामचन्द्र के एक वीर सामंत कान्हा से युद्ध करना पड़ा। इसामी लिखता है कि इस युद्ध में दो महिलाओं ने बाघिनों की तरह आक्रमण करके

(घ) देवगिरि की ओर प्रस्थान

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक बार तुर्कों को पीछे हटा दिया। परंतु दूसरे धावे में अलाउद्दीन की विजय हुई।

अलाउद्दीन ने अपने सैनिकों का उत्साह बढ़ाने के उद्देश्य से उनको एकत्रित किया और कहा कि यद्यपि देवगिरि पर अधिकार करने से अतुल संपत्ति मिलना निश्चित है परंतु जहाँ की स्त्रियाँ इतनी वीर हैं वहाँ के पुरुषों का सामना करने की सामर्थ्य क्या हम लोगों में है? सैनिकों ने अपने शौर्य पर इस आक्षेप का विरोध किया और शपथ खाई कि वे विजय के लिए कोई कसर उठा न रखेंगे तथा उन्हें विश्वास है कि विजय उन्हीं की होगी। इस भांति उन्हें पुनरुत्साहित करके अलाउद्दीन ने देवगिरि पर आक्रमण किया। राजा रामचंद्र अलाउद्दीन के यकायक आ जाने से घबड़ा गया। अलाउद्दीन ने चालाकी करके यह भी खबर फैला दी कि वह तो केवल हरावल के साथ आया है। सुलतान स्वयं २०,००० सैनिकों के साथ पीछे आ रहा है।

(ङ) रामचंद्र से संधि

राजा रामचन्द्र किले के भीतर से रक्षात्मक युद्ध की तैयारी करने लगा। उसने सिंघन के पास तुरंत लौट आने की सूचना भेजी और साथ ही अलाउद्दीन को किसी प्रकार वापस लौटाने की भी योजना बनाई। उसने अलाउद्दीन के पास एक दूत भेजा और संधि की बात आरंभ की। इस बीच में अलाउद्दीन ने दुर्ग के बाहर वाले भाग को खूब लूटा और वहाँ के प्रमुख नागरिकों को बंदी बना लिया। विचार-विनिमय के पश्चात यह निश्चय हुआ कि रामचंद्र अलाउद्दीन को एक निश्चित धनराशि भेंट करेगा तथा उससे लूट के माल का कोई ब्यौरा न माँगेगा और अलाउद्दीन प्रस्तावित धन पाने पर बंदियों को छोड़ देगा और दिल्ली वापस चला जायगा।

(च) सिंघन से युद्ध

संधि की शर्तें पूरी होने के पूर्व ही रामचंद्र का पुत्र सिंघनदेव वापस आ गया और उसने अलाउद्दीन के पास कहला भेजा कि वह लूट का माल लौटा कर तुरंत वापस जाय अन्यथा मृत्यु उसका आलिंगन करने के लिए प्रस्तुत है। अलाउद्दीन स्वभाव से ही साहसी था। दूसरे, शत्रु के देश में आकर यदि वह दुर्बलता प्रगट करता तो उसका सुरक्षित वापस जा सकना ही दुर्लभ होता। अस्तु, यह संवाद पाने पर उसके लिए केवल एक ही सम्मान का मार्ग शेष था—भय की उपेक्षा करके युद्ध करना। अलाउद्दीन ने किया भी यही। उसने नसरत खां की अध्यक्षता में एक सहस्र सैनिक देवगिरि का घेरा चलाते रहने के लिए छोड़ दिये ताकि रामचंद्र अपने पुत्र के साथ सहयोग न कर सके और शेष सैनिकों को लेकर वह स्वयं सिंघन की सेना पर टूट पड़ा। यादव सेना ने इतना उग्र प्रत्याक्रमण किया कि अलाउद्दीन को विजय की कोई आशा नहीं रही। परंतु नसरत खां ने जब अलाउद्दीन की सेना का संकट देखा तब वह किले को छोड़कर अपने सैनिकों को युद्ध-स्थल में ले गया। उसके आने को देखकर शत्रु ने समझा कि सुलतान की सेना आ गई है। अस्तु उसमें आतंक फैल गया और वह

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तु-स्थिति को बिना जाने ही भाग चली। सिंघन की पराजय हुई और अलाउद्दीन ने फिर दुर्ग का घेरा डाला। उसने कुछ प्रमुख बंदियों को मरवा दिया और शेष को भी यातनायें देने लगा। राजा रामचन्द्र ने अन्य हिन्दू राजाओं को तुर्क के विरुद्ध युद्ध करने के लिए आमंत्रित करना चाहा परंतु उसी समय यह पता चला कि जल्दी-जल्दी में जो बोरे दुर्ग के भीतर रखे गये थे उनमें अन्न न होकर नमक था और अन्नाभाव के कारण अधिक दिन तक शत्रु को रोक रख सकना असंभव था। अस्तु रामचंद्र को फिर संधि करनी पड़ी। परंतु अब उसे कठोरतर शर्तें माननी पड़ीं। इतिहासकार बर्नी लिखता है कि अलाउद्दीन ने इतना धन प्राप्त किया कि वह फ़ीरोज तुगलक के समय तक समाप्त नहीं हुआ। कोई अन्य समकालीन इतिहासकार भी संधि की शर्तों का ठीक ठीक उल्लेख नहीं करता। फ़रिश्ता ने अपने इतिहास में इन शर्तों का उल्लेख किया है। संभव है, दक्षिण में उसे कोई समकालीन ग्रंथ मिला हो जिसमें यह लिखी रही हों। उसके मतानुसार अलाउद्दीन को छः सौ मन सोना, सात मन मोती, दो मन हीरा, पन्ना, लाल, पोखराज आदि, एक हजार मन चाँदी और चार हजार रेशम के थान तथा अन्य बहुमूल्य सामग्री मिली। इसके अतिरिक्त राजा ने एलिचपुर प्रांत की वार्षिक आय भेजने का भी वादा किया। इस भांति अलाउद्दीन को अभूतपूर्व एवं अप्रत्याशित सफलता प्राप्त हुई।

(छ) रामचंद्र की पराजय के कारण

इस सफलता के कारण क्या थे? रामचंद्र के शासन में भी वैदेशिक विभाग की दुर्बलता प्रगट होती है। उसने सीमान्त प्रांत की सुरक्षा की ओर एवं आक्रामक को यथाशीघ्र सीमा पर ही रोकने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया था। उसके गुप्तचर बिलकुल निकम्मे थे नहीं तो रामचन्द्र को मालूम हो जाता कि सुलतान नहीं आ रहा है, नसरत खां किले के सामने से हट गया है और सिंघन को दुर्ग के भीतर की सेना की सहायता दी जा सकती है। दूसरे, यादवों ने अहंकार के कारण दुर्ग की सुरक्षा की उपेक्षा की थी और यकायक शत्रु के आ जाने पर वे इतना घबड़ा गये कि उन्होंने यह भी न देखा कि वे अन्न के बोरे ले जा रहे हैं अथवा नमक के। अलाउद्दीन ने नसरत खां को दुर्ग पर दृष्टि रखने के लिए छोड़कर और सुलतान के आने की खबर फैलाकर बड़ी बुद्धिमानी का परिचय दिया तथा विपत्ति के समय उसने साहस और शौर्य का प्रदर्शन किया। इसके विपरीत सिंघन ने पहले तो दर्प का दिखावा किया परंतु युद्ध के समय न तो किले की सेना से संपर्क स्थापित करने की चेष्टा की और न उस ओर फँसी अलाउद्दीन की सेना की गतिविधि पर दृष्टि रखने की कोई व्यवस्था की। इन्हीं कारणों से अलाउद्दीन को विजय-श्री मिली।

अलाउद्दीन अब तेजी से कड़ा के लिए चला। उधर जलालुद्दीन ग्वालियर में डेरा डाले पड़ा था और उसने गुप्तचरों द्वारा यह पता लगा लिया कि अलाउद्दीन चंदेरी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न जाकर देवगिरि के राजा के विरुद्ध चढ़ाई करने गया था तथा उसने वहाँ से बहुत सा धन प्राप्त किया है और अब वापस लौट रहा है। अलाउद्दीन का समाचार सुनकर सुलतान को बहुत प्रसन्नता हुई। वह आशा करता था कि अलाउद्दीन भिलसा-विजय के समान इस बार भी सभी संपत्ति उसके चरणों पर अर्पित कर देगा। फिर भी उसने प्रधान राजकर्मचारियों की एक सभा की और उनसे परामर्श किया कि क्या करना उचित है। अहमद चप सदैव कठोरता की नीति का प्रतिपादन करता था। उसने इस अवसर पर भी उसी प्रकार की सलाह दी। उसने कहा कि अलाउद्दीन को जितने हाथी-घोड़े, रत्नादि प्राप्त हुए हैं उनको पाकर किसी के भी हृदय में विद्रोह की भावना उठ सकती है। अस्तु, सुलतान को चाहिए कि सेनासहित आगे बढ़कर उसे मार्ग में ही रोके और तब अलाउद्दीन की इच्छा हो या न हो परंतु उसे सम्पूर्ण धन तथा हाथी-घोड़े सुलतान को देना ही पड़ेगा। उनको प्राप्त करने के पश्चात सुलतान उसको सम्मानपूर्वक दिल्ली ले जाय और उसकी जागीर बढ़ा दे तो इसमें कोई क्षति न होगी। परंतु यदि अलाउद्दीन को कड़ा वापस चला जाने दिया गया तो भयंकर स्थिति उत्पन्न हो सकती है। अन्य सदस्यों ने संभवतः सुलतान को प्रसन्न करने के लिए इस मत का खण्डन किया। उन्होंने कहा कि यदि सुलतान सेना लेकर अलाउद्दीन को रोकने की चेष्टा करेगा तो वह निश्चय ही डर जायगा और कम-से-कम उसके सैनिक अवश्य ही घबड़ाकर भागने लगेंगे। उस दशा में सारी संपत्ति इधर-उधर चली जायगी और सुलतान के हाथ कुछ भी न लगेगा। सुलतान को यह मत पसन्द आया और उसने यह सोचकर दिल्ली लौटने का निश्चय किया कि जब उसने अलाउद्दीन के साथ बराबर स्नेह एवं उदारता का व्यवहार किया है तथा उसे बेटों से भी अधिक माना है तब वह उसके विरुद्ध षड्यंत्र अथवा विद्रोह क्यों करेगा? मनुष्य इतना नीच हो सकता है यह वह विश्वास करने को तैयार नहीं था।

अलाउद्दीन का कड़ा वापस आना।

जब सुलतान दिल्ली पहुँचा तब उसे अलाउद्दीन का एक अत्यंत विनम्रतापूर्ण पत्र मिला। उसने अपनी भूलों को स्वीकार करते हुए सम्राट् से क्षमा-याचना की और वादा किया कि ज्योंही सुलतान के हस्ताक्षर का अभयदान उसे मिलेगा त्योंही वह समस्त धन-संपत्ति लाकर सम्राट् का दर्शन करेगा। जलालुद्दीन ने उसे स्नेहपूर्ण शब्दों में अकारण भय के लिए फटकारा और उसे पूर्णरूप से आश्वस्त किया। सुलतान ने जिन व्यक्तियों के द्वारा यह क्षमा-पत्र भेजा वे अलाउद्दीन की गतिविधि को देख कर दंग रह गये परंतु अलाउद्दीन की सतर्कता के कारण वे न तो वापस जा सके और न कोई संवाद ही भेज सके। अस्तु, जलालुद्दीन को ठीक स्थिति का पता

जलालुद्दीन की हत्या

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं चला।

अब अलाउद्दीन ने एक दूसरा पत्र अपने भाई अलमस बेग के पास भेजा जिसमें उसने लिखा कि दर्बार में कुछ अमीर उससे शत्रुता रखते हैं। पता नहीं वह सुलतान को क्या समझाते हों। उसने सुलतान के आदेश की अवहेलना की है। यह सोचकर उसको इतना भय लगता है कि वह सुलतान के समक्ष जाने का साहस बटोर नहीं पा रहा। वह किसी भी समय आत्म-हत्या करके इस मानसिक संताप से मुक्ति चाहेगा। उसकी रक्षा का एकमात्र उपाय यही है कि सुलतान स्वयं कड़ा आकर उसे क्षमा कर दे। अलमस बेग ने जब यह पत्र सुलतान को दिखाया तो उसने अलमस बेग को तुरंत कड़ा जाने और अलाउद्दीन को शांत करने का आदेश दिया। साथ ही स्वयं उसने कड़ा आकर अलाउद्दीन को भयमुक्त करने का वचन दिया। अलमस बेग के पहुँचने पर अलाउद्दीन ने स्थिति पर फिर विचार किया। पहले वह सोचता था कि अपनी संपूर्ण संपत्ति तथा सेना के साथ लखनौती चला जाय। परंतु जब उसे पता चला कि सुलतान केवल एक सहस्र सैनिक और कुछ अमीरों के साथ आ रहा है तब उसने दूसरा कार्य-क्रम स्थिर किया। उसने गंगा को पारकर दूसरे तट पर अपनी सेना को खड़ा किया और अलमस बेग को सुलतान का स्वागत करने के लिए भेजा। अलमस बेग की प्रार्थना के कारण सुलतान ने अपने कुछ अमीरों के अतिरिक्त सब को छोड़ दिया और बाद में इन कतिपय अमीरों के हथियार भी गंगा में फिकवा दिये जिससे अलाउद्दीन को किसी प्रकार का भय न हो। जैसा कि बर्नी लिखता है, सुलतान स्नेह के कारण ऐसा अंधा हो गया था कि उसने यह विचार ही नहीं किया कि इस प्रकार की प्रार्थनाओं के मूल में विश्वासघात की भावना न हो। अलाउद्दीन यदि विश्वासघात करे तो वह किस प्रकार अपनी रक्षा करेगा, यह भी उसने नहीं सोचा। जलालुद्दीन की यह भयंकर भूल थी। मुस्लिम राज्यों के षड्यन्त्रों से परिचित कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति इस हद तक विश्वास करने की नासमझी नहीं कर सकता। परंतु जलालुद्दीन की मृत्यु घसीटे लिये जा रही थी। इसी से उसने स्वभावगत उदारता के साथ समुचित सतर्कता का जैसा मेल अभी तक रखा था वैसा वह अलाउद्दीन के संबंध में नहीं रख सका। फल यह हुआ कि जैसे ही वह नाव से उतरकर अलाउद्दीन का प्रणाम स्वीकार करके फिर नाव की तरफ़ लौटा कि पहले मुहम्मद सलीम ने उसे घायल कर दिया। जब वह भागा तब इख़्तियारुद्दीन हूद ने उसे पटककर उसका सिर काट लिया। नाव पर बैठे हुए अमीरों में से कुछ तैरकर भागने की चेष्टा में डूब गये और शेष मार डाले गये। केवल फ़ख्रुद्दीन की जान बख्श दी गई क्योंकि उसने अलाउद्दीन का पक्ष लेते हुए अहमद चप का विरोध किया था।

इस भांति इस उदार, स्नेहशील सुलतान का अंत हुआ। उसने अलाउद्दीन को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बच्चे से पालकर बड़ा किया था और उसे स्नेह, सम्मान तथा उच्च पद प्रदान किया था। उसने उसके साथ अपनी कन्या का विवाह किया था तथा दूसरों के समझाने पर भी उसने अलाउद्दीन का अहित करना तो दूर रहा उस पर अ-विश्वास करना भी पाप समझा था। अलाउद्दीन ने स्वार्थ के वशीभूत होकर उसी का वध करने का जघन्य कार्य किया। जलालुद्दीन पहला सुलतान है जिसने उदारता को शासन की आधार-शिला बनाने का उद्योग किया। वह एक सफल सैनिक नेता, शासक एवं वीर योद्धा था। उसने गद्दी पर बैठने के पूर्व और बाद में अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की थी। परंतु वह निरर्थक रक्तपात का पक्षपाती नहीं था। इसी कारण उसने रणथंभौर से सेना लौटा ली थी और मंगोलों से मैत्री का संबंध जोड़ा था। वह कठोरता से शासन कर सकता था परंतु वह उसे आदर्श नहीं मानता था। इसी कारण उसने शासन की गति को बलपूर्वक दूसरी दिशा में मोड़ने का उद्योग किया। उसे इस प्रयोग में उत्तरोत्तर अधिक सफलता मिल रही थी। परंतु उसने जीवन में एक बार सुरक्षा की उपेक्षा करके उदारता दिखाई। यही उसके लिए घातक सिद्ध हुई। जलालुद्दीन की मृत्यु के साथ ही उस प्रयोग का भी अंत हो गया। इतिहासकारों ने उसके उच्च आदर्श की प्रशंसा न करके उसको दुर्बल और धर्मभीरु दर्शाया है और प्रकारान्तर से उसके वध को तुर्की सल्तनत के लिए उपयोगी बताया है। इस दृष्टि से अलाउद्दीन एक हत्यारा नहीं वरन् सल्तनत का उद्धार करने वाला सिद्ध होता है। परंतु न तो स्वयं अलाउद्दीन ने कभी अपने कार्य का इस प्रकार पृष्ठपोषण किया और न तत्कालीन इतिहासकारों ने ही उसके कार्य की प्रशंसा की है।

जलालुद्दीन का व्यक्तित्व

सहायक ग्रन्थ

१. इलियट और डासन—भाग ३।
२. किशोरी शरण लाल—हिस्ट्री आफ दी खिलजीज़, पृ० १८-३८।
३. ईश्वरी प्रसाद—मेडीवल इण्डिया—पृष्ठ २०२-२१८।
४. त्रिपाठी—४२-४८।
५. कुरेशी—ऐडमिनिस्ट्रेशन आफ दी सल्तनत आफ़ डेल्ही।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७

सम्राट् अलाउद्दीन खिलजी

जलालुद्दीन की हत्या करने के पश्चात् उसका शिर भाले से छेदकर सम्पूर्ण सेना के बीच घुमाया गया और अलाउद्दीन तुरंत सुलतान घोषित कर दिया गया।

अलाउद्दीन का राज्यारोहण

इतना होने पर भी अलाउद्दीन की स्थिति अभी डाँवा-डोल थी। अहमद चप दिल्ली वापस लौट गया था और उसने सुलतान की हत्या का दुःसंवाद सुना दिया था। यह खबर मिलने पर जलाली सर्दार दंग रह गये। परंतु उनके लिए एकत्रित और संगठित होने में कोई बाधा नहीं थी। सुलतान का पुत्र अरकली खां तथा मंगोलों का नेता और सुलतान का दामाद उलगू अभी जीवित था। अरकली खां एक

(क) अलाउद्दीन की स्थिति

वीर योद्धा तथा अनुभवी सेनानी था। मुलतान, सिंध और लाहौर का स्वामी होने के कारण उसके पास धन-जन का भी पर्याप्त बल था। वह अपने पिता के वध का बदला लेने की चेष्टा कर सकता था। अलाउद्दीन को सबसे अधिक भय उसी की ओर से था। राजधानी में अनेक योग्य अमीर विद्यमान थे। उनमें से अधिकांश सुलतान के वध के कारण असंतुष्ट थे और वे अरकली खां को सहायता दे सकते थे। दिल्ली की जनता भी अब जलालुद्दीन से प्रसन्न थी और इस कारण वह भी अलाउद्दीन के विरुद्ध भड़काई जा सकती थी। उलगू के कारण जलाली वंश के पक्ष में मंगोलों की सहायता मिलना भी असंभव नहीं था। हिन्दू राजे तुर्कों के आपसी झगड़ों से लाभ उठाने की ताक में रहते ही थे। अस्तु, उनकी ओर से भी कुछ विरोध हो सकता था।

फिर भी अलाउद्दीन ने आत्म-विश्वास के साथ अगला कदम बढ़ाया। उसने अपने सहयोगियों तथा अनुयायियों को धन, पद और सम्मान देकर संतुष्ट किया।

(ख) दिल्ली की ओर प्रस्थान

उसने अपने भाई अलमस बेग़ को उलुग खां की पदवी दी। मलिक संजर को अलप खां की, मलिक हजबरुद्दीन को ज़फ़र खां की और मलिक नसरत को नसरत खां की पदवी दी गई। अन्य लोगों को पदवियाँ दी गई या उनका वेतन बढ़ा दिया गया अथवा उनको उच्चतर पद

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर नियुक्त किया गया। उसके बाद उसने नये सैनिकों की भर्ती का आदेश दिया और अमीरों को आज्ञा दी कि वे वेतन का ध्यान रखे बिना अधिक-से-अधिक सैनिकों की भर्ती कर लें। कड़ा और अवध दोनों ही क्षेत्रों में भर्ती की गई। इस सेना के साथ सुलतान दिल्ली की ओर बढ़ा। मार्ग में वह जहाँ पड़ाव डालता वहीं मंजनिकों से सोने के सिक्कों की बौछार कराता था। साधारण जनता उसकी इस उदारता से प्रभावित होकर उसके पक्ष में हो गई और मृत सुलतान को भूलने लगी। प्रत्येक पड़ाव पर नये सैनिकों की भर्ती भी होती थी। इस भांति वह धीरे-धीरे दिल्ली की ओर बढ़ता गया और उसके सैनिकों की संख्या बराबर बढ़ती गई तथा मार्ग की जनता उसकी समर्थक होती गई।

(ग) अलाउद्दीन की धीमी प्रगति

अलाउद्दीन ने जुलाई १२९६ में जलालुद्दीन की हत्या कराई थी और वह अक्टूबर १२९६ में दिल्ली में गद्दी पर बैठा। इससे विदित होता है कि अलाउद्दीन की सेना बहुत तेजी से नहीं बढ़ रही थी। इस धीमी गति का कारण क्या था? अलाउद्दीन ने सेना के आगे अपने गुप्तचर दौड़ा दिये थे जो उसको अरकली खाँ तथा दिल्ली की गति-विधि की सूचना भेजते रहते थे। अलाउद्दीन चाहता था कि वह दिल्ली पर उसी दशा में आक्रमण करे जब उसको जीत सकना सुगम हो। अस्तु, जब तक उसे वहाँ की स्थिति का प्रामाणिक और पूर्ण विवरण प्राप्त नहीं हुआ तब तक वह राजधानी के निकट नहीं गया। दूसरे, उसने देखा कि कुछ स्वार्थी जलाली सर्दार उसकी शरण में आ गये हैं। उसने उनको २०, ३० अथवा ४० मन सुवर्ण तथा अन्य भेंटें देकर अपनी उदारता दर्शायी और उनको अपनी सेना में स्थान दे दिया। वह चाहता था कि इसकी खबर दिल्ली तक फैल जाय ताकि अन्य ढिलमुल विचारों वाले व्यक्ति भी उसकी ओर आ जायँ। इस कारण भी वेग से बढ़ना वांछनीय नहीं था। तीसरे, वह चाहता था कि कड़ा से दिल्ली तक का क्षेत्र उसके अधीन हो जाय ताकि उसके पृष्ठ-भाग में विरोध होने के कारण उसकी सैनिक सुरक्षा पर आँच न आवे। इस कार्य के लिए भी समय अपेक्षित था। चौथे, अलाउद्दीन ने यह सुना था कि मलका जहाँ ने अरकली खां के स्थान पर क़द्र खां को रुकनुद्दीन इब्राहीम के नाम से गद्दी पर बिठा दिया है और इस कारण जलाली समर्थकों के बीच एक भयंकर दरार पड़ गई है। अलाउद्दीन चाहता था कि यह दरार और स्पष्ट तथा स्थायी हो जाय। इन सब कारणों से धीमी गति से बढ़ना ही उचित था। परंतु अत्यधिक देर करना भी घातक हो सकता था क्योंकि उस दशा में जनता पर यह प्रभाव पड़ सकता था कि अलाउद्दीन में आत्म-विश्वास और साहस की कमी है अथवा उसकी शक्ति क्षीण है। साथ ही अरक़ली खां और मलका जहाँ का मनमुटाव भी समाप्त होना संभव था और विदेश से मंगोलों की सहायता भी मिल सकती थी। इस कारण अलाउद्दीन बिना विशेष

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देरी किये दिल्ली के निकट उपस्थित हो गया।

उसके सौभाग्य से जलाली पक्ष ने अनेक भूलें कीं और इस प्रकार अपना विनाश अवश्यंभावी बना दिया। मलका जहाँ ने राजपद को खाली रखना अनुचित समझकर क़द्र खां को सुलतान बना दिया और स्वयं उसकी ओर से शासन का कार्य करने लगी। उसने अरकली खां के अधिकार की उपेक्षा करने में बड़ी भूल की। यदि वह अरकली खां को ही सुलतान घोषित कराती और अंतर्कालीन समय में शासन का कार्य स्वयं चलाती तथा अरकली खां को शीघ्र-से-शीघ्र दिल्ली आने की सूचना भिजवा देती तो जलाली सर्दार उसके विरोधी न होते और उनमें से बहुत कम अलाउद्दीन का पक्ष लेते। परंतु वह ऐसा न कर सकी। उसने पहले अरकली खां की उपेक्षा की और बाद में जब अनेक सर्दार अलाउद्दीन से मिल गये और राजधानी की रक्षा करना असंभव दिखने लगा तब उसने अरकली खां को संदेश भेजा कि वह राजधानी की रक्षा करने के लिए तुरंत आवे और क़द्र खां को गद्दी पर बिठाने की भूल का ध्यान न रखकर अब राजगद्दी को स्वीकार करे। अरकली खां स्वयं चिड़चिड़े स्वभाव का था। पिता की मृत्यु का समाचार मिलने पर उसे स्वतः दिल्ली जाना चाहिए था और जलाली सर्दारों का समर्थन प्राप्त करके अलाउद्दीन से बदला लेने की योजना बनाना चाहिए थी। परंतु वह अपनी माता के अन्याय से इतना कुढ़ गया कि वह नये सुलतान के विनाश की कामना करने लगा और जब उसकी माता ने उसे आमंत्रित भी किया तब उसने जाने से इन्कार कर दिया और कहला दिया कि जब सर्दार और अमीर शत्रु से मिल गये हैं तब उसके आने से भी क्या लाभ होगा। अरकली खां की इस भूल के कारण जलाली वंश का सर्वनाश निश्चित हो गया।

(घ) विपक्षी दल की भूलें

फलतः जब अलाउद्दीन ने यमुना नदी को पार करके रुकनुद्दीन से युद्ध किया तब उसको सहज ही में विजय प्राप्त हो गई। रुकनुद्दीन, उसकी माता, अहमद चप, तथा उनके कुछ अन्य समर्थक भाग निकले और उन्होंने मुलतान में जाकर शरण ली। अस्तु अलाउद्दीन ने राजधानी में प्रवेश किया और बड़े समारोह के साथ २० अक्टूबर १२९६ को उसका राज्याभिषेक हुआ। सुलतान ने सैनिकों को ६ मास का वेतन पारितोषिक रूप में दिया, शेखों और आलिमों को मुक्त-हस्त से धन-धरती का दान किया तथा दीन-दुखियों का मनोरंजन करने के लिए अन्न-वस्त्र बँटवाया। दावतों का दौर कई दिन तक चलता रहा। इस भांति सुलतान ने सुवर्ण की बौछार और मदिरा की निरंतर निर्झरिणी द्वारा जनता के हृदय पर विजय पा ली और वे अल्पकाल में ही जलालुद्दीन की हत्या की कथा भूल गये।

(ङ) दिल्ली पर अधिकार और अभिषेकोत्सव

अलाउद्दीन ने राजधानी तथा साम्राज्य में अपनी शक्ति दृढ़ करने के उद्देश्य से

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शासन के कुछ उच्च पदाधिकारियों को उनके पद पर रहने दिया और शेष स्थानों में उसने अपने व्यक्तिगत सेवकों को नियुक्त किया। ख्वाजा खातिर इस समय भी प्रधान मंत्री बना रहा, सद्रउद्दीन आरिफ को प्रधान न्यायाधीश का पद मिला तथा मलिक अबाजी को आखूर बेग नियुक्त किया गया। यह तीनों ही व्यक्ति जलालुद्दीन के अमीरों में से थे। अलाउद्दीन ने अपने व्यक्तिगत अनुगतों में से नसरत खां को दिल्ली का कोतवाल तथा मलिक फ़ख्रुद्दीन को राजधानी में न्यायाधीश नियुक्त किया। मलिक अलाउल्मुल्क को कड़ा का हाकिम नियुक्त किया गया और ज़फ़र खां को आरिज़-ए-मुमालिक का पद मिला। इनके अतिरिक्त अन्य पदों के वितरण में भी उसने अपने साथियों का ही विशेष ध्यान नहीं रखा।

अलाउद्दीन की नियुक्तियां

राजधानी में अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के पश्चात् अलाउद्दीन ने ज़फ़र खां और उलुग़ खां को मुलतान पर आक्रमण करने और जलालुद्दीन के पुत्रों को बंदी बनाने के लिए भेजा। इन अनुभवी सेनापतियों के साथ ४०,००० सैनिक भेजे गये। अरकली खां ने युद्ध की तैयारी कर ली थी। इस कारण दो मास तक नगर का घेरा चलता रहा। उसके उपरांत नगर का कोतवाल तथा कुछ अन्य प्रभावशाली व्यक्ति अलाउद्दीन की सेना से जा मिले। इसका फल यह हुआ कि दुर्ग पर शाही सेनापतियों का अधिकार हो गया और अरकली खां, क़द्र खां, उनकी माता, अहमद चप, उलगू खां एवं उनके अन्य प्रधान सहायक बंदी बना लिये गये। सुलतान की सेना लौटकर अबोहर के पास पहुँची थी कि उसे नसरत खां के द्वारा सुलतान का विशेष संवाद मिला। उसके अनुसार अरकली खां, अहमद चप तथा उलगू अंधे कर दिये गये और दोनों राजकुमार हांसी में क़ैद कर दिये गये जहाँ थोड़े समय के बाद ही वे मार डाले गये। मलका जहाँ, अहमद चप तथा उलगू दिल्ली में कैद किये गये और कुछ समय के बाद उनका भी नाम-निशान नहीं रहा। इस विजय से अलाउद्दीन का अधिकार निष्कण्टक हो गया। अब कोई ऐसा व्यक्ति नहीं बचा जो उसका प्रतिद्वन्दी हो सके। अस्तु, अलाउद्दीन ने अब साम्राज्य की समस्याओं पर विचार करके निश्चित नीति निर्धारण करने की ओर ध्यान दिया।

मुलतान पर आक्रमण (१२९६-९७ ई०)

ज़ियाउद्दीन बर्नी लिखता है कि अलाउद्दीन को अपने शासन-काल के प्रारंभिक वर्षों में अत्यधिक सफलता मिली। इस कारण वह असंभव योजनायें बनाने लगा। परंतु जब बर्नी के चाचा काजी अलाउल्मुल्क ने उसको देश-काल की स्थिति पर विचार करके कार्यक्रम बनाने के लिए कहा, तब उसने उचित मार्ग का अवलंबन किया। बर्नी अलाउद्दीन और क़ाज़ी मुग़ीसुद्दीन के कथोपकथन का भी उल्लेख करता है जिससे

अलाउद्दीन की नीति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुलतान की धार्मिक नीति और राजनीतिक आदर्श पर प्रकाश पड़ता है। इन विवरणों का सुलतान के वास्तविक कार्यों से मिलान करने से अलाउद्दीन की नीति का विश्लेषण सुगम हो जाता है।

(क) साम्राज्य-विस्तार

अलाउद्दीन एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। वह चाहता था कि ऐसा कार्य करे जिससे उसका नाम विश्व-इतिहास में अमर हो जाय। पहले उसने सोचा कि सिकंदर के समान विश्व-विजय करे और उस विश्व-व्यापी साम्राज्य में एक नये धर्म का प्रचार करे। अलाउद्दीन की धारणा थी कि दक्षिण से लाये हुए धन की सहायता से एक विशाल सेना संगठित की जा सकती है। उसे अपने सेनापतियों में से ज़फ़र खां, उलुग खां, नसरत खां तथा अलप खां की योग्यता और निष्ठा पर पूर्ण विश्वास था। वह स्वयं भी एक साहसी नेता था। अस्तु, उसने सोचा कि विश्व-विजय करना बिलकुल सहज होगा। परंतु जब क़ाज़ी अलाउलमुल्क ने उसका ध्यान आंतरिक तथा वैदेशिक कठिनाइयों की ओर आकृष्ट किया और बताया कि संसार अब बहुत बदल गया है, अरस्तू ऐसा विश्वसनीय मंत्री तत्कालीन भारत में मिलना असंभव है, एवं भारत की विजय पूर्ण किये विना विदेश-विजय करने की योजना बनाना बुद्धिसंगत नहीं है, तब उसने अपना विचार बदल दिया और सारी शक्ति भारत-व्यापी साम्राज्य स्थापित करने में लगा दी। अलाउद्दीन ही पहला मुसलमान शासक है जिसने प्रायः संपूर्ण उत्तर भारत विजय किया और दक्षिण भारत के अधिकांश भाग पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया।

(ख) धर्म-निरपेक्ष राज्य

धर्म-प्रचार के विषय में क़ाज़ी अलाउलमुल्क ने उसे समझाया कि वह कार्य पैगम्बरों का है। तलवार के बल से अथवा केवल योजना के सहारे धर्म-स्थापन संभव नहीं है, उसके लिए भागवत-प्रेरणा की आवश्यकता होती है। दूसरे, राजा का कार्य है राज्य करना न कि धर्म के मामले में हस्तक्षेप करना। अलाउद्दीन ने इस सलाह पर धीरतापूर्वक विचार किया और उसने स्थिर किया कि वह न केवल धर्म-प्रचार का विचार परित्याग कर देगा वरन् धर्म और राजनीति को एक दूसरे से अलग रखकर धर्म-निरपेक्ष राज्य स्थापित करेगा। अलाउद्दीन ने ऐसा कोई कार्य नहीं किया जिससे अकबर के समान उसे कट्टरपंथी उलमा का विरोध सहना पड़े। उसने उनको न्याय-विभाग में अधिकांश पद देने की परिपाटी में कोई परिवर्तन नहीं किया। वह सामाजिक क्षेत्र में तथा अपने व्यक्तिगत जीवन में इस्लाम की शिक्षाओं का यथा-साध्य पालन करता था और बीच-बीच में उनसे विचार-विनिमय करता था परंतु उसने शासन-नीति को उनके आधिपत्य से मुक्त कर लिया और यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि वही राजनियम बनाना उचित है जो परिस्थिति के अनुकूल

१०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं देश के हित में हो और इस संबंध में यह चिन्ता करना अनावश्यक है कि वह इस्लाम के धार्मिक सिद्धान्तों के अनुकूल है या नहीं और उसके कारण परलोक में उसे यातना भोगना पड़ेगी अथवा आनन्द प्राप्त होगा।

(ग) सीमाओं की सुरक्षा

अलाउद्दीन ने सीमा की सुरक्षा के संबंध में मूलतः बलवन की नीति का अनुसरण किया परंतु उसने केवल अंधानुकरण नहीं किया वरन् उसमें अनेक परिवर्तन किये जिनका यथास्थान उल्लेख किया जायगा।

(घ) राजपूत-नीति

अलाउद्दीन ने यह भी अनुभव किया कि राजपूतों और हिन्दुओं की सहानुभूति प्राप्त किये बिना साम्राज्य की जड़ें मजबूत नहीं हो सकतीं। इस कारण उसने राजपूत राजाओं के साथ अपेक्षाकृत अच्छा व्यवहार किया। उनमें से कुछ का उपयोग उसने राजपूतों के ही दमन में भी किया और उसने अपना तथा अपने बड़े बेटे का विवाह राजपूतनियों से किया और उनको सामान्य रक्षिताओं का अपमान-जनक पद न देकर रनवास में आदर के साथ रखा और मृत्यु के समय उस राजकुमार को उत्तराधिकारी घोषित किया जिसकी माता हिन्दू राजकुमारी थी। परंतु उस समय राजनीतिक क्षेत्र में हिन्दुओं तथा तुर्कों में इतनी प्रबल प्रतिद्वन्दिता थी कि उसके लिए पूर्णतया पक्षपात-रहित शासन स्थापित करके हिन्दू जनता की श्रद्धापूर्ण राज-भक्ति पा सकना असंभव था।

(ङ) तुर्कों के एकाधिकार का अंत

अलाउद्दीन खिलजी ने सम्राट् के पद की प्रतिष्ठा प्रायः बलवन के ही समान ऊँची रखी परंतु वह उच्चवंश का उतना कट्टर भक्त नहीं था। उसने केवल तुर्कों को ही सरकारी पद न देकर हिन्दू राजाओं एवं नव मुस्लिमों को भी राज्य की सेवा करने का अवसर दिया। मलिक काफ़ूर एक नीच जाति का हिन्दू था जिसने धर्मपरिवर्तन कर लिया था। अलाउद्दीन ने उसे अपना सबसे अधिक विश्वास-पात्र एवं सलाहकार बनाया और अंतिम वर्षों में प्रायः सभी कार्यों में उसका परामर्श मान कर चलने लगा। इस भांति खिलजियों के समय से और विशेषकर अलाउद्दीन के समय से तुर्कों का प्रशासकीय एकाधिकार समाप्त हो गया और सम्राट् की प्रजा में से किसी भी योग्य व्यक्ति के लिए जो सहयोग देने को प्रस्तुत हो सरकारी पद का पा सकना संभव हो गया।

(च) निरंकुशता

अलाउद्दीन अपनी निरंकुशता के लिए विख्यात है। उसने अपने निर्णय के सामने सभी को झुकने के लिए बाध्य किया। मुसलमान सामंत, हिन्दू जमींदार तथा स्थानीय पदाधिकारी, छोटे -बड़े व्यापारी तथा धार्मिक नेता, सभी उसकी इच्छा के अनुसार चलने के लिए बाध्य थे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसने कठोर दण्ड-विधान, विस्तृत गुप्तचर-व्यवस्था एवं सशक्त सैनिकवाद के आधार पर उन सबको अपनी मुट्ठी में रखा।

अलाउद्दीन ने विश्वासघात और हत्या द्वारा शासनाधिकार प्राप्त किया था। इसलिए उसे यह भय सदा लगा रहता था कि कोई उसका अनुकरण करके उसकी हत्या द्वारा राज-पद पाने की चेष्टा न करे। उसे अपने षड्यन्त्र में सफलता मिलने के तीन प्रमुख कारण थे। उसके पास सैनिक शक्ति बढ़ाने के लिए पर्याप्त धन था, सम्राट् ने उसका विश्वास करके उसकी गतिविधि की कड़ाई से जाँच नहीं की और स्थानीय हिन्दू नेताओं ने अपने सैनिकों के साथ उसकी सहायता की। अलाउद्दीन ने षड्यन्त्रों का अंत करने के उद्देश्य से ऐसी शासन-नीति चलाई जिसके कारण हिन्दू-मुसलमान उच्चवर्ग के पास उसकी आवश्यकता से अधिक धन एकत्रित न होने पाये। जागीरों के स्थान पर नकद वेतन देना तथा चौधरियों, मुकद्दमों, खूतों और बलाहरों के विशेषाधिकारों का अंत करना इसी नीति के अंतर्गत हैं। संदेह होने पर उसने अपने बड़े-से-बड़े सेनापतियों को ही नहीं मरवा दिया वरन् अपने बेटे को भी कारागार में डलवा दिया।

(छ) षड्यंत्रों का भय

कुछ समय तक अलाउद्दीन को खूब सफलता मिलती गई। उसका राजकोष सुवर्ण और रत्नों से परिपूर्ण हो गया, उसे सैनिक क्षेत्र में विजय पर विजय मिलती गई, और उसका आधिपत्य प्रायः संपूर्ण भारत पर फैल गया। बड़े-से-बड़े अमीर भी उसका विरोध करना तो दूर की बात अपने अंतःपुरों में भी उसकी किसी प्रकार की आलोचना करने में भय खाते थे। परंतु ज्योंही सुलतान का शरीर रोग के कारण दुर्बल होने लगा त्योंही विरोध के लक्षण प्रगट होने लगे। हिन्दुओं के विद्रोह आरंभ हो गये और काफ़ूर के षड्यन्त्र के कारण खिलजी साम्राज्य एवं वंश का विनाश सन्निकट आ गया। इस भांति अलाउद्दीन की नीति में कठोरता का अंश अत्यधिक होने के कारण वह स्थायी न हो सकी। उसकी सफलता वैयक्तिक तथा अल्पकालीन रही।

(ज) अस्थायी सफलता

अलाउद्दीन ने कुल बीस वर्ष राज्य किया। इसमें से अधिकांश समय युद्ध करने में ही बीता। पहले अलाउद्दीन ने उत्तर भारत की विजय की ओर जब उसे उत्तर भारत में कोई विशेष चिन्ता नहीं रह गई तब उसने दक्षिण भारत की विजय की ओर ध्यान दिया। परंतु इन दोनों क्षेत्रों में उसकी नीति एक समान नहीं रही। उत्तर भारत में सिंध, मालवा, गुजरात, दिल्ली से दूर होने पर भी अत्यधिक दूर नहीं थे और उन पर निरीक्षण रख सकना असंभव नहीं था। इसलिए

साम्राज्य-विस्तार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलाउद्दीन ने उत्तर भारत के राजाओं को हराकर उनके प्रायः समस्त राज्य पर अधिकार कर लिया और अपने हाकिमों द्वारा वहाँ का शासन चलाया। परंतु दक्षिण भारत की स्थिति भिन्न थी। इसलिए सुलतान ने वहाँ सीधा शासन स्थापित करने की चेष्टा नहीं की। अपितु उसने वहाँ के राजाओं को हराकर उनसे केवल वार्षिक कर वसूल किया और वहाँ के शासन का भार स्थानीय राजवंशों पर ही छोड़ दिया।

अलाउद्दीन ने अरकली खां को वश में करने के लिए जो सेना भेजी थी उसके उद्योग से मुलतान और सिंध उसके अधिकार में आ गये थे। उलुग़खां उस प्रांत का शासक था। अलाउद्दीन ने अब गुजरात पर अधिकार करने की योजना बनाई। गुजरात की उर्वर भूमि और उदार व्यापारिक नीति के कारण देश धन-धान्य से पूर्ण था। अरब और फ़ारस के व्यापारी गुजरात के बंदरगाहों में बराबर आते रहते थे और वे भारत का सामान पश्चिमी एशिया तथा रूमसागर के क्षेत्र में पहुँचाया करते थे। इस भांति विदेशों से प्रतिवर्ष काफी धन आता रहता था जिसके कारण गुजरात के बंदरगाह तथा नगर बहुत समृद्ध हो गये थे। गुजरात में आन्तरिक शांति और व्यवस्था भी थी। महमूद ग़जनवी के आक्रमण के पहले से वहाँ चालुक्य सोलंकियों का शासन चला आ रहा था और मुहम्मद गोरी का समकालीन भीम द्वितीय इतना प्रबल शासक था कि उसने ११७८ में मुहम्मद को इस बुरी तरह हराया कि उसने फिर कभी गुजरात पर आक्रमण करने का इरादा नहीं किया। क़ुत्बुद्दीन ऐबक ने अपने स्वामी की पराजय का बदला लेने की इच्छा से गुजरात पर दो बार आक्रमण किया परंतु उसमें इतनी शक्ति नहीं थी कि वह वहाँ की एक इंच भूमि पर भी अधिकार जमाता अथवा राजा से वार्षिक कर की माँग कर सकता। ऐबक के उत्तराधिकारियों को दिल्ली के निकटवर्ती प्रांतों तथा पूर्व-विजित क्षेत्रों में ही इतनी परेशानी रही कि वे गुजरात की ओर आँख उठा सकने का अवकाश ही नहीं पा सके। इस भांति उत्तर भारत में तुर्की सल्तनत की स्थापना के एक सौ वर्ष बाद भी गुजरात स्वतंत्र था।

(१) गुजरात (१२९९ ई०)

(क) आर्थिक तथा राजनीतिक दशा

अलाउद्दीन के समय में वहाँ का राजा कर्ण बघेल था। बघेले सोलंकियों के संबंधी थे और उन्होंने सोलंकी राजवंश का अंत होने पर गुजरात का शासन प्राप्त किया था। अलाउद्दीन ने गुजरात पर दो दिशाओं से आक्रमण करने की योजना बनाई। उलुग़ खां सिंध की ओर से और नसरत खां राजपूताना के मार्ग से भेजा गया (१२९९ ई०)। उलुग़ खां और नसरत खां की सेनायें गुजरात की सीमा के बाहर मिल

(ख) कर्ण की पराजय

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गईं और फिर उन्होंने गुजरात पर धावा किया। राजा कर्ण शत्रु-सेना का सामना करने में असफल हुआ और उसे अपने प्राण बचाने के लिए इतनी घबड़ाहट और जल्दी हुई कि राजधानी में उसका राजकोष और रनवास पीछे ही छूट गया। कर्ण स्वयं देवगिरि भाग गया। इस कायरता-पूर्ण पलायन ने शत्रु का कार्य सुगम कर दिया। सुलतान की सेना ने सूरत, अन्हिलवाड़ा, खम्भात, सोमनाथ आदि नगरों को स्वच्छन्दता-पूर्वक लूटा और इसामी लिखता है कि सैनिकों को इतनी फ़ुर्सत और सुविधा थी कि जब वह घर के भीतर की संपत्ति से संतुष्ट नहीं हुए तब उन्होंने नगर-निवासियों को यातनायें देकर उनके गुप्त धन का पता पूछा और उसे भी खोद निकाला। लूट-मार के सिलसिले में अनेक मंदिर तोड़े गये जिनमें सोमनाथ का मंदिर सबसे अधिक प्रतिष्ठित था। अनेक नगर और ग्राम ध्वस्त हो गये तथा हजारों व्यक्ति मौत के घाट उतारे गये अथवा बंदी बनाकर दासता के पाश में बाँधे गये।

प्राय: सम्पूर्ण प्रांत को रौंदने के पश्चात् शाही सेना वापस लौटी और गुजरात के शासन के लिए अलप खां नियुक्त किया गया तथा उसके साथ पर्याप्त सैनिक छोड़ दिये गये। उलुग़ खां और नसरत खां लूट का माल लेकर दिल्ली की ओर चल पड़े।

(ग) नव-मुस्लिम विद्रोह

जब वे लोग जालौर के निकट पहुँचे तब उलुग खां ने यह निश्चय किया कि सिपाहियों से लूट के सामान का विवरण पूछकर राज्य का भाग वसूल कर लिया जाय। कुछ इतिहासकार लिखते हैं कि यद्यपि शाही सेनापतियों ने केवल नियमित पंचमांश ही माँगा था परंतु उन्होंने सैनिकों की तलाशी लेने और उनकी छिपी संपत्ति का पता लगाने में बहुत निर्दयता का व्यवहार किया जिससे सेना में असंतोष फैल गया। दूसरे लोग—यथा निज़ामुद्दीन अहमद—कहते हैं कि सैनिकों से पंचमांश की अपेक्षा कहीं अधिक माँगा गया जिसके कारण अशांति फैली। इस अशांति के नेता मुस्लिम मंगोल थे। ऐसा मालूम होता है कि अन्य सैनिक भारतीय परिपाटी से परिचित होने के कारण सहज ही १/५ से अधिक देने को तैयार हो गये। नव-मुस्लिमों ने इस्लामी कानून की दुहाई देकर १/५ से अधिक देने में आनाकानी की। कुछ सर्दार इतने प्रतिष्ठित थे कि उनको उलुग़ खां का समकक्ष कहा जा सकता था। परंतु उनके साथ भी दुर्व्यवहार किया गया। यही असंतोष का कारण हुआ। उन लोगों ने उलुग़ खां और नसरत खां की हत्या करके सभी लूट का सामान हथिया लेने की योजना बनाई। नसरत खां का भाई तथा अलाउद्दीन का एक भाग्नेय जो उलुग़ खां के तम्बू में सोया था मार डाले गये। परंतु इसके पूर्व कि वे लोग नसरत खां के तम्बू के पास पहुँचें, उलुग़ खां वहाँ पहुँच गया और उसने नसरत खां को उपद्रव आरंभ होने की सूचना दी। दोनों ने शीघ्रता से नक्क़ारा बजवा दिया और विद्रोही परास्त होकर भाग निकले। उनके प्राय: सभी नेता बच गये और उन्होंने हिन्दू राजाओं के यहाँ शरण ली। रणथंभौर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के शासक हम्मीर ने मुहम्मदशाह को शरण दी जिसने आगे चलकर उसकी बहुत निष्ठा-पूर्वक सेवा की।

इसके बाद वे लोग दिल्ली पहुँचे। अलाउद्दीन लूट के माल में सुवर्ण और रत्न का विशाल ढेर देखकर बहुत संतुष्ट हुआ। परंतु उनसे भी अधिक आनन्द उसको तब हुआ जब राजा कर्ण की रानी कमला देवी तथा हजारदीनारी दास काफ़ूर भेंट किये गये। सुलतान ने कमलादेवी को राजमहल में एक सम्मानित पद प्रदान किया और उसके साथ विवाह कर लिया। काफ़ूर को उसने अपना प्रेम तथा विश्वास दिया और बाद में उसने सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त किया।

(घ) लूट का सामान

परंतु जिन लोगों ने विद्रोह किया था उनकी स्त्रियों और बच्चों के साथ बहुत बर्बरतापूर्ण व्यवहार किया गया। बच्चे और स्त्रियाँ बंदी बना लिये गये, बच्चों को उनकी माताओं के सामने टुकड़े-टुकड़े कर दिया गया, स्त्रियों को अनेक प्रकार की यातनायें दी गईं और उनको सारी संपत्ति जब्त कर ली गई। बाद में उन्हें भी कत्ल करवा दिया गया। इस दण्ड विधान से सभी लोग थर्रा गये और सुलतान का आतंक बढ़ गया।

(ङ) नूतन दण्ड-विधान

गुजरात की विजय के बाद राजपूताना तीन ओर से घिर गया। अस्तु, यह आशा की जा सकती थी कि उस पर विजय पाना पहले की अपेक्षा सुगम होगा। दूसरे गुजरात पर अधिकार बनाये रखने के लिए उसका दिल्ली से सीधा संबंध स्थापित करना आवश्यक था। इसके लिए राजपूताने पर अधिकार करना अनिवार्य था। तीसरे, राजपूताने में अनेक राजपूत घराने विद्यमान थे जो अपने प्राचीन इतिहास पर गर्व करते थे और जिन्होंने उस समय तक तुर्कों की अधीनता स्वीकार नहीं की थी। अखिल भारतीय साम्राज्य स्थापित करने का निश्चय करने वाला व्यक्ति राजधानी के निकट राजपूत स्वतंत्र रियासतों की उपेक्षा नहीं कर सकता था। अस्तु, राजपूताने की विजय को प्राथमिकता देना आवश्यक हो गया। राजपूताने में उस समय सबसे अधिक शक्तिशाली शासक रणथंभौर का राणा हम्मीर था जो पृथ्वीराज चौहान का वंशज था। यद्यपि रणथंभौर का गढ़ ऐबक और इल्तुतमिश के काल में कुछ समय के लिए तुर्कों के अधिकार में चला गया, परंतु इल्तुतमिश की मृत्यु के बाद चौहानों ने फिर इस पर अपना अधिकार कर लिया और उन्होंने तुर्कों के अनेक हमलों के बावजूद अपनी स्वतंत्रता अक्षुण्ण बनाये रखी। अलाउद्दीन की साम्राज्य-विस्तार की योजना के अंतर्गत रणथंभौर पर कभी न कभी आक्रमण होना अनिवार्य था। परंतु सन् १३०० ई० में ही यह आक्रमण इसलिए हुआ क्योंकि हम्मीर ने भगोड़े मंगोल नेताओं को शरण दी

(२) रणथंभौर (१३००-१३०१ ई०) (क) आक्रमण के कारण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और अलाउद्दीन ने सोचा कि यदि रणथंभौर पर अधिकार हो गया तो शायद दूसरे राजपूतों का उत्साह कुछ कम हो जायगा।

अस्तु, उलुग़ खां और नसरत खां की अधीनता में उस ओर एक सेना भेजी गई। हम्मीर के पास संदेश भेजा गया कि यदि वह मंगोल शरणार्थियों को सुलतान के हवाले करदे अथवा स्वयं उनका वध कर दे तो दिल्ली की सेना वापस चली जायगी। यह शायद एक चाल मात्र थी। राजपूतों के चरित्र से परिचित होने पर तुर्क सेनापति यह आशा नहीं कर सकते थे कि हम्मीर उनका प्रस्ताव मान लेगा। उसके इन्कार करने पर उनको आक्रमण करने का एक बहाना मिल जायगा। यदि राणा भय के मारे उनकी बात मान ले और मंगोलों को दे दे तो उसकी प्रतिष्ठा घट जायगी तथा उसके कुछ सर्दार उससे असंतुष्ट हो जायँगे। उस दशा में हमला करने पर सफलता की संभावना बढ़ जाती। हम्मीर ने शरणागत की रक्षा करने की राजपूत परम्परा का उल्लेख करते हुए कहला भेजा कि वह सुलतान से शत्रुता मोल लेने का इच्छुक नहीं है परंतु वह उस शत्रुता से ऐसा भय भी नहीं खाता कि उसके कारण वह कर्त्तव्य से मुख मोड़कर शरणागतों की हत्या में सहयोग करे। फलत: युद्ध आरंभ हो गया। हम्मीर ने किले के भीतर से रक्षात्मक युद्ध चलाने का निश्चय किया और उलुग़ खां तथा नसरत खां ने तत्परता के साथ घेरा डाला। परंतु कुछ दिन के बाद नसरत खां घायल होकर मर गया और राजपूतों ने तुर्कों की घबड़ाहट से लाभ उठाकर ऐसा जोर का हमला किया कि उलुग़ खां को पीछे हटकर झाईं में शरण लेनी पड़ी।

(ख) युद्ध का आरंभ और नसरत खां की मृत्यु

सुलतान को जब यह सूचना मिली तब वह स्वयं एक सेना लेकर रणथंभौर की ओर बढ़ा। परंतु मार्ग में वह शिकार खेलने के लिए रुक गया। उसी समय उसके भतीजे अकत खां ने उसका वध करके राजगद्दी प्राप्त करने की चेष्टा की। उसने कुछ मंगोल नव-मुस्लिमों को मिलाकर 'शेर, शेर' चिल्लाते हुए सुलतान पर बाण बरसाना आरंभ कर दिया। जिसके कारण वह बेहोश होकर गिर पड़ा। उसके अंगरक्षकों और साथियों में से बहुत से भाग गये परंतु कुछ रुके रहे और उन्होंने सम्राट् को चारों ओर से घेरकर विलाप करना आरंभ कर दिया। अक़त खां उनके करुण क्रन्दन को सुनकर इस भ्रम में पड़ गया कि सुलतान मर गया है। अस्तु, उसने उसका शिर काटना अनावश्यक समझा और छावनी में जाकर उसने सुलतान की मृत्यु का समाचार फैला दिया तथा वहाँ स्वयं गद्दी पर बैठ गया। सभी अमीरों और सर्दारों ने उसका अधिकार स्वीकार कर लिया। परंतु इसी बीच में अलाउद्दीन के अंगरक्षकों ने उसके घावों पर पट्टी बाँध दी और कुछ समय बाद उसे चेत हो

(ग) अक़त खां का षड्यन्त्र

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया। सुलतान ने आदेश दिया कि वे लोग उसे झांईं ले चलें ताकि वह उलुग़ खां की सहायता से विद्रोह का दमन कर सके। परंतु मलिक हमीदुद्दीन ने कहा कि उससे कहीं अच्छा यह होगा कि सुलतान किसी ऊँचे स्थान में खड़ा हो जाय क्योंकि उसके छत्र को देखकर सभी अमीर विद्रोही का साथ छोड़कर उसके पास आ जायँगे। ऐसा ही किया गया। तुरन्त सभी अमीर और सर्दार उसी ओर जाने लगे। इस बीच में अक़त खां भाग गया परंतु वह पकड़ा गया और कत्ल कर दिया गया। सुलतान ने उसके भाई तथा उन सब व्यक्तियों को भी मरवा दिया जिनका इस विद्रोह से किसी प्रकार का संबंध था। उनकी संपत्ति जब्त कर ली गई और उनके परिवार के लोग कारागार में डाल दिये गये।

(घ) उमर और मंगू के विद्रोह

इसके बाद सुलतान रणथंभौर गया। उसके जाने से घेरे में अधिक उग्रता आई परंतु इसका भी कोई परिणाम नहीं हुआ। इसी बीच सुलतान को अपने दो भानजों के विद्रोह की सूचना मिली जो बदायूं और अवध के हाकिम थे। वे दोनों पराजित हुए और बंदी बनाकर रणथंभौर भेजे गये जहाँ उनकी आँखें निकलवा ली गईं।

इन विद्रोहों से कहीं अधिक भयंकर हाजी मौला का षड्यंत्र था। काज़ी अला-उलमुल्क की मृत्यु के बाद हाजी मौला दिल्ली के कोतवाल का पद चाहता था। परंतु सुलतान ने तिरमिज़ी को कोतवाल नियुक्त कर दिया। हाजी मौला को इससे बहुत निराशा हुई और वह सुलतान से असंतुष्ट हो गया। जब

(ङ) हाजी मौला द्वारा दिल्ली पर अधिकार

उसने सुना कि रणथंभौर में राजपूतों के उत्कट विरोध के कारण सैनिकों में निराशा फैल रही है और सुलतान के विरोध के कारण उनको वहाँ से जीवित लौटने की आशा नहीं रह गई है तब उसने सोचा कि यदि वह षड्यंत्र करे तो अनेक लोग उसका साथ देंगे। वह काजी फ़ख्रुद्दीन के परिवार से संबंधित था और उस परिवार का प्रभाव दिल्ली-वासियों पर बहुत अधिक था। नये कोतवाल की सख्ती के कारण अनेक लोग उससे असंतुष्ट भी थे। बहुत से लोग ऐसे भी थे जो अब भी इलबरी वंश के प्रति सद्भाव रखते थे। इन बातों का ध्यान रखते हुए हाजी मौला ने अपना कार्यक्रम स्थिर किया। उसने तिरमिज़ी को धोका देकर मार डाला, एक इल्तुतमिश के वंशज को सुलतान घोषित कर दिया, राजकोष पर अधिकार करके अनेक लोगों को रुपया देकर अपनी ओर मिला लिया और स्वयं शासन का सर्वेसर्वा बन बैठा। अला-उद्दीन ने उलुग़ खां को यह विद्रोह दबाने के लिए भेजा। परंतु उसके पहुँचने के पूर्व ही हमीदुद्दीन ने विद्रोह शांत कर दिया था और हाजी मौला तथा नामधारी सुल-तान का वध किया जा चुका था। अलाउद्दीन की नूतन परिपाटी के अनुसार सभी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्रोहियों तथा उनके संबंधियों और समर्थकों की हत्या कर दी गई और उनकी सारी संपत्ति राजकोष में जमा कर दी गई। इस भांति राजधानी पर फिर खिलजी सुलतान का अधिकार हो गया।

रणथंभौर का घेरा बराबर चल रहा था। राजपूतों ने बड़ी धीरता से इतने दिन तक युद्ध चलाया था। परंतु अलाउद्दीन ने जब इन षड्यन्त्रों और संकटों के बाद भी घेरा उठाने का नाम नहीं लिया तब राजपूतों की हिम्मत टूटने लगी। दूसरे, किले के भीतर की युद्ध-सामग्री भी समाप्त होने लगी और अलाउद्दीन की चौकसी के कारण बाहर से सहायता मिलना दुर्लभ था। अस्तु, हम्मीर ने संधि की बात चलाई। उसने रणमल को इस कार्य के लिए सुलतान के पास भेजा। अलाउद्दीन ने उसे रुपये और पद का लालच देकर अपनी ओर मिला लिया और उसे लिखित आश्वासन दिया कि हम्मीर के जो सामंत अथवा सैनिक उसकी सेना में आयेंगे उनको क्षमा कर दिया जायगा। रणमल के प्रभाव से रतनपाल तथा उनके कुछ मित्र विश्वासघात करके अलाउद्दीन से मिल गये। इस घटना का राजपूतों पर और भी बुरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने 'जौहर' किया और राणा हम्मीर तथा उसके वंश के सभी लोग वीर-गति को प्राप्त हुए। इस भांति सन् १३०१ ई० में अलाउद्दीन का रणथंभौर पर अधिकार हो गया और उसने उलुग़ खां को वहाँ का शासक नियुक्त किया। रणमल तथा उसके साथियों के विश्वासघात से पूर्ण लाभ उठा लेने के बाद सुलतान ने उन सब का वध करा दिया क्योंकि उसने कहा कि जो व्यक्ति अपने स्वामी को इस प्रकार धोका दे सकता है वह विश्वास करने योग्य नहीं है।

(च) रणमल का विश्वासघात और हम्मीर की पराजय

रणथंभौर की विजय के बाद सुलतान ने मेवाड़ पर आक्रमण किया। वहाँ का राजवंश राजपूताने में बहुत सम्मानित था। चित्तौड़ का गढ़ पहाड़ी के ऊपर स्थित होने के कारण बहुत ही दुर्भेद्य था। परंतु दिल्ली और गुजरात को मिलानेवाले मार्गपर पड़नेके कारण इसे जीतना भी अत्यावश्यक था। अलाउद्दीन ने चित्तौड़-विजय के लिए भेजी जाने वाली सेना का स्वयं नेतृत्व किया। फिर भी लगभग ८ महीने के घेरे के बाद गढ़ पर अधिकार हो सका। राणा रत्नसिंह ने बहुत वीरता से सामना किया और जब रक्षा की कोई आशा न रही तो वह जौहर करने पर बाध्य हुआ। युद्ध-क्षेत्र में ही उसकी मृत्यु हो गई। अलाउद्दीन इस उग्र प्रतिरोध से इतना रुष्ट हुआ कि उसने शांतिमय जनता में से तीस हजार व्यक्तियों की हत्या करके अपना क्रोध शांत किया। चित्तौड़ का शासन राजकुमार खिज्र खां को सौंप दिया गया और उसके नाम का अनुकरण करके चित्तौड़ का नाम खिज्राबाद रख दिया गया। इसी समय खिज्र खां को युवराज घोषित किया गया।

(३) चित्तौड़ (१३०२-०३ ई०)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रणथंभौर और चित्तौड़ की विजय का राजपूताने की अन्य रियासतों पर यह प्रभाव पड़ा कि वे स्वेच्छा से ही अलाउद्दीन के अधीन हो गयीं और प्रतिवर्ष कर भेजने लगीं। अस्तु, अलाउद्दीन ने मालवा और मध्यभारत की विजय के लिए ऐनुल्मुल्क मुलतानी को दस हजार चुने हुए सवारों के साथ भेजा। पहले उसे मालवा-नरेश महलकदेव के विरोध का सामना करना पड़ा। महलकदेव का सेनापति उसी का भाई कोका प्रधान था जो युद्ध तथा कूटनीति दोनों का ही अच्छा अनुभव रखता था। मालवा की सेना में चालीस हजार घुड़सवार और एक लाख पैदल थे। फिर भी विजय ऐनुल्मुल्क की ही हुई। कुछ काल के बाद उसने माण्डू, धारानगरी, उज्जैन तथा चंदेरी पर भी अधिकार कर लिया और सुलतान ने उसी को वहाँ का शासक नियुक्त कर दिया।

(४) मालवा और मध्यभारत (१३०५-६ ई०)

मालवा की विजय के बाद अलाउद्दीन ने सिवाना के राजा शीतलदेव पर आक्रमण किया। सुलतान स्वयं ही इस आक्रमण के समय प्रधान सेनापति था। राजपूतों ने कई महीने तक सफलतापूर्वक रक्षात्मक युद्ध जारी रखा परंतु अंत में उनको हार माननी पड़ी और सिवाना का अधिकांश भाग दिल्ली के सुलतान के अधिकार में आ गया। मलिक कमालुद्दीन वहाँ का शासक नियुक्त किया गया।

(५) सिवाना (१३०८ ई०)

इसके बाद अलाउद्दीन ने उत्तर भारत में केवल एक और विजय प्राप्त की। जालौर का राजा कान्हरदेव चौहानवंशी राजपूत था। उसने पहले अलाउद्दीन की अधीनता स्वीकार कर ली थी। संभवतः यह घटना १३०४ ई० के लगभग घटी। परंतु आंतरिक शासन में कान्हरदेव प्रायः स्वतंत्र रहा और उसने सुलतान के प्रति विशेष श्रद्धा का भाव नहीं रखा। शायद इसी से चिढ़कर अलाउद्दीन ने १३११ ई० में उसके विरुद्ध एक सेना भेजी। पहले शाही सेना की कई स्थानों में पराजय हुई परंतु बाद में और कुमक आने पर उसको सफलता मिल गई और जालौर पर भी सुलतान का अधिकार हो गया। संभवतः इस विजय में भी विश्वासघात से सहायता मिली क्योंकि सुलतान ने कान्हरदेव के भाई मालदेव को जालौर-युद्ध के समय की गई सेवाओं के उपलक्ष में चित्तौड़ का शासक नियुक्त किया था।

(६) जालौर (१३११ ई०)

इस भांति उत्तर भारत की विजय संपन्न हुई। परंतु यह विजय स्थायी नहीं हुई। अलाउद्दीन के अंतिम वर्षों में राजपूताने में विद्रोह की आग भड़क उठी और राजपूतों ने अनेक स्थानों में फिर स्वतंत्रता प्राप्त कर ली। राजपूतों ने बारहवीं शताब्दी की पराजयों से कुछ भी नहीं सीखा और वे दिल्ली के सुलतान के विरुद्ध कोई संयुक्त मोर्चा नहीं बना

(७) उत्तर भारत की विजय का स्वरूप

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सके। उनके संगठन के अन्य दोषों की ओर एक अन्य अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। वे दोष इस समय भी विद्यमान थे और प्रधानतः उन्हीं के कारण उनकी पराजय हुई।

उत्तर भारत की विजय समाप्त होते-होते अलाउद्दीन ने दक्षिण भारत पर भी आक्रमण आरंभ कर दिये। उस समय दक्षिण-भारत में चार प्रमुख राज्य थे।

दक्षिण-विजय

विन्ध्यपर्वतमाला के दक्षिण वर्तमान महाराष्ट्र प्रदेश में यादवोंका राज्य था। उनकी राजधानी देवगिरि थी। यादवों ने कृष्णा नदी तक का समस्त भाग अपने अधीन कर लिया था। उन्होंने अपने पड़ोसी राज्यों से युद्ध और संधि द्वारा अपना प्रभाव बहुत बढ़ा लिया था। पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि वहाँ का राजा रामचंद्रदेव अपने धन और यश के कारण उत्तर भारत तक विख्यात था। यादवों का दक्षिण-पूर्व की ओर का पड़ोसी राज्य तेलंगाना था जहाँ काकतीय वंश के नरेश शासन करते थे। उनकी राजधानी वारंगल थी और तत्कालीन शासक प्रतापरुद्र द्वितीय यादव राजकुमारी रुद्रम्बा देवी का नाती (कन्या का पुत्र) था। वारंगल दक्षिण भारत का एक सुप्रसिद्ध नगर था और विदेशी व्यापार के कारण काकतीय शासकों के राज-कोष में भी सुवर्ण और रत्न का एक विशाल भण्डार एकत्रित हो गया था। देवगिरि के दक्षिण एवं तेलंगाना के दक्षिण-पश्चिम तथा पश्चिम की ओर हौयसल वंश का राज्य था जिसकी राजधानी द्वारसमुद्र थी। हौयसल नरेश उत्तर में यादवों से और दक्षिण में चोलों से प्रायः युद्ध करते रहते थे। अलाउद्दीन ने जिस समय दक्षिण-विजय के लिए एक सेना भेजी उस समय द्वारसमुद्र में वीर बल्लाल तृतीय शासन कर रहा था। सुदूर दक्षिण में पाण्ड्यों का राज्य था जिनकी राजधानी मदुरा थी। अलाउद्दीन का समकालीन कुलशेखर बहुत योग्य एवं प्रभावशाली शासक था। परंतु उसका स्नेह उस पुत्र के प्रति अधिक था जिसकी माता से उसका विधिवत विवाह नहीं हुआ था। यह बात उसके दूसरे पुत्र सुन्दर पाण्ड्य को इतनी बुरी लगी कि उसने १३१० ई० में अपने पिता का वध कर दिया और बलपूर्वक राज्य पर अधिकार करना चाहा। इसी गृहयुद्ध के समय तुर्कों ने मदुरा पर आक्रमण किया।

(क) अलाउद्दीन के समय में दक्षिण की दशा

उत्तर भारत के राज्यों के समान दक्षिणी राज्य भी पारस्परिक कलह में फँसे हुए थे और उन्होंने भी सीमाओं की रक्षा की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया था। अस्तु, उन पर आक्रमण करना सुगम था। प्रत्येक राज्य में विदेशी व्यापारियों से प्राप्त धन के कारण राजकोष में बहुत धन इकट्ठा हो गया था। साथ ही व्यापारी और उच्चकोटि के कारीगर भी खूब समृद्ध थे तथा धार्मिक भावना के प्रबल होने के कारण दक्षिण के मंदिरों में भी प्रचुर संपत्ति एकत्रित हो गई थी। मार्कोपोलो,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब्दुर्रज्जाक एवं अन्य विदेशी यात्रियों ने दक्षिण भारत में सुवर्ण और रत्नों की प्रचुरता का उल्लेख किया है। समकालीन मुस्लिम इतिहासकारों ने भी इसका समर्थन किया है। अस्तु, उत्तर भारत के प्रबल शासकों के मन में दक्षिण-विजय की कामना का उत्पन्न होना स्वाभाविक था।

अलाउद्दीन जैसे महत्वाकांक्षी साम्राज्यवादी के लिए दक्षिण पर आक्रमण करने के लिए यही पर्याप्त था कि वहाँ के राज्य आपसी कलह के कारण दुर्बल हो रहे थे।

(ख) दक्षिण पर आक्रमण के कारण

परंतु जब उसे यह पता चला कि वहाँ से अतुल संपत्ति भी प्राप्त की जा सकती है तब उसकी दक्षिण-विजय की इच्छा और भी प्रबल हो गई। अरक्षित सीमाओं की सूचना मिलने पर उसका साहस और भी बढ़ गया। परंतु इन सामान्य कारणों के अतिरिक्त १३०७-१३०८ ई० में अलाउद्दीन के आक्रमण के कई अन्य विशिष्ट कारण भी थे। उसकी सेना में ४,७५,००० सैनिक थे। इनके लिए यदि कुछ काम न रहता तो वह देश के भीतर ही उपद्रव करने लगते। उत्तर भारत की विजय उस समय तक प्रायः समाप्त हो चुकी थी। मंगोलों के आक्रमण भी बंद हो रहे थे। ऐसी दशा में सेना को कार्यरत रखने का उपाय यही था कि उसे दक्षिण-विजय के लिए भेजा जाय। दूसरे, अलाउद्दीन जानता था कि दक्षिण में धन बहुत है और उसे अपनी विशाल सेना तथा खर्चीले शासन-यंत्र के लिए धन की आवश्यकता थी। तीसरे, अलाउद्दीन है १३०२ ई० में जो सेना बंगाल और वारंगल की विजय के लिए भेजी थी वह पूर्णतया असमर्थ रही थी। इससे सुलतान की प्रतिष्ठा में काफी धक्का लगा था। नूतन प्रयास द्वारा वह उस अपयश की कालिमा को धो देना चाहता था। चौथे, गुजरात का शासक कर्ण बघेला देवगिरि में निवास कर रहा था और उसकी भूत-पूर्व पत्नी कमलादेवी अपनी पुत्री देवलदेवी से मिलने के लिए व्यग्र थी। पाँचवें, राजा रामचंद्रदेव ने कुछ वर्षों से वार्षिक कर भेजना बंद कर दिया था। इस अवहेलना का दण्ड देकर उसे फिर से करद राजा बनाना था। आक्रमण करने के लिए यह उपयुक्त बहाना भी था।

अस्तु, सन १३०७ ई० में अलाउद्दीन ने मलिक काफूर को ३०,००० घुड़सवारों के साथ रामचंद्र के विरुद्ध भेजा। मालवा से ऐनुल्मुल्क मुलतानी और गुजरात से

(ग) देवगिरि पर आक्रमण (१३०७-८ ई०)

अलप खां भी उसके साथ सहयोग करने के लिए आये। पहले अलप खां ने राजा कर्ण के ऊपर आक्रमण किया। कर्ण फिर पराजित हुआ और उसने देवलदेवी को तुर्कों के हाथों से बचाने के लिए उसे रामचन्द्र के बड़े बेटे सिंघन के साथ विवाह के उद्देश्य से भेज दिया। परंतु संयोग से वह अलप खां के सैनिकों के हाथ में पड़ गई और अलप खां ने उसे सुलतान के पास भेज दिया, जहाँ थोड़े दिन के पश्चात उसका

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवाह खिज्र खां से कर दिया गया। काफ़ूर ने देवगिरि की ओर द्रुतगति से कूच किया रामचंद्र एक बार फिर पराजित हुआ और काफ़ूर ने उसे सुलतान के पास भेज दिया।

साधारणतः अलाउद्दीन विद्रोहियों के साथ बहुत कठोरता का व्यवहार करता था। परंतु उसने रामचंद्रदेव के साथ बड़ी उदारता का व्यवहार किया। उसे ६ मास तक राजधानी में आदर-पूर्वक रखा, उसे रायरायान की उपाधि तथा गुजरात में नवसारी की जागीर दी और उसे एक लाख सुवर्ण टंक भेंट में दिया। इस उदारता का मूल कारण यह था कि अलाउद्दीन दक्षिण के अन्य राज्यों की संचित सम्पत्ति भी प्राप्त करने का इच्छुक था। वह चाहता था कि उसे कोई स्थानीय सहायक मिल जाय क्योंकि उसके द्वारा वहाँ की भौगोलिक सूचना तथा रसद आदि का सामान प्राप्त करने में बहुत सुविधा होगी। उसने देख लिया था कि रामचंद्र बहुत उग्र स्वभाव का नहीं था। सुलतान उदारता द्वारा उसे पूर्णरूपेण अपना सहायक एवं सेवक बनाना चाहता था। अस्तु इस उदारता का कारण था राजनैतिक सुविधा। कुछ इतिहास-कारों ने यह मत व्यक्त किया है कि संभव है उसके मन में रामचंद्र के प्रति इस कारण भी सद्भाव रहा हो क्योंकि उसी से प्राप्त धन द्वारा उसने दिल्ली का साम्रा-ज्य प्राप्त किया था। परंतु, अलाउद्दीन के जीवन में कृतज्ञता का भाव इसके अति-रिक्त और कभी प्रकट होने का प्रमाण नहीं मिलता। इसामी, वस्साफ़ और हाजी उद्बीर ने लिखा है कि सुल्तान ने रामचंद्र की कन्या से विवाह भी किया था और उसी के पुत्र शहाबुद्दीन उमर को उसने अपनी मृत्यु के पूर्व अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था। अलाउद्दीन के समय में राजपूतनियों से शाही परिवार के अन्य विवाह भी हुए थे परंतु यही विवाह-संबंध दोनों दलों की सम्मति से हुआ था। संभवतः सुलतान ने अपने श्वसुर की प्रतिष्ठा बढ़ाने के उद्देश्य से उसके साथ इतना अच्छा व्यवहार किया और उसे भारतीय 'राजाओं का राजा' घोषित किया। परंतु, इतना सब होते हुए भी अलाउद्दीन के जीवन की अन्य घटनाओं और उसकी नीति को ध्यान में रखते हुए यही प्रतीत होता है कि ऊपरी दृष्टि से चाहे जो कुछ कहा या किया गया हो परंतु वास्तविक कारण था दक्षिण-विजय में सुविधा प्राप्त करना, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। रामचंद्रदेव सुलतान की इस उदारता से बहुत प्रसन्न हुआ और जैसा कि इतिहासकार बर्नी ने लिखा है उसने जीवन-पर्यन्त फिर कभी सुलतान का विरोध नहीं किया वरन् बड़ी तत्परता के साथ उसके आदेशों का पालन किया और ठीक समय पर वार्षिक कर भेजता रहा।

(घ) रामचंद्र से संधि

सेना को थोड़ा विश्राम देने के पश्चात अलाउद्दीन ने उसे फिर दक्षिण की ओर रवाना किया। मलिक काफ़ूर के साथ आरिज़-ए-मुमालिक सिराजुद्दीन तथा कई

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्य अमीर भी भेजे गये। पिछले आक्रमण के संबंध में शायद सुलतान के पास काफ़ूर की अत्यधिक सख़्ती के विरुद्ध शिकायत की गई थी।

(ङ) वारंगल पर चढ़ाई (१३०९-१० ई०)

इसी कारण सुलतान ने उसको इस बार सैन्य-संचालन, अनुशासन संधि आदि के विषय में विस्तारित आदेश दिये। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सुलतान चाहता था कि काफ़ूर का उद्देश्य होना चाहिए प्रतापरुद्रदेव की संपत्ति प्राप्त करना और सेनापतियों तथा सैनिकों के साथ ऐसा व्यवहार करना जिससे वे उसके विरुद्ध कोई प्रदर्शन या विद्रोह न करें परंतु साधारण अनुशासन के भीतर रहें। अलाउद्दीन इस कारण भी विशेष संतर्क था क्योंकि जो सेना जूना खां की अध्यक्षता में १३०२ ई० में भेजी गई थी वह वारंगल-विजय में सफल नहीं हुई थी। यदि सुलतान की सेना एक बार फिर असफल होती तो उसकी प्रतिष्ठा को बहुत बड़ा धक्का लगता।

(च) रामचंद्रदेव द्वारा सहायता

अलाउद्दीन के निर्देशों का पालन करते हुए काफ़ूर देवगिरि पहुँचा। वहाँ राजा रामचंद्र ने उसकी आवभगत की और उसकी कई प्रकार से सहायता की। उसने कुछ चुने हुए सैनिक साथ कर दिये जो स्थानीय मार्गों से परिचित थे। उसने कुछ लोग ऐसे भी साथ कर दिये जिनको तेलंगाना के मार्गों का विशेष रूप से विशद ज्ञान था। सैनिकों की सुविधा और दिल्ली तथा देवगिरि के संबंधों को ठीक बनाये रखने के उद्देश्य से उसने मार्ग में स्थान-स्थान पर बाजार खुलवा दिये जहाँ सैनिकों की आवश्यकता की सभी सामग्री उचित मूल्य पर मिल सकती थी। उसने सेना के विश्राम और रसद आदि के विषय में भी पूरी व्यवस्था कर दी। इस भांति अलाउद्दीन की उदारता की दूरदर्शिता का प्रमाण मिल गया और काफूर का कार्य अपेक्षाकृत बहुत सुगम हो गया।

(छ) वारंगल का घेरा और संधि

काफूर ने वारंगल के मार्ग में जो बाधायें मिलीं उनका निवारण करते हुए राजधानी का घेरा डाला। प्रतापरुद्रदेव ने बड़ी वीरता से सामना किया और घेरा कई मास तक चलता रहा। प्रतापरुद्रदेव ने एक ओर दुर्ग के भीतर से रक्षात्मक युद्ध चलाया और दूसरी ओर एक छापामार दल संगठित किया जो तुर्कों पर धोखा देकर हमला करता था तथा उनके रसद के मार्ग को काटने और उनका भण्डार लूटने या नष्ट करने की चेष्टा करता था। इस दल को एक बार के आक्रमण में काफी सफलता मिली। परंतु मलिक काफूर तथा उसके सहयोगियों ने पहरे का इतना सुन्दर प्रबन्ध किया कि वह भविष्य में धोखा नहीं दे सके। कुछ दिन के लिए उन्होंने हरकारों को इतना परेशान किया कि दिल्ली समाचार आना-जाना बंद हो गया और अलाउद्दीन अपनी सेना के विषय में बहुत चिन्तित हो उठा। परंतु

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक मास की बाधा के बाद फिर मार्ग निष्कण्टक हो गया। दूसरी ओर प्रतापरुद्र-देव के सफल नेतृत्व के कारण वारंगल पर अधिकार करना असंभव प्रतीत होने लगा। प्रतापरुद्रदेव को भी जब यह पता चला कि तुर्क केवल धन लेकर लौट जाने को तैयार हैं तो उसने अपनी प्रजा के कष्टों का अंत करने की दृष्टि से धन देना स्वीकार कर लिया। स्पष्ट लिखा नहीं मिलता कि प्रतापरुद्रदेव ने कितना धन दिया। वर्नी लिखता है कि उसने १०० हाथी, ७,००० घोड़े और बहुत सा सोना-चाँदी तथा अनेक बहुमूल्य रत्न दिये। संभवतः उन्हीं में कोहनूर नामक हीरा भी था। वर्नी यह भी लिखता है कि काफूर ने उसे अपने पूर्वजों की सारी संपत्ति देने पर विवश किया। परंतु यह बात ठीक नहीं प्रतीत होती क्योंकि काफ़ूर न दुर्ग को जीत सका और न प्रतापरुद्रदेव उससे मिलने ही आया। तीसरे, वर्नी स्वयं लिखता है कि राजा ने उतना ही धन प्रति वर्ष भेजने का भी वादा किया। इससे स्पष्ट है कि जो रुपया राजा ने दिया वह उसकी वार्षिक आय से कम रहा होगा अन्यथा वह उसे प्रति-वर्ष देने का वादा कैसे पूरा कर सकता था। वर्नी ने जिस १००० ऊँटों पर लदे सामान का उल्लेख किया है वह शायद अधिकांशतः लूट का सामान था। फिर भी जो धन प्राप्त हुआ उससे सुलतान बहुत प्रसन्न हुआ और वार्षिक कर देने के वादे के कारण सुलतान की प्रतिष्ठा भी बढ़ गई। इसलिए काफूर के लौटने पर कई दिन तक खूब आनन्द मनाया गया और सुलतान ने उसका बहुत आदर किया।

(ज) द्वारसमुद्र पर आक्रमण (१३१०-१३११)

अलाउद्दीन ने तीसरी बार मलिक काफ़ूर को द्वारसमुद्र पर आक्रमण करने के लिए भेजा। मलिक काफूर देवगिरि के मार्ग से गया। फरवरी १३११ में वह देव-गिरि पहुँचा। राजा रामचंद्रदेव ने इस बार फिर काफ़ूर की बहुत सहायता की। उसने सभी आवश्यक वस्तुओं के क्रय-विक्रय की सुविधा कर दी। उसने अपने कर्मचारियों को आदेश दिया कि वे मुसलमान सैनिकों से किसी प्रकार का झगड़ा-फ़साद न करें। काफूर ने भी मुसलमान सैनिकों को नियंत्रण में रखा जिससे वे लोग शांतिपूर्वक यादव राज्य में होकर द्वारसमुद्र की ओर बढ़ सकें। यादव राज्य के दक्षिण सीमान्त के अधिकारियों ने काफ़ूर को मार्गादि के विषय में बहुत उपयोगी सूचनायें दीं। इस भांति मलिक काफूर को इस बार भी बहुत सुविधा रही। होयसल सम्राट वीर बल्लाल तृतीय पाण्ड्य राज्य के गृहयुद्ध में वीर पाण्ड्य की सहायता करने दक्षिण की ओर गया था। उसी समय काफूर का आक्रमण हुआ। वीर बल्लाल शीघ्रता से लौट आया और उसने सम्मान की रक्षा के हेतु कुछ छिट-पुट युद्ध भी किया। परंतु उसे विश्वास नहीं था कि जिसे देवगिरि और वारंगल के शासक नहीं हरा सके उसे वह पराजित कर सकेगा। अस्तु, उसने वार्षिक कर देने के वादे पर संधि कर ली। काफ़ूर की दक्षिण भारत में यह तीसरी विजय थी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इससे उसका हौसला और भी बढ़ गया।

काफ़ूर ने सुना कि पाण्डयवंशी राजकुमारों में सिंहासन के लिए गृहयुद्ध चल रहा है। अस्तु, उसने उनको पराजित करने का इसे सबसे उपयुक्त अवसर समझा।

(ञ) मावर (१३११ ई०)

उसने वीर वल्लाल को मावर का मार्ग दिखाने के लिए साथ ले लिया। मुसलमान इतिहासकार पाण्ड्य राज्य को ही मावर कहते थे। काफ़ूर ने सुन्दर पाण्ड्य का पक्ष लेकर आक्रमण किया। वीर पाण्ड्य को पकड़ने के लिए काफ़ूर ने बहुत उद्योग किया परंतु महीनों की दौड़-धूप के बाद भी वह उसके छिपने के स्थान का पता न लगा सका। अस्तु, हार कर वह दिल्ली लौट आया। वीर बल्लाल तृतीय ने काफ़ूर के साथ रहकर बहुत सहायता की थी। काफ़ूर शायद उसको इसका कुछ पारितोषिक दिलाना चाहता था। इसलिए वह उसे भी दिल्ली ले गया। काफ़ूर का मावर पर आक्रमण एक दृष्टि से सफल नहीं हुआ क्योंकि वह वीर पाण्ड्य को पराजित नहीं कर सका और न उसके ऊपर कोई शर्तें लाद सका। परंतु धन-प्राप्ति की दृष्टि से यह आक्रमण अत्यधिक सफल हुआ। काफ़ूर ने वीर पाण्ड्य का पीछा करने के सिल-सिले में प्रायः सारे राज्य का चक्कर लगा डाला। जब वह पलायनकारी राजा को पकड़ न पाता तब वह स्थानीय मंदिरों को लूटकर और मूर्तियों को भंग करके अपना रोष शांत करता था। इस भांति उसके पास अपार संपत्ति इकट्ठी हो गई थी। अमीर खुसरो लिखता है कि मलिक काफ़ूर ५१२ हाथी, ७,००० घोड़े, ५०० मन भिन्न-भिन्न प्रकार के रत्न तथा अनेक अन्य सामग्री साथ ले गया।

अलाउद्दीन ने काफ़ूर तथा अन्य सेनापतियों का खुले दरबार में अभिनंदन किया और वीर बल्लाल के साथ वैसी ही उदारता का व्यवहार किया जैसा कि उसने राम-चंद्र के साथ किया था। वीर बल्लाल प्रसन्न मन वापस गया।

सन् १३१२ में रामचंद्रदेव की मृत्यु हो गई और उसके बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र सिंघनदेव राजा हुआ। वह तुर्कों की अधीनता का कठोर विरोधी था। देवलरानी के छिन जाने से उसे अलाउद्दीन से व्यक्तिगत द्वेष था। अस्तु, उसने गद्दी पर बैठते ही तुर्कों की अधीनता के लक्षण समाप्त कर दिये और वह एक स्वतंत्र शासक के समान शासन करने लगा। प्रायः उसी समय यह भी अनुभव किया गया कि दक्षिण के अन्य राज्यों से वार्षिक कर वसूल करने के लिए किसी को वहाँ भेजना चाहिए।

(ड़ा) देवगिरि पर तृतीय आक्रमण (१३१२ ई०)

मलिक काफ़ूर को ही फिर यह कार्य सौंपा गया। उसने सिंघन को पराजित कर दिया और संभवतः इसी युद्ध में सिंघन की मृत्यु हो गई। इसके बाद काफूर ने देवगिरि में रहकर स्वयं वहाँ शासन करने का विचार किया। उसने तेलंगाना और हौयसल राज्यों का भी कुछ भाग अपने सीधे शासन में ले लिया। मलिक काफ़ूर की इच्छा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थी कि वह दिल्ली न जाकर दक्षिण में ही ठहर जाय और अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद वहाँ स्वतंत्र शासन स्थापित कर ले। इसका प्रधान कारण यह था कि मलका जहाँ और राजकुमार खिज्र खां से उसका मनमुटाव हो गया था और वह जानता था कि अलाउद्दीन के बाद जब खिज्र खां शासक होगा तब उसकी जान बचना कठिन होगा। परंतु अलाउद्दीन ने उसके मंसूबे तोड़ दिये और उसको आदेश भेजा कि वह देवगिरि का शासन प्राचीन राजवंश के किसी व्यक्ति को सौंप कर तुरंत दिल्ली चला आये। अस्तु १३१४ ई० में उसे हरपालदेव को देवगिरि का शासन सौंप कर वापस चला जाना पड़ा।

अलाउद्दीन की दक्षिण नीति की समीक्षा

अलाउद्दीन पहला मुसलमान शासक है जिसने दक्षिण-विजय की चेष्टा की। उसने जब सर्वप्रथम १२९६ में देवगिरि पर आक्रमण किया था तब उसका उद्देश्य केवल धन प्राप्त करने का था। यह धन उसे अन्यत्र भी मिल सकता था। परंतु जिस परिमाण में और जितनी सुविधा के साथ दक्षिण से धन मिलना संभव था उतना उत्तर भारत में कहीं भी मिलना दुर्लभ था क्योंकि दक्षिण भारत के राजवंश जो धन एकत्रित कर रहे थे उसमें केवल वृद्धि ही होती रही थी। पाण्डय राज्य के विषय में मार्को पोलो लिखता है, "जब राजा की मृत्यु होती है तब उसकी संतति में से कोई भी उसके राजकोष में से कुछ भी लेने का साहस नहीं करता क्योंकि वे कहते हैं कि जिस प्रकार हमारे पिता ने इतनी संपत्ति एकत्रित की है उसी भांति हमें भी उतनी ही संपत्ति एकत्रित करनी चाहिए। फलतः राजकोष में उत्तरोत्तर वृद्धि के कारण विपुल संपत्ति एकत्रित हो गई है।" थोड़े हेर-फेर के साथ यही दशा प्रायः सभी अन्य राज्यों की भी थी। दक्षिण के मंदिर भी सदियों से धन बटोर रहे थे। अस्तु, अलाउद्दीन को अपेक्षित धन एक स्थान से ही प्राप्त हो सकता था। इसी कारण उसने मार्ग के कष्ट तथा सुलतान के असंतोष की उपेक्षा करके दक्षिण जाने का संकल्प किया था। वहाँ जाने पर अलाउद्दीन को अनुभव हुआ कि दक्षिणी राज्यों में उससे कहीं अधिक धन है जितना कि उसने समझा था। व्यक्तिगत अनुभव से उसे उनकी आपेक्षिक सैनिक दुर्बलता का भी पता चल गया था। इसलिए जब निरंतर युद्धों के कारण उसे धन की कमी प्रतीत हुई तब उसने १३०२ ई० में फिर एक सेना दक्षिण भेजी। परंतु वह रसद की कमी और सेनापतियों में पूर्ण एकमत न होने के कारण असफल हो गई। सन १३०७ से १३१३ ई० तक उसने काफ़ूर को चार बार दक्षिण विजय के लिए भेजा। परंतु उसमें ऐसी उत्तम सूझ-बूझ थी कि उसने पहले से ही समझ लिया कि दक्षिण में क्या करना संभव है और क्या नहीं। साथ ही उसने यह भी समझ लिया कि उद्देश्य-प्राप्ति के लिए किन साधनों का अवलंबन करना सर्वाधिक उपयुक्त है। इन्हीं सब

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारणों से उसको दक्षिण में इतनी सफलता मिली।

अलाउद्दीन ने उत्तर भारत के अधिकांश भाग को अपने सीधे शासन में ले लिया था। अस्तु, वह अनुभव कर चुका था कि नव-विजित भागों की जनता के विरोध के कारण किस प्रकार का संकट उठाना पड़ता है। दक्षिण के राज्य दिल्ली से बहुत दूर भी थे। इसलिए उसने उनके राजवंशों को समाप्त करके अपना सीधा शासन स्थापित करने की चेष्टा नहीं की। उसने केवल वहाँ पर अपना आधिपत्य जमाना चाहा जिससे उसकी प्रतिष्ठा में वृद्धि हो और वह वहाँ के संचित धन का अधिकांश भाग प्राप्त कर सके। वह यह भी जानता था कि केवल लूट के उद्देश्य से किये हुए आक्रमण में जो सुविधा है वह राज्यों को जीतने में नहीं है। उसके लिए बहुत अथक परिश्रम करना पड़ेगा और तब भी पूरी सफलता मिल सकेगी, इसमें संदेह था। इसलिए उसने प्रत्येक बार काफ़ूर को स्पष्ट निर्देश दिया कि दक्षिण के राजाओं को विशेष अपमानित किये बिना उनको धमका अथवा हराकर उनकी संपत्ति छीन लेनी चाहिए और उनको भविष्य में कर देने पर बाध्य करना चाहिए। काफ़ूर ने १३१३ ई० में इस नीति के विरुद्ध सिंघन को हटाकर सुलतान का सीधा शासन स्थापित करना चाहा था। परंतु सुलतान ने उसको दिल्ली वापस बुला लिया और देवगिरि में रामचंद्र के संबंधी हरपालदेव को शासनाधिकार सौंप दिया गया। इससे पूर्णरूप से स्पष्ट हो जाता है कि अलाउद्दीन दक्षिण के राज्यों को साम्राज्य में मिलाने का निश्चित विरोधी था।

दक्षिण से बराबर धन पाते रहने तथा वहाँ के राजाओं को वश में करने और रखने के लिए उसने उनके साथ सौजन्यता तथा उदारता का व्यवहार किया। उसने रामचंद्रदेव को धन, पदवी, जागीर और सम्मान से ऐसा वशीभूत कर लिया कि उसने कभी दिल्ली के सुलतान से बिगाड़ नहीं किया और उसे दक्षिण-विजय में बहुत सहायता दी। सुलतान भी उससे इतना प्रसन्न था कि उसने १३१२ ई० में उसे राजकुमार खिज्र खां के विवाह में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित किया था। इसी भांति उसने वीर बल्लाल तृतीय को भी भेंट तथा सम्मान देकर संतुष्ट किया। वीर बल्लाल की सहायता से माबर-विजय में किस प्रकार सुविधा हुई थी, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

काफ़ूर पर सुलतान का पूरा विश्वास था। इसी से उसने उसी को प्रधान सेनापति बनाकर भेजा। पश्चिमोत्तर सीमा के युद्धों में काफ़ूर ने अपने साहस तथा शौर्य का पर्याप्त परिचय दिया था। वस्साफ़ लिखता है कि काफ़ूर की दक्षिण-विजय ने महमूद गजनवी की उत्तर भारत की विजयों को भी मात कर दिया। परंतु यह स्मरण रखने योग्य है कि काफ़ूर को दक्षिण में जो सफलता मिली उसके लिए बहुत कुछ श्रेय अलाउद्दीन की दूरदर्शितापूर्ण नीति को है। उसे रामचंद्र और वीर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बल्लाल से जैसी सहायता मिली वैसी महमूद को भारतीय नरेशों से नहीं मिली थी। महमूद ने जिस राज्य में प्रवेश किया उसे स्वेच्छापूर्वक लूटा और वह जिस राजा के पीछे पड़ा उसे परास्त करके ही शांत हुआ। परंतु काफ़ूर लाख चेष्टा करने पर भी वीर पाण्ड्य को पराजित नहीं कर सका और न वह वारंगल के दुर्ग को ही जीत सका। प्रतापरुद्रदेव ने संभवतः उससे भेंट भी नहीं की। इस भाँति काफ़ूर की सफलता महमूद की तुलना में उच्चतर सिद्ध नहीं होती।

अलाउद्दीन ने काफ़ूर को प्रधान सेनापति अवश्य नियुक्त किया था परंतु उसने उसको नियंत्रण में रखा। उसने प्रत्येक बार उसके साथ दूसरे बड़े-बड़े सरदार भेजे ताकि वह अलाउद्दीन के समान विश्वासघात करने का अवसर न पा सके। उसने उसको यह भी निर्देश दे रखा था कि वह अपने सहयोगी सरदारों के साथ परामर्श करके कार्य करे और ऐसा कोई पथ अवलंबन न करे जिससे सुदूर देश में आपस के झगड़े के कारण संकट का सामना करना पड़े।

अलाउद्दीन की दक्षिण-विजय के कारण उत्तर भारत में बहुत धन आ गया और न केवल सुलतान को वरन् उसके उत्तराधिकारियों को भी कभी आर्थिक संकट का सामना नहीं करना पड़ा। दक्षिण पर आधिपत्य स्थापित होने तथा रामचन्द्र और वीर बल्लाल के दरबार में आने से सुलतान की प्रतिष्ठा भी बहुत बढ़ गई। परंतु दक्षिणी राज्यों की जनता तथा सरकार को इन आक्रमणों से काफी क्षति हुई। राजकोष की संपत्ति रिक्त हो जाने के कारण सरकार को अनेक प्रकार की असुविधाएँ होने लगीं और शासन का व्यय तथा सुलतान का कर एकत्रित करने के लिए उन्होंने राज-कर बढ़ा दिये। दक्षिण के अनेक भव्य मंदिर भी नष्ट हो गये और मुसलमानों की विजय के कारण दक्षिण भारत में मुसलमानों की संख्या बढ़ने लगी तथा मुस्लिम सभ्यता का प्रभाव अधिकाधिक लोगों पर पड़ने लगा।

अलाउद्दीन का साम्राज्य

अलाउद्दीन की विजयों का जो वर्णन ऊपर दिया गया है उससे उसके साम्राज्य की सीमा का अनुमान लगाया जा सकता है। पश्चिमोत्तर दिशा में सिंधु नदी उसके साम्राज्य की सीमा थी और पंजाब तथा सिंध उसके राज्य में सम्मिलित थे। गुजरात, वर्तमान उत्तर प्रदेश, मालवा, मध्य-भारत तथा राजस्थान पर भी उसने अपना सीधा शासन स्थापित कर लिया था और इन क्षेत्रों का अधिकांश भाग उसके अधीन था। नर्मदा नदी के दक्षिण के राज्य उसके करद राजवंशों के अधिकार में थे जो उसकी अधीनता स्वीकार करते थे। परंतु बंगाल अथवा बिहार पर उसका अधिकार होने का प्रमाण नहीं मिलता। इन विजयों से अलाउद्दीन ने अपने को इतना गौरवान्वित अनुभव किया कि उसने द्वितीय सिकंदर की उपाधि ली। अमीर खुसरो ने सुलतान के नाम के साथ अनेक विरुद् जोड़े हैं और प्रायः उसे अपने समय का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खलीफा कहा है।

अलाउद्दीन के समान भारतवर्ष में अन्य विजेता भी हुए हैं। परंतु उसकी विजयों का महत्व तब और अधिक बढ़ जाता है जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि अलाउद्दीन ने जिस समय ये विजयें प्राप्त कीं उसी समय उसे भीषण विदेशी आक्रमणों का भी सामना करना पड़ा। बलबन की अपेक्षा अलाउद्दीन के समय के मंगोल आक्रमण कहीं अधिक भयंकर थे। परंतु यद्यपि बलबन ने उसके भय के कारण राजधानी छोड़ने का ही साहस नहीं किया, अलाउद्दीन ने विजय का क्रम बिना बंद किये विदेशी आक्रमणों को विफल करके सीमाओं की रक्षा की ऐसी व्यवस्था कर दी जिससे मंगोलों के आक्रमण का भय काफी घट गया।

अलाउद्दीन और मंगोल

चंगेज की मृत्यु के बाद उसके वंशजों ने अनेक स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिये और बहुधा एक मंगोल राज्य दूसरे का शत्रु बन गया। बलबन और जलालुद्दीन के समय में जो आक्रमण हुए उनके नेता फ़ारस के इलखानों के सेवक थे। परंतु अलाउद्दीन के समय में मध्य एशिया के शासक दाऊद खां (१२७२-१३०६ ई०) ने भारतवर्ष पर बारबार आक्रमण किये। उसकी इच्छा थी कि वह फारस के इलखानों की शक्ति का अंत कर दे। इस उद्देश्य से उसने ग़ज़नी पर आक्रमण किया और उस पर अधिकार कर लिया। इस भांति वह भारत की सीमा तक पहुँच गया। उसने जब जलालुद्दीन की हत्या का समाचार सुना तब उसने यह सोचा कि इसके पूर्व कि दिल्ली का नया सुलतान अपनी शक्ति सुदृढ़ कर सके वह एक विशाल सेना भेजकर भारत की तुर्की सल्तनत पर अधिकार कर ले। अस्तु, उसने १२९७ ई० १३०६ तक छै बार सेनायें भेजीं और अलाउद्दीन को इन आक्रमणों के कारण काफी संकट का सामना करना पड़ा।

मंगोल-आक्रमण

सन् १२९७ ई० में पहला मंगोल आक्रमण हुआ। कादर १,००,००० सैनिक लेकर भारत पर चढ़ आया। उसका उद्देश्य मुलतान, सिंध और पंजाब पर अधिकार करने का था। वह लाहौर के पास तक लूट-मार करता पहुँच गया। अलाउद्दीन ने ज़फ़र खां और उलुग़ खां को उसके विरुद्ध भेजा। उन्होंने जालंधर के समीप मंगोलों से युद्ध किया और उनको इस बुरी तरह पराजित किया कि उनके २०,००० सैनिक खेत रहे तथा अनेक मंगोल एवं उनके स्त्री-बच्चे बंदी हुए। वे सब कत्ल कर दिये गये और उनके सिर अलाउद्दीन के पास भेज दिये गये।

(१) कादर (१२९७-९८ ई०)

दाऊद को इस पराजय से बहुत क्षोभ हुआ और उसने इसका बदला लेने के लिए अगले वर्ष सालदी की अध्यक्षता में एक दूसरी विशाल सेना भेजी। उसने सिंध में प्रवेश करके सिबिस्तान (सेहवान ?) पर अधिकार कर लिया। अलाउद्दीन ने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
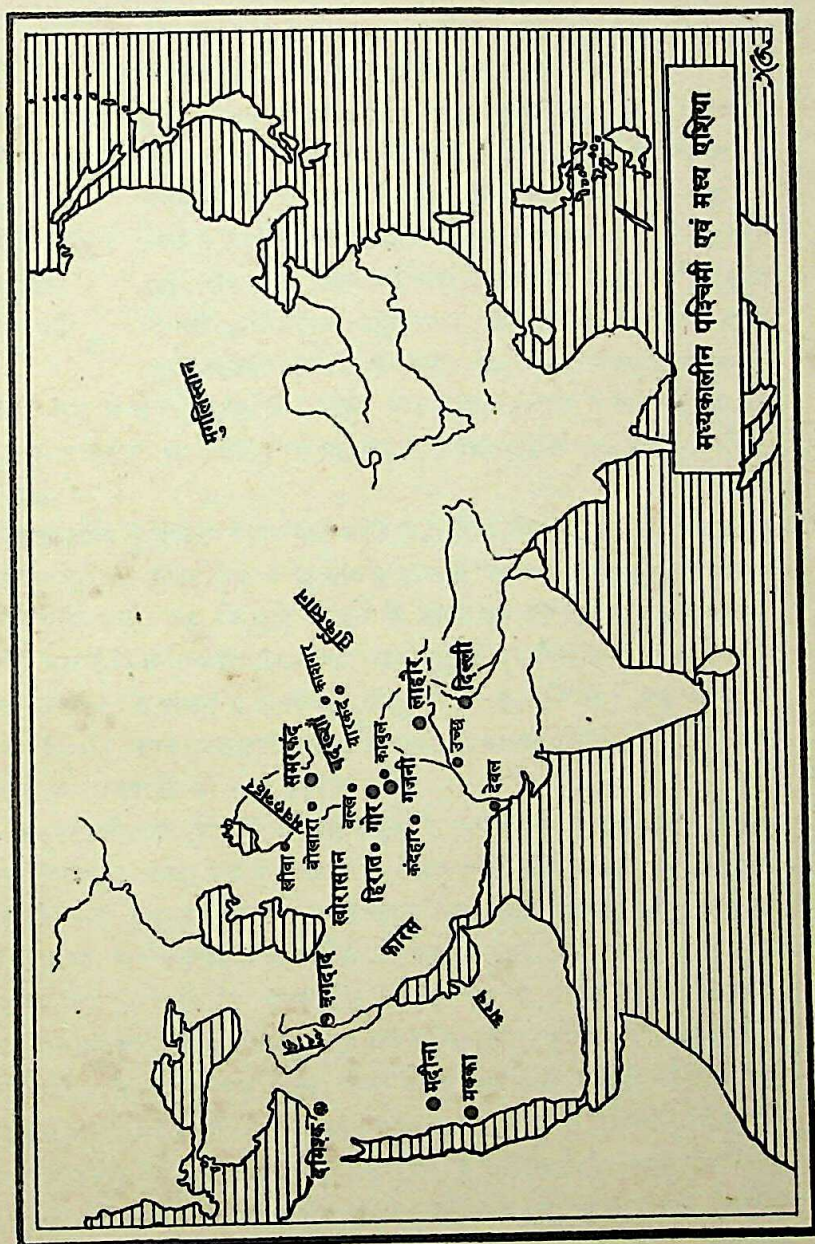
ज़फ़र खां को उसके विरुद्ध भेजा। ज़फ़र खां ने गढ़ का घेरा डालकर मंगोल नेताओं को बंदी बना लिया और उन्हें दिल्ली ले गया। उसकी विजय इतनी आश्चर्यजनक थी कि उलुग़ खां और अलाउद्दीन प्रसन्न होने के स्थान पर उससे ईर्ष्या करने लगे।

(२) सालदी (१२९८-९९ ई०)

इस दूसरी पराजय से मंगोल शासक और खीझ उठा। अस्तु, उसने तुरंत ही अपने सुयोग्य पुत्र क़ुतलुग़ ख्वाजा के साथ दो लाख सैनिक भारत-विजय के लिए भेजे। मंगोलों ने बिना विशेष विरोध के सिंधु पार कर ली और वे इतनी तेजी से दिल्ली की ओर बढ़े कि सुलतान के सीमान्तरक्षक उनको कहीं रोक नहीं सके। मंगोलों ने मार्ग में रुकना उचित नहीं समझा क्योंकि उनका उद्देश्य था राजधानी पर अधिकार करके तुर्की सल्तनत का अंत कर देना। मंगोलों के अत्याचारों से बचने के लिए मार्ग की जनता दिल्ली में एकत्रित होने लगी। मंगोलों ने दिल्ली में अनाज का प्रवेश बंद करने की चेष्टा की। इस कारण राजधानी के निवासियों का संकट बढ़ गया।

(३) क़ुतलुग़ ख्वाजा (१२९९ ई०)

अलाउद्दीन ने अमीरों से परामर्श करके युद्ध-नीति स्थिर की। अलाउल्मुल्क ने रक्षात्मक युद्ध की सलाह दी। परंतु अलाउल्मुल्क के परामर्श को सुलतान ने अस्वीकार कर दिया और कहा कि यदि वह दुर्ग के भीतर बंद होकर बैठा रहे तो उसकी मर्यादा धूल में मिल जायगी और न वह राजमहल में मुंह दिखाने योग्य रहेगा और न साम्राज्य का संचालन कर सकेगा। अस्तु, उसने खुले मैदान में युद्ध करने का निश्चय किया। उसने तुरंत सभी प्रांतीय शासकों को आदेश भेजा कि वे सत्वर संपूर्ण सेना लेकर राजधानी की ओर प्रस्थान करें।

समुचित तैयारी पूर्ण होते ही अलाउद्दीन ने मंगोलों पर धावा किया। मंगोल सेनापति क़ुतलुग़ ख्वाजा ने दक्षिण पार्श्व में तोमर बुगा को और वाम पार्श्व में हजलाक को रखा। वह स्वयं केन्द्र में रहा। इधर अलाउद्दीन ने ज़फ़र खां और उलुग़ खां को क्रमशः दक्षिण तथा वाम पार्श्व में रखा और उसने स्वयं नसरत खां के साथ केन्द्र का भार संभाल लिया। अलाउद्दीन ने उलुग़ खां को कोतल सेना का भार भी दिया और उसे आदेश दिया कि वह जहाँ जब आवश्यक हो कुमक भेजे। अन्य सेनापतियों को उसने पूर्वादेश पाये बिना अपना स्थान छोड़ने की मनाही कर दी। युद्ध आरंभ होने पर सर्वत्र भीषण मार-काट होने लगी। मंगोलों ने केन्द्र और दक्षिण पार्श्व पर प्रचण्ड वेग से आक्रमण किया परंतु अंत में ज़फ़र खां और उसके पुत्र दिलेर खां के भीषण प्रत्याक्रमण को मंगोल सँभाल नहीं सके और वे भाग चले। ज़फ़र खां १८ कोस तक उनका पीछा करता चला गया। परंतु जब वह लौटने लगा तब मार्ग में छिपे दस सहस्र मंगोल सैनिकों ने उसको घेर लिया और सुलतान द्वारा कुमक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न भेजे जाने के कारण वह मारा गया। क़ुतलुग़ ख्वाजा मार्ग में बीमार पड़ा और मर गया।

तीन वर्ष के भीतर तीन भयंकर मंगोल आक्रमण हुए। परंतु अलाउद्दीन के सैनिकों ने उन्हें प्रत्येक बार बुरी तरह हराया और उनके हजारों सैनिकों तथा उनके परिवारों का विनाश किया। मंगोल इन पराजयों से कुछ सहम गये और उन्होंने १३०३ ई० तक फिर आक्रमण नहीं किया। उनके शांत रहने का एक दूसरा कारण यह भी था कि दाऊद को मध्य एशिया में ही काफी युद्ध-रत रहना पड़ा। समय पाते ही दाऊद ने तार्गी की अध्यक्षता में लगभग १,२०,००० सैनिक फिर भारत की ओर रवाना किये। तार्गी एक योग्य एवं अनुभवी सेनापति था। उसे भारतवर्ष का अनुभव भी प्राप्त था। इसी कारण उसे सेनाध्यक्ष बनाया गया।

(४) तार्गी (१३०३ ई०)

तार्गी ने पिछली बार वाली नीति का ही फिर अनुकरण किया और उसने भारत में प्रवेश करके इतनी तेजी से दिल्ली की ओर धावा किया कि उसे मार्ग में अटकाना असंभव हो गया। अलाउद्दीन उस समय चित्तौड़-विजय में लगा हुआ था और उसकी एक सेना बंगाल-वारंगल की ओर जा चुकी थी। अस्तु, जब वह जल्दी से दिल्ली आया तो उसने देखा कि वह शत्रु का सहसा सामना नहीं कर सकता। मंगोल युद्धों का अनुभव रखनेवाले सेनापति उलुग़ खां तथा ज़फ़र खां पहले ही मर चुके थे। मंगोलों ने अलाउद्दीन के आने के बाद इतना कड़ा घेरा डाला कि किसी भी दिशा से कुमक का आना असंभव हो गया। अलाउद्दीन ने अपनी सेना के बचाव के लिए पड़ाव के सामने खाई खुदाई तथा अन्य रक्षात्मक उपाय किए। परंतु उसे विजय की आशा नहीं थी। इस कारण उसने शेख निज़ामुद्दीन औलिया से विनती की कि वह भगवान से प्रार्थना करे कि दिल्ली की मंगोलों से रक्षा हो जाय। दिल्ली-वासी जनता मारे भय के सारा समय ईश्वर की अर्चना-प्रार्थना में लगा रही थी और मंगोलों के अत्याचारों से त्राण पाने की भीख माँग रही थी। यकायक पता नहीं क्या बात हुई कि प्रायः ४० दिन तक दिल्ली के निकट पड़ाव डाले रहने के बाद मंगोल स्वेच्छा से स्वदेश लौट गये।

मंगोलों ने पाँचवीं बार १३०५ ई० में फिर भारत में प्रवेश किया। इस सेना का प्रधान सेनापति अलीबेग था। परंतु उसके साथ तरताक और तार्गी भी थे। इस कारण मंगोल सेना का संचालन बड़ी सतर्कता से किया गया। परंतु भाग्य ने उनका साथ नहीं दिया। तार्गी मार्ग में ही मार डाला गया, दूसरे सेनापति अमरोहा तक बढ़ते चले गये। परंतु अलाउद्दीन ने मलिक नायक को जो जन्मतः हिन्दू था मंगोलों के विरुद्ध ३०,००० सैनिक के साथ भेजा। मंगोलों की फिर

(५) अली बेग तरताक और तार्गी (१३०५ ई०)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पराजय हुई और उनके नेता तथा ८,००० सैनिक बंदी बनाये गये। दिल्ली में यह सभी युद्ध-बंदी नगर भर में घुमाये गये और फिर उनको अनेक प्रकार की यातनायें देकर मार डाला गया।

पचास-साठ हजार सैनिकों के साथ इक़बालमंदा तथा कुबाक ने १३०६ ई० में आक्रमण किया। मंगोल सेना दो भागों में विभक्त हो गई। कुबाक रावी नदी की ओर उत्तर के मार्ग से बढ़ा। इक़बालमंदा थोड़ा दक्षिण की तरफ से बढ़ता हुआ नागौर पहुँच गया। मलिक काफूर और ग़ाज़ी मलिक ने पहले रावीतट पर कुबाक का सामना किया और उसे पराजित करके बंदी बना लिया। तत्पश्चात् उन्होंने नागौर की ओर बढ़कर इक़बालमंदा से युद्ध किया और उसे परास्त किया। इक़बालमंदा किसी प्रकार बचकर निकल गया। परंतु इस युद्ध में मंगोलों की प्रायः समस्त सेना नष्ट हो गई। केवल ३,००० सैनिक जीवित बचे। इस पराजय के बाद मंगोलों ने २० वर्ष तक फिर भारत पर आक्रमण नहीं किया। १३०६ ई० में ही दाऊद की मृत्यु हो गई और उसके उत्तराधिकारियों में राजपद के लिए झगड़ा होने लगा। मंगोल राज्यों की आपसी कलह भी उसी समय से और उग्ररूप धारण करने लगी। इस कारण मध्य एशिया के बाहर आँख उठाने का उन्हें अवसर ही नहीं मिला।

(६) इक़बाल मंदा (१३०६ ई०)

मंगोलों को रोकने तथा देश में घुस आने पर परास्त करने के लिए अलाउद्दीन ने जो व्यवस्था की उसका आधार था बलबन की नीति। परंतु अलाउद्दीन ने उस नीति में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन और संशोधन किये। अलाउद्दीन ने भी बलबन की भांति सीमान्त दुर्गों को सुदृढ़ बनाया और जहाँ आवश्यक समझा वहाँ नये किले बनाये। इस काल में मंगोल दो बार राजधानी तक आ गये। इस कारण उसने राजधानी की रक्षा का विशेष प्रबंध किया। सीरी में एक नया दुर्ग बनवाया गया और दिल्ली के गढ़ की मरम्मत करा दी गई तथा उसे और सुदृढ़ कर दिया गया। इन सभी दुर्गों की रक्षा तथा साम्राज्य-विस्तार एवं शांतिस्थापन के लिए उसने एक विशाल स्थायी सेना रखी जिसकी संख्या ४,७५,००० थी। अलाउद्दीन ने इस सेना को चुस्त और रण-कुशल रखने के लिए घोड़ों को दगवाने, सैनिक निरीक्षण एवं कवायद आदि के नियम बनाये। घुड़सवार सेना की शक्ति, गतिशीलता, और सहन-शक्ति को बढ़ाने के उद्देश्य से उसने उत्तम नस्ल के घोड़े खरीदे तथा राजकीय घुड़सालों में अच्छी नस्ल के घोड़े पैदा करने की व्यवस्था की। इस सेना को उसने साम्राज्य के विभिन्न भागों में नियुक्त किया और राजधानी तथा सीमांत दुर्गों में विशेष अनुभवी एवं रणनिपुण सैनिक रख दिए। उसने कुछ नये हथियारों का भी निर्माण कराया, यथा पत्थर

अलाउद्दीन की मंगोल-नीति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फेंकनेवाली तोपें। उसने रणनीति में भी कुछ परिवर्तन किया और कभी-कभी सेना-पंक्तियों की रक्षा के लिए खाई खुदाई, लकड़ी की दीवाल खड़ी की तथा हाथियों के छोटे दस्ते रखे। शत्रु की शक्ति का पता लगाने के लिए उसने विशेष गुप्तचर रखे तथा अपने सेनापतियों को सदा सजग एवं कर्तव्य-परायण रखने के लिए उसने आवागमन के साधनों में सुधार किया और संपूर्ण साम्राज्य में गुप्तचरों का जाल बिछा दिया तथा डाक-व्यवस्था स्थापित की। उसे विदित था कि मंगोल कितने दुर्धर्ष सैनिक हैं। इसलिए उसने सीमा की रक्षा के लिए अनुभवी एवं साहसी सेनापति नियुक्त किये। ज़फ़र खां, उलुग़ खां, ग़ाजी मलिक, मलिक नायक, मलिक क़ाफ़ूर आदि ऐसे धुरंधर सेनानायक थे कि उनकी धाक मंगोलो के ऊपर जम गई और जब मंगोलों के घोड़े पानी नहीं पीते थे तो वे कहते थ 'क्या तूने ज़फ़र खां को देख लिया है?' इन सेनापतियों की कार्यकुशलता के ही कारण अलाउद्दीन इन भीषण शत्रुओं को बार-बार पराजित कर सका था। मंगोलों को धमकाने के उद्देश्य से उसने मंगोल बंदियों को क्रूर यातनायें देकर वध करा दिया और उनके मस्तकों के स्तम्भ बनवा दिय। फिर भी दाऊद के जीवन-काल में मंगोल आक्रमण बंद नहीं हुए। उसकी मृत्यु होने पर जब मंगोलों की शक्ति कुछ दुर्बल हो गई तब ग़ाज़ी मलिक ने प्रति वर्ष मंगोल देश पर आक्रमण करना आरंभ किया। इस भांति १३०६ ई० तक रक्षात्मक नीति का अनुसरण करने के बाद अलाउद्दीन ने आक्रमणात्मक नीति अपनाई और मंगोलों को इतना त्रस्त किया कि वे फिर भारत की ओर नहीं आ सके।

अलाउद्दीन की सफलता की सीमा

अलाउद्दीन ने मंगोलों को प्रत्येक बार वापस लौटने पर बाध्य किया और एक बार के अतिरिक्त सर्वदा उनको बुरी तरह पराजित किया तथा उनके नेताओं को बंदी बनाया। उसने पंजाब पर मंगोलों के पैर जमने नहीं दिये और उनको सिन्धु पार खदेड़ दिया। परन्तु उसकी सीमा इतनी सुदृढ़ नहीं थी कि मंगोल भीतर प्रवेश ही न कर पाते। एक बार मंगोल सेना पंजाब और दिल्ली प्रान्त को पार करके अमरोहा तक तथा राजस्थान में नागौर तक घुस गयी थी और दो बार उसने राजधानी का घेरा डाला था। १३०३ ई० में घेरा डालने वाली सेना इतनी प्रबल थी कि अलाउद्दीन की हिम्मत छूट गई थी। अस्तु यह स्वीकार करते हुए कि अलाउद्दीन ने मंगोलों पर सदा विजय पाई, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि उनकी पराजय का कारण यह नहीं था कि सीमा की रक्षा की व्यवस्था बहुत सुन्दर थी वरन् यह कि अलाउद्दीन के सैनिक तथा सेनापति अत्यन्त योग्य एवं साहसी थे।

मंगोलों की पराजय के अन्य भी अनेक कारण थे। अलाउद्दीन का भाग्य-सूर्य उसके पक्ष में था। इसी कारण अनेक संकटों के समय कुछ-न-कुछ ऐसी बात हो जाती थी जिससे उसे सफलता मिल जाती थी। मंगोलों की बर्बरता से त्रस्त

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जनता अलाउद्दीन के साथ सर्व प्रकार के सहयोग करने के लिए प्रस्तुत थी। इससे भी मंगोलों का कार्य पहले की अपेक्षा कठिन हो गया।

मंगोलों की असफलता के कारण

इसके अतिरिक्त मंगोलों में भी अनेक दुर्बलतायें घर कर गईं थीं। वे आपस में लड़ते रहते थे ? इस कारण संपूर्ण मंगोल-शक्ति का भारत के विरुद्ध उपयोग किया जाना तो दूर रहा एक राज्य की भी सारी शक्ति भारत-विजय में लगाना संभव नहीं था क्योंकि उसे अपने पड़ोसी राज्यों के विरुद्ध रक्षा की व्यवस्था भी करनी पड़ती थी। दूसरे, मंगोलों को इतना धन तथा राज्य मिल गया था कि वे अब खूब आराम से जीवन बिता रहे थे और इस विलासिता तथा आमोद-प्रमोद के जीवन के कारण उनकी पूर्वकालिक शक्ति, कर्मठता एवं श्रमशीलता नष्ट हो गई थी। इस भांति वे अब उतने अच्छे सैनिक नहीं रह गये थे जितने कि वे चंगेज़ के समय में थे। तीसरे, मंगोल सैनिक अपने स्त्री-बच्चों को लेकर आक्रमण करने जाते थे। इससे उनकी गति धीमी हो जाती थी और शत्रु के लिए उनको व्यस्त करने में सुविधा थी। उनकी रसद आदि की व्यवस्था भी इन असैनिक लोगों के कारण काफी जटिल हो जाती थी। चौथे, मंगोल एक स्थान पर ही अधिक समय तक पड़ाव डालकर ठहरना पसंद नहीं करते थे और वे दुर्गों का घेरा डालने में दक्ष नहीं थे।

इन आक्रमणों का भारतीय जनता तथा सुलतान की स्थिति पर बहुत प्रभाव पड़ा। मंगोलों ने भारतीय जनता को आतंकित करने के लिए उसके साथ बहुत क्रूरता का व्यवहार किया। अनेक ग्राम तथा नगर नष्ट हो गये, सहस्रों-लाखों व्यक्ति मारे गये, और करोड़ों की संपत्ति लूट ली गई।

आक्रमणों का प्रभाव

मंगोलों के भय के कारण सरकार के प्रति जनता का भाव अधिक श्रद्धापूर्ण हो गया। इससे सुलतान की शक्ति बढ़ गई। सेना की शक्ति और संख्या में वृद्धि होने के कारण शासन का स्वरूप बहुत कुछ सैनिक हो गया और सुलतान की निरंकुशता में वृद्धि हुई। सुलतान ने मंगोलों से रक्षा के लिए जो सैनिक तथा प्रशासकीय सुधार किये उनके कारण भी सुलतान की निरंकुशता को बल मिला। मंगोलों से युद्ध करने के लिए जिस विशाल सेना का संगठन किया गया उसका व्यय उगाहने तथा उसको व्यावहारिक शिक्षा देने के लिए सुलतान ने साम्राज्य-विस्तार की योजना बनाई। इस भांति परोक्ष ढंग से मंगोलों के भय के कारण साम्राज्य का विस्तार हुआ। अलाउद्दीन के चरित्र में भी परिवर्तन हो गया। पहले, वह विश्व-विजय और धर्म-स्थापना की चर्चा किया करता था। परंतु अब वह खूब यथार्थवादी हो गया। अलाउद्दीन ने इन मंगोलों के हमलों के द्वारा असुविधाजनक सर्दारों से भी मुक्ति पाई। पहले उसने जलाली

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्दारों को पश्चिमोत्तर सीमा पर भेजा और उनमें से अनेक वहाँ मारे गये। बाद में जब उसको ज़फ़र खां के शौर्य और साहस के कारण शंका होने लगी तब उसने उसे कुमक न भेजकर मंगोलों द्वारा मरवा दिया। इस भाँति अलाउद्दीन को अंततः मंगोल आक्रमणों के कारण हानि की अपेक्षा लाभ ही अधिक हुआ।

यदि अलाउद्दीन ने केवल विजय-कार्य ही किया होता तो भी उसे दिल्ली के सुलतानों में एक आदर-पूर्ण स्थान प्राप्त होता। वह केवल विजेता ही नहीं था। उसने राज्य के सैनिक एवं प्रशासकीय संगठन में भी अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन किये तथा उसने जनता का नैतिक स्तर ऊँचा करने के लिये अनेक सुधार किये।

अलाउद्दीन के सुधार

अलाउद्दीन खिलजी ने हत्या के द्वारा राज्य प्राप्त किया था। इसलिए उसे भय लगा रहता था कि जलाली सर्दार उसके विरुद्ध विद्रोह न करें। दूसरे, उत्तराधिकार का कोई निश्चित नियम न होने के कारण कोई भी व्यक्ति सफल षड्यंत्र द्वारा राजा बन सकता था। सल्तनत का पिछला इतिहास भी इसका साक्षी था। रणथंभौर की विजय के पूर्व अलाउद्दीन को किसी विशेष विद्रोह का सामना नहीं करना पड़ा था। केवल जालौर के निकट नवमुस्लिम मंगोलों ने विद्रोह किया था परंतु वह सुगमता से दबा दिया गया था। रणथंभौर-विजय के समय अक़त खां ने अलाउद्दीन की प्रायः हत्या ही कर दी थी, उमर और मंगू ने स्वतंत्र होने की चेष्टा की और हाजी मौला ने दिल्ली पर अधिकार करके एक नामधारी शासक को गद्दी पर बिठाकर स्वेच्छापूर्वक शासन आरंभ कर दिया था। यह सब देखकर अलाउद्दीन को अपने जीवन तथा साम्राज्य के विषय में चिन्ता करने के लिए बाध्य होना पड़ा।

विद्रोह का भय

अस्तु, उसने अपने प्रधान अमीरों की एक सभा की और उनसे परामर्श किया कि शांति-भंग होने के क्या कारण हैं। विचार-विनिमय के बाद यह मत स्थिर हुआ कि विद्रोहों का एक प्रधान कारण यह है कि जनता तथा सम्राट् में कोई सीधा सम्पर्क नहीं है और जनता में इस कारण यह भावना घर कर गई है कि सम्राट को उनके हिताहित की कोई चिंता नहीं है। इस कारण वे सुलतान के प्रति उदासीन रहते हैं अथवा स्थानीय लोगों के प्रभाव के कारण विरोधी हो जाते हैं। इसलिए जब कोई प्रांतीय शासक स्वतंत्र होने की चेष्टा करता है तब उसे उस स्थान की जनता का सहज में ही सहयोग प्राप्त हो जाता है अथवा यदि सहयोग न भी मिले तो कम-से-कम जनता की ओर से विद्रोही चेष्टाओं का विरोध नहीं होता। हिन्दुओं के नेता जैसे चौधरी, मुक़द्दम, सामंत, छोटे राजे आदि सचमुच अधीनता में रहना नहीं चाहते और वे अधिक-से-अधिक स्वतंत्रता चाहते हैं। इसलिए वे धन एकत्रित

विद्रोह के कारण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करके अपने सैनिक रख लेते हैं और निजी स्वार्थ की दृष्टि से विद्रोही तुर्क प्रांतपति का साथ देने को तैयार हो जाते हैं। दूसरे, स्थानीय शासकों के ऊपर सम्राट् का पर्याप्त नियंत्रण नहीं रहता। इसलिए उनको धन एकत्रित करने और फिर उस धन की सहायता से विद्रोह की तैयारी करने की सुविधा मिल जाती है। तीसरे, बड़े-बड़े अमीर एक दूसरे को दावत देते हैं जहाँ शराब का भी खूब व्यवहार होता है। जब शराब का प्रभाव होने लगता है, तब वे लोग षड्यंत्र की बातें करते हैं और बाद में उन्हीं के आधार पर भीषण षड्यंत्र आरंभ हो जाते हैं। चौथे, अमीरों को एक दूसरे के साथ विवाहादि द्वारा घनिष्ठता स्थापित करने की पूरी छूट रहने से कभी-कभी इतने प्रबल गुट बन जाते हैं कि उनके कारण सम्राट की शक्ति घट जाती है और अक्सर यह स्थिति पैदा हो जाती है कि यदि एक के विरुद्ध कुछ कार्यवाही की जाय तो उसके पीछे पचासों अन्य व्यक्ति विद्रोह करने को उद्यत हो जाते हैं। उनके संगठित विरोध के भय के कारण सम्राट् को दब जाना पड़ता है।

अमीरों के विरुद्ध नियम

सुलतान ने अमीरों को वश में करने के लिए अनेक नियम बनाये। उसने खुले बाज़ार में शराब का बनना और बिकना बंद कर दिया तथा दावतों अथवा आपसी बैठकों में शराब पीना अथवा पिलाना दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया। जब कुछ लोगों ने सम्राट् से निवेदन किया कि शराब बिना पिये उनका स्वस्थ रह सकना असंभव हो जायगा तब उसने उन लोगों को अपने घर में शराब बनवाकर नितान्त एकान्त में मद्यपान की अनुमति दे दी। दूसरे, उसने फ़रमान निकालकर सभी सर्दारों को चेतावनी दी कि वे राजाज्ञा प्राप्त किये बिना कोई विवाह-संबंध स्थिर न करें और न लंबी-चौड़ी दावतों का आयोजन करें। तीसरे, उसने प्रांतपतियों के हिसाब की कड़ाई से जाँच कराई और उसके पास केवल उतना ही धन रहने दिया जितना उनके सम्मानपूर्वक जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक हो। चौथे, उसने प्रांतों में रहने वाली सेना की नियुक्ति, तथा सैनिकों का नियंत्रण, स्थानान्तरण, पदवृद्धि अपने हाथ में ले लिया और सैनिकों को भूमि देने के स्थान पर नक़द वेतन देना आरंभ किया। साथ ही उसने यह जाँच करने की भी चेष्टा की कि प्रांतपति निश्चित संख्या में सैनिक रखते हैं कि नहीं तथा उन्हें पूरा वेतन देते हैं या नहीं। इस भांति प्रांतपतियों की सैनिक शक्ति घट गई। पाँचवें, सुलतान ने सभी संदिग्ध राजभक्ति वाले व्यक्तियों का पता लगाने के लिए साम्राज्य भर में गुप्तचरों का जाल बिछा दिया और उनकी सूचना शीघ्र-से-शीघ्र पाने के लिए डाक-चौकियों की व्यवस्था की एवं प्रधान नगरों को जानेवाले मार्गों की मरम्मत करा दी। छठे, सुलतान ने हिन्दू नेताओं का विद्रोह दबाने के लिए अलग नियम बनाये जिनका

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उल्लेख अन्यत्र किया जायगा और जिनके कारण वे रोटी की ही चिन्ता में व्यस्त रहने लगे। साथ ही उसने सामान्य जनता के हितों की ओर अधिक ध्यान दिया। सातवें, अलाउद्दीन संदिग्ध लोगों को किसी-न-किसी बहाने समाप्त कर देता था जिससे भविष्य में उसे संकट का सामना न करना पड़े।

जलाली सर्दारों का दमन

इस भांति उसने उन सभी जलाली सर्दारों को जिन्होंने धन अथवा पद के लालच से उसका पक्ष ग्रहण किया था, बाद में उन पर राजद्रोह का अपराध लगाकर पहले उनकी संपूर्ण संपत्ति छीन ली और फिर उनको अंधा करवा दिया अथवा कारागार में डलवा दिया। इस भांति उसने उनको समूल नष्ट कर दिया।

अन्य सर्दार

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, उसे जब ज़फ़र खाँ पर संदेह हो गया तो उसने उसे सीमाप्रांत से हटाकर बंगाल-विजय के लिए भेजने का निश्चय किया। एक बार उसने उसे ज़हर देने की भी इच्छा की। परंतु यह सब करने के पूर्व ही वह मंगोलों के विरुद्ध युद्ध करता हुआ मारा गया। यदि सुलतान ने उसे समय रहते कुमक भेज दी होती तो संभव है वह न मारा जाता। परंतु वह उसकी विजय के स्थान पर उसकी मृत्यु की कामना करता था। इस कारण उसने उसे अकेला छोड़ दिया और उसकी मृत्यु का समाचार मिलने पर दुःख प्रकट करने के स्थान पर राजाज्ञा के बिना इतनी दूर पीछा करते चले जाने के लिए उसके कार्य की भर्त्सना की। इसी भांति जब रणथंभौर-विजय के समय अक़त खाँ द्वारा अलाउद्दीन की हत्या की सूचना उलुग़ खाँ को मिली और उसने कहा कि यदि सुलतान की हत्या हो गई है तब भी क्या चिन्ता है उसका भाई उसका स्थान लेने के लिए तैयार है तब अलाउद्दीन को अपने भाई पर भी संदेह हो गया और वह उसकी मृत्यु की कामना करने लगा। रण-थंभौर से दिल्ली आते समय उसकी मृत्यु का कारण सुलतान द्वारा उसको विष दिया जाना बताया जाता है। इससे पता चलता है कि सुलतान अपने भाई को भी क्षमा करने को प्रस्तुत नहीं था। अलाउद्दीन का तीसरा प्रधान सेनापति नसरत खाँ था। सुलतान ने १२९७ ई० में उसे दिल्ली का कोतवाल नियुक्त किया। परन्तु उसने सभी के साथ इतनी कठोरता का व्यवहार किया कि उसका आतंक बढ़ने लगा। अस्तु, सुलतान ने उसे हटाकर अलाउल्मुल्क को दिल्ली का कोतवाल नियुक्त किया। अपने राज्य-काल के अन्तिम वर्षों में उसे काफ़ूर के बहकाने के कारण अलप खाँ के प्रति संदेह होने लगा और उसने उसका बध करा दिया। इसी संदेह के ही कारण उसने अपने पुत्रों को भी बन्दी-गृह में डलवा दिया था। जब कोई अमीर विद्रोह करता था तब अलाउद्दीन उन सभी व्यक्तियों को भी दण्ड देता था जिनका विद्रोही से कोई सम्बन्ध हो क्योंकि उसे संदेह होता था कि सम्भव है इन लोगों का भी विद्रोही

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को उकसाने में कुछ हाथ रहा हो। विद्रोहियों के स्त्री-बच्चों को दण्ड देना तो जैसे इस समय की परिपाटी हो गई थी। परन्तु हाजी मौला के विद्रोह के समय क़ाज़ी फ़ख्रुद्दीन के वंशज केवल इसलिए मार डाले गये क्योंकि हाजी एक समय में उनके यहाँ नौकर था। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि अलाउद्दीन साम्राज्य में शांति रखने के लिए किस सीमा तक जाने को उद्यत था।

अलाउद्दीन ने साम्राज्य को सुश्रृंखल रखने के लिए उचित न्याय-व्यवस्था का भी प्रबन्ध किया। अलाउद्दीन के पूर्व राजनियम धर्म-ग्रंथों पर आधारित रहते थे।

न्याय-व्यवस्था

परन्तु अलाउद्दीन ने धर्म की अवहेलना न करतेहुए भी यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि परिस्थिति एवं लोक-हित की दृष्टि से जो नियम उपयुक्त हों वे ही राजनियम होने चाहिए। इस भांति उसने न्यायाधीशों द्वारा व्यवहृत नियमों को साम्प्रदायिकतय के संकुचित्र क्षेत्र से निकालकर अखिलदेशीय राजनियमों का रूप दे दिया। दूसरे, उसने न्यायाधीशों की संख्या बढ़ा दी तथा यद्यपि उसके कुछ न्यायाधीश अपने पदों के उपयुक्त नहीं थे परन्तु अधिकांश न्यायाधीश विद्वान, सच्चरित्र एवं कार्यकुशल थे। न्यायाधीशों की सहायता के लिए उसने पुलिस का प्रबन्ध किया। प्रत्येक नगर में एक कोतवाल रहता था जो पुलिस का प्रधान होता था। इनके अतिरिक्त गुप्तचर होते थे। वे भी अपराधियों का पता लगाने में सहायता करते थे। अलाउद्दीन के गुप्तचर इतने प्रवीण थे कि उनसे कुछ भी छिपा नहीं रहता था। बड़े-बड़े अमीर और सर्दार अपने घरों में स्वतंत्रतापूर्वक बातचीत करने में भय खाते थे। अलाउद्दीन का दण्ड-विधान कठोर था। एक को अपराध करने पर अनेक को दण्ड देना, अपराधियों के साथियों और संबंधियों को केवल सन्देह पर मृत्यु-दण्ड तक दे देना, आँखें निकलवा लेना, अंग-भंग करा देना, यातनायें देकर अपराध स्वीकार कराना और ऐसे बन्दी-गृहों में रखना जहाँ से जीवित वापस आ सकना प्रायः असम्भव हो, बलबन के कठोर दण्ड-विधान से भी एक पद आगे जाने का परिचय देते हैं।

अलाउद्दीन ने सेना में जो सुधार किये उनमें से अधिकांश का उल्लेख मंगोलों अथवा अमीरों के संबंध में किया जा चुका है। अलाउद्दीन की सेना में पहले की

सैनिक सुधार

तरह घुड़सवार, पैदल और हाथी थे। अब भी अश्वारोहियों के ऊपर ही सेना की सफलता निर्भर करती थी। इसलिए अलाउद्दीन ने सेना के इस विभाग को अधिकाधिक उत्तम कोटि का बनाने की चेष्टा की। उसने अच्छी नस्ल के घोड़े बाहर से मँगवाये, मंगोलों से युद्ध के समय भी उसने अनेक अच्छे घोड़े लूट में पाये। दक्षिण भारत की विजय के समय भी अलाउद्दीन लूट का सामान एकत्रित करते समय संबंधित राजाओं के सर्वोत्तम

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घोड़े तथा हाथी लेने की विशेष चिन्ता रखता था। साथ ही उसने देश के भीतर भी नस्लों की सुधार द्वारा अच्छे घोड़े पैदा करने की चेष्टा की। सैनिक हमेशा अच्छे घोड़े नहीं रखते थे। अलाउद्दीन ने इसके लिए भी समुचित व्यवस्था की। उसने घोड़ों को दगवा दिया जिससे उनको बदलकर खराब घोड़े न लाये जा सकें। जो सैनिक अपने पास से घोड़े लाते थे उनको अधिक वेतन दिया जाता था और जो दो घोड़े रखते थे उनको उससे भी अधिक वेतन मिलता था। ज़िया-उद्दीन बर्नी ने अश्वारोहियों के वेतन के सम्बन्ध में जो लिखा है उसका फ़रिश्ता तथा बाद के लेखकों ने सही अर्थ समझने में कठिनाई का अनुभव किया है। परन्तु सारी बातों पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि अलाउद्दीन दो घोड़े रखने वाले सैनिकों को सामान्य अश्वारोही से ७८ टंक वार्षिक अधिक देता था। सैनिक तथा उसके घोड़े ठीक दशा में हैं या नहीं इसकी जाँच करने के लिए वह समय-समय पर सेना का निरीक्षण करता था। सेना को पूर्णतया अपने वश में करने के लिए उसने राज्य की सम्पूर्ण सैनिक शक्ति पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया। वही सब सैनिकों की भर्ती करता था तथा राजकोष से सभी सैनिकों को नकद वेतन दिया जाता था। सेना में वे ही लोग भर्ती किए जाते थे जिनको अस्त्र-शस्त्र का उपयोग, घोड़े पर चढ़ना, युद्ध करना आदि पहले से ही मालूम होता था। सेना में शायद क़वायद आदि कराने की विशेष व्यवस्था नहीं थी। युद्ध-कार्य ही था शिक्षण का अवसर। इसलिए सेना को चुस्त और मुस्तैद रखने के लिए किसी-न-किसी क्षेत्र में युद्ध चलाते रहना पड़ता था। शांति के समय बलबन की नीति का अनुकरण करके वह उन्हें आखेट द्वारा युद्ध की शिक्षा देता था।

सामान्य सैनिक के ऊपर कौन-कौन पदाधिकारी होते थे, यह ठीक-ठीक मालूम नहीं है। संभव है प्रत्येक स्थानीय शासक के अधीन केवल साधारण सैनिक ही रहते हों और युद्ध के समय वह व्यक्ति प्रधान सेनापति होता हो जिसे सुलतान उस अवसर के लिए निर्वाचित कर देता हो। साधारणतः सेना का प्रधान पदाधिकारी होता था आरिज़-ए-मुमालिक। परंतु वारंगल-विजय के समय आरिज़ को काफ़ूर की अधीनता में युद्ध करने भेजा गया था। जब सम्राट् स्वयं युद्ध-स्थल में रहता था तब वही प्रधान सेनापति होता था। सेना में ऊँचे अथवा नीचे पद का निर्धारण शायद उन सैनिकों की संख्या पर निर्भर करता था जो उस व्यक्ति के अधीन रखे जाते थे और इन सैनिकों की संख्या निर्भर करती थी अमीर के व्यक्तित्व, दुर्ग तथा प्रांत के महत्व एवं उस क्षेत्र की जनता के रुख पर जहाँ कोई व्यक्ति हाकिम नियुक्त किया जाता था।

इसी भांति सैनिकों के वेतन के विषय में विद्वानों में मतभेद होने के कारण प्रत्येक कोटि के सैनिक का वेतन ठीक-ठीक नहीं बताया जा सकता। ऐसा प्रतीत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है कि प्रत्येक पैदल सिपाही को ७८ टंक प्रति वर्ष वेतन मिलता था। जिन अश्वारोहियों को सरकार की ओर से घोड़ा दिया जाता था और जिस घोड़े का व्यय सामान्यतः सरकार को ही उठाना पड़ता था उसे १५६ टंक वेतन मिलता था तथा जो अश्वारोही अपना घोड़ा लाता था और स्वयं उसकी देख-रेख का भार लेता था उसे २३४ टंक वेतन मिलता था। परंतु जो सैनिक २ घोड़े रखता था उसे ३१२ टंक वेतन मिलता था।

मूल्य-नियन्त्रण

यह वेतन सुखमय जीवन बिताने के लिए अपर्याप्त था। इसलिए अलाउद्दीन ने नित्य प्रति की आवश्यकता की वस्तुओं का मूल्य इस प्रकार स्थिर कर दिया जिससे सैनिकों को विशेष असुविधा न हो। इस निर्धारित मूल्य को सर्व-मान्य बनाने के लिए अलाउद्दीन को एक विस्तृत एवं सुश्रृंखल योजना बनानी पड़ी और तत्संबंधी नियमों को कड़ाई से पालन करना पड़ा।

बाजार के अधिकारी

सुलतान ने बाज़ार की संपूर्ण व्यवस्था का दायित्व दीवन-ए-रियासत को सौंपा और उस पद पर याक़ूब को नियुक्त किया। उसने सभी प्रधान व्यवसायों के लिए अलग-अलग बाज़ार नियत कर दिये और उनका प्रबन्ध करने के लिए प्रत्येक के लिए एक-एक शहना नियुक्त किया। खाद्यान्नों के बाज़ार का शहना मलिक क़बूल था और कपड़े के बाज़ार में शहना का कार्य याक़ूब स्वयं करता था। इसी भांति घोड़ा-बाजार, पशु-बाजार आदि के लिए दूसरे शहना नियुक्त थे। शहनाओं के नीचे अनेक बरीद रहते थे जो वस्तुओं के मूल्य, तौल आदि की प्रतिदिन जाँच करते थे और अपनी रिपोर्ट सुलतान के पास भेजते थे। इसी भांति कुछ गुप्तचर भी रहते थे जिनको 'मुन्हिया' कहते थे। वे भी अपनी बाज़ार-संबंधी रिपोर्ट सुलतान के पास सीधे भेजते थे।

बाजारों की व्यवस्था

प्रत्येक बाज़ार की अपनी कुछ विशिष्ट समस्याएँ थी परंतु अनेक समस्याएँ सभी में एक समान थीं। चूंकि सुलतान ने सभी वस्तुओं का मूल्य घटा दिया था इसलिए संभव था कि व्यापारी उन भावों पर सामान बेचने से इन्कार कर दें अथवा वे समय-समय पर खपत से कम सामान लाकर नियंत्रण-व्यवस्था के कारण सामान की ऐसी कमी कर दें कि सामान्य जनता ही नियंत्रण का विरोध करने लगे। मूल्य-नियंत्रण के कारण दलालों का काम ही समाप्त हो गया। वे प्रायः बड़े चतुर लोग थे और बुद्धि के द्वारा ही बेचने और खरीदने वाले दोनों से पैसा वसूल करते थे। इनकी रोटी का साधन छिन जाने पर वे व्यापारियों को भड़का कर कठिनाइयाँ पैदा कर सकते थे। अकाल, अनावृष्टि तथा आयात में कमी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के कारण भी कठिनाइयाँ हो सकती थीं। व्यापारी ऊपरी तौर से नियमों का पालन करते हुए भी कम तौल कर अथवा कम नाप कर या बढ़िया के स्थान पर घटिया माल देकर सामान्य जनता को ठग सकते थे। इन दोषों को दूर करने के लिए सुलतान ने अनेक नियम बनाये। उसने व्यापारियों को मोटे तौर से दो भागों में विभक्त किया—(१) बाहर से माल लाकर नगर के व्यापारियों को देनेवाले (२) नगर के बाजार में दूकान रखकर साधारण जनता के हाथ बेचनेवाले फुटकर अथवा थोक व्यापारी। सुलतान ने प्रत्येक व्यवसाय से संबंधित दोनों ही प्रकार के व्यापारियों की एक सूची तयार कराई, उनको व्यापार करने के लिए अनुमति-पत्र दिये गये और उनसे लिखित प्रतिज्ञापत्र ले लिये गये जिनमें उन्होंने उपयुक्त समय पर आवश्यक परिमाण में सामान लाने और निर्धारित मूल्य पर बेचने का वादा किया। इन सभी व्यापारियों को आदेश दिया गया कि वे अपने स्त्री-बच्चों को नगर के भीतर लाकर रखें और उनको यह स्पष्ट चेतावनी दे दी गई कि यदि उनके व्यक्तिगत अथवा सामूहिक कार्य के कारण बाज़ार की व्यवस्था में कोई गड़बड़ी हुई तो वे सब लोग इसके लिए दोषी ठहराये जायँगे और न केवल उन्हें वरन् उनके परिवार के लोगों को भी इसके लिए दण्ड दिया जायगा। बाज़ार में आनेवाली वस्तुओं पर लाखों व्यक्तियों का जीवन निर्भर करता था। सुलतान ने दृढ़ संकल्प कर लिया था कि जनता के जीवन से खिलवाड़ करने वालों को कठोर से कठोर दण्ड दिया जायगा। इस व्यवस्था का फल यह हुआ कि सामान्यतः बाजारों में कभी सामान की कमी नहीं पड़ती थी। दलालों को उसने बाज़ार से निकलवा दिया और जो व्यक्ति दलाली करने की चेष्टा करते पाया जाता था उसे कठोर दण्ड दिया जाता था। जो सामान बहुत मूल्यवान और परिमाण में कम होता था, जैसे बढ़िया रेशम अथवा ऊन के कपड़े, ज़री के वस्त्र, विलास की सामग्री आदि, उसे खरीदने के लिए उसे दीवान-ए-रियासत के पास प्रार्थना-पत्र देना पड़ता था और बताना पड़ता था कि कितना सामान चाहिए और क्यों? इन लोगों ने सचमुच अपने काम के लिए ही खरीदा है इसकी जाँच कराई जाती थी और यदि पता चलता था कि किसी ने बाज़ार से खरीदकर चोरबाज़ारी की है तो उसे कड़ा दण्ड दिया जाता था। इसी भांति अनावृष्टि अथवा अकाल का सामना करने के लिए सरकारी गोदामें रहती थीं जहाँ खाद्य पदार्थ संग्रहीत रहते थे। आवश्यकता पड़ने पर शहर के दूकानदारों को वहाँ से अनाज दे दिया जाता था और उस संकट के काल के लिए आजकल की तौल में अधिक-से-अधिक ६ या ७ सेर अन्न प्रति परिवार के हिसाब से बेंचा जाता था। व्यापारियों की बेईमानी की जाँच करने के लिए कर्मचारी नियुक्त थे और गुप्तचर भी सदा सतर्क रहते थे। तनिक भी बेईमानी अथवा गड़बड़ी का पता मिलते ही व्यापारियों को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कड़ा दण्ड दिया जाता था। कोड़े मारना, ठोकर मारते हुए बाजार से निकाल देना, तौल में कमी को पूरा करने के लिए दूकानदार के चूतड़ों से उतना ही मांस कटवा लेना आदि सामान्य दण्ड थे। इस कारण यद्यपि आरम्भ में व्यापारियों ने कुछ विरोध और असहयोग किया परन्तु बाद में वे थोड़े लाभ से ही संतुष्ट होकर नियमानुसार कार्य करने लगे और अलाउद्दीन के जीवनकाल में उन्होंने उसके निर्देशों का अनुसरण किया। सुलतान ने जहाँ व्यापारियों को इतना परेशान किया वहाँ उसने उनको कुछ सुविधाएँ भी दीं। उसने उनका लाभ कम कर दिया परन्तु हानि होने की आशंका का नाश कर दिया। उसने आवश्यकता पड़ने पर उनको राजकोष से सामान खरीदने के लिए रुपया दिलवा दिया और यदि सामान का क्रय-मूल्य निर्धारित विक्रय-मूल्य से अधिक हुआ तो सारा घाटा उसने स्वयं सह लिया और व्यापारियों को एक निश्चित दर के अनुसार कमीशन दिलवा दिया। जो सामान देश के भीतर देहातों अथवा छोटे क़स्बों से खरीदना होता था उसके लिए उसने स्थानीय हाकिमों को आदेश दिया कि अमुक व्यापारी को अमुक सामान उत्पादकों से निर्धारित मूल्य पर दिलवा दें। अस्तु, व्यापारी को मोल-तोल करने का झंझट नहीं करना पड़ता था। नगर के बाजारों में जिस भाव पर सामान बिकना होता था उसकी एक सूची संबंधित शहना, बरीद और मुन्हियाओं को दे दी जाती थी तथा एक प्रति दीवान-ए-रियासत के पास रहती थी। व्यापारियों को भी इसकी एक प्रति दे दी जाती थी और उनको अपना सामान बेंचने के लिए कोई मोल-तोल नहीं करना पड़ता था।

खाद्यान्न — अन्न के बाजार के लिए सुलतान ने जो भाव नियत किये उनमें से कुछ इस प्रकार थे :—

गेहूँ	७॥ जीतल प्रतिमन	आजकल के हिसाब से मन १२ सेर और १४ सेर के बीच में होता था तथा चाँदी के एक टंक में टामस के अनुसार ४६ और नेलसन राइट के अनुसार ४८ जीतल होते थे।
जौ	४ „ „	
चना, चावल और उर्द	५ „ „	

जो व्यापारी बाहर से सामान लाते थे उनके नाम मलिक क़बूल के दफ़्तर में लिख लिये गये। दिल्ली में अनाज लाने वालों के लिए बयाना तथा दोआब में अन्न खरीदने की व्यवस्था कर दी गई। स्थानीय अधिकारियों को आज्ञा दी गई कि वे किसानों को आदेश दें कि वे खलिहान से केवल उतना ही अनाज ले जायें जितना उनके परिवार के लिए आवश्यक हो। शेष अन्न वे खलिहान में ही राज्य द्वारा नियुक्त व्यापारियों को निर्धारित मूल्य पर बेंच दें। जो किसान इसका विरोध करते थे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनको पहले समझाने की चेष्टा की जाती थी और इसका भी प्रभाव न पड़े तो उनको दण्ड दिया जाता था और बलपूर्वक उनका अन्न छीन लिया जाता था। अलाउद्दीन ने सरकारी गोदामों में अन्न भरा रखने के उद्देश्य से दोआब क्षेत्र में नकद लगान न लेकर अन्न के रूप में वसूल किया और जब किसी अकाल, अनावृष्टि अथवा किसी और आकस्मिक बाधा के कारण सामान मिलने में कठिनाई हुई तो उसने व्यापारियों तथा नागरिकों को इन्हीं गोदामों से अन्न बिकवाने का प्रबन्ध किया। इस व्यवस्था के कारण बाज़ार में कभी अन्न की कमी नहीं पड़ी और न केवल नगर-निवासी तथा पड़ोसी गाँवों के लोग भी वहाँ से सस्ता सामान खरीदने लगे इस भांति भोजन का कष्ट बहुत कम हो गया।

खाद्यान्नों की अपेक्षा कपड़े का मूल्य अधिक था। अलाउद्दीन ने कपड़े का जो मूल्य निर्धारित किया था उस मूल्य पर बेचने में व्यापारियों को घाटा होने की आशंका थी। इस कारण साधारणतः कोई कपड़े की दूकान का लाइसेन्स लेने को प्रस्तुत नहीं था। अस्तु, अलाउद्दीन ने इसके लिए यह व्यवस्था की कि उसने मुलतानी व्यापारियों को यह व्यापार सौंप दिया। उनको राजकोष से धन दिया जाता था। वे जिस भाव पर कपड़ा मिलता था ले आते थे और उसे बेचकर सारा मूल्य सरकारी राजकोष में जमा कर देते थे। उनको केवल निश्चित दर के अनुसार कमीशन दे दिया जाता था। इस भांति प्रतीत होता है कि कपड़े का व्यापार एक प्रकार से सरकार को अपने हाथ में ले लेना पड़ा। यद्यपि सामान्य कोटि के कपड़े का मूल्य अधिक नहीं था परन्तु अच्छे प्रकार के कपड़े और विशेषकर रेशमी वस्त्र बहुत महँगे थे। बर्नी ने जो भाव दिये हैं उनमें से कुछ निम्नांकित हैं :—

कपड़ा

दिल्ली का रेशम	१६ टंक
सिलहटी (उत्तम)	६ टंक
,, (मध्यम)	४ टंक
,, (सामान्य)	२ टंक
लंकलाट (उत्तम)	१ टंक का २० गज
,, (सामान्य)	,, ४० गज
चादर	१० जीतल

इसी भांति अन्य आवश्यक वस्तुओं का भी मूल्य निर्धारित कर दिया गया था और उनकी खरीद तथा बिक्री की समुचित व्यवस्था कर दी गई थी। कुछ प्रमुख वस्तुओं के मूल्य इस प्रकार थे :—

घोड़ा (उत्तम)	१००—१२० टंक
,, (मध्यम)	८०—९० ,,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

	घोड़ा	(सामान्य)	६५—७० टंक
अन्य वस्तुएँ	टट्टू		१०—२५ ,,
	गाय	(उत्तम)	१०—१२ ,,
	,,	(सामान्य)	३—४ ,,
	दासी	(साधारण)	५—१२ ,,
	दासी	(सामान्यतः सुन्दरी)	२०—४० ,,
	दास		२०—३० ,,

यह मूल्य-नियंत्रण सारे देश के लिए था अथवा केवल दिल्ली के लिए? विद्वानों में इस विषय में काफी मतभेद है। बर्नी कभी स्पष्टतः दिल्ली का उल्लेख करता है और कभी संपूर्ण साम्राज्य की बात कहता है।

नियन्त्रित क्षेत्र

परंतु इस विषय में विशेष विचारणीय बात यह है कि सुलतान ने मूल्य-नियंत्रण मुख्यतः सेना की सुविधा के लिए किया था। सेना संपूर्ण साम्राज्य में फैली हुई थी और उसे सर्वत्र निश्चित दर के अनुसार ही वेतन मिलता था। अस्तु, जब तक सभी सैनिक छावनियों में सस्ते मूल्य पर सामान न मिलता तब तक यह व्यवस्था सैनिकों को संतुष्ट नहीं कर सकती थी। इससे यह युक्ति-युक्त प्रतीत होता है कि या तो मूल्य-नियंत्रण सभी राज-धानियों तथा प्रधान दुर्गों में लागू किया गया होगा और वहाँ की व्यवस्था दिल्ली के ही समान होने के कारण इतिहासकारों ने उसका अलग वर्णन नहीं किया अथवा दिल्ली में साम्राज्य भर की सेना के लिए आवश्यक परिमाण में सामान खरीद लिया जाता था और उसे सैनिक-विभाग द्वारा सैनिकों में बिकवाने की व्यवस्था कर दी गई थी।

अलाउद्दीन ने मूल्य-नियंत्रण, राशनिंग आदि की जो व्यवस्था की थी उसका व्यापारी-वर्ग द्वारा स्वागत नहीं किया जा सकता था क्योंकि उनका लाभ कम होगया और व्यक्तिगत सद्व्यवहार अथवा चालाकी के कारण दूसरे व्यापारी की अपेक्षा अधिक लाभ उठाने की संभावना नष्ट हो गई। जो वर्णन मिलता है उससे पता चलता है कि प्रारं-भिक वर्षों में इस प्रकार का विरोध हुआ भी। परंतु अला-उद्दीन की व्यवस्था सफल इस कारण हुई क्योंकि उसने सामान मंगवाने की व्यवस्था ठीक रखी और बाज़ार का कड़ा निरीक्षण करके उन सब को कठोर दण्ड दिया जो किसी प्रकार उसके नियमों के विरुद्ध आचरण करते थे। उसके कर्मचारी सुलतान के भय तथा अपने व्यक्तिगत चरित्र के कारण बहुत उत्साह और निष्पक्षता के साथ अपने कर्तव्य का पालन करते थे और यदि उनकी तनिक भी ढिलाई होती थी तो सुलतान उन्हें भी सामान्य व्यक्तियों की भांति दण्ड देता

नियन्त्रण की सफलता के कारण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। एक बार मलिक क़बूल ने अन्न की महँगी के कारण सुलतान से प्रार्थना की कि अनाज का भाव थोड़ा बढ़ा दिया जाय। सुलतान ने इस पर खुले बाज़ार में उसे कोड़े लगवाये क्योंकि उसे संदेह हुआ कि संभवतः उसने व्यापारियों से घूस लिया है। इस प्रकार के व्यवहार के कारण सभी कर्मचारी अत्यंत कड़ाई और तत्परता के साथ नियमों का पालन करवाते थे। व्यापारियों के व्यवहार तथा सरकारी कर्मचारियों के नियंत्रण की परीक्षा करने के लिए सुलतान छोटे-छोटे बच्चों को भेजकर सामान मोल मँगाता था और किसी प्रकार की गड़बड़ी होने पर दीवान-ए-रियासत को बुलाकर दिखाता था कि देखो बाज़ार की क्या दशा है। वह तुरंत संबंधित व्यापारी को कठोर दण्ड देता था। इस भांति सुलतान की व्यवस्था में बाधा पहुँचाने का किसी को साहस नहीं होता था। अलाउद्दीन की इस नीति ने धनी मानी सेठों की समृद्धि का प्रायः अंत कर दिया।

अलाउद्दीन के जिन नियमों का ऊपर उल्लेख किया गया है उनके कारण अमीरों व्यापारियों तथा सैनिकों के पास अतिरिक्त सोना-चाँदी नहीं रह गया और वे केवल साधारण स्तर का सुखमय जीवन बिता सकते थे। अस्तु यह आशा नहीं की जा सकती थी कि सुलतान भूमिपतियों और किसानों की दशा में कोई परिवर्तन नहीं करेगा। अलाउद्दीन ने इस क्षेत्र में भी कई महत्वपूर्ण परिवर्तन किये। उसका विश्वास था कि जिन लोगों के पास अचल संपत्ति रहती है वे धीरे-धीरे बिना परिश्रम किये भी धनी होते जाते हैं। इस कारण उनमें अहंकार बढ़ जाता है और वे राजाज्ञाओं तथा राजकर्मचारियों की अवहेलना करने लगते हैं और यदि उनके साथ कड़ाई का व्यवहार किया जाय तो वे विद्रोह करने लगते हैं। फ़ारसी की एक कहावत के अनुसार फ़साद की जड़ हैं ज़र, ज़न और ज़मीन। अलाउद्दीन इन फ़साद के कारणों को समूल नष्ट कर देना चाहता था। अस्तु, उसने पहला आदेश यह निकाला कि साम्राज्य की सारी भूमि खालसा कर ली जाय अथवा सीधे सरकार के स्वामित्व में ले ली जाय। इस भांति जिन लोगों को इनाम (पारितोषिक), मिल्क (स्थायी संपत्ति), अथवा वक्फ़ (दान) में भूमि दी गई थी उस सब पर सरकार का अधिकार हो गया। कुछ लोगों के संबंध में केवल इतनी सुविधा कर दी गई कि यद्यपि भूमि की आय उन्हीं लोगों को पहले के समान मिलती रही परंतु उनका स्वामित्व समाप्त हो गया और उनके वंशजों का उस पर कोई अधिकार नहीं रह गया।

भूमिकर संबंधी नियम

मुसलमान भूमिपतियों के अतिरिक्त हिन्दू भूमिपति भी थे। उनके संबंध में सरकार को अनेक शिकायतें थीं। अभी तक सरकार का किसानों से कोई सीधा संबंध नहीं था। देहाती जनता से कर उगाहने का भार स्थानीय हिन्दू भूमिपतियों पर छोड़ दिया गया था। बर्नी ने उनको चौधरी, मुक़द्दम और खोत के नाम

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिये हैं ये लोग अपने क्षेत्र से मनमाना कर उगाहते थे। उसमें से कुछ भाग राजकर्मचारियों को देकर शेष सब स्वयं खा जाते थे। जब वे नियमित रूप से कर चुकाते थे तब भी वे अपनी भूमि का कर प्रायः किसानों से ही वसूल कर लेते थे और इस भांति उनकी भूमि की संपूर्ण आय बच जाती थी। वे बहुसंख्यक पशु पालते थे और बहुत-सी भूमि को गोचर बना कर उस पर कर नहीं देते थे; यद्यपि उनको पशुपालन से काफ़ी आय होती रहती थी। फल यह होता था कि वे खूब धनी हो गये थे, वे मुसलमानों से किसी प्रकार दबते नहीं थे, अच्छे वस्त्र पहनते, पान खाते और सुवर्ण के आभूषण पहनकर घोड़ों पर चढ़े आते-जाते थे। राजशक्ति के दुर्बल होते ही वे कर देना बिलकुल बंद कर देते थे और विद्रोह होने पर लूट के लालच तथा कर देने से बचने के उद्देश्य से विद्रोही का साथ देने के लिए सहर्ष तैयार हो जाते थे।

हिन्दू भूमिपतियों के प्रति असन्तोष के कारण

अलाउद्दीन ने इस मध्यम वर्ग की शक्ति, संपन्नता और हेकड़ी को नष्ट कर देने का निश्चय किया। उसने राज-कर्मचारियों के हिसाब की जाँच कराई और उनको संपूर्ण अप्राप्त कर अदा करने के लिए बाध्य किया। फलतः इन राजकर्मचारियों ने मध्यस्थ हिन्दू भूमिपतियों के साथ कठोरता का व्यवहार किया और उनसे पूरा रुपया वसूल करना आरंभ किया। यदि वे विरोध करते तो सुलतान की स्थानीय सेना की सहायता से उनको परास्त कर दिया जाता था और उनकी सारी संपत्ति छीन ली जाती थी। इसलिए उनको नियमित कर देना पड़ने लगे। उसने पटवारियों के कागद की जाँच कराई जिससे यह पता चल गया कि किसके अधिकार में कितनी भूमि है। भविष्य में भूमिपतियों को अपनी जोत की भूमि का कर देना पड़ने लगा और पशुओं की संख्या के आधार पर उनसे चराई का कर वसूल किया जाने लगा। स्थानीय आमिलों को यह आदेश दिया गया कि वे कड़ाई से जाँच करें ताकि पटवारी और भूमिपति मिलकर अथवा अलग-अलग किसानों से किसी प्रकार की घूस अथवा निश्चित कर से अधिक धन न ले सकें। जिस व्यक्ति के विरुद्ध इस प्रकार की शिकायत मिलती थी, उसे कड़ा दण्ड दिया जाता था। इन सब नियमों का फल यह हुआ कि भूमिपतियों पर सरकार का प्रभाव जम गया, उनकी आर्थिक दशा इतनी गिर गई कि बर्नी के मतानुसार उनके घरों में सोना-चाँदी दिखाई देना तो दूर की बात उन्हें दोनों समय भोजन मिलने में भी कठिनाई होने लगी, उनका व्यक्तिगत सम्मान और अहंकार समाप्त हो गया तथा उनका स्थान सामान्य कृषकों के समान हो गया।

भूमिपतियों का दमन

साम्राज्य के केन्द्रीय भाग में जिसमें दिल्ली, पालम, रेवाड़ी, अफ़ग़ानपुर, अम-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रोहा बदायूँ, कोयल, कटेहर, समाना, सुन्नम, लाहौर और दिपालपुर सम्मिलित थे भूमि की नाप कराई गई और क्षेत्रफल के आधार पर

भूमिकर-व्यवस्था उपज का १/२ लगान नियत किया गया। लगान अनाज के रूप में दिया जा सकता था और नकद भी। परंतु मूल्य-नियंत्रण करने के बाद सुलतान अनाज लेना अधिक पसंद करता था। मालवा और राजपूताना के कुछ भाग में भी यही व्यवस्था चलाई गई। परंतु अवध, गुजरात' सिंध, मालवा और राजपूताना के अधिकांश भाग की भूमि नापी नहीं जा सकी।

उपज का १/२ कर के रूप में ले लेना इस्लामी नियम के विरुद्ध नहीं था। परंतु इसके पूर्व इतना अधिक कर कभी नहीं लिया गया था। इसके अतिरिक्त किसानों को घरी और चराई नाम के कर भी देना पड़ते थे। इतना कर दे चुकने के बाद जो अनाज बचता था उसे भी किसान स्वेच्छा से बेच नहीं सकता था। उसे सरकार द्वारा निर्धारित सस्ते मूल्य पर सरकार द्वारा निश्चित व्यक्ति को वह सब अनाज बेच देना पड़ता था जो उसके परिवार के भोजन की व्यवस्था करने पर बचता हो। इन सब नियमों के कारण सामान्य किसान की भी दशा काफ़ी खराब रही होगी और उसको भी सारा समय रोटी की ही चिन्ता में लगाना पड़ता होगा।

अलाउद्दीन ने ५०% कर क्यों लगाया? इस विषय में विद्वान एकमत नहीं हैं। अलाउद्दीन की नीति थी सभी को निर्धन कर देना। इसलिए उसने उस क्षेत्र में कर बढ़ा दिया जहाँ भूमि अधिक उर्वर थी। सैनिक व्यय बढ़ जाने तथा दरबार के ठाट-बाट के कारण शायद उसे अधिक धन की आवश्यकता थी और उसे आय बढ़ाने का सर्वोत्तम उपाय यही जान पड़ा कि भूमिकर बढ़ा दिया जाय। डाक्टर त्रिपाठी ने यह मत प्रकट किया है कि अलाउद्दीन ने राजनीतिक सुविधा एवं अपनी धर्म-निरपेक्ष नीति के कारण यह अवश्य अनुभव किया होगा कि यदि जज़िया बन्द कर दिया जाय तो हिन्दू उसके प्रति अधिक श्रद्धा-भक्ति रखने लगेंगे और इस प्रकार उसकी शक्ति दृढ़तर हो जायगी। इसलिये उसने सम्भवतः ज़जिया लेना बन्द कर दिया और इस घटी को पूरा करने के लिए उसने भूमिकर में वृद्धि कर दी। डाक्टर क़ुरेशी का मत है कि अलाउद्दीन ने भूमिकर बढ़ा दिया परन्तु उसने हिन्दू ज़मींदारों, पटवारियों तथा स्थानीय आमिलों की घूसखोरी बन्द कर दी। इस कारण हिन्दू जनता को पहले की अपेक्षा अधिक धन नहीं देना पड़ता होगा साथ ही उनकी आवश्यकता की वस्तुएँ सस्ती मिलने के कारण उनको अंततः लाभ ही हुआ होगा। अलाउद्दीन ने जो और अनेक कर लिये जाते थे वे सब बन्द कर दिये थे। इस कारण भी कृषक के ऊपर पहले की अपेक्षा कम भार रहा होगा। परन्तु डाक्टर किशोरी शरण लाल का मत है कि सुलतान ५०% भूमिकर के अतिरिक्त जज़िया और घरी तथा चराई लेता था। उनका मत यह है कि सुलतान ने हिन्दू जनता को करों के भार से उसी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार त्रस्त करना चाहा जिस भांति उसने व्यापारियों तथा मुसलमान अमीरों की सम्पत्ति छीन ली थी। इसी भांति चराई के विषय में भी थोड़ा मतभेद है। बर्नी के अनुसार गोचर में जाने वाले सभी पशुओं पर कर लगाया जाता था। परन्तु फ़रिश्ता कहता है कि दो जोड़ी बैल, २ भैंस, २ गाय और १० बकरियों पर कुछ कर नहीं देना पड़ता था। जिन लोगों के पास इससे अधिक पशु होते थे, उन्हीं को कर देना पड़ता था। यदि यह ठीक हो तो यह मानना पड़ेगा कि ९०% किसानों को चराई का कर न देना पड़ता होगा। प्रायः वे लोग जो गाँव में रहते थे और केवल पशु पालने तथा घी-दूध बेंचने का व्यापार करते थे उन्हीं को चराई कर में विशेष रकम देनी पड़ती होगी। जमींदारों में भी ऐसे अनेक थे जिन्होंने कृषि के स्थान पर पशुपालन का व्यवसाय कर लिया था। यह सभी लोग पहले कुछ कर नहीं देते थे यद्यपि वे सरकारी भूमि का उपयोग करते थे और उनकी आर्थिक दशा भी अच्छी थी। इस कारण अलाउद्दीन ने उनसे भी रुपया वसूल किया।

करों की वसूली का काम राजकर्मचारी करते थे। परन्तु उनका संबंध कृषकों से न होकर मुक़द्दमों, चौधरियों, खोतों आदि से ही होता था। यह लोग अकसर बहुत घूसखोर होते थे। सुलतान ने उनका वेतन बढ़ा दिया परन्तु जिन लोगों के विरुद्ध घूस की शिकायत थीं उनको उसने कड़ा दण्ड दिया। बर्नी लिखता है कि दस हजार आमिल और कारकुन दण्डित हुए थे और इस महकमे की नौकरी इतनी खराब समझी जाने लगी कि केवल अत्यंत साहसी व्यक्ति ही इस महकमे में आते थे। इन लोगों के साथ कोई अपनी कन्या का विवाह नहीं करता था। किसानों से कर वसूल करने का काम अब भी उसी वर्ग के हाथ में रहा जिसके हाथ में यह अभी तक था। अन्तर केवल इतना हो गया कि अब उनको सिवाय थोड़ी अधिक प्रतिष्ठा और संभवतः कमीशन के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता था। इन परिवर्तनों के कारण सुलतान का प्रभाव ग्रामीण जनता तक व्याप्त हो गया।

अलाउद्दीन ने उलमा का राजनीतिक प्रभाव पहले से घटा दिया था। किन्तु तो भी उनमें उतना असंतोष नहीं फैला जितना कि मुहम्मद तुग़लक अथवा अकबर के समय में हुआ। इसके अनेक कारण थे। न्याय-विभाग में उसने अब भी उनका प्रभुत्व बना रहने दिया। वह उनका परामर्श स्वीकार न करने पर भी बीच-बीच में उनसे धर्म और नियम की चर्चा करता था। इससे उनका अहंकार तुष्ट होता था। इस्लाम के प्रति उत्साह दिखाने के लिए उसने अनेक सामाजिक सुधार भी किये। शराब के व्यापार की मनाही की चर्चा पहले की जा चुकी है। उसने द्यूतघर भी बंद करा दिये और जुआ खेलने वालों को कड़े दण्ड दिये। जो लोग जादू-टोना करके अबोध जनता को ठगते थे उनको उसने ढेले मार-मारकर मरवा दिया। व्यभिचार,

सामाजिक सुधार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेश्या-वृत्ति आदि को भी उसने समाप्त करने का उद्योग किया और दुराचारिणी स्त्रियों को मृत्यु-दण्ड दिलाया। इन सुधारों के कारण भी उलमा वर्ग उससे प्रसन्न रहता था।

सन् १२९२ ई० से १३१२ ई० तक अलाउद्दीन के जीवन में सफलताओं का ज्वार रहा परन्तु उसके बाद असफलताओं का भाटा आरंभ हुआ। उसने यौवनकाल में इन्द्रिय सुखों का अपरिमित आनन्द लेकर अपने शरीर को खराब कर डाला था। प्रौढ़ावस्था में भी उसने वही क्रम जारी रखा। अस्तु, उसका शरीर और बिगड़ता गया। फलतः वह समय के पूर्व बूढ़ा होने लगा। विषय-वासना ने अब भी उसे मुक्ति नहीं दी। शरीर के खराब होने से उसकी मानसिक शक्ति भी क्षीण हो गई और वह चापलूसी सुनते-सुनते बहुत ज़िद्दी, चिड़चिड़ा और अस्थिर-बुद्धि हो गया।

अलाउद्दीन की मृत्यु (१३१६ ई०)

उसके राजनियम सभी वर्गों के लिए किसी-न-किसी रूप में अप्रीतिकर थे। इस समय सुलतान की बीमारी और दुर्बलता का समाचार पाकर उन लोगों ने क्रमशः अपना असंतोष मुखरित करना आरंभ किया। दूरस्थ प्रांतों में विद्रोह भी आरंभ हो गये। देवगिरि के शासक हरपालदेव ने काफ़ूर के लौटते ही अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। चित्तौड़ पर सीसोदियों के हमले होने लगे और उन्होने राज्य का बहुतेरा भाग मालदेव से छीन लिया। अन्य स्थानों में भी विद्रोह के लक्षण प्रकट होने लगे। इन सूचनाओं के मिलने से सुलतान को बहुत संताप होता था परंतु अपनी अस्वस्थता के कारण वह सिवाय कुढ़ने के और कुछ नहीं कर पाता था।

दुर्भाग्यवश, उसके विश्वास-पात्र परामर्शदाता भी मर गये थे और जो बच रहे थे उनकी अब काफ़ूर के प्रभाव के कारण सुलतान तक पहुँच नहीं रह गई थी। अमीरों में सब से अधिक प्रभावशाली मलिक काफूर था जिसको ताजुल्मुल्क की पदवी तथा वज़ीर का पद मिला हुआ था। इससे भी बढ़ कर बात यह थी कि सुलतान उसके रूप पर मुग्ध था और धीरे-धीरे उसी की आँखों से देखने का अभ्यस्त होता जा रहा था। काफ़ूर का प्रतिद्वंदी था गुजरात का हाकिम अलप खां जिसकी बहन माहरू साम्राज्य की पट्टमहिषी थी और मलका-ए-जहाँ के नाम से विभूषित थी। माहरू का ज्येष्ठ पुत्र खिज्र खां युवराज घोषित किया जा चुका था यद्यपि उसमें शासन की योग्यता के स्थान पर विलासप्रियता की मात्रा ही अधिक थी। अस्तु, अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद खिज्र खां के सुलतान होने पर अलप खां ही साम्राज्य में सबसे अधिक प्रभावशाली व्यक्ति होगा। अलप खां की दो कन्याएँ थीं जिनमें से एक का विवाह खिज्र खां के साथ और दूसरी का शादी खां के साथ हुआ था। काफ़ूर और अलपखां में बिलकुल नहीं पटती थी। अलाउद्दीन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चहता था कि उसकी स्त्री और उसके पुत्र उसकी अच्छे प्रकार से चिकित्सा करायें और उसकी ध्यान-पूर्वक सेवा करें परन्तु माहरू सुलतान की बीमारी के बावजूद धूमधाम के साथ विवाहोत्सव मना रही थी और युवराज खिज्र खां देवलरानी से विवाह होने के बाद उसके प्रणय में इतना फँस गया कि उसे संसार की किसी अन्य वस्तु की चिन्ता के लिए अवकाश ही नहीं मिलता था। अलाउद्दीन इस उपेक्षा के कारण और भी दुःखी रहता था और उसकी दशा बिगड़ती जा रही थी। काफ़ूर ने इस स्थिति से पूरा लाभ उठाया। सुलतान का प्रेमपात्र होने के कारण उसे सुलतान से एकान्त में मिलने का हमेशा ही अवसर मिलता था। उसने उपयुक्त अवसर पर अलपखां, खिज्र खां और मलका-ए-जहाँ की बड़ी बुराई की और कहा कि वे सब उसकी मृत्यु की बाट देख रहे हैं। अलाउद्दीन को सहसा इस पर विश्वास नहीं हुआ। परंतु उसके मन में संदेह घर करने लगा। इस स्थिति से लाभ उठाकर काफ़ूर ने अलपखां का वध करा दिया परंतु वह उसके भाई का वध करने में असफल रहा और जब उसने अलपखां के हत्यारे कमालुद्दीन को गुजरत का शासक नियुक्त करके भेजा तब गुजरातियों ने उसका विरोध किया और उसे पकड़कर मार डाला। इस भांति गजरात में भी विद्रोह आरंभ हो गया। मलिक काफ़ूर ने सुलतान के कान भरके खिज्रखां को पहले अपमानित करके अमरोहा भिजवा दिया और बाद में उसे बंदी बनाकर ग्वालियर भेज दिया जहाँ से वह फिर कभी वापस नहीं आ सका। इन आघातों को सहते जाना दुर्बल सुलतान की शक्ति के बाहर था। फलतः सन् १३१६ ई० में वह अत्यन्त दुखी अवस्था में मर गया। संभवतः काफ़ूर ने संपूर्ण शक्ति अपने हाथ में कर लेने के बाद उसको विष दे दिया। इस भांति इस महान विजेता और योग्य साम्राज्य-निर्माता की जीवन-लीला समाप्त हुई।

अलाउद्दीन की महत्ता

अलाउद्दीन निःसंदेह दिल्ली के सुलतानों में सब से महान है। उसने तुर्की अमीरों उलमा, हिन्दू जमींदारों, व्यापारियों तथा सामान्य जनता को समान रूप से वश में करके एक निरंकुश शासन की स्थापना की। उसने सैनिक-वाद को चरम-उत्कर्ष पर पहुँचा दिया और दिखा दिया कि एक योग्य और दृढ़-प्रतिज्ञ व्यक्ति केवल सेना की सहायता से शासन तथा साम्राज्य-स्थापन में कितनी सफलता प्राप्त कर सकता है। अलाउद्दीन बड़ी अच्छी सूझ-बूझ का व्यक्ति था। उसमें अदम्य साहस और महत्वाकांक्षा कूट-कूटकर भरे थे। वह मनुष्यों की योग्यता का उत्तम पारखी था और उसकी बहुमुखी सफलता का एक प्रधान कारण योग्य पदाधिकारियों का चयन था। वह सम्राट के पद की प्रतिष्ठा में आँच नहीं आने देता था परंतु वह इतना अहंकारी नहीं था कि दूसरों का परामर्श स्वीकार करना अपने लिए अपमान-जनक अथवा लज्जास्पद समझे। वह अपने निश्चय पर अटल रहता था, परिणाम चाहे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो कुछ हो परंतु वह संभव और असंभव का विचार करके निश्चय करता था। न वह मुहम्मद तुग़लक की तरह दम्भी और जिद्दी था, न कैक़ुबाद की तरह इन्द्रिय-दास और न बलबन की तरह आवश्यकता से अधिक मंगोल-भीरु। वह कई दृष्टियों से शेरशाह के समान था। वह उसी प्रकार नगण्य पद से उन्नति करके सम्राट् बना था, उसी की भांति स्वार्थ-सिद्धि में सभी संभव साधनों का निःसंकोच उपयोग करता था और शासन-व्यवस्था में उसने कई नूतन प्रयोग किये। अलाउद्दीन की धार्मिक नीति भी बहुत कुछ शेरशाह की नीति के समान थी। परंतु साहस तथा पराक्रम में वह संभवतः शेरशाह से श्रेष्ठतर था। अलाउद्दीन ने ही दक्षिण-विजय का मार्ग प्रशस्त किया, उसी ने मंगोलों को सिंधु पार खदेड़कर उनके आक्रमण के भय को सदा के लिए समाप्त किया और कई दिशाओं में उसने ऐसी नीति अपनाई, जिसका अनुकरण मुहम्मद बिन तुग़लक, शेरशाह और अकबर ने किया। उसकी मूल्य-नियंत्रण-व्यवस्था अभूतपूर्व थी और फिर भी उसने उसको पूर्णतया सफल बनाया और किसी प्रकार की चोरबाजारी, घूसखोरी अथवा अव्यवस्था नहीं हुई। यह उसकी योग्यता का परिचय देता है। अलाउद्दीन बिलकुल पढ़ा-लिखा नहीं था परंतु वह आवश्यकता होने पर विद्वानों से परामर्श करता था और इस भांति इस कमी को पूरी कर लेता था। वह इस्लाम के सिद्धान्तों का आदर करता था परंतु देश-काल का ध्यान रखे बिना उनका अंधानुकरण करना वह विवेक के विरुद्ध समझता था। वह स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश होते हुए भी सामान्यतः पक्ष-पात रहित था। इसी कारण उसके विरुद्ध जातीय अथवा वर्गीय आधार पर विरोध खड़ा करना संभव नहीं था। उसकी नीति में क्रूरता की छाप परिलक्षित होती है परंतु विद्वानों का मत है कि अलाउद्दीन को जिस परिस्थिति में शासन करना था उसमें क्रूरता के बिना सफल शासन करना असंभव था। हाँ, यह कहा जा सकता है कि अलाउद्दीन शायद थोड़ी कम क्रूरता करके भी शासन चला सकता था। परंतु इसमें भी मतभेद के लिए स्थान है। अलाउद्दीन ने अधिक अत्याचार उन पर किया जो जनता पर अत्याचार किया करते थे—अमीर, सैनिक, सेठ-साहूकार एवं जमींदार। अस्तु, एक दृष्टि से अलाउद्दीन का यह कार्य लोकहित-साधक कहा जा सकता है। संभव है, जनता ने अलाउद्दीन के इस कार्य का मन ही मन अभिनंदन भी किया हो।

अलाउद्दीन में दोषों का अभाव नहीं था। उसका व्यक्तिगत चरित्र निष्कलंक नहीं था। उसका और काफ़ूर का संबंध तथा उसका अपनी प्रथम पत्नी के प्रति व्यवहार बलबन के आदर्श के अनुसार सम्राटोचित नहीं था। उसमें स्वार्थ और अहंकार भी काफी था। उसकी क्रूरता एवं असफलता का भी उल्लेख पहले किया गया है और उसकी सबसे खराब मिसाल है जलालुद्दीन को धोखा देकर मरवा देना।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी इच्छा की पूर्ति में वह दूसरों की भावनाओं का ध्यान नहीं रखता था। इसी तरह वह इस्लाम के सिद्धान्तों का भी व्यक्तिगत जीवन में कड़ाई से पालन नहीं करता था। मुस्लिम सम्राट् का कर्तव्य है कि वह अपने जीवन द्वारा जनता को धार्मिक पथ पर चलने की प्रेरणा दे। परंतु मद्यनिषेध के अतिरिक्त अलाउद्दीन के जीवन में और कोई ऐसा गुण नहीं था जिससे लोगों को अच्छे मुसलमान बनने की प्रेरणा मिलती। इन दोषों को देखते हुए वह असाधारण नहीं प्रतीत होता। फिर भी उसने राजनीतिक एवं सैनिक क्षेत्र में जो सफलता प्राप्त की वह निश्चय ही असाधारण थी भले ही वह अस्थायी एवं व्यक्तिगत रही हो। शेरशाह और अकबर को छोड़कर कोई दूसरा भारतीय मुसलमान शासक नहीं है जो सर्वांगीण तुलना में अलाउद्दीन की समानता कर सके और उससे श्रेष्ठतर तो अकबर के अतिरिक्त अन्य कोई भी नहीं है।

सहायक ग्रन्थ (अध्याय ७ एवं ८ के लिए)

(१) इलियट और डासन, भाग ३।
(२) किशोरीशरणलाल—हिस्ट्री आफ दी खिलजी, पृष्ठ ६९-३६३।
(३) त्रिपाठी—पृष्ठ ४८-५४; २५५-२६७
(४) कुरेशी—ऐडमिनिस्ट्रेशन आफ दी सल्तनेत आफ डेल्ही।
(५) ईश्वरीप्रसाद—पृष्ठ २१८-२५४।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खिलजी साम्राज्य का पतन और अन्त

अलाउद्दीन की मृत्यु के पहले ही काफ़ूर ने अलपखां का वध करा दिया था और मलका जहाँ तथा उसके दोनों पुत्रों को बंदीगृह में डलवा दिया था। सुलतान के ऊपर अब उसी का पूर्ण प्रभाव था। उसकी मृत्यु के बाद भी अपना प्रभुत्व बनाये रखने के उद्देश्य से उसने सुलतान के सबसे छोटे लड़के शहाबुद्दीन उमर को युवराज बनाने का निश्चय किया। वह राजा रामदेव की कन्या का पुत्र था। इस कारण संभव था कि हिन्दू जनता उसके राज्यारोहण का स्वागत करे। अस्तु उसने अलाउद्दीन से उसको उत्तराधिकारी घोषित करने की प्रार्थना की। सुलतान ने इस पर कुछ नहीं कहा। काफूर ने मौन को सम्मति का लक्षण मानकर तुरंत उसे युवराज घोषित कर दिया और फिर सुलतान को विष दिलवाकर समाप्त कर दिया। सुलतान की मृत्यु के उपलक्ष में एक दिन शोक मनाने के पश्चात् उसने शहाबुद्दीन उमर को गद्दी पर बिठा दिया और उसकी विधवा माता से स्वयं विवाह कर लिया।

शहाबुद्दीन उमर (१३१६ ई०)

काफ़ूर ने अब राजसी ठाट से रहना और सुलतान की तरह शासन करना आरंभ कर दिया। अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए उसने शादी खां तथा खिज्रखां को अंधा करवा दिया और अपने समर्थकों को विशेष सम्मान दिया। उसने राजकुमार मुबारक खां को भी कैद में डाल दिया। परंतु उसके व्यवहार से बहुतेरे सर्दार असंतुष्ट होने लगे और उसके पतन की बाट देखने लगे। काफ़ूर अपने अधिकार को और अधिक पुष्ट एवं व्यापक बनाने की योजनाओं पर अपने अन्तरंग मित्रों के साथ रात्रि में विचार-विमर्श किया करता था। उसने सोचा कि राजकुमार मुबारक खां को भी अंधा करना आवश्यक है। अस्तु, उसने कुछ पायकों को इस कार्य को करने के लिए भेजा। परंतु मुबारकखां ने उनको एक बहु-मूल्य हार देकर तथा उनको सुलतान अलाउद्दीन के प्रति नमकहलाली का ध्यान दिला कर अपनी रक्षा कर ली। इन

काफूर का पतन और उसकी हत्या

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पायकों ने सोचा कि यदि यह पता चल गया कि उन्होंने आदेश का उल्लंघन किया है तो मलिक नायब निश्चय ही उनका वध करा देगा। अस्तु, अपने प्राणों की रक्षा करने के उद्देश्य से उन्होंने मलिक काफ़ूर का ही वध करने का निश्चय किया और शीघ्र ही इस निश्चय को कार्य में परिणत कर दिया।

अब राजदर्बार के अमीरों ने मुबारकखां को क़ैद से निकाल कर उसे शासन का भार सौंपा। मुबारक ने पहले संरक्षक का पद ग्रहण किया और लगभग २ महीने तक वह अपने भाई की ओर से शासन करता रहा। इस काल में उसने बड़े परिश्रम और अध्यवसाय के साथ कार्य किया और अपनी दक्षता तथा उदारता से सभी लोगों का विश्वासपात्र बन गया। अब उसने शहाबुद्दीन को बंदीगृह में डाल दिया और वह स्वयं क़ुत्बुद्दीन मुबारकशाह के नाम से गद्दी पर बैठ गया।

क़ुत्बुद्दीन मुबारकशाह (१३१६-२० ई०)

गद्दी पर बैठते ही उसने ऐसे कार्य किये जिनके कारण उसकी लोकप्रियता बढ़ गई। उसने अपने समर्थकों को नई पदवियाँ तथा ऊँचे पद दिये और सैनिकों को छः मास का वेतन इनाम के रूप में दिया। जिन लोगों को देश से बाहर निकाल दिया गया था उसको वापस आने की अनुमति दे दी गई और जो लोग बंदीगृह में थे उनमें से नज़रबन्दों को छोड़कर शेष सब छोड़ दिये गये। उसने अलाउद्दीन के वे सब नियम जो जनहित-विरोधी बताये जाते थे बदल दिये अथवा ढीले कर दिए। उसने साधु-संतों के वज़ीफे बढ़ा दिये और जिन लोगों की जागीरें खालसा कर ली गई थीं उनको फिर से जागीरें दे दीं। उसने दण्ड-विधान को भी नर्म कर दिया और राजकर्मचारियों के साथ अधिक उदारता का व्यवहार किया। उसने मूल्य-नियंत्रण को भी ढीला कर दिया जिसके कारण व्यापारी-वर्ग उससे प्रसन्न हो गया और उसने राजकरों को घटा-कर जनता का भी प्रेम प्राप्त कर लिया। परंतु इस उदारता का फल कुछ दशाओं में अहितकर भी हुआ। उसने अपने एक स्नेहभाजन दास हसन को खुसरोखां की उपाधि तथा मलिक नायब की जागीर दे दी और कुछ मास के उपरांत उसे वज़ीर नियुक्त किया। इस नियुक्ति से कुछ सर्दार असंतुष्ट हो गये। राजकर्मचारियों के प्रति उदारता का परिणाम यह हुआ कि वे लोग फिर रिश्वत लेने लगे और जनता को कष्ट देने लगे। मूल्य-नियंत्रण के हटने से व्यापारियों ने एक साथ दाम चढ़ा दिय और खूब मनमाना लाभ उठाने लगे। फिर भी उसकी उदारता के कारण जनता को हानि की अपेक्षा हर्ष ही अधिक हुआ।

मुबारकशाह ने राजगद्दी पर बैठने के बाद दो वर्ष तक काफी तत्परता और लगन के साथ कार्य किया। परंतु उसके बाद उसमें आलस्य, विलासिता, इन्द्रियलोलुपता, व्यभिचार आदि दुर्गुण तेज़ी से बढ़ने लगे और उनके फलस्वरूप षड्यंत्रकारियों को इतनी सुविधा

विद्रोहों का दमन
(१) गुजरात

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिल गईं कि उन्होंने सुलतान का वध कर दिया। पहले दो वर्षों में उसने विद्रोहों का दमन करके खूब यश प्राप्त किया। सबसे पहले उसने गुजरात पर आक्रमण किया जहाँ अलपखां की हत्या के समय से ही सुलतान का अधिकार प्रायः समाप्त हो गया था। १३१६ ई० में ग़ाज़ी तुग़लक और ऐनुल्मुल्क मुलतानी को इस विद्रोह के दबाने का भार सौंपा गया। उन्होंने विद्रोहियों में फूट डालकर उन्हे पराजित कर दिया और सुलतान ने अपने श्वसुर ज़फ़रखां को गुजरात का हाकिम नियुक्त किया। १३१८ ई० में सुलतान को ज़फ़रखां की लोकप्रियता के कारण शायद कुछ संदेह हो गया। अस्तु उसने उसका वध करा दिया और हिसामुद्दीन को वहाँ का शासन सौंपा। परंतु जब हिसामुद्दीन के प्रति गुजरातियों में बहुत विरोध की भावना फैलने लगी तो उसने एक दूसरा हाकिम वहीदुद्दीन क़ुरेशी भेज दिया।

(२) देवगिरि (१३१८ ई०)

सन् १३१८ में सुलतान स्वयं देवगिरि का विद्रोह दबाने के लिए गया। खुसरोखां भी सुलतान के साथ था। हरपालदेव ने देवगिरि को अरक्षित छोड़ दिया और अपने मंत्री राघव के साथ एक सुरक्षित स्थान में सेना एकत्रित करना आरंभ किया। परंतु कुछ समय बाद वे दोनों ही पराजित हुए और हरपालदेव बंदी बना लिया गया। मुबारकशाह ने उसकी ज़िन्दा खाल खिंचवा ली और देवगिरि पर अपना सीधा शासन स्थापित करने के उद्देश्य से मलिक याकलखी को वहाँ का शासक नियुक्त किया। याकलखी ने थोड़े समय के बाद ही स्वतंत्र होने की चेष्टा की परंतु वह पराजित हुआ और दिल्ली भेज दिया गया जहाँ उसके नाक-कान कटवा दिये गये। ऐनुल्मुल्क मुलतानी को अब देवगिरि का शासन सौंपा गया।

सुल्तान के विरुद्ध षड्यन्त्र और उसकी हत्या

मुबारकशाह के व्यभिचार और अनाचार को देखकर लोगों के हृदय में उसके प्रति घृणा उत्पन्न होने लगी। खुसरो की उन्नति भी अनेक लोगों को खटकती थी। अस्तु, असंतोष बढ़ने लगा। खुसरो चाहता था कि सुलतान सुरा और सुन्दरी में ही सदा मस्त रहे ताकि साम्राज्य की संपूर्ण शक्ति उसके हाथ में आ जाय। मुबारकशाह अभी था भी नवयुवक और उस काल के वातावरण में इन्द्रिय-लोलुपता का होना बहुत आश्चर्यजनक भी नहीं था। परंतु मुबारकशाह ने उच्छृंखलता को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया। वह दर्बार में भी नशे में चूर रहता था, कभी वह स्त्रियों का वेश धारण करके नूपुर छमछमाता हुआ आता और कभी सुंदरी नर्तकियों और रूपवान ग़ुलामों द्वारा बड़े-बड़े अमीरों से ऐसी भद्दी छेड़छाड़ कराता कि वे अत्यन्त अपमानित अनुभव करते। बीच-बीच में वह बहुत कड़ी सजायें भी देने लगता था। इस कारण उसके विरुद्ध असंतोष बढ़ने लगा, बड़े-बड़े अमीर राजदर्बार से हटने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगे और महत्वाकांक्षी व्यक्ति षड्यन्त्र करने लगे।

सबसे पहले असदउद्दीन ने उसे देवगिरि से लौटते समय वध करने की योजना बनाई। असद मलिक खामोश का पुत्र था और इस भांति वह राजवंश से संबंधित था। जब मुबारकशाह को इस षड्यन्त्र का पता चला तो उसने षड्यन्त्रकारियों की हत्या करा दी और भविष्य में निश्चिन्त रहने के लिए उन सभी लोगों का भी वध करा दिया जो किसी प्रकार राजवंश से संबंधित थे। उसने अपने श्वसुर ज़फ़रखां तथा शाहीन का इसी समय वध कराया, मलिक खामोश के परिवार के सभी बच्चे भी मार डाले गये और खिज्रखां, शादीखां, तथा दूसरे राजकुमार भी जो ग्वालियर में क़ैद थे इसी समय क़त्ल कर दिये गये। इन हत्याओं के कारण सुलतान की बदनामी और बढ़ी। इसके थोड़े ही दिन बाद उसने देवलरानी से ज़बर्दस्ती विवाह कर लिया। इसकी भी लोगों ने बहुत भर्त्सना की।

दूसरा षड्यंत्र ख़ुसरोखां ने किया। देवगिरि पर अधिकार करने के पश्चात् सुलतान ने ख़ुसरो को तेलंगाना और माबर पर आक्रमण करने का आदेश दिया था। उसने प्रतापरुद्रदेव को पराजित करके उससे हाथी, सोना, चाँदी, रत्न आदि लेकर फिर करद शासक की हैसियत से राज्य करने की स्वीकृति दे दी। उसके बाद उसने माबर में भी लूट-मार की और वहाँ से भी धन प्राप्त किया। इसी समय उसके मन में स्वतंत्र शासन स्थापित करने की इच्छा हुई। परंतु उसके सहयोगियों ने उसके षड्यंत्र की शिकायत सुलतान से कर दी। सुलतान ने उसे तुरंत दिल्ली बुला लिया और लूट का माल पाकर इतना संतुष्ट हुआ कि उसने उसे न केवल क्षमा कर दिया वरन् उल्टे उन लोगों को दण्ड दिया जिन्होंने उसके विरुद्ध शिकायत की थी। इससे ख़ुसरो का साहस बहुत बढ़ गया और उसने सुलतान का वध करने का निश्चय किया। एक दिन उसने सुलतान से कहा कि उसके प्रति सुलतान की कृपा के कारण बड़े-बड़े अमीर उससे ईर्ष्या करते हैं और जब वह कहीं युद्ध करने जाता है तब वे उसकी सहायता करने के स्थान पर उसकी योजनाओं में बाधक होते हैं। फलतः वह उतनी सफलता नहीं प्राप्त कर पाता जितनी कि संभव है। यदि सुलतान अनुमति दे तो वह गुजरात से अपने मित्रों और संबंधियों को बुला ले ताकि वह अपने युद्धों में उनके सहयोग से पूर्ण विजय लाभ कर सके। सुलतान ने यह अनुमति दे दी और प्रायः चालीस हज़ार बरवारी एकत्रित हो गये। उसके कुछ दिन बाद सुलतान ने ख़ुसरो को अपने अनुयायियों को रात में महल के भीतर लाने की अनुमति भी दे दी। इन लोगों की गतिविधि को देखकर प्रायः सभी लोगों को विदित हो गया कि सुलतान का वध सन्निकट है। उसके वकील-ए-दर क़ाज़ी ज़ियाउद्दीन ने सुलतान को ख़ुसरो के कुचक्र की सूचना दी और प्रार्थना की कि वह अपनी रक्षा की व्यवस्था करे। परंतु सुलतान पर ख़ुसरो का ऐसा जादू था कि उसने इस पर विश्वास

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही नहीं किया और उसे बहुत फटकारा। जब खुसरो उसके पास गया तब उसने खुसरो को सारी बात कह सुनाई। खुसरो का प्रभाव बढ़ता देख कर अनेक स्वार्थी एवं असंतुष्ट लोग उससे मिल गये थे। उसने उन लोगों से परामर्श करके स्थिर किया कि सुलतान के वध में और विलम्ब करना उचित नहीं है। अस्तु, उसने रात में पहले सुलतान के पास जाकर उसको बातों में लगा लिया। फिर उसके सह-षड्यंत्रकारियों ने महल में प्रवेश किया। ज़हरिया नामक बरवारी ने क़ाजी जिया-उद्दीन का वध कर दिया और फिर वह सुलतान के कमरे की ओर झपटा। जो शोरगुल आरंभ हुआ उससे मुबारकशाह को संदेह हो गया और वह महल की ओर भागा। परंतु खुसरो ने उसे पकड़ लिया। सुलतान ने उसे पटक दिया परंतु इतने में ही ज़हरिया ने आकर उसका शिर काट लिया। मुबारकशाह की मृत्यु के साथ-साथ खिलजी वंश का अंत हो गया।

सुलतान की हत्या करने के पश्चात् खुसरो ने सभी बड़े अमीरों को राजप्रासाद में बुलवाया और रात भर उनको नजरबंदी की सी दशा में रखा। दूसरी ओर उसके संबंधी और अनुयायी रँढोल, हिसामुद्दीन और ज़हरिया की अध्यक्षता में हरम में घुस गये। वहाँ उन्होंने सभी छोटे-बड़े राजकुमारों को मार डाला, वृद्धा और प्रौढ़ा रानियों का वध कर दिया तथा रूपवती युवतियों का सतीत्व नष्ट किया। इन घटनाओं को सुनकर सभी लोग आतंकित हो गए और उन्होंने खुसरो को सुलतान मानना स्वीकार कर लिया। अस्तु, वह नासिरुद्दीन खुसरोशाह के नाम से गद्दी पर बैठ गया। उसने अपने सगे-संबंधियों को ऊँचे पद देकर अपनी स्थिति दृढ़ करना चाही परंतु उसने पहले के अमीरों को भी पदवियों से विभूषित किया और उनको पुराने पदों पर रहने दिया या उनके पदों में वृद्धि कर दी। इस भांति उसने रँढोल को रायरायान की और हिसामुद्दीन को जो उसका भाई था खानखानाँ की उपाधि दी। पुराने अमीरों में से ऐनुल्मुल्क मुलतानी को आलिम खाँ की पदवी मिली और फ़ख्रुद्दीन जूनाख़ाँ आखूरबेग के पद पर बना रहा। ताजुल्मुल्क और वहीदुद्दीन क़ुरेशी को मंत्रिपद मिले और वे वज़ीर के विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए।

नासिरुद्दीन खुसरो (१३२० ई०)

इतनी उदारता दिखाने पर भी अलई अमीर उससे संतुष्ट नहीं हुए। कुछ उससे इस कारण असंतुष्ट थे क्योंकि वह किसी उच्च परिवार का नहीं था। वह जाति का बरवारी था जो युद्धकला में प्रवीण थी परंतु जिसका सामाजिक पद राजपूतों से नीचा था। उसने अपना सार्वजनिक जीवन दास की हैसियत से आरम्भ किया था और उसका तथा मुबारकशाह का संबंध उसके लिए अपमानजनक था। इस प्रकार के व्यक्ति को सुलतान स्वीकार करना अपनी प्रतिष्ठा को धूल में मिलाना था।

खुसरो का पतन और अंत (१३२० ई०)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ व्यक्ति उसके सुलतान होने के विरोधी नहीं थे परंतु उसके साधनों के कटु आलोचक थे। वे उसे कृतघ्न, क्रूर एवं नृशंस समझते थे क्योंकि उसने जिसकी कृपा से वज़ीर का पद पाया उसी का वध किया और उसके परिवार के लोगों के साथ अनेक प्रकार का अत्याचार किया। कुछ लोगों को वह इस कारण अग्राह्य था क्योंकि वह हिन्दू से मुसलमान होने पर भी हिन्दुओं के साथ सहानुभूति रखता था और उसने राजमहल के भीतर हिन्दू देवताओं की स्थापना हो जाने दी थी। ज़ियाउद्दीन बर्नी खुसरो से इतना असंतुष्ट था कि वह उसके विरुद्ध अनेक आरोप लगाता है जिनमें से एक था मुसलमानों के प्रति अत्याचार, इस्लाम का अपमान और हिन्दू धर्म को प्रोत्साहन। फलतः खुसरो के विरोधियों की संख्या बढ़ने लगी। मलिक फ़ख्रुद्दीन जूना राजधानी से भाग निकला और अपने पिता ग़ाज़ी तुग़लक से दिपालपुर में जा मिला। वह अपने साथ उच्छ के हाकिम बहराम ऐबा के पुत्र को भी लेता गया। उसके दिपालपुर पहुँचते ही ग़ाज़ी मलिक ने पश्चिमोत्तर सीमा तथा मालवा के हाकिमों को खुसरो के विरुद्ध युद्ध करने के लिए आमंत्रित किया। उच्छ के हाकिम बहराम ऐबा, सिविस्तान का शासक मुहम्मदशाह, और खोखरों के नेता गुलचंद्र तथा सहजराम उसकी सहायता करने के लिए आ गये। अन्य लोगों ने या तो ग़ाज़ी मलिक का विरोध किया अथवा उदासीन रहे। इससे विदित होता है कि अधिकांश मुसलमान अमीर खुसरो से संतुष्ट थे और वह ग़ाज़ी मलिक के आवाहन को धार्मिक प्रेरणा के स्थान पर राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा का फल समझते थे। वे नहीं चाहते थे कि धर्म की आड़ में वे खुसरो का अंत करके तुग़लकों का शासन स्थापित कराने में योगदान करें।

इधर खुसरो ने जूना खाँ के पलायन के बाद से ही स्थिति का अनुमान लगा लिया और वह युद्ध की तैयारी करने लगा। सुलतान ने सिपाहियों को २½ मास का अग्रिम वेतन बँटवा दिया और अपने भाई खानखानाँ के साथ ४०,००० सैनिक ग़ाज़ी मलिक को हराने के लिए भेजे। परंतु यह सेना पराजित हुई और ग़ाज़ी मलिक को बहुत सा लूट का माल मिला। इसके बाद सुलतान स्वयं सेना लेकर आगे बढ़ा और राजधानी के निकट दोनों सेनाओं में युद्ध हुआ। पहले हमले में ग़ाज़ी मलिक के सैनिक पीछे हटने को बाध्य हुए। परंतु उसी समय जब सेना में यह संवाद फैल गया कि ऐनुल्मुल्क मुलतानी अपनी सेना सहित मालवा की ओर चला गया है तो उसका साहस घटने लगा। अंत में खुसरो की पराजय हुई और उसका वध कर दिया गया। ग़ाज़ी मलिक ने दिल्ली में प्रवेश करके यह इच्छा प्रगट की कि अलाउद्दीन का कोई वंशज जीवित हो तो उसे गद्दी पर बिठाया जाय। परन्तु जब ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिला तब वह स्वयं गद्दी पर बैठने को सहमत हो गया। इस भांति खिलजी वंश का सदा के लिए अंत हो गया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खुसरो ने अपनी योग्यता तथा सुलतान की कृपा के कारण बहुत तेजी से उन्नति की और उसने जिस चतुराई से मुबारकशाह का विश्वास प्राप्त करके गद्दी पर अधिकार किया वह उसकी तीक्ष्ण बुद्धि का परिचय देती है। परंतु उसने अपने अनुयायियों पर अनुशासन न रखकर बड़ी भूल की। क़ुत्बुद्दीन ऐसे लम्पट और निर्लज्ज शासक की हत्या करने से उसकी अधिक बदनामी न होती और न उसको अधिक विरोध का ही सामना करना पड़ता। परंतु उसने अपनी शक्ति सुदृढ़ करने के पूर्व ही राजवंश की रमणियों तथा नन्हें-नन्हें शिशुओं पर जो अत्याचार किये अथवा हो जाने दिये, उनके कारण उसका मान बहुत घट गया। उसने अपनी जाति के लोगों के साथ उदारता का व्यवहार करने में इस बात का भेद नहीं रखा कि वे हिन्दू धर्म को मानते हैं अथवा उन्होंने इस्लाम ग्रहण कर लिया है। इसी कारण उसने उन बरवारियों के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की जिन्होंने विजय के उल्लास में कुछ मस्जिदों को मंदिरों में परिणत कर दिया और क़ुरान को फाड़कर फेंक दिया अथवा देवताओं की मूर्तियों का आसन बना दिया। इन कार्यों से अन्य हिन्दुओं का सहयोग तो उसे प्राप्त हुआ नहीं परंतु कुछ मुसलमान उससे रुष्ट हो गये। युद्ध आरंभ होने के पूर्व हिसामुद्दीन को आगे भेज देना भी युक्तिसंगत नहीं था। उसने गुप्तचरों का भी ठीक प्रबंध नहीं कर पाया था अन्यथा उसे ग़ाजी मलिक, जूनाखाँ तथा ऐनुल्मुल्क के विरोध का पता समय से मिल जाता और वह उनका एक-एक करके दमन कर लेता। उसे चाहिए था कि सेना में ऐसे लोगों को न रखे जो गाढ़े समय पर धोका दें परंतु वह यह सतर्कता नहीं रख सका। इन सब कारणों से उसकी स्थिति दुर्बल हो गई। युद्धकाल में उस पर ग़ाज़ी मलिक की श्रेष्ठता का भूत पहले से ही सवार हो गया जिसके कारण वह पूर्ण विश्वास के साथ युद्ध नहीं कर सका। ग़ाज़ी मलिक के पास खुसरो की अपेक्षा कहीं अधिक अनुभवी और साहसी सैनिक थे। उनमें कष्ट सहने की क्षमता भी अधिक थी। इसी कारण प्रारम्भिक पराजय के बावजूद अंत में विजय उसी की हुई।

खुसरो के पतन के कारण

खिलजियों का शासन तीस वर्ष रहा और इस काल में उनके तीन प्रमुख शासक हुए। उनमें से एक भी सचमुच लोकप्रिय न हो सका। हिन्दुओं में सुलतानों के प्रति न्यूनाधिक विरोध का भाव तो रहता ही था परंतु इन सुलतानों ने मुसलमानों को भी संतुष्ट रखने में सफलता नहीं पाई। जलालुद्दीन की उदारता और सुजनता ने खिलजी नवयुवकों तथा बलबनी अमीरों को उसका विरोधी और आलोचक बना दिया। अलाउद्दीन खिलजी ने १९ वर्ष तक खूब शान से राज्य किया और सभी लोग उससे भय खाते रहे परंतु उसके प्रति किसी के हृदय में स्नेह की भावना

खिलजी वंश का संक्षिप्त सिंहावलोकन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं थी। मुबारक शाह ने अपनी चरित्रहीनता और क्रूरता के कारण मित्रों को भी शत्रु बना लिया। इस वंश के शीघ्र समाप्त होने का एक कारण इस वंश के सुलतानों की यह विशिष्टता भी है। दूसरे, इन सुलतानों ने अनुपयुक्त व्यक्तियों का अपरिमित विश्वास किया। इसी कारण उनकी हत्या आसानी से की जा सकी। जलालुद्दीन ने चेतावनी दिये जाने पर भी विश्वासघाती अलाउद्दीन का विश्वास किया, अलाउद्दीन ने काफ़ूर का विश्वास करके अपने स्त्री-बच्चों को भी बंदीगृह में डाल दिया और इसी काफूर ने उसे विष दिलवा दिया। इसी भांति क़ुत्बुद्दीन मुबारकशाह ने खुसरो का विश्वास कर के प्राण गँवाये। इन तीनों शासकों में सब से योग्य एवं प्रसिद्ध अलाउद्दीन है। यदि उसकी शासन-व्यवस्था व्यक्तिगत योग्यता पर निर्भर न करके संस्थाओं की अपनी शक्ति पर आश्रित होती तो खिलजी-साम्राज्य उसकी मृत्यु के चार वर्ष के भीतर ही समाप्त न हो जाता। पश्चिमोत्तर सीमा की रक्षा के लिए प्रायः एक विशाल सेना रखनी पड़ती थी। दक्षिण-विजय के बाद केन्द्रीय सेना की शक्ति और बिखर गई तथा दक्षिण के गवर्नरों की शक्ति इतनी बढ़ गई कि वे स्वतंत्र होने का स्वप्न देखने लगे। अलाउद्दीन, काफ़ूर, और खुसरो तीनों ही ने सुलतान बनने का स्वप्न दक्षिण में जाकर ही देखना आरंभ किया था और काफूर तथा खुसरो के कारण ही खिलजी वंश का पतन इतनी तेजी से हुआ।

परंतु इस अल्पकालीन शासन द्वारा भी खिलजी सुलतानों ने अपने नाम को भारतीय इतिहास में चिरस्मरणीय बना दिया है। उन्होंने जातिगत श्रेष्ठता के ऊपर उठ कर सार्वभौम समानता के सिद्धान्त को स्वीकार किया और अपनी प्रजा के सभी वर्गों के व्यक्तियों को ऊँचे-से-ऊँचे पद दिये। उन्होंने एक ओर सौजन्य और दयालुता के आदर्श के अनुसार शासन करने का प्रयोग प्रस्तुत किया तो दूसरी ओर उन्होंने सैनिक निरंकुशवाद को चरम उत्कर्ष पर पहुँचा दिया। उन्होंने दिल्ली की सल्तनत की नींव दृढ़तर की, उसके आधिपत्य के क्षेत्र को प्रायः दूना कर दिया और उसके प्रबलतम शत्रु मंगोलों को, बार-बार हराकर, भारत आने से रोक दिया और देश की प्राकृतिक सीमा, सिंधु नदी को फिर सल्तनत की सीमा बना दिया। उन्होंने शासन में अनेक नये प्रयोग किये और दक्षिण-विजय का द्वार खोल दिया। उन्होंने कला और साहित्य को भी प्रोत्साहन दिया और साम्राज्य को अनेक सुन्दर इमारतों से विभूषित किया तथा उनके दर्बारियों में अनेक लोग ऐसे थे जिन्होंने सरस्वती की सेवाओं द्वारा इस युग को फ़ारसी साहित्य के इतिहास में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त करा दिया। इस भांति खिलजी सुलतानों का शासन कई दृष्टियों से ऐतिहासिक महत्व का है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

९

ग़यासुद्दीन तुग़लकशाह

अमीर खुसरो ने अपने ग्रंथ तुग़लकनामा में लिखा है कि ग़ाज़ी मलिक ने सुलतान जलालुद्दीन के काल में रणथंभौर के घेरे में बड़ी वीरता दिखाई थी। इससे पता चलता है कि फ़रिश्ता का यह कथन ठीक है कि सुलतान बलबन के तुर्की दासों में से एक ग़ाज़ी मलिक का पिता भी था। ग़ाज़ी मलिक का जन्म संभवतः भारत में ही हुआ था और जैसा कि मार्को पोलो ने इंगित किया है तथा फ़रिश्ता और सुजनराय खत्री ने स्पष्ट लिखा है उसकी माता जाट महिला थी। डाक्टर ईश्वरी-प्रसाद ने क़रौना तुर्कों के इतिहास में इब्नबतूता के मत को स्वीकार करते हुए ग़ाज़ी मलिक तथा उसके वंशजों को क़रौना तुर्क कहा है और प्रस्तुत इतिहास-ग्रंथों तथा फ़ीरोज़ के चित्र के आधार पर उन्होंने यह मत प्रगट किया है कि यदि क़रौना तुर्कों में कुछ मंगोल रक्त रहा भी हो तो भी उनमें तुर्की रक्त की ही प्रधानता थी और ग़ाज़ी मलिक तथा उसके वंशजों में भारतीय जाटों का रक्त भी सम्मिलित हो गया था। 'तुग़लक' इन लोगों की जाति या क़बीले का नाम नहीं है—वह नाम है 'क़रौना'। शब्द 'तुग़लक' सुलतान ग़यासुद्दीन के नाम का एक अंग मात्र है और उसके वंशजों को तुग़लक वंशी केवल इसलिए कहा जाता है क्योंकि वे ग़ाज़ी तुग़लक के वंशज थे।

प्रारंभिक जीवन और वंश

ग़ाज़ी मलिक ने खुसरो के वध के पश्चात् अमीरों की सभा में जो भाषण दिया उसमें अलाउद्दीन और क़ुत्बुद्दीन द्वारा पाले जाने का उल्लेख किया है। इससे पता चलता है कि जलालुद्दीन के समय में उसको कोई विशेष ऊँचा पद प्राप्त नहीं हुआ था। सुलतान अलाउद्दीन के समय में भी पहले पहल उसका नाम तब सुनाई पड़ता है जब वह मंगोलों के विरुद्ध युद्ध करता है और दिपालपुर का शासक नियुक्त होता है। जैसा कि पिछले अध्यायों में वर्णन किया जा चुका है ग़ाज़ी मलिक की प्रतिष्ठा बढ़ने का मूल कारण था उसकी मंगोलों के विरुद्ध सफलता। खुसरो के विरुद्ध युद्ध

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में विजय प्राप्त करके उसने धार्मिक नेताओं तथा तुर्क सर्दारों को और भी अधिक आकृष्ट कर लिया।

फिर भी उसने राजपद प्राप्त करने के लिए कोई बेचैनी अथवा उतावली नहीं व्यक्त की। इसके विपरीत उसने दिल्ली में प्रवेश करने के बाद पहले अलाउद्दीन के वंशजों में से उन सब लोगों की आत्मा की शांति के लिए धार्मिक कृत्य कराये जिनकी ख़ुसरो अथवा उसके अनुयायियों ने हत्या की थी। उसके बाद उसने अमीरों की एक सभा की और उसमें भाषण करते हुए कहा :—"मैंने शक्ति अथवा साम्राज्य प्राप्त करने के लिए नहीं वरन् अपने स्वामियों की मृत्यु का बदला लेने के लिए तलवार उठाई थी। मैंने अपनी संपत्ति तथा अपने परिवार और जीवन को सिंहासन प्राप्त करने के लिए संकट में नहीं डाला है। मैंने जो कुछ भी किया है वह केवल अपने आश्रयदाताओं के हत्यारों से बदला लेने के लिए किया है।...आप लोग साम्राज्य के विशिष्ट अमीर हैं। यदि मेरे स्वामी के परिवार का कोई व्यक्ति हो तो आप उसे तुरंत प्रस्तुत करें ताकि मैं उसे सिंहासनारूढ़ कराके उसके प्रति अपनी भक्ति और अधीनता व्यक्त करूँ। परंतु यदि शत्रु ने अलाउद्दीन और क़ुत्बुद्दीन के वंश का ही नाश कर दिया हो तो...आप लोग जिसे राजपद के योग्य समझें उसे गद्दी पर बिठा दें। मैं उसके प्रति अपनी भक्ति-पूर्ण 'अधीनता प्रकाशित करने के लिए प्रस्तुत हूँ।"

राज्याभिषेक

इसके उत्तर में अमीरों ने उसकी सेवाओं की प्रशंसा करते हुए एक स्वर से कहा कि हम सब तथा साधारण जनता आपके कार्यों से बहुत प्रभावित हैं और हम आपकी अपेक्षा किसी अन्य व्यक्ति को सम्राट्-पद के लिए अधिक उपयुक्त नहीं समझते। ऐसा कहकर उन्होंने आग्रह-पूर्वक सुलतान का हाथ पकड़कर उसे गद्दी पर बिठा दिया। कहते हैं कि ग़ाज़ी मलिक ने पहले इस प्रस्ताव का विरोध करते हुए बहराम ऐबा से कहा कि वह सुलतान का पद स्वीकार करे। परंतु बहराम ऐबा ने अन्य अमीरों के मत का समर्थन किया और कहा कि व्यर्थ शिष्टाचार में न पड़कर उसे ही राजगद्दी स्वीकार करनी चाहिए क्योंकि यदि वह देर करेगा तो जूना खाँ सिंहासन पर बैठ जायगा। अस्तु, ग़ाज़ी मलिक ग़यासुद्दीन तुग़लकशाह के नाम से गद्दी पर बैठ गया।

उसके राज्याभिषेक का महत्व

यह प्रथम अवसर था जब कोई व्यक्ति-सर्व-सम्मति से दिल्ली का सुलतान स्वीकृत किया गया। इस भांति ग़यासुद्दीन का निर्वाचन एवं राज्यारोहण विशुद्ध-इस्लामी सिद्धान्त के अनुसार हुआ। दूसरे, ग़ाज़ी तुग़लक न किसी ऊँचे वंश का था और न उसने बलबन की तरह किसी प्राचीन राजवंश से संबंधित होने का ही दावा किया। फिर भी किसी ने उसका विरोध नहीं किया। इससे भी इस्लामी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोकतांत्रिक मनोभावना का उदाहरण मिलता है। तीसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि जलालुद्दीन फ़ीरोज़ की भांति ग़यासुद्दीन भी सीमा का रक्षक था और उसी के समान उसने भी एक नये राज-वंश की नींव डाली। परंतु जलालुद्दीन ने बलपूर्वक राज्य प्राप्त किया था जब कि ग़यासुद्दीन ने सार्वजनिक हित में कर्त्तव्य की दृष्टि से अमीरों के सर्व-सम्मत आग्रह की रक्षा करने के लिए राजपद स्वीकार किया। बलबन की भांति वह भी वृद्धावस्था में पदार्पण कर चुका था परंतु अभी उसकी शारीरिक और मानसिक शक्ति क्षीण नहीं हुई थी और ज़ियाउद्दीन बर्नी लिखता है कि उसने राज्य-भार सँभालते ही इतनी योग्यता और दृढ़ता से कार्य आरंभ किया कि लोगों ने समझा कि अलाउद्दीन फिर जीवित हो गया है। उसके राज्याभिषेक के चालीस दिन के भीतर साम्राज्य के सभी लोगों ने उसके अधिकार को स्वीकार कर लिया।

तत्कालीन परिस्थिति

सुलतान ग़यासुद्दीन तुग़लक ने बहुत अच्छी परिस्थिति में नये राजवंश की स्थापना की। साधारणतः राज्य-परिवर्तन होने पर कोई-न-कोई शक्तिशाली दल नये शासन का विरोधी रहता है। परंतु ग़यासुद्दीन का अधिकार सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया था। इसलिए उसको विरोध के स्थान पर सभी दिशाओं में सहयोग तथा स्वागत मिला। उसे अपने राजवंश को दृढ़ करने में इस दशा से बहुत सहायता मिली। दूसरे, जो लोग राजधानी में उपस्थित नहीं भी थे वे जानते थे कि सुलतान एक अनुभवी सैनिक एवं दुर्धर्ष योद्धा है तथा उसके पास विजयोल्लास से प्रोत्साहित एक विशाल सेना भी है जिसके सैनिक सुलतान के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति की भावना रखते हैं। इस कारण उनकी भी स्वाभाविक प्रतिक्रिया यही हुई कि उसकी अधीनता स्वीकार कर लें। राजधानी की जनता का सुलतान के अधिकार के स्थायित्व में काफी प्रभाव था। सुलतान ग़यास को इस जनता का भी पूर्ण समर्थन प्राप्त था और चूंकि उसने कथित हिन्दू प्रभुत्व का नाश किया था इसलिए उलमा वर्ग तथा मुस्लिम संत समुदाय भी उसके पक्ष में था।

परंतु ग़यासुद्दीन की कुछ कठिनाइयाँ भी थीं। राज-कोष प्रायः रिक्त था क्योंकि क़ुत्बुद्दीन ने लापरवाही के कारण बहुत अपव्यय किया था और खुसरो ने अपनी शक्ति को दृढ़ करने तथा अपने सहयोगियों को संतुष्ट करने एवं विद्रोही अमीरों के विरुद्ध दृढ़ मोर्चा स्थापित करने के लिए पानी की तरह धन बहाया था और जिसका किसी वर्ग पर कोई प्रभाव था उसकी मुट्ठी गर्म कर दी थी। दूसरे, क़ुत्बुद्दीन मुबारक की उच्छृंखलता और खुसरो की निःशक्तता के कारण शासन का क्रम बिगड़ गया था और अनेक स्थानों में राजनियमों की उपेक्षा, कर देने की अनिच्छा तथा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वतंत्र होने की भावना उत्पन्न हो गई थी। पंजाब में खोखर प्रदेश यथानियम स्वतंत्र था और दिल्ली साम्राज्य की अधीनता स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं था। पश्चिमी पंजाब में मंगोलों का दीर्घकालीन शासन होने के कारण बहुत से मंगोल वहीं बस गये थे। वे पूर्ण रूप से राजभक्त नहीं थे और मंगोल शासन की पुनरावृत्ति की कामना रखते थे। जब तक ग़ाज़ी मलिक वहाँ का शासक रहा उसने उन पर दृष्टि रखी परंतु उसके दिल्ली जाते ही उनमें अशांति के लक्षण प्रगट होने लगे। इसी भांति सिंध के दक्षिणी भाग में सुमराओं का प्रभाव कभी नष्ट नहीं हुआ। सुलतान इल्तुतमिश के समय में उन्होंने अधीनता स्वीकार कर ली थी। बाद में वहाँ मंगोलों का प्रभाव बढ़ने लगा था और अंत में जब अलाउद्दीन ने संपूर्ण सिंध पर अपना अधिकार स्थापित किया तब सुमराओं ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। अब ग़यासुद्दीन के चले जाने पर उनको भी स्वतंत्र होने की सुविधा मिल गई। गुजरात में अलपखां तथा जफ़रखां की हत्याओं के कारण बहुत असंतोष फैला था। वहाँ पर अनेक शक्तिशाली राजपूत सर्दार थे जो अवसर पाते ही कर देना बंद कर देते थे। दिल्ली के निकट दोआब में भी कुछ अशांति आरंभ हुई थी परंतु वह शीघ्र ही समाप्त हो गई थी। बंगाल पहले से ही स्वतंत्र था और अलाउद्दीन भी उस पर अधिकार नहीं जमा सका था। मालवा और बुंदेलखंड में भी ख़ुसरो के शासन-काल में अव्यवस्था फैल गई थी और स्थान-स्थान पर विद्रोह होने लगे थे। परंतु ऐनुलमुल्क मुलतानी के वापस जाने पर सल्तनत का आधिपत्य फिर स्थापित हो गया था। दक्षिण भारत में वारंगल का शासक प्रतापरुद्रदेव द्वितीय इस प्रकार व्यवहार कर रहा था जैसे कि वह स्वतंत्र शासक हो और स्वेच्छा से युद्ध-संधि कर रहा था। उसकी शक्ति बराबर बढ़ रही थी और उसने वार्षिक कर देना बंद कर दिया था।

इस स्थिति को ठीक करने के लिए ग़यासुद्दीन ने बड़ी दूरदर्शिता और दृढ़ता के साथ कार्य किया। उसने दिल्ली में ढिंढोरा पिटवा दिया कि ख़ुसरो ने राज-कोष का जो धन बाँटा था उस पर उसका कोई अधिकार नहीं था। राज-कोष का धन सार्वजनिक हित में ही व्यय किया जा सकता है। अस्तु, सभी लोगों को चाहिए कि वे राजकोष का धन तुरंत लौटा दें। अधिकांश लोगों ने धन वापस कर दिया। कुछ ने आनाकानी की। इस पर ग़यासुद्दीन ने उनको यातनाएँ देना आरंभ किया जिसके फलस्वरूप शेख़ निजामुद्दीन औलिया के अतिरिक्त सभी लोगों ने राजकोष का धन वापस कर दिया। फलतः अल्प काल में ही राजकोष फिर धन से पूरित हो गया।

ग़यासुद्दीन के प्रारंभिक कार्य

ज़िन लोगों ने पिछले राजवंश की महिलाओं के साथ अत्याचार किया था उनका पता लगाया गया और उनमें से जो लोग जीवित थे उनको समुचित दण्ड दिये गये। इन महिलाओं में से जो विवाह योग्य थीं उनका उपयुक्त वरों के साथ विवाह कर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया गया और शेष के पालन-पोषण के लिए वार्षिक पेंशन नियत कर दी गई। इस कार्य से उसकी लोकप्रियता बढ़ गई।

उसने दोग्राब तथा अन्य निकटवर्ती प्रांतों के हिन्दुओं के विद्रोह का दमन किया और जिन लोगों ने खुसरो का विरोध किया था उनको पद और जागीर देकर संतुष्ट किया। उसने योग्य व्यक्तियों की पदोन्नति की परंतु जो स्वार्थी एवं केवल पदलोलुप प्रतीत हुए उनको कोई स्थान नहीं दिया। उसने अपने बड़े बेटे जूना खां को उलुग खां की पदवी दी और उसे युवराज घोषित किया। संभवत: इस प्रकार उसने भावी उत्तराधिकार के युद्ध को बचाने एवं जूना खां की महत्वाकांक्षा को संतुष्ट करने की चेष्टा की। वह जूना खां को ही अपने पुत्रों में सबसे योग्य भी समझता था। इसी कारण उसने उसको अपने स्नेह के साथ विश्वास भी दिया। बहराम ऐबा को किशलू खां की पदवी तथा पश्चिमोत्तर प्रांत की नयाबत दी गई। इस भांति सुलतान ने अपने प्रधान सहायक को भी यथेष्ट सम्मान दिया। उसने अपने संबंधियो में से मलिक शादी को वज़ीर, बहाउद्दीन को आरिज़-ए-ममालिक एवं असदउद्दीन को बारबक नियुक्त किया। अपने दत्तक पुत्र तातर खां को ज़फ़र खां की पदवी दी। इसी भांति अन्य अमीरों को भी पद तथा पदवियाँ दी गईं। इसका फल यह हुआ कि पुराने अमीर असंतुष्ट नहीं हुए और सभी मार्के के पद उन व्यक्तियों के हाथ में रहे जिनसे आशा की जाती थी कि वे सुलतान के सगे-संबंधी होने के कारण उसकी शक्ति एवं सत्ता की सतर्कता के साथ रक्षा करेंगे।

सुलतान ग़यासुद्दीन ने गुजरात और देवगिरि के लिए नये शासक नियुक्त किये और फिर १३२१ ई० में अपने ज्येष्ठ पुत्र उलुग़ खां की अध्यक्षता में एक सेना तेलंगाना-विजय के लिए भेजी। चंदेरी, मालवा और बंदायूँ की सेनाओं को भी युवराज के साथ जाने की आज्ञा दी गई। राजकुमार ने वारंगल पहुँच कर किले का घेरा डाला और बाहरी दुर्ग पर अधिकार कर लिया। प्रतापरुद्र देव ने दूत भेज कर संधि की बात चलाई और वादा किया कि वह प्रति वर्ष कर भेजता रहेगा। परंतु उलुग़खां ने ये शर्तें स्वीकार नहीं कीं। वह जानता था कि प्रतापरुद्र देव ने अलाउद्दीन और क़ुत्बुद्दीन के समय में भी ऐसे ही वादे किये थे परंतु बाद में कर देना बंद कर दिया था। दूसरे, अभी तक कभी भी वारंगल के दुर्ग पर तुर्कों की पूर्ण विजय नहीं हुई थी। वह सोचता था कि दुर्ग पर पूर्ण अधिकार किये बिना संधि कर लेने से दक्षिण वालों के हृदय में यह विश्वास जम जायगा कि उनका गढ़ अजेय है और तब वे अवश्य ही फिर विद्रोह कर देंगे। अस्तु, उलुग़ खां ने निश्चय किया कि वह दुर्ग पर अधिकार करके राजा को बंदी बनाकर दिल्ली ले जायगा और उसके समस्त राजकोष तथा राज्य पर अधिकार करेगा। परंतु इसी समय

तेलंगाना की विजय (१३२१ १३२३ ई०)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिल्ली से ख़बर आना बंद हो गया। मलिक काफ़ूर के समय में भी तेलंगाना वालों ने नियमित डाक-व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर दिया था। संभवतः इस समय भी उन्हीं के उद्योग के कारण हरकारों का आना कठिन हो गया। संवाद न मिलने से विभिन्न प्रकार की अटकलें लगायी जाने लगीं। कुछ लोगों को यह भी संदेह हुआ कि राजधानी में कोई गड़बड़ी फैल गई है। इसामी और इब्नबतूता का कथन है कि उलुग़ ख़ाँ के हृदय में विद्रोह की भावना जग उठी और उसने अपने मित्र उबैद और शेखज़ादा दमिश्क़ी के द्वारा यह संवाद प्रचारित कर दिया कि सुलतान की मृत्यु हो गयी है। वह आशा करता था कि उसके युवराज होने के कारण सभी सर्दार उसे तुरंत सुलतान स्वीकार कर लेंगे और इस भांति यदि सुलतान ने उसके विरुद्ध सेना भी भेजी तो ये सब लोग उसका साथ देंगे। संभवतः अलाउद्दीन की भांति वह भी दक्षिण की संपत्ति से सेना एकत्रित कर के राजगद्दी पर अधिकार कर लेना चाहता था। यह भी संभव है कि काफ़ूर और ख़ुसरो की भांति उसने दक्षिण में ही स्वतंत्र राज्य स्थापित करने की इच्छा की हो परंतु कुछ सर्दारों ने उलुगखां का विरोध किया और उसे बंदी बनाना चाहा। इस भाँति आपस की फूट के कारण दिल्ली की सेना दुर्बल हो गई और प्रतापरुद्रदेव ने प्रत्याक्रमण करके उसे अपने राज्य के बाहर खदेड़ दिया। परंतु इसके विपरीत बर्नी का कथन है कि उबेद और शेख-ज़ादा दमिश्क़ी ने सुलतान की मृत्यु के संवाद के साथ-साथ यह भी प्रचार किया कि उलुग़खां जिन लोगों को विरोधी समझता है उनको बंदी बनाना चाहता है। इस कारण विद्रोह आरंभ हो गया। इस विद्रोह का वास्तविक कारण ठीक-ठीक विदित नहीं है। डाक्टर मेहदी हुसेन का मत है कि संभव है उबैद और शेखज़ादा दमिश्क़ी तथा कुछ अन्य अमीर जो पहले भी दक्षिण आ चुके थे और जिन्होंने आशा की थी कि थोड़े दिन के घेरे के बाद संधि हो जायगी तथा लूट और भेंट में काफ़ी धन मिलेगा वे तेलंगाना पर स्थायी अधिकार स्थापित करने के प्रयत्न के विरोधी थे। उन्होंने पहले उलुग़ खां को समझाया होगा कि वह संधि कर ले। पर जब वह नहीं माना तब संभव है उन्होंने प्रतापरुद्रदेव से रिश्वत लेकर ऐसा प्रचार किया हो जिससे सेना में गड़बड़ी फैल जाय और लड़ाई समाप्त हो जाय। डा० ईश्वरीप्रसाद जूनाखां को षड्यंत्र करने के अभियोग से मुक्त करते हैं परंतु वह यह नहीं निश्चित कर सके कि उसके मित्रों ने ऐसा प्रचार क्यों किया जिससे सेना में विद्रोह हुआ। सर वुल्ज़ले हेग इब्नबतूता के मत को स्वीकार करते हुए जूना खां को ही इस फ़साद का मूल कारण बताते हैं। दक्षिण के अन्य सफल आक्रमणकारियों के कार्य और उलुग़खां के भावी कार्यक्रम को देखते हुए यह मत ही अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि उबैद तथा शेखज़ादा ने राजकुमार के परामर्श से मृत्यु का समाचार फैलाया और सब अमीरों से आग्रह किया कि वे उसे सुलतान स्वीकार कर लें। परंतु जब कुछ ने इसका विरोध

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया तो उन लोगों ने यह धमकी दी कि विरोध का पता चलने पर युवराज उनको बंदी बना लेगा। इस पर वे लोग चौकन्ना हो गये और उन्होंने आत्मरक्षा की दृष्टि से विद्रोह कर दिया। उन्होंने सुलतान को यह सूचना भी भेज दी कि रासकुमार विद्रोह की कामना करता है इस कारण उन्होंने उसका विरोध किया है। इस भांति उलुग़खां की शक्ति बिखर गई, उसकी सेना विश्रृंखल हो गई और उसे राजगद्दी मिलना तो दूर रही उसे पराजय भी सहनी पड़ी। उसने अनुभव किया होगा कि यदि उबैद और शेखज़ादा ने अधिक सतर्कता से कार्य किया होता अथवा विद्रोही अमीरों ने विरोध न किया होता तो उसकी यह दुर्दशा न होती। अब उसे अपने पिता के कोप का भी भय हुआ होगा। अस्तु, उसने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि का उपयोग अपनी रक्षा का उपाय ढूंढ़ने में किया। उसे यह प्रतीत हुआ होगा कि उबैद, शेखज़ादा तथा दूसरे विद्रोहियों पर सारा दोष मढ़ कर ही वह अपने को निर्दोष सिद्ध कर सकता है। इस कारण उसने सुलतान को समझाया कि जब युद्ध शीघ्र समाप्त नहीं हुआ तब इन लोगों में असंतोष बढ़ने लगा। यह लोग किसी शर्त पर संधि के पक्षपाती हो गये और जब इनकी बात नहीं मानी गई तो इन लोगों ने विद्रोह कर दिया। पिता के स्नेह ने उसके दोषों पर पर्दा डाल दिया और जिस भांति अलाउद्दीन, काफ़ूर तथा खुसरो विद्रोही भावना रखने पर भी अपने स्वामियों के स्नेहभाजन होने के कारण उनको धोका देने में सफल हो गये थे उसी भांति उलुग़ ख़ाँ ने भी अपनी निर्दोषिता सिद्ध कर दी। फलतः जो विद्रोही पकड़े गये उनको कठोर यातनाओं के बाद मार डाला गया और उबैद तथा शेखज़ादा दमिश्की जिन्होंने सुलतान को हँसी हँसी में दफना दिया था जीवितावस्था में गड़वा दिये गये। सुलतान ने उनके अपराध का यही उचित दण्ड समझा था।

इसके बाद एक दूसरी सेना तैयार की गयी और उलुग़ खां को ही फिर उसका नेतृत्व सौंपा गया। उलुग़ ख़ाँ ने इस बार दुर्ग पर अधिकार कर लिया, राजा प्रताप-रुद्रदेव तथा उसके परिवार के लोगों को बंदी बनाकर दिल्ली भेज दिया और तेलंगाना को कई भागों में बाँटकर वहाँ मुस्लिम शासक नियुक्त कर दिये। वारंगल का नाम बदलकर सुलतानपुर रख दिया गया और राजकुमार स्वयं वहाँ रहकर शांति तथा व्यवस्था स्थापित करने में लग गया। इस भांति दक्षिण के एक दूसरे हिन्दू राज्य की स्वतंत्र सत्ता का अंत हुआ और दिल्ली सल्तनत का दायित्व पहले की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ गया।

इसके बाद उलुग़ ख़ाँ ने उड़ीसा के राजा भानुदेव द्वितीय पर आक्रमण किया क्योंकि उसने प्रतापरुद्रदेव की सहायता की थी। यद्यपि उड़ीसा पर उसने तुर्की शासन स्थापित करने का साहस नहीं किया तो भी उसने वहाँ

उड़ीसा पर धावा पर काफी सफलता प्राप्त की और उसे लूट का बहुत-सा माल

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिला। गोंडवाना का शासक भी प्रतापरुद्रदेव का सहायक था परंतु यह ठीक पता नहीं है कि उलुग़ ख़ाँ ने गोंडवाना पर आक्रमण किया या नहीं।

सब लूट का माल एकत्रित करके राजकुमार दिल्ली वापस गया। यह ठीक नहीं कहा जा सकता कि सुलतान ने बंगाल पर आक्रमण करने के लिए जाने के पूर्व उलुग़ ख़ाँ को राजधानी का प्रबंध देखने के लिए बुलाया इसलिए वह वापस गया अथवा वह स्वेच्छा से वापस जा रहा था और मार्ग में उसे सुलतान का दिल्ली वापस आने का आदेश मिला। सुलतान ने उसका समारोह के साथ स्वागत किया और एक सप्ताह तक आनंदोत्सव चलता रहा।

दिल्ली लौटना

इसी समय एक मंगोल आक्रमण की सूचना मिली। सुलतान ने तुरंत समाना के हाकिम बहाउद्दीन गुर्शस्प की सहायता के लिए कुमक भेजी और उसने मंगोलों को दो युद्धों में पराजित करके देश के बाहर खदेड़ दिया। अनेक मंगोल पकड़ लिये गये और यथानियम उनको कड़े दण्ड दिए गए।

मंगोल आक्रमण

बंगाल प्रायः स्वतंत्र ही रहा था। जब उसने दिल्ली की अधीनता स्वीकार भी की तब भी दिल्ली का प्रभाव नाममात्र का ही रहता था। बलबन ने तुग़रिल बेग की पराजय के बाद बुग़रा ख़ाँ को वहाँ का शासक नियुक्त किया था। वह १२९१ ई० तक जीवित रहा और उसने बलबन की मृत्यु के बाद अपने बेटे को भी अपना अधीश्वर स्वीकार कर लिया था। उसकी मृत्यु के बाद क्रमशः उसके बेटे रुकनुद्दीन कैकाऊस (१२९१-१३०२) और शम्सुद्दीन फ़ीरोज शाह (१३०२-१३२२) शासक हुए। शम्सुद्दीन के काल में ही बंगाल पर किया गया जूना ख़ाँ का आक्रमण असफल हुआ था। उसके बाद अलाउद्दीन अथवा क़ुत्बुद्दीन ने किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया। इस काल में बंगाल की स्वतंत्रता दृढ़तर हो गई। शम्सुद्दीन की मृत्यु के बाद उसके बेटों में गद्दी के लिए झगड़ा हुआ जिसमें उसका तृतीय पुत्र ग़यासुद्दीन बहादुर सफल हुआ और उसने अपने बड़े भाइयों शहाबुद्दीन एवं नासिरुद्दीन को पराजित कर दिया। नासिरुद्दीन ने दिल्ली के सुलतान ग़यासुद्दीन से सहायता माँगी। सुलतान ने इसे स्वर्ण-सुयोग समझा और नासिरुद्दीन की सहायता करने का वचन दिया। उसने एक सेना के साथ बंगाल की ओर प्रस्थान किया और अपनी अनुपस्थिति के समय उलुग़ ख़ाँ को दिल्ली का शासन सौंपा। सुलतान के बंगाल पहुँचने के पूर्व ही नासिरुद्दीन को लखनौती के आसपास काफी शक्ति प्राप्त हो गई थी। फिर भी वह तिरहुत तक सुलतान का स्वागत करने के लिए आया और वहाँ से उसे अपने साथ ले गया। ग़यासुद्दीन बहादुर पराजित हुआ और वह तथा

बंगाल में हस्तक्षेप (१३२४ ई०)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके परिवार के लोग दिल्ली भेज दिये गए। नासिरुद्दीन को लखनौती प्रांत का शासन मिला और सोनारगाँव में उसने अपना एक गवर्नर नियुक्त किया। उसका नाम था तातर खाँ। इस भांति सुलतान का प्रभाव प्रायः सम्पूर्ण बंगाल पर स्थापित हो गया। यदि नासिरुद्दीन अथवा उसके उत्तराधिकारी भविष्य में विद्रोह करें तो सोनारगाँव की सेना की सहायता से वह आसानी से हराया जा सकता था। ग़यासुद्दीन तुग़लक ने बंगाल के शासकों की विशेष स्थिति का ध्यान रखते हुए उनको शाह की उपाधि रखने तथा सिक्कों में अपना नाम खुदाने की अनुमति दे दी। उसने स्वयं नासिरुद्दीन को एक छत्र तथा राजदण्ड भेंट किया और उनकी स्वतंत्र सत्ता का पूरा-पूरा विनाश नहीं किया। सिक्कों पर अब दिल्ली के सुलतान का नाम भी रहने लगा परंतु बंगाल के शाहों का नाम हटाया नहीं गया। इससे पता चलता है कि बंगाल के शासकों ने केवल दिल्ली के सुलतान का आधिपत्य स्वीकार कर लिया और सिक्कों तथा खुतबे में उसका भी नाम रखने का वादा किया। संभव है, उसने कुछ वार्षिक कर देने का भी वादा किया हो। अस्तु, इस व्यवस्था से केवल प्रतिष्ठा बढ़ गई और शक्ति तथा साम्राज्य में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। पूर्वी बंगाल पर अपना हाकिम नियुक्त करके उसने वास्तविक लाभ उठाया और दिल्ली के प्रभाव-क्षेत्र को विस्तृत किया।

तिरहुत विजय

बंगाल से लौटते समय सुलतान ने तिरहुत के राजा पर आक्रमण किया। उस समय के पूर्व तुर्कों को तिरहुत-विजय में सफलता नहीं मिली थी और वहाँ कर्णाटवंशी शासक स्वतंत्रतापूर्वक शासन करते रहे। ग़यासुद्दीन ने इस क्षेत्र को जीत कर उत्तरी बिहार पर अपना अधिकार दृढ़ करने का निश्चय किया। वहां का समकालीन राजा हरीसिंह था। उसने ग़यासुद्दीन के विरुद्ध संग्राम किया परंतु उसकी पराजय हुई और वह अपनी राजधानी की ओर के जंगली प्रदेश में छिप गया। सुलतान ने जंगल कटवा कर उसे फिर हराया तथा राजधानी पर अधिकार करके अहमद ख़ाँ को तिरहुत का हाकिम नियुक्त किया। हिन्दू लेखकों के विवरण को पढ़ने से पता चलता है कि राजा हरीसिंह ने बड़ी वीरता के साथ युद्ध किया और जब विजय की आशा नहीं रही तब वह अपनी सेना के साथ नैपाल चला गया जहाँ उसने एक स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया। इस भांति तिरहुत पर तुर्कों का अधिकार स्थापित हो गया परंतु हरीसिंह ने तुर्कों के सामने मस्तक नीचा नहीं किया। मुहम्मद बिन तुग़लक के समय में शायद हरीसिंह के किसी सामंत ने फिर विद्रोह किया परंतु अन्य सामंतों ने उसके साथ सहयोग न करके सुलतान का साथ दिया। इसलिए यह विद्रोह आसानी से दबा दिया गया और दिल्लीश्वर का अधिकार यथापूर्व बना रहा। ग़यासुद्दीन ने इस विजय द्वारा मुस्लिम शासक के उस कर्त्तव्य को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूरा किया जिसमें दारुल हर्ब (मुस्लिम-अनधिकृत क्षेत्र) को दारुल इस्लाम (मुस्लिम-अधिकृत क्षेत्र) में परिवर्तित करने का उल्लेख है।

ग़यासुद्दीन की मृत्यु (१३२५ ई०)

तिरहुत-विजय के बाद सुलतान तेजी के साथ दिल्ली की ओर बढ़ा। उसके मन में विद्रोह की आशंका उत्पन्न हो गई थी क्योंकि उसने दिल्ली के जो समाचार सुने थे वे अच्छे नहीं थे। राजकुमार उलुग़ ख़ाँ शेख़ निज़ामुद्दीन औलिया के पास बहुत आता-जाता था यद्यपि वह जानता था कि सुलतान को शेख का रंग-ढंग पसंद नहीं है। शेख सूफ़ी प्रवृत्ति का व्यक्ति था और उसके यहाँ संगीत का खूब प्रचलन था। संगीत को सुनकर शेख को 'हाल' (भावावेश) होता था जिसका अनुकरण अन्य लोग भी करते थे। सुलतान तथा अधिकांश कट्टरपंथी उलमा इस कार्य को इस्लाम के सिद्धांतों के विरुद्ध समझते थे। सुलतान ने एक बार शेख के चाल-चलन पर विचार करने के लिए आलिमों की एक सभा की जिसमें देश भर के मुस्लिम विद्वान् एकत्रित हुए। बहुत तर्क-वितर्क के बाद यह स्थिर हुआ कि सामान्यतः संगीत इस्लाम के सिद्धांतों के विरुद्ध है परंतु निज़ामुद्दीन जैसे विशिष्ट संतों के लिए वह नियम लागू नहीं होता। उनके सभी कार्य भवगद्-शक्ति से प्रेरित होने के कारण उचित हैं। इसलिए सुलतान और शेख में पहले से अधिक मनमुटाव हो गया। सुलतान ने जब सुना कि शाहज़ादा उलुग़ ख़ाँ उसे अपना दीक्षागुरु मानता है तो उसे बहुत बुरा लगा। साथ ही उसने यह भी सुना कि उलुग़ ख़ाँ ने अनेक व्यक्तिगत दास खरीदे हैं और इस कार्य में धन का बहुत अपव्यय किया है। इसे सुनकर उसे संदेह हुआ कि वह विद्रोह की तैयारी कर रहा हैं। उसी समय कुछ ज्योतिषियों ने दिल्ली में यह भविष्यवाणी की कि सुलतान दिल्ली जीवित नहीं लौट सकेगा। इन्हीं खबरों को सुनकर उसे चिन्ता हो गई थी और वह राजधानी में वापस जाने के लिए आतुर हो गया था। साथ ही उसने उलुग़ ख़ाँ को लिख भेजा कि वह उन ज्योतिषियों को राजधानी से निकाल दे, अपनी संगति ठीक रखे और राजकोष के धन का दुरुपयोग न करे। उसने यह चेतावनी भी दी कि यदि उसका आचरण ठीक न हुआ तो उसे बाध्य होकर उसको उत्तराधिकार से वंचित करना पड़ेगा। उसी समय उसने शेख़ निज़ामुद्दीन को भी लिख भेजा कि वह नहीं चाहता कि संगीत का स्वर उसके कानों में पड़े। इसलिए शेख को चाहिए कि उसके लौटने से पूर्व वह दिल्ली से बाहर चला जाय। शेख ने उत्तर में केवल यह कहा "अभी दिल्ली दूर है।" उलुग़ ख़ाँ सुलतान की आज्ञाओं को मानने हुए उसके शानदार स्वागत की तैयारी करने लगा।

इब्नबतूता लिखता हैं कि सुलतान ने यह भी आज्ञा भेजी थी कि राजधानी से कुछ दूर जल्दी से एक महल बना दिया जाय ताकि सुलतान उसमें रात बिताकर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरे दिन राजधानी में सज-धज के साथ प्रवेश कर सके। यह समाचार पाकर उलुग़ खाँ ने अहमद अयाज़ (मीर-इमारत—निर्माण-मंत्री) के साथ मिलकर कुचक्र रचा। दोनों ने यह स्थिर किया कि जल्दी का बहाना लेकर महल प्रधानतः लकड़ी का बनाया जाय और उसको मजबूत नींव न देकर केवल कुछ लकड़ी के खंभों के सहारे खड़ा किया जाय ताकि स्थान-विशेष पर हाथियों के चलने के भार से वह गिर पड़े। सुलतान की इस विधि मे हत्या करके युवराज उलुग़ खाँ, पूर्व-घोषणा के अनुसार सुलतान हो जायगा और वह अहमद अयाज़ को राज्य में सर्वोच्च पदाधिकारी बना देगा।

जब सुलतान आकर उस महल में ठहरा तो उसने देखा कि उसके स्वागत और आराम का अच्छा प्रबंध किया गया है। इससे वह संतुष्ट हुआ। तीसरे पहर के बाद सब लोग भोजन के लिए बैठे। उस समय सभी बड़े-बड़े अमीर, युवराज उलुग़ खाँ, शेख रुकनुद्दीन आदि उपस्थित थे। सुलतान ने जैसे ही भोजन समाप्त किया सब लोग हाथ धोने के लिए बाहर चले गए। उनके बाहर जाने के साथ ही सामने से सजे हुए हाथी निकाले गए। सुलतान भीतर ही हाथ धोने के लिए बैठा रहा। देखते-देखते मकान हिला और भरभराकर गिर पड़ा और सुलतान उसी के नीचे दब गया। उसको खोदकर निकालने में देर हो गई और उसकी लाश रातोरात गाड़ दी गई। यह घटना तारीख मुबारकशाही के अनुसार फरवरी १३२५ ई० में हुई।

समकालीन इतिहासकार बर्नी इस मृत्यु की घटना का बहुत संक्षेप में वर्णन करता है और कहता है कि 'आकाश से विपत्ति का उल्कापात हुआ' जिसके कारण महल गिर गया और उसके भीतर के लोग मृत्यु को प्राप्त हुए।

क्या उलुग खां पितृ घातक था ? निज़ामुद्दीन अहमद, बदायूँनी, अबुलफ़ज्ल आदि बाद के लेखकों ने उलुग़ खां को इस हत्या के लिए दोषी ठहराया है और कहा है कि बर्नी ने फ़ीरोज़ की भावनाओं का ध्यान रखकर जान-बूझकर सत्य को छिपाने की चेष्टा की है। आधुनिक लेखकों में से सर वुलज़ले हेग, डाक्टर ईश्वरीप्रसाद तथा प्रायः अन्य सभी लोग उलुग़ खाँ को हत्या का दोषी मानते हैं। इस विश्वास के पक्ष में मुख्य तर्क निम्नलिखित हैं :—

(१) इब्नबतूता समकालीन लेखक है। उसने इस संबंध की सूचना शेख रुकनुद्दीन से प्राप्त की थी जो वहाँ उपस्थित था। उसने अपनी पुस्तक स्वदेश में लौटने पर लिखी। मुहम्मद-बिन-तुग़लक से उसको ऐसा कोई द्वेष नहीं था कि वह जान-बूझकर उसे बदनाम करने के लिए यह कहानी गढ़ता।

(२) ज़ियाउद्दीन बर्नी उल्कापात की बात स्पष्ट ढंग से नहीं कहता। उसके कथन का अर्थ यह भी हो सकता है कि जो विपत्ति आई वह उल्कापात के समान भयंकर थी। उसने अत्यन्त संक्षिप्त विवरण इसी लिए दिया है जिससे बिना स्पष्टतः झूठ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बोले वह अपने आश्रयदाता फ़ीरोज़ की मुहम्मद-संबंधी कोमल भावनाओं को आघात न पहुँचाये।

(३) यहया उल्कापात की बात नहीं लिखता। निज़ामुद्दीन अहमद बहुत ही सुलझा हुआ इतिहासकार है। वह उल्कापात की बात को मनगढ़न्त मानता है और बर्नी को युवराज के षड्यंत्र पर पर्दा डालने का अपराधी ठहराता है। बदायूँनी भी यही मत स्वीकार करता है। अबुलफ़ज्ल को अपनी पुस्तक लिखने के लिए सभी प्राप्य सामग्री प्रस्तुत की गई थी। वह भी उल्कापात की बात को नहीं मानता।

(४) यदि युवराज के मन में कोई कुचक्र न होता तो राजधानी के इतने निकट नया महल क्यों बनवाता और प्रायः सब लोगों के बाहर आने पर हाथियों का प्रदर्शन क्यों कराता?

(५) उलुग़ ख़ाँ महत्वाकांक्षी था, पहले भी वह विद्रोह कर चुका था। इस प्रकार की हत्याओं द्वारा राज्य प्राप्त करना कोई अभूतपूर्व घटना भी नहीं थी। युवराज घोषित किये जाने पर भी इसकी क्या गारंटी थी कि सुलतान किसी कारण असंतुष्ट होकर किसी दूसरे राजकुमार को उत्तराधिकारी न घोषित करेगा?

(६) अहमद आयाज़ ने उस महल का निर्माण कराया था। उसके गिर जाने से सुलतान की मृत्यु हुई। इस कारण उसे कुछ न कुछ दण्ड मिलना चाहिए था। परंतु दण्ड के स्थान पर मिला उसे वज़ीर का पद और ख्वाजा जहाँ की पदवी। इससे स्पष्ट है कि उसने कोई ऐसी सेवा की थी जिसके लिए युवराज उसका आभारी था। यह सेवा थी ऐसा महल बनाना जिससे सुलतान की हत्या की जाने पर भी यह स्पष्टतः न कहा जा सके कि युवराज ने उसका वध कराया है।

इस मत के विपरीत डा० मेहदीहुसेन ने उलुग़ ख़ाँ को निर्दोष ठहराया है। उनके प्रधान तर्क संक्षेप में इस प्रकार हैं:—

(१) मुहम्मद बिन तुग़लक की जीवनी (अप्रकाशित ग्रंथ) के अनुसार ग़यासु-द्दीन की मृत्यु जुलाई में हुई जिस समय उल्कापात होना काफी संभव है।

(२) ऐनुल्मुल्क मुलतानी ने एक पत्र में यह स्वीकार किया है कि महल खूब दृढ़ था।

(३) फ़ीरोज़ मुहम्मद बिन तुग़लक का ऐसा भक्त नहीं था कि वह उसकी आधार-युक्त बुराई को सहन न कर पाता। सीरत-ए-फ़ीरोज़शाही में उसने स्वयं उसकी कटु आलोचना की है।

(४) बर्नी ने मुहम्मद बिन तुग़लक की अनेक स्थलों पर बड़ी बुराई की है। अस्तु यदि वह पितृघाती होता तो वह अवश्य इसका उल्लेख करता। फ़रिश्ता ने भी बर्नी के पक्ष का समर्थन किया है।

(५) इब्न बतूता उलमा वर्ग का सदस्य था जो मुहम्मद बिन तुग़लक से बहुत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिढ़ा हुआ था। उसका विवाह माबर के शासक के परिवार में हुआ था जो मुहम्मद का शत्रु था। वह स्वयं भी निजी स्वार्थ के कारण मुहम्मद से असंतुष्ट हो गया था। उसने कई स्थलों में बाज़ारू गपों के आधार पर कल्पित वर्णन किये हैं। अस्तु, उसका मत स्वीकार करने योग्य नहीं है।

(६) मुहम्मद इतना सच्चरित्र था कि वह ऐसा दुष्कर्म कभी नहीं कर सकता था जिसके लिए वह अलाउद्दीन की भर्त्सना किया करता था।

निष्पक्ष दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि उलुग़ खाँ के दोषी होने के पक्ष के तर्क उसके निर्दोषी होने के पक्ष के तर्कों से अधिक सबल हैं और अहमद आयाज़ की पदोन्नति उसके दोष का प्रायः अकाट्य प्रमाण है। परतु वर्तमान स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक मत ही एकमात्र सत्य मत है। कुछ लोगों ने तो यह भी कहा है कि शेख निज़ामुद्दीन औलिया के मुख से जो वाक्य निकल गया वह उनकी आध्यात्मिक शक्ति के कारण झूठा हो नहीं सकता था। इसलिए वही अभिशाप बन कर काल-प्रेरक हो गया। एक लेखक ने इसी से मिलती-जुलती दूसरी बात कही है कि उलुग़ खाँ जादू करना जानता था। उसने जादू से इस महल को खड़ा किया था और ज्यों ही उसने जादू हटाया त्यों हो यह गिर गया।

ग़यासुद्दीन के शसन सम्बन्धी सुधार

ग़यासुद्दीन तुग़लक का पाँच वर्ष का शासन-काल कई दृष्टियों से बहुत महत्वपूर्ण है। उसका व्यक्तिगत चरित्र इतना निर्मल और प्रशंसनीय था कि कुछ लोगो ने उसे आदर्श मुसलमान शासक कहा है। हम पहले देख चुके हैं कि उसने किस प्रकार निर्विरोध आग्रह के कारण सुलतान होना स्वीकार किया था और इस भांति लोकतांत्रिक भावना की रक्षा की थी। सिंहासनारूढ़ होने के पश्चात् उसने अपने कार्य एवं निर्देश द्वारा धार्मिक भावना को सबल बनाया। उसने अपने आचरण को इस प्रकार ढाला कि लोग उसका अनुकरण करके सद्गति को प्राप्त करें। उसने लोकहित का ध्यान रखते हुए दृढ़ता के साथ शासन किया और ऐसी नीति अपनाई जिसके कारण हिन्दुओं के लिए विद्रोह करना दुष्कर हो गया तथा शासक-वर्ग पहले की अपेक्षा अधिक संतुष्ट एवं कर्तव्य-परायण हो गया। उसकी शांति और युद्ध की नीति ऐसी थी जो इस्लामी सिद्धान्तों के अनुकूल तथा तत्कालीन परिस्थिति के लिए उपयुक्त थी।

उसने सार्वजनिक सुविधा की दृष्टि से राजनियमों का एक संग्रह तैयार कराया जो भारत की स्थिति को ध्यान में रखते हुए इस्लामी सिद्धान्तों का आश्रय लेकर बनाये गए थे। उसने अपना जीवन सादा और आचरण अनुकरणीय बनाया। इस कारण राज-महल और दर्बार पर होने वाला व्यय बहुत घट गया तथा देश की आर्थिक व्यवस्था अपेक्षाकृत दृढ़तर हो गई। उसने प्रसिद्ध खलीफाओं का अनुकरण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते हुए साधु-संतों, दीन-दुखियों, असहायों एवं व्यवसायहीन व्यक्तियों को नियमित ढंग से सहायता देने की व्यवस्था की। उसने सरकारी पदों पर नियुक्त करने में वंश अथवा जाति को महत्व न देकर योग्यता का ही विशेष ध्यान रखा और मुसलमानों में जाति अथवा रंग के आधार पर कोई पक्षपात नहीं किया। इस प्रकार उसने इस्लामी भाई-चारे और समानता के सिद्धान्त को कार्यरूप में परिणत किया। उसने न्याय की समुचित व्यवस्था द्वारा राज्य के कोने-कोने तक शान्ति और सुरक्षा स्थापित कर दी। मार्ग निष्कण्टक हो गये। कृषि तथा वाणिज्य-व्यवसाय ने उन्नति की और जन-साधारण के धन तथा मान की रक्षा हुई।

उसने सेना का प्रबंध प्रायः उसी प्रकार का रखा जैसा अलाउद्दीन के समय में था। परंतु उसने सैनिकों का वेतन बढ़ा दिया, उनकी सुविधा का अधिक ध्यान रखा और सेनापतियों के साथ अधिक सहृदयता का व्यवहार किया। उसने सैनिकों का वेतन समय पर दिलाने की व्यवस्था की और इस बात का सदा ध्यान रखा कि जागीरदार तथा प्रांतपति उनके वेतन में से कोई चोरी न करें और न उसकी अदायगी में किसी प्रकार का विलम्ब करें। परंतु इसी के साथ उसने इसकी भी जाँच कराई कि खुसरो से किसे कितना रुपया मिला था। यदि वह एक वर्ष के वेतन से अधिक न हुआ तो उसने कुछ नहीं कहा परंतु जिनको एक वर्ष के वेतन से अधिक रुपया मिला था उनके नाम के आगे सरकारी रजिस्टरों में वह रकम लिख दी गई और क्रमशः वह वसूल कर ली गई। उसने सैनिकों के अस्त्र-शस्त्र की ओर भी ध्यान दिया। फलतः उसकी सेना सदा सुसंगठित एवं सशक्त रही जिसके कारण उसने विदेशी आक्रमणकारियों को मार भगाने, नये प्रांतों को जीतने तथा विद्रोहों का दमन करने में सर्वत्र सफलता पाई।

किसानों के विषय में उसने कर स्थित करते समय यह बात ध्यान में रखी कि उनसे इतना अधिक कर न माँगा जाय कि वे खेत छोड़ कर भाग जायें और न इतना कम लिया जाय कि वे धनी होकर राजद्रोही बन जायें। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने उपज के $\frac{1}{3}$ से अधिक तथा $\frac{1}{5}$ से कम कर लेना निश्चित किया होगा। इस कर के अतिरिक्त उसने अन्य अनेक कर बंद कर दिये। करों की वसूली अब भी खोतों और मुकद्दमों के द्वारा होती थी। उनके विषय में सुलतान ने यह आदेश दिया कि उनसे गोचर-कर तथा भूमि-कर न लिया जाय क्योंकि उनको साधारण किसान की कोटि में रखना अन्याय होगा परन्तु उनको यह अवसर नहीं दिया गया कि वे किसानों पर किसी प्रकार का अत्याचार करें अथवा नियत करों से कुछ अधिक लेने का उद्योग करें। स्थानीय आमिल तथा गुप्तचर इस बात की जाँच करते थे और जो इसके विरुद्ध कार्य करते पाये जाते थे उनको कड़ा दण्ड दिया जाता था। किसानों के हितों का ध्यान रखकर उसने ठेकेदारी प्रथा का अंत कर दिया और

१४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगान का ठेका लेने वालों को वज़ीर के दफ्तर के पास फटकने नहीं दिया। उसने यह आदेश दे रखा था कि किसी भी क्षेत्र के जागीरदार अथवा आमिल द्वारा एकत्रित किया जाने वाला धन एक साथ अत्यधिक न बढ़ा दिया जाय अन्यथा प्रजा में असंतोष फैल जायगा। उपयुक्त परिस्थिति होने पर, अधिकतम वृद्धि १/१० अथवा १/११ से अधिक न होनी चाहिए और यह परिवर्तन भी केवल एक वर्ष में ही न करके चार-पाँच वर्ष में क्रमशः २%, ३% बढ़ाकर करना चाहिए। उसने आमिलों को इतनी छूट दे रखी थी कि वे वेतन के अतिरिक्त कुल वसूली में से ५% से लेकर १०% तक कमीशन काट लें तो उनको बेईमान न समझा जाय परंतु जो इससे अधिक लेने की चेष्टा करता था वह दण्ड का भागी होता था। इसी प्रकार मलिकों और अमीरों के लिए छूट थी कि वे वसूली के १/२२ या १/२०भाग से लेकर अधिक-से-अधिक १/१५ या १/१० तक ले लें तो उन पर सरकारी धन खा जाने का आरोप न लगेगा परंतु इससे अधिक लेने पर उनको भी कड़ा दण्ड दिया जाता था। इस भांति ग़यासुद्दीन ने अलाउद्दीन की अपेक्षा थोड़ी उदारता दिखाई और उसने सरकारी कर्मचारियों तथा प्रतिनिधियों को पहले की अपेक्षा अधिक सम्मानित एवं सुखमय जीवन व्यतीत करने का अवसर देकर उन्हें राज्य के प्रति अधिक निष्ठावान बना दिया।

उसको धार्मिक नीति बहुत कठोर नहीं थी। उसने सुन्नी संप्रदाय के सिद्धान्तों का अनुकरण किया। उसने व्यभिचार तथा मद्यपान से अपने को अछूता रखा और संगीत तथा नृत्य को धर्म-विरुद्ध समझ कर उनका बहिष्कार किया। धर्म के विषय में वह केवल अपनी रुचि का ही ध्यान न रख कर धार्मिक सिद्धान्तों की ठीक-ठीक जानकारी के आधार पर नीति स्थिर करता था। उसने साधु-संतों का आदर किया और उनको आर्थिक सहायता दी। शेख निज़ामुद्दीन औलिया के संगीत-प्रेम को वह पसंद नहीं करता था परंतु उसने उलमा की राय लिये बिना उस दिशा में कुछ नहां किया। वह अपने आचरण द्वारा लोगों को धार्मिक बनने की प्रेरणा तो देता ही था साथ ही उसने जनसाधारण के चरित्र की देख-भाल करने के लिए मुहतसिब भी नियुक्त किये थे। जितना विवरण मिलता है उससे पता चलता है कि उसने हिन्दुओं के देवालयों को भ्रष्ट करने अथवा उनको आग्रह-पूर्वक मुसलमान बनाने का कोई उद्योग नहीं किया। उसकी कठोर करनीति का कारण धार्मिक न होकर राजनीतिक था। इस दिशा में भी उसने खोतों और मुकद्दमों के साथ जो उदारता दिखाई उसके कारण आगे चलकर वे संपन्न हो सकते थे और उस दशा में उनके हृदय में विद्रोह की भावना भी जग सकती थी। परंतु उसने इसकी चिन्ता न करके उनके पद और सम्मान का ध्यान रखते हुए उनके साथ अलाउद्दीन की अपेक्षा अधिक उदारता का व्यवहार किया। उसने बरवारियों को भी सेना में रहने दिया

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और केवल उन्हीं को दण्ड दिया जिनके ऊपर हत्या अथवा बलात्कार का अभियोग सिद्ध हो गया। उसने हिन्दुओं का अकारण रक्तपात नहीं किया और तेलंगाना तथा तिरहुत में विजय प्राप्त करने के उपरांत राजनीतिक सत्ता अवश्य ली परंतु जनसाधारण के साथ आपेक्षिक उदारता का व्यवहार किया।

उसकी शासन-नीति की यदि हम जलालुद्दीन खिलजी, अलाउद्दीन खिलजी तथा बलबन की नींति से तुलना करें तो हम देखेंगे कि उसने अपनी नीति में उनकी नीति के दोषों का परिहार करके उनके गुणों का समावेश कर लिया था। इसी कारण उसका शासन बहुत सफल हुआ और सुलतान देश में बहुत लोकप्रिय हो गया। ग़यासुद्दीन ने एक सैनिक के पद से उन्नति करके राजपद प्राप्त किया था परंतु इस सौभाग्य के कारण उसका मानसिक संतुलन नष्ट नहीं हुआ और उसने शासन तथा व्यक्तिगत जीवन को सदा संयमित एवं व्यवस्थित रखा। यदि उसकी हत्या न की गई होती तो वह तुग़लक वंश की नींव को और दृढ़ कर देता। फिर भी जितना वह कर गया उसी के आधार पर उसे दिल्ली के सुलतानों में एक आदर का स्थान प्राप्त हो गया है।

सहायक ग्रन्थ

(१) इलियट और डासन—भाग ३.

(२) ईश्वरीप्रसाद—ए हिस्ट्री आफ दी क़रौना टर्क्स इन इण्डिया, भाग १. पृष्ठ १–५५।

(३) आग़ा मेहदी हुसेन—दी राइज़ ऐण्ड फाल आफ मुहम्मद बिन तुग़लक, पृष्ठ १६-७४।

(४) रामप्रसाद त्रिपाठी—सम ऐसपेक्ट्स आफ मुस्लिम ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृष्ठ ५५-६०; २६८-२७४।

(५) क़ुरेशी— दी ऐडमिनिस्ट्रशन आफ दी सल्तनेत आफ डेल्ही

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१०

सुलतान मुहम्मद बिन तुग़लकशाह

सुलतान ग़यासुद्दीन की मृत्यु के तीन दिन बाद उलुग़ ख़ाँ को तुग़लकाबाद में सुलतान घोषित कर दिया गया और उसने मुहम्मदशाह का विरुद् धारण किया।

राज्याभिषेक

यह कार्य केवल इसलिए किया गया था क्योंकि राजसिंहासन को रिक्त रखना साम्राज्य की शांति और व्यवस्था के हित में घातक होता। परंतु मुहम्मद ने उस समय कोई उत्सव नहीं मनाया। इसके विपरीत उसने अपने पिता की मृत्यु का शोक मनाने के प्रतीक-स्वरूप काला वस्त्र धारण किया। चालीस दिन समाप्त होने पर जब ग़यासुद्दीन के संपूर्ण अंतिम संस्कार भली-भांति संपन्न हो चुके तब वह दिल्ली गया और वहाँ उसने अपने राज्याभिषेक की तैयारियाँ कराईं। इस समय खूब सजधज और आनंदोत्सव के साथ सुलतान का अभिषेक हुआ।

तत्कालीन इतिहासकारों के वर्णन से विदित होता है कि किसी भी व्यक्ति ने उसके राज्याभिषेक का विरोध नहीं किया। उसके चार अन्य भाई भी थे—मुबारक

विरोध न होने के कारण

ख़ाँ, नसरत ख़ाँ, मसूद ख़ाँ और महमूद ख़ाँ। इनमें से महमूद ख़ाँ संभवतः सुलतान के साथ ही अफ़ग़ानपुर में मर गया था। मसूद ख़ाँ उसका सौतेला भाई था और उसने आगे चल कर एक षड्यंत्र में भाग लिया जिसके कारण उसे मृत्युदण्ड मिला। परंतु राज्याभिषेक के समय उसने कोई विरोध नहीं किया। नसरत ख़ाँ भी मुहम्मद के राज्यकाल में जीवित था। इन भाइयों में सबसे योग्य मुबारक ख़ाँ था। परंतु उसने भी विरोध नहीं किया और मुहम्मद के राज्य-काल में मीर दाद का पद स्वीकार कर लिया।

सुलतान ग़यासुद्दीन एक अत्यंत लोकप्रिय शासक था। उसकी हत्या करने वाले के विरुद्ध स्वाभाविक असंतोष होना चाहिए था। फिर भी मुहम्मद के भाइयों में से किसी ने भी इस असंतोष से लाभ उठा कर राजगद्दी प्राप्त करने की चेष्टा क्यों नहीं की ? इसके कई कारण हैं। उलुग़ ख़ाँ अपने सभी भाइयों से कहीं अधिक योग्य था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसे सैनिक तथा प्रशासकीय अनुभव भी प्राप्त था। उसने तेलंगाना-विजय तथा दिल्ली में नयाबत के काल में अनेक अनुयायी बना लिये थे। केन्द्रीय सरकार की बागडोर उसके हाथ में पहले से ही थी। उसे युवराज भी घोषित किया जा चुका था। इस कारण उसकी स्थिति अत्यन्त प्रबल थी। उसका सफल विरोध कर सकना कठिन था। सुलतान की हत्या का संदेह उस पर अवश्य था परंतु यह कहना संभव नहीं था कि उसने निश्चय ही पिता का वध किया है। संयोगवश भी उसकी मृत्यु हो सकती थी। अस्तु यह खुला प्रचार करना सुगम नहीं था कि युवराज ने सुलतान की हत्या की है। इसे मिथ्या आरोप कहा जा सकता था और इस अपराध के लिए मृत्युदण्ड भी दिया जा सकता था। फिर मुहम्मद के भाई विशेष योग्य भी नहीं थे। अपने पिता के काल में उनको कोई उच्च पद प्राप्त नहीं था। ऐसी परिस्थिति में उनमें से किसी के लिए यह संभव नहीं था कि वह अपने योग्य, अनुभवी एवं सत्तारूढ़ भाई का सफल विरोध कर सके। मुहम्मद बिन तुग़लक को शेख़ निज़ामुद्दीन औलिया का आशीर्वाद प्राप्त था। इस कारण शेख़ के शिष्यों ने भी, जिनकी संख्या दरबार तथा राजधानी में काफी थी, उसका समर्थन किया। मध्यकालीन मुस्लिम राजवंशों में इस प्रकार की हत्याएँ होती ही रहती थीं। इस कारण मुहम्मद का कार्य उतना घृणित नहीं प्रतीत हुआ होगा जितना कि साधारणतः होना चाहिए था। अंतिम कारण है स्वार्थ-बुद्धि की प्रधानता। उस समय के सर्दार तथा प्रांतपति अपने शासक के इतने प्रगाढ़ भक्त नहीं होते थे कि वह उसकी मृत्यु हो जाने पर भी उसके उत्तराधिकारी का बिरोध करने में अपनी निजी स्वार्थों की चिन्ता न करें। इस्लामी उत्तराधिकार नियम अनिश्चित होने के कारण मुस्लिम राज्यों में यह प्रवृत्ति घर कर गई थी कि राज्य का अधिकारी वही है जो बलपूर्वक उस पर अधिकार रख सके। इस कारण वहाँ राज्यक्रान्तियों और हठात् राज्य-परिवर्तनों को जनता द्वारा सहज ही समर्थन प्राप्त हो जाता है। यही कारण है कि सल्तनत के काल में अलाउद्दीन, काफ़ूर, नासिरुद्दीन ख़ुसरो आदि का सिद्धान्त अथवा स्वामि-भक्ति के आधार पर कोई विशेष विरोध नहीं हुआ। इन्हीं सब कारणों से मुहम्मद का उत्तराधिकार भी निर्विघ्न स्वीकृत कर लिया गया और वह दिल्ली का सुलतान स्वीकार कर लिया गया।

मुहम्मद के शासन का महत्व

मुहम्मद बिन तुग़लक मध्यकालीन इतिहास में एक विशिष्ट स्थान रखता है और उसका शासन-काल कई दृष्टियों से अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसी समय सल्तनत का सीधा अधिकार दक्षिण के अधिकांश भाग पर स्थापित हुआ और सीमा के विस्तार की दृष्टि से सल्तनत का चरम उत्कर्ष हुआ। परंतु उसी समय से सल्तनत के पतन का क्रम आरंभ हुआ जिसका अंत राजनीतिक विशृंखलता में हुआ। मुहम्मद

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिन तुग़लक के समान विद्वान और बहुमुखी प्रतिभा-संपन्न व्यक्ति कोई दूसरा दिल्ली की गद्दी पर नहीं बैठा और उसने साहित्य, विज्ञान तथा कला को प्रोत्साहन दिया परंतु उसकी विद्वत्ता एवं प्रतिभा के बावजूद उसकी अधिकांश योजनाएँ विफल हुईं। मुहम्मद बिन तुग़लक का चरित्र तथा व्यक्तित्व इतना जटिल है कि उसके ठीक स्वरूप का अनुमान लगाना कठिन हो गया है। इसी कारण विद्वानों में उसके चरित्र के विषय में काफी मतभेद है। उसके चरित्र का अध्ययन इस काल को एक विशेष महत्व प्रदान करता है। मुहम्मद का भाग्य भी कुछ विलक्षण था। उसके समय में विद्रोहों, अकालों और महामारियों का ऐसा ताँता लगा रहा जैसे कि कोई दैवी शक्ति उसकी कठोरतम परीक्षा लेने पर तुली हो और पूर्व निश्चय के अनुसार उसे विफल-मनोरथ बनाने के लिए कृत-संकल्प हो। उसने लोकहित का ध्यान रखकर अनेक सुधार करने चाहे। परंतु उनमें से कुछेक इतने नवीन और क्रांतिकारी थे कि तत्कालीन जनता उनका महत्व समझने में असमर्थ रही और वह उन्हें सफल बनाने में योगदान करने के स्थान पर उनका विरोध करती रही। सुलतान ने अभूतपूर्व उदारता के द्वारा अपना नाम एशिया भर में फैला दिया और उसने दीन-दुखियों तथा अपने कृपापात्रों को खूब धन दिया। परंतु उसने दण्डविधान की कठोरता और बर्बरता को कम करने के स्थान पर उसे और बढ़ा दिया। उसके समय में धर्म-निरपेक्षता चरम-सीमा को पहुँच गई और धर्म के ठेकेदारों (उलमा) का प्रभाव नगण्य हो गया। इतनी विशिष्ट बातों के एक ही शासन-काल में एक साथ पाये जाने के कारण मुहम्मद बिन तुग़लक का राज्य-काल ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत ही रोचक एवं महत्वपूर्ण हो गया है।

मुहम्मद बिन तुग़लक के राज्याभिषेक के समय राजकोष धन और रत्न से भरा था। इब्नबतूता लिखता है कि सुलतान तुग़लकशाह ने एक महल बनवाया था जिसकी ईंटें सुवर्णजटित थीं। उसके भीतर एक विशाल धन-कुण्ड था जिसमें गलाया हुआ सुवर्ण भर दिया गया था। यह संपूर्ण संपत्ति सुलतान मुहम्मद को विरासत में मिली। सुलतान तुग़लक एक विस्तृत साम्राज्य भी छोड़ गया था जिसमें काश्मीर, राजपूताना तथा कुछ समुद्रतटीय प्रदेश को छोड़कर प्रायः समस्त भारत सम्मिलित था। इस विशाल राज्य की सीमायें भी पहले की अपेक्षा कहीं अधिक सुरक्षित थीं और मंगोलों के आक्रमण अथवा राजपूतों के प्रत्याक्रमण का भय नहीं के बराबर था। देश के भीतर विद्रोह अथवा अशांति के भी कोई कारण दिखाई नहीं पड़ते थे। इस दृष्टि से मुहम्मद बिन तुग़लक की समस्याएँ बलबन अथवा अलाउद्दीन की अपेक्षा कहीं अधिक सरल थीं। उसे केवल एक ही विशेष चिन्ता थी। लोगों के संदेह को दूर करना और ऐसी स्थिति उत्पन्न करना जिसके कारण लोग ग़यासुद्दीन की मृत्यु

मुहम्मद के प्रारंभिक कार्य

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की घटना को शीघ्र से शीघ्र भूल जायँ। उसने सोचा कि यदि वह ऐसे कार्य करे जिससे वह अपने पिता से श्रेष्ठ सिद्ध हो तथा वह किसी के स्वार्थ पर आघात करने के स्थान पर उसकी पूर्ति में सहायक प्रतीत हो तो सहज ही उसे जनता तथा अमीरों का समर्थन प्राप्त हो जायगा। अस्तु, उसने अपने प्रारंभिक वर्षों में जो कुछ किया वह मुख्यतः इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया।

जिस समय वह दिल्ली में प्रवेश कर रहा था, उस समय उसने नगर को बहुत सुरुचिपूर्ण सजावट द्वारा अलकापुरी के समकक्ष बना दिया। उसके आगे पीछे मुल्यवान आभूषणों एवं रत्नों से सजे हुए हाथी रखे गये जिन पर बड़े-बड़े अमीर और सर्दार आकर्षक वेशभूषा से अलंकृत बैठे थे और दर्शकों पर बराबर सुवर्ण और चाँदी के सिक्कों की बौछार करते जाते थे। चाँदी-सोने की वर्षा से नगर के हिन्दू तथा मुसलमान इतने प्रसन्न हुए कि वे सुलतान को आशीर्वाद देने लगे और उसकी प्रशंसा के गीत गाने लगे।

राज्याभिषेक के उपरांत जब उसने पहला दर्बार किया तब उसने अमीरों को भी खूब धन बाँटा और उनको पदवियों से विभूषित किया तथा अपनी स्थिति को दृढ़ करने के लिए कुछ नई नियुक्तियाँ भी कीं। उनमें से कुछ का उल्लेख करना ही पर्याप्त होगा। सोनारगाँव के हाकिम तातर खाँ को एक करोड़ सुवर्ण टंक दिये गये तथा बहराम खाँ की पदवी प्रदान की गई। मलिक संजर को अस्सी लाख, इमादुद्दीन को सत्तर लाख, और सुलतान के अध्यापक सय्यद अज्दुद्दौला को चालीस लाख टंक दिये गये। इसी भांति अन्य लोगों को भी उदारतापूर्वक उपहार दिए गए। उसने साधु-संतों, कवियों, विद्वानों आदि को वार्षिक पेंशनें, जागीरें, तथा इनाम दिये। इस उदारता के प्रवाह में सभी लोगों का संदेह तथा विरोध बह गया और लोगों ने ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से समझ लिया कि सुलतान ने यदि अपने पिता का वध किया भी हो तो इतने सुवर्णदान के द्वारा उसका समुचित प्रायश्चित्त हो गया।

उसने इसी समय मलिक मक़बूल को इमादुलमुल्क की पदवी तथा वज़ीर-ए-मुमालिक का पद प्रदान किया। परंतु कुछ समय के बाद उसे गुजरात का हाकिम बना कर भेज दिया गया और उसे खान-ए-जहाँ की पदवी दी गई। उसी समय उसने अहमद आयाज़ को जिसे राज्याभिषेक के समय ख्वाजा जहाँ की पदवी मिली थी वज़ीर के पद पर नियुक्त किया। सुल्तान के एक अन्य अध्यापक मौलाना क़ियामुद्दीन को क़ुतलुग़ खां की पदवी तथा वकील-ए-दर का पद मिला। सुलतान का का चचेरा भाई मलिक फ़ीरोज़ नायब बारबक नियुक्त किया गया। सोनारगाँव हाकिम, ग़यासुद्दीन का स्नेहभाजन एवं दत्तक पुत्र, तातर खां बहुत योग्य और साहसी व्यक्ति था। मुहम्मद तुग़लक ने उसे वहाँ से हटा कर पूर्वी बंगाल का शासन बहादुर को दे दिया जो सन् १३२४ ई० से दिल्ली में नज़रबंद था। यह नियुक्ति कई

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। बहादुर बलबन का वंशज था। इस कारण यदि वह राजधानी में रहता तो उसका पक्ष लेकर षड्यंत्र किया जा सकता था। सुलतान ने इस संभावना को समाप्त कर दिया और तातर खां के प्रभाव को भी घटा दिया यद्यपि ऊपरी तौर से उसके साथ बहुत उदारता का व्यवहार किया गया। बहादुर ने मुहम्मद को अपना सम्राट् स्वीकार कर लिया और सुलतान ने उसे यह छूट दे दी कि सिक्कों में वह सुलतान के नाम के साथ अपना नाम भी अंकित करा दे। जब लखनौती का शासक नासिरुद्दीन मर गया तब सुलतान ने बेदार खिलजी को क़द्र खां की पदवी देकर वहां का शासक नियुक्त किया।

मुहम्मद बिन तुग़लक ने १३२५ ई० से १३५१ ई० तक शासन किया। उसके कार्य के गुरुत्व को ठीक ठीक समझने के लिए उसके सैनिक कार्यों और सुधार-योजनाओं का अलग-अलग अध्ययन करना अधिक उपयोगी होगा।

मुहम्मद की नीति के प्रधान स्तम्भ

उसके सैनिक कार्य को भी सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में बांटा जा सकता है—(१) विजय कार्य (२) सीमाओं की रक्षा (३) विद्रोहों का दमन। इसी भांति उसकी सुधार-योजनाओं को भी ६ भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) राज्य-सिद्धान्त संबंधी (२) हिन्दुओं के प्रति नीति (३) न्याय-संबधी (४) मुद्रा नीति (५) कर नीति (६) लोकहितकारी कार्य।

मुहम्मद बिन तुग़लक की वैदेशिक नीति विशेष सफल नहीं रही। उसके राज्यकाल के प्रारंभिक वर्षों में ही संभवतः चित्तौड़ के राजा हम्मीर से उसका युद्ध हुआ।

वैदेशिक नीति और विजयों की योजना

(१) राजपूताना

राजपूत ख्यातों के अनुसार हम्मीर ने मुहम्मद को युद्ध में पराजित कर के बंदी बना लिया और उसे तीन मास तक कैद में रख कर तब मुक्त किया जब उसने राणा को पचास लाख टंक, १०० हाथी तथा अजमेर, रणथम्भौर, नागौर और सुइसपुर के इलाके देना स्वीकार किया। टाड, एर्सकीन और पण्डित्त गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने सुलतान मुहम्मद की पराजय को स्वीकार किया है। परंतु अन्य लेखकों ने—यथा डा० ईश्वरीप्रसाद और आगा मेहदी हुसेन—इसे असंभव कह कर अस्वीकार किया है क्योंकि फारसी के किसी इतिहास में इस युद्ध का उल्लेखमात्र भी नहीं है। परंतु इतना निश्चित मालूम होता है कि मुहम्मद तुग़लक ने राजपूताना की स्वतंत्र रियासतों पर फिर अधिकार करने की चेष्टा नहीं की। संभव है, इसका कारण सुलतान की अन्य क्षेत्रों में व्यस्तता और राजपूतों की संगठित शक्ति का भय हो। आग़ा मेंहदी हुसेन ने कहा है कि वह हिन्दुओं के प्रति उदारता का व्यवहार करने का इच्छुक था। इसलिए उसने उनकी स्वतंत्रता में बाधा नहीं दी। परंतु सुलतान के अन्य हिन्दू राज्यों—यथा नगरकोट, हिमाचल, और अनागोण्डी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

—के प्रति व्यवहार से यह प्रमाणित नहीं होता कि वह उनका राज्य हड़पने का अनिच्छुक था। अस्तु, अधिक युक्ति-युक्त यही प्रतीत होता है कि उसने राजपूताने के राजपूत राज्यों को पिछले सुलतानों द्वारा अधीन करने की चेष्टाओं की विफलता के ही कारण इस प्रकार की नीति अपनायी होगी।

(२) मंगोल

सुलतान की वैदेशिक नीति से संबंधित दूसरी घटना है मंगोल शासक तरमशीरीं से संबंध। तरमशीरीं आक्सस पार के क्षेत्र का शासक था और वह चग़ताई वंशी दाऊद का पुत्र था जिसने अलाउद्दीन के समय में भारत पर अधिकार करने की बहुत चेष्टा की थी। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, चग़ताई और हलागू के वंशजों में बराबर द्वेष चलता आ रहा था। इस समय वंशगत द्वेष में धार्मिक द्वेष भी जुड़ गया क्योंकि फारस के इलखानों ने शियाधर्म स्वीकार कर लिया था और तरमशीरीं ने सुन्नी धर्म स्वीकार किया। आंतरिक कलह के कारण फारस की शक्ति घटने लगी और उलजैतू के उत्तराधिकारी अबू सईद के समय में अमीर चौपान के षड्यंत्रों के कारण फारस के साम्राज्य के विघटन के लक्षण प्रकट होने लगे। तरमशीरीं ने इस स्थिति से लाभ उठा कर खुरासान पर अधिकार जमाने की योजना बनाई और वह काबुल तथा ग़ज़नी के क्षेत्र में सैना एकत्रित करने लगा। अभी उसकी तैयारी पूरी नहीं हुई थी कि चौपान के बेटे अमीर हसन ने उस पर आक्रमण कर दिया और उसको बुरी तरह पराजित किया तथा ग़ज़नी को लूटा और ध्वस्त किया। यह घटना १३२६-१३२७ ई० में हुई। तरमशीरीं के लिए स्वदेश भागना कठिन हो गया। अस्तु वह भारत की ओर भागा। उसका उद्देश्य यह था कि भारत के सुन्नी शासक की सहायता प्राप्त करके शिया विजेता को हराये और उसका राज्य समाप्त कर दे। वह दिल्ली तक चला आया। सुलतान मुहम्मद बिन तुग़लक ने उसका स्वागत किया और उसको शरण दी। परंतु ख्वाजा जहाँ और क़ुतलुग़ खां ने उसका भारत में रहना उचित नहीं समझा। अस्तु सुलतान ने उनके परामर्श के अनुसार तरमशीरीं को विदा कर दिया तथा चलते समय उसे पाँच हजार दीनार भेंट किये। संकट और विपत्ति के समय सुलतान का सौजन्य और स्वागत पाने के कारण तरमशीरीं बहुत कृतज्ञ हो गया। उसने व्यक्तिगत अनुभव द्वारा सुलतान की प्रतिभा एवं शक्ति का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया था। इसलिए उसने बराबर मैत्री-पूर्ण संबंध रखा तथा अपने पत्रों में भ्रातृवत् भावनाओं को व्यक्त किया।

(क) तरमशीरीं का भारत में आगमन

मंगोल सदा से आक्रमण करने और देश-विजय के लिए भारत आते रहे थे। इस कारण यहया और फरिश्ता ने इस आगमन को भी आक्रमण का रूप दे दिया है यद्यपि बर्नी और इब्नबतूता ने इसका उल्लेख तक नही किया। मंगोल इतिहासकारों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने भी संभवतः पाँच हजार दीनार दिये जाने के कारण इसे मंगोलों की विजय बताया है। इन लोगों का कहना है कि तरमशीरीं ने मुलतान और लमग़ान के मार्ग से भारत में प्रवेश किया। पश्चिमोत्तर सीमा के हाकिम उसको रोकने में असमर्थ रहे जिसके कारण वह दिल्ली तक बढ़ता चला गया। सुलतान मुहम्मद ने इतनी कायरता और दुर्बलता दिखाई कि उसने उसका खुला विरोध करने के स्थान पर राजधानी के दुर्ग की शरण ली। कुछ समय के बाद मंगोल बदायूँ की तरफ मुड़ गये क्योंकि वे घेरे डालने में प्रायः असफल रहते थे। बदायूँ में अकाल पड़ रहा था इसलिए वे कठिनाई में पड़ गये। सुलतान मुहम्मद ने इस समय तक आवश्यक सेना एकत्रित कर ली और उसने उसे मंगोलों के विरुद्ध भेजा। साथ ही उसने उनको धन भी दिया। फरिश्ता कहता है कि वह धन प्रायः दिल्ली राज्य के मूल्य के बराबर था। इस कारण मंगोल लौट गये। सुलतान की पीछा करने वाली सेना से उनका कहीं युद्ध नहीं हुआ।

इन दोनों वर्णनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि तरमशीरीं के साथ काफी सैनिक थे, उन्होंने मार्ग के स्थानों में कुछ लूटमार भी की होगी, सीमान्त शासक उसको रोकने में असफल रहे, दिल्ली के शासक-वर्ग को मध्य एशिया की परिवर्तित स्थिति का कुछ पता नहीं था, तथा तरमशीरीं दिल्ली तक आने के बाद ही वापस गया यद्यपि उसमें और सुलतान मुहम्मद में कोई युद्ध नहीं हुआ। संपूर्ण घटनावली का अवलोकन करने से विदित होता है कि तरमशीरीं ने न आक्रमण के उद्देश्य से प्रवेश किया और न सुलतान ने कायरता के कारण उसे धन देकर बिदा किया। यदि सुलतान सचमुच दुर्बल और धनी होने का प्रमाण देता तो मंगोल विजेता निश्चय ही उससे मित्रता करने के स्थान पर भविष्य में फिर उस पर आक्रमण करता क्योंकि ज्यों-ज्यों समय बीतता गया सुलतान मुहम्मद की शक्ति क्षीण होती गई। तरमशीरीं का दिल्ली तक आ जाना भी पश्चिमोत्तर सीमा की दुरवस्था का परिचायक है परंतु इस संबंध में स्मरणीय है कि मंगोलों का भारतीय भौगोलिक ज्ञान इतना विशद तथा उनकी सेना की गति इतनी तीव्र होती थी कि अलाउद्दीन के समय में भी वे कई बार दिल्ली और दोआब तक पहूँचने में सफल हो गये थे।

(ख) खुरासान-विजय की योजना

तरमशीरीं के वापस लौटने पर उसका स्वदेश पर पुनः अधिकार हो गया। उधर फ़ारस की आंतरिक दशा और बिगड़ने लगी। खुरासान में अशांति बढ़ने लगी तथा कुछ विफल षड्यंत्रकारी भारत की ओर आये और उन्होंने सुलतान मुहम्मद से आश्रय-दान की याचना की। सुलतान ने उनको दर्बार में रख लिया और उनके भोजनादि के लिए समुचित व्यवस्था कर दी। इन लोगों ने स्वार्थ-सिद्धि की दृष्टि से सुलतान को यह समझाना आरंभ किया कि खुरासान पर उसका सहज ही अधिकार हो जायगा। उसी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समय वंशगत, धर्मगत तथा व्यक्तिगत द्वेष के कारण तरमशीरीं भी खुरासान पर आक्रमण करने की योजना बनाने लगा और उसने सुलतान मुहम्मद से सहायता माँगी। मिस्र का शासक भी एक कट्टर सुन्नी था। अस्तु, तरमशीरीं ने सोचा कि मिस्र और भारत का सहयोग प्राप्त करके खुरासान पर अधिकार करना कठिन न होगा। सुलतान मुहम्मद को मध्य एशिया की राजनीतिक उथल-पुथल का ठीक ज्ञान नहीं था और न उसने इस बात पर गंभीरता पूर्वक विचार किया कि खुरासान पर आक्रमण करने में क्या कठिनाइयाँ उपस्थित होंगी। यदि उसे वहाँ की स्थिति का ज्ञान होता तो वह समझ सकता था कि खुरासान की आंतरिक स्थिति कितनी ही खराब क्यों न हो परन्तु उस पर विदेशी अधिकार होना या रह सकना अत्यंक कठिन था। अपनी स्थिति पर यदि वह समुचित विचार करता तो उसे विदित हो जाता कि जब स्वदेश में विद्रोहों की झड़ी लगी थी, दोआब में अकाल और भुखमरी के कारण जनता में त्राहि-त्राहि मची हुई थी तथा भारतीय सेना में न तो उलुग़ खां और ज़फ़र खां ऐसे सेनानी थे और न उस सेना में विदेश में सफल युद्ध-संचालन के लिए अपेक्षित क्षमता एवं योग्यता थी तब विदेश-विजय की कल्पना शेखचिल्लियों की सी बात थी। परंतु सुलतान के ऊपर खुरासानी अमीरों की प्रेरणा और तरमशीरीं के आग्रह का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसने ३,७०,००० सैनिकों की एक विशाल सेना तैयार की और उसे एक वर्ष का अग्रिम वेतन भी दे दिया। परंतु सौभाग्य से इस सेना के जाने के पूर्व ही तरमशीरीं स्वदेश में अपदस्थ हो गया और मिस्र के शासक ने अबूसईद से मित्रता कर ली। इस कारण सुलतान मुहम्मद ने आक्रमण की योजना को परित्याग दिया। सुलतान ने इस संबंध में केवल एक ही बुद्धिमानी का कार्य किया और वह था आक्रमण के विचार का परित्याग।

मुहम्मद के समय में मंगोलों की शक्ति तेज़ी से पतन की ओर जा रही थी। इस कारण उनमें से अनेक ने भारत के सुविख्यात सम्राट् से मैत्री-संबंध स्थापित करने की चेष्टा की। तरमशीरीं के अतिरिक्त इराक के शासक मूसा, ख्वारिज्म की रानी तुराबक और चीन के सम्राट् तोग़न तैमूर ने भारत से कूटनीतिक सौहार्द स्थापित करने के लिए दूत भेजे। सुलतान मुहम्मद ने इब्नबतूता को अपना दूत बना कर चीन भेजा था और इस प्रकार इन देशों से मैत्री-पूर्ण संबंध बने रहे।

(ग) चीन के सम्राट तथा मंगोल शासकों से संबंध

सुलतान को अपनी वैदेशिक नीति में जो सफलता मिली वह हिमालय की तराई के क्षेत्र में मिली। यह प्रदेश प्रायः स्वतंत्र रहा था। इसमें काँगड़ा, कर्तृपुर कुमायूं, कामरूप आदि राज्य थे। यह राज्य हिमालय की तलहटी में बसे होने के कारण न विशेष समृद्ध थे और न सुगमता से विजेय। परंतु वे चीन के प्रभाव में आ सकते

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे और कभी-कभी आ भी गये थे। इस भांति चीन के मंगोलों के लिए भारत की उत्तरी सीमा पर दबाव डालना संभव हो सकता था। अस्तु साम्राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से इस क्षेत्र पर अधिकार करना आवश्यक था। सुलतान ने पहले नगरकोट पर आक्रमण किया। स्थानीय राजा की पराजय हुई और उसने मुहम्मद की अधीनता स्वीकार कर ली। सुलतान ने उसको संतुष्ट रखने के उद्देश्य से गढ़ उसे वापस कर दिया और वहाँ के सुविख्यात ज्वालामुखी मंदिर को यथापूर्व सुरक्षित रहने दिया।

(३) नगरकोट (१३३७ ई०)

नगरकोट की विजय के बाद सुलतान ने एक दूसरे हिमाचल प्रदेशीय राज्य पर आक्रमण किया। फरिश्ता ने भ्रमवश इसे चीन-विजय की योजना बताया है। बर्नी और इब्नबतूता ने चीन-विजय का उल्लेख तक नहीं किया। सुलतान को इस क्षेत्र में भी सफलता मिली और वहाँ का शासक वार्षिक कर भेजने तथा सुलतान की अधीनता स्वीकार करने के लिए सहमत हो गया। परंतु इस आक्रमण में शीत के कारण बहुत से सैनिक मारे गये जिसके कारण विजय ने पराजय का स्वरूप धारण कर लिया और तत्कालीन तथा उत्तरकालीन लेखकों ने सुलतान की सैनिक असफलताओं में इसे भी गिनाया है।

(४) हिमाचल (१३३७ ई०)

सन् १३२६ में सागर के हाकिम ने दक्षिण में विद्रोह किया जिसका वर्णन यथा-स्थान दिया जायगा। उस विद्रोह की लपटें अनागोण्डी तथा द्वारसमुद्र तक फैलीं। उस समय मुहम्मद बिन तुग़लक ने अपने साम्राज्य की सीमा को पश्चिमी समुद्र तट तथा दक्षिण की ओर बढ़ाया और द्वारसमुद्र, अनागोण्डी तथा माबर उसके साम्राज्य के प्रांत हो गये। परंतु जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे इस क्षेत्र में अधिकार बढ़ाने का परिणाम सुल-तान तथा साम्राज्य के लिए घातक सिद्ध हुआ।

(५) दक्षिण

अस्तु, सुलतान की वैदेशिक नीति को बहुत सफल नहीं कहा जा सकता। यह सत्य है कि विदेशों में उसकी शक्ति तथा समृद्धि की कहानियाँ व्याप्त थीं जिनके कारण मध्य एशिया, पश्चिमी एशिया तथा चीन के शासकों ने उससे मैत्रीपूर्ण कूटनीतिक संबंध स्थापित किये और अनेक विदेशी विद्वानों, सैनिकों, तथा। अमीरों ने उसके यहाँ आकर शरण ली। परन्तु तरमशीरीं के आगमन और खुरासान की विजय से संबंधित घटनायें सुलतान की बुद्धिमत्ता और शक्ति पर लांछन लगाती हैं। हिमाचल प्रदेशीय क्षेत्र में उसकी आंशिक सफलता प्राप्त हुई क्योंकि वह इतना सबल सिद्ध नहीं हुआ कि वहाँ अपना सीधा शासन स्थापित कर सकता और न वह इतना सतर्क ही रहा कि अनावश्यक धन-जन की क्षति न हो। दक्षिण की विजय भी अंततः

वैदेशिक नीति की समीक्षा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
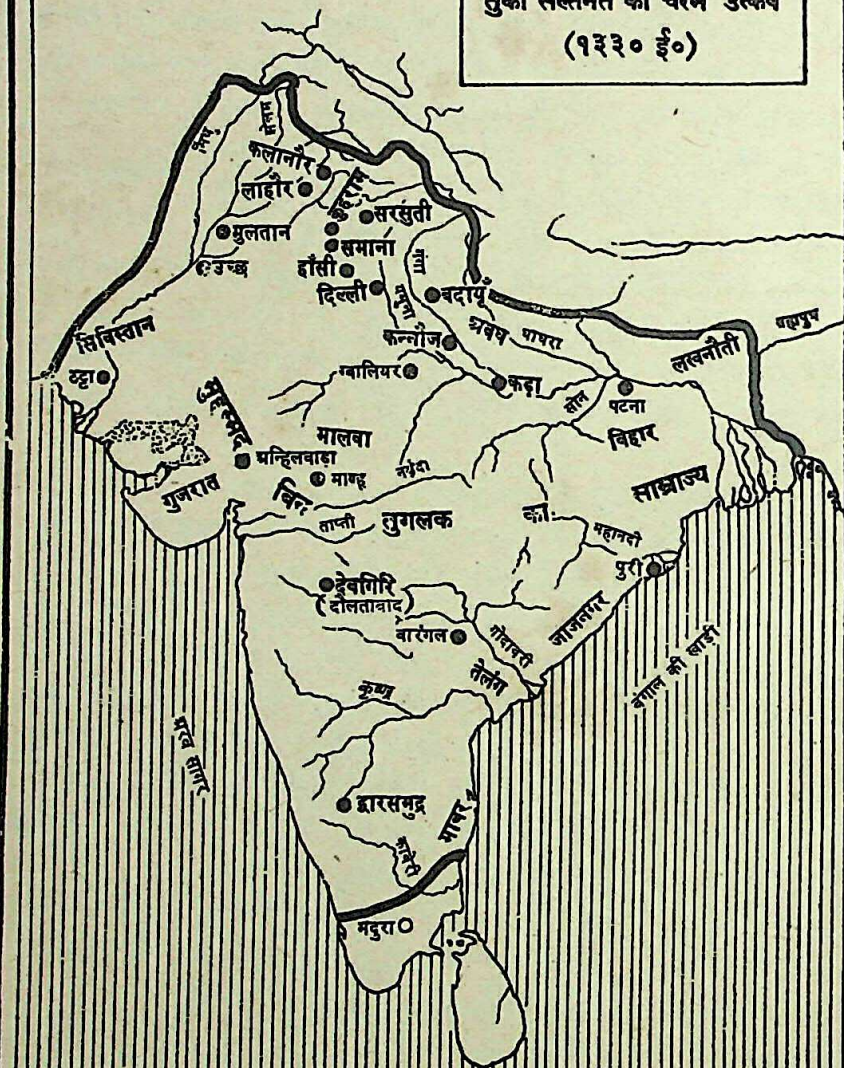
हानिकर ही सिद्ध हुई। परंतु सुलतान की पश्चिमोत्तर तथा उत्तरी सीमा बराबर सुरक्षित रही।

सुलतान के सैनिक कार्यों का अन्य वर्ग है विद्रोहों के दमन का प्रयत्न। सुलतान मुहम्मद के राज्याभिषेक के थोड़े समय बाद ही सन् १३२६ ई० में पहला विद्रोह हुआ और सन् १३५१ में उसकी मृत्यु तक बाईस विद्रोह हुए अर्थात् औसतन प्रत्येक वर्ष एक विद्रोह हुआ। इन विद्रोहों का प्रसार उत्तर-पश्चिम में मुलतान से लेकर पूरब में बंगाल तक और दक्षिण में माबर तक था। यद्यपि यह विद्रोह प्रायः सभी स्थानों में हुए परंतु उनका सबसे अधिक वेग उन प्रांतों में रहा जो साम्राज्य के छोर पर स्थित थे। एक दूसरी विशेष बात यह है कि यदि एक विद्रोह उत्तर में होता तो उसके बाद वाला विद्रोह धुर दक्षिण में, एक पश्चिम में होता तो दूसरा पूरब में। फलतः सुलतान की सेना को प्रायः बराबर ही उत्तर से दक्षिण, दक्षिण से उत्तर, पश्चिम से पूरब और पूरब से पश्चिम की दौड़ लगानी पड़ी। साम्राज्य का विस्तार बहुत बढ़ जाने के कारण यह बार-बार की लंबी यात्रायें बहुत कष्टकर सिद्ध हुईं और अनेक स्थानों में मार्ग की कठिनाइयों के कारण ही सुलतान को असफलता मिली। इन विद्रोहों में सन् १३३५ का माबर का विद्रोह एक विभाजक महत्व का विद्रोह है। उसके पूर्व जो ६ विद्रोह हुए वे सभी सुलतान अथवा उसके प्रतिनिधियों द्वारा दबा दिये गये। यद्यपि इनमें से कुछ विद्रोह काफी भयंकर थे तो भी उनको प्रधानतः व्यक्तिगत असंतोष से ही प्रेरणा मिली होने के कारण एक विद्रोह के कारण दूसरे विद्रोह अनिवार्य ढंग से नहीं होने लगे। परंतु १३३५ के बाद के १६ विद्रोहों में से अनेक सफल हुए और उनके कारण स्वाधीन राज्यों की स्थापना हुई। इन विद्रोहों में प्रायः उन विदेशी अमीरों का हाथ था जो सुलतान की उदारता से आकृष्ट होकर भारत आए थे और सुलतान की कृपा से ऊँचे-ऊँचे पद प्राप्त करने में सफल हो गये थे। इन विद्रोहों में एक शृंखला दिखाई पड़ती है और एक विद्रोही के कारण दूसरे विद्रोह आरंभ हुए। इन विद्रोहों ने सुलतान और साम्राज्य की कमर तोड़ दी तथा विघटनकारी शक्तियों को खूब प्रबल कर दिया। तुग़लक साम्राज्य का क्षेत्रफल प्रायः आधा रह गया।

विद्रोहों का स्वरूप और प्रभाव

यद्यपि प्रत्येक विद्रोह के कुछ विशिष्ट कारण भी थे तथापि प्रायः सभी के मूल में कुछ सामान्य कारण भी रहते थे। वे सामान्य कारण क्या थे? साम्राज्य का विस्तार बहुत बढ़ गया था और आवागमन के साधन पहले की ही भांति धीमे थे। इस कारण दूरस्थ प्रांतों पर सर्वदा कड़ा निरीक्षण रख सकना कठिन होता था तथा महत्वाकांक्षी अथवा असंतुष्ट सीमान्त शासकों के लिए विद्रोह की तैयारी कर सकना

विद्रोहों के सामान्य कारण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुगम होता था। दूसरे, राज्य का संगठन प्रायः सामंतशाही ढंग का था जिसमें विद्रोह के बीज निहित रहते हैं। तीसरे मुहम्मद बिन तुग़लक ने अपने राज्य-काल के प्रारंभिक वर्षों में शासन में जो परिवर्तन किये वे प्रायःसभी असफल हुए और उनके कारण साम्राज्य को भारी आर्थिक क्षति उठानी पड़ी। इससे उसके साम्राज्य की नींव हिल गई और उसकी लोकप्रियता बहुत घट गई। उसने विरोध का संदेह मात्र होने पर कड़े से कड़े दण्ड दिये। इससे असंतोष बढ़ा और सुलतान की सदाशयता में विश्वास घटने लगा। चौथे, सुलतान ने अमीरों के आचरण का अधिक कड़ाई से निरीक्षण करना चाहा और देशी अमीरों की शक्ति को संतुलित तथा सीमित करने के उद्देश्य से उसने विदेशी अमीरों को अनेक ऊँचे पद दे दिये। इसके कारण इन दोनों दलों में ईर्ष्या उत्पन्न हो गई, अमीरों में असंतोष बढ़ने लगा और उन लोगों ने सुलतान की कठिनाइयों से लाभ उठा कर विद्रोह किये। पाँचवें, दक्षिण के हिन्दुओं ने अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए संगठित उद्योग आरंभ किया और सुलतान की कठिनाइयों के कारण उनको अपने उद्देश्य में सफलता मिलने लगी जिससे विप्लव-कारियों की संख्या बढ़ने लगी। अंतिम कारण यह था कि सुलतान ने शांति-पूर्वक विद्रोह के कारणों पर मनन करने का कष्ट नहीं किया और अपनी दांभिकता के कारण शमनकारी साधनों का यथासमय उपयोग नहीं किया।

बहाउद्दीन गुर्शस्प का विद्रोह (१३२६ ई०)

सुलतान के विरुद्ध प्रथम विद्रोह १३२६ ई० में हुआ। उसका फुफेरा भाई बहा-उद्दीन गुर्शस्प दक्षिण में सागर का हाकिम था। ग़यासुद्दीन के राज्यकाल में वह समाना का शासक रह चुका था और आरिज-ए-मुमालिक के पद पर नियुक्त किया गया था। इससे पता चलता है कि वह एक योग्य सेनापति था। वह किस समय सागर भेजा गया यह ठीक पता नहीं है। संभवतः तेलंगाना-विजय के समय सुलतान ग़यासुद्दीन ने उसे दक्षिण भेजा होगा और वहाँ की स्थिति का ध्यान रखते हुए उसे वहीं नियुक्त किया होगा। ग़यासुद्दीन की मृत्यु का समाचार मिलने पर बहाउद्दीन ने दक्षिण के कुछ अन्य अमीरों को मिलाकर विद्रोह की तैयारी आरंभ कर दी और दक्षिण में एक स्वतंत्र राज्य स्थापित करने की चेष्टा की। कुछ अमीरों ने उसका विरोध किया परंतु बहाउद्दीन की प्रबलतर सैनिक शक्ति के कारण उनको उत्तर की ओर भागना पड़ा। सुलतान ने ख्वाजा जहाँ को गुजरात की सेना के साथ उसके विरुद्ध भेजा और वह स्वयं भी देवगिरि के लिए चल पड़ा। ख्वाजा जहाँ द्वारा पराजित होने पर वह कम्पिला के हिन्दू राजा की शरण में गया। राजा ने उसकी ओर से कई युद्ध किये परंतु अंत में उसकी हार हुई और उसके परि-वार के लोग आग में जल कर मर गये, युद्ध में मारे गये अथवा बंदी बना लिये गये। परतु उसने बहाउद्दीन को द्वारसमुद्र के शासक वीर बल्लाल के पास भेज दिया और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उससे प्रार्थना की कि वह शरणागत की रक्षा करे। इस समय तक सुलतान देवगिरि आ गया था। वीर बल्लाल ने बहाउद्दीन का पक्ष लेने के स्थान पर उसे ख्वाजा जहाँ के हवाले कर दिया और इस भांति उसने अपनी मैत्रीपूर्ण राजभक्ति प्रगट की।

बहाउद्दीन की जीवितावस्था में खाल खिंचवा ली गई और उसमें भूसा भरवा कर उसे साम्राज्य भर में घुमवाया गया। प्रत्येक प्रधान नगर में राजकीय उद्घोषक बाजार में खड़ा होता और भीड़ को एकत्रित करके कहता 'देखो, राज्य के शत्रु इसी भांति विनष्ट होंगे।' बहाउद्दीन का मांस चावल के साथ पकवाया गया और उसके संबंधियों के पास भेजा गया। इस भांति उसकी लाश की पूरी दुर्दशा की गई और अंत में कुत्ते-बिल्लियों ने उसका मांस खाया। मुहम्मद तुग़लक समझता था कि इस प्रकार के दण्ड को सुन कर अन्य लोग विद्रोह करने का ध्यान छोड़ देंगे।

परंतु यह आशा पूरी नहीं हुई। सुलतान ने दक्षिण में देवगिरि को दौलताबाद का नाम देकर उसे राजधानी बना लिया था। वह वहीं पर था कि उसे मुलतान के हाकिम किशलू खाँ के विद्रोह की सूचना मिली। इस विद्रोह के दो कारण बताए जाते हैं। इब्नबतूता कहता है कि जब गुर्शस्प की भूसाभरी खाल मुलतान पहुँची तो किशलू खाँ ने उसे इस्लामी पद्धति के अनुसार गड़वा दिया। यह कार्य सुलतान को पसंद नहीं आया और उसने किशलू खाँ को दर्बार में उपस्थित होने का आदेश दिया। किशलू खाँ ने दर्बार में जाने के स्थान पर विद्रोह कर दिया। यहया लिखता है कि राजधानी परिवर्तन करने के बाद सुलतान ने राज्य के सभी अमीरों को आदेश दिया था कि वे नयी राजधानी में अपने परिवार के लोगों को भेजें और वहाँ अपने लिए एक मकान बनवा लें। बहराम ऐबा किशलू खाँ ने इस आदेश की अवहेलना की। उसे समझाने के लिए अली खताती नामक व्यक्ति भेजा गया। उससे और किशलू खाँ के दामाद लौला से झगड़ा हो गया जिसमें खताती मारा गया। किशलू खां ने राजदण्ड के भय के कारण विद्रोह कर दिया।

किशलू खां का विद्रोह (१३२८ ई०)

सुलतान ने यह दुःसंवाद पाते ही दिल्ली के लिए प्रस्थान किया और वहाँ पहुँचकर जल्दी से एक सेना एकत्रित की। जब सुलतान इस सेना के साथ मुलतान पहुँचा तो उसने देखा कि किशलू खाँ की सेना कहीं अधिक प्रबल है। अस्तु, उसने ४००० चुने हुए सैनिकों को छिपा कर शेष सेना को आक्रमण करने का आदेश दिया। किशलू खाँ की सेना का आक्रमण न सँभाल सकने पर यह सेना भाग खड़ी हुई और किशलू खाँ ने समझा कि विजय हो गई। अस्तु, उसने छावनी को लूटने का आदेश दे दिया। उसी समय मुहम्मद बिन तुग़लक ने छिपे हुए सैनिकों के साथ तेजी से आक्रमण किया। किशलू खाँ स्वयं मारा गया और उसकी सेना पराजित हो गई।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुलतान ने इस विद्रोह के लिए समस्त मुलतान को दायी मान कर सब नागरिकों की हत्या का आदेश दिया। यह सुनकर नागरिक घबड़ा गये और उन्होंने शेख रुक-नुद्दीन को सुलतान को शांत करने के लिए भेजा। सुलतान शेख का बहुत आदर करता था इसलिए उसने नागरिकों को अभयदान दे दिया और केवल सक्रिय विद्रोहियों को दण्ड दिया। किशलू खाँ का शिर काट लिया गया और जिस मकान में सुलतान ठहरा था उसी के द्वार पर टाँग दिया गया। इब्नबतूता लिखता है कि जब वह भारत आया तब उसने इस शिर को उसी द्वार पर लटका देखा था।

ग़यासुद्दीन बहादुर का विद्रोह (१३३० ई०)

अन्य प्रधान विद्रोह पूर्वी बंगाल में हुआ। ग़यासुद्दीन बहादुर को सोनारगाँव का शासन इस शर्त पर दिया गया था कि वह अपने पुत्र को बंधक के रूप में दिल्ली भेज देगा। परन्तु जब वह बंगाल पहुँच गया तब वह अपने वादे भूल गया। उसने अपने बेटे को नहीं भेजा और बराबर हीला-हवाला करता रहा। बाद में जब उसने समझा कि उसकी शक्ति संगठित हो गई है तब उसने खुतबे और सिक्के से सुलतान के नाम को हटा कर पूर्ण स्वतंत्र होने की चेष्टा की। इसलिए उसके विरुद्ध एक सेना भेजनी पड़ी और वह पराजित हुआ तथा मारा गया। उसकी भी खाल खिंचवा ली गई और भूसा भरवा कर राज्य भर में घुमाई गई।....

सिंध के विद्रोह

सिंध में दो विद्रोह हुए। पहले १३२८ ई० में कमालपुर के क़ाज़ी और खतीब के षड्यंत्र के कारण विद्रोह हुआ और उन दोनों को बंदी बना कर उनकी खाल खिंचवाई गई। दूसरा विद्रोह सन् १३३३ में सेहवाँ में हुआ। वहाँ का शासक रतन नामक एक हिन्दू था। उसे अजीम-उस्सिंध की पदवी दी गई थी। कुछ मुसलमान उससे ईर्ष्या करते थे। उन्होंने एक दिन झूठ-मूठ चोरों के आक्रमण का शोर मचाया और जब रतन तथाकथित चोरों को पकड़ने के लिए निकला तथा उनसे युद्ध आरंभ किया तब इन लोगों ने घेर कर उसे मार डाला। सुलतान ने सिंध के हाकिम इमादुल्मुल्क को इस विद्रोह को दबाने और विद्रोहियों को कठोर दण्ड देने का आदेश दिया। प्रमुख विद्रोही पकड़ लिये गये और उनकी खाल खिंचवा कर उसमें भूसा भरवाया गया तथा किले के फाटक पर तथा दीवालों के सहारे उनको लटकवा दिया गया। इब्नबतूता लिखता है कि उसने जब रात के समय इनको अधर में लटकते देखा तो वह भूत के भय से बहुत डर गया।

माबर का विद्रोह (१३३५ ई०)

मुहम्मद के शासन काल में दोआब में कई बार अकाल पड़ा। सन् १३३४-१३३५ में वह दोआब को शांत करने में व्यस्त था। उसी समय मावर के हाकिम जलालुद्दीन अहसनशाह ने विद्रोह किया और अपने नाम के सिक्के ढलवाये। सुलतान स्वयं इस विद्रोह को दबाने के लिए चला परंतु जब वह बारंगल पहुँचा तब एक भयंकर महामारी फैल गई जिसके

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण हजारों सैनिक तथा अमीर मर गये। प्रायः सभी लोग अस्वस्थ हो गये और सुलतान भी रोगग्रस्त हो गया। अस्तु, उसने तुरंत देवगिरि लौटने का निश्चय किया। इसका फल यह हुआ कि मावर स्वतंत्र हो गया। यहीं से सुलतान के साम्राज्य का विघटन आरंभ होता है।

अन्य छोटे विद्रोह

इसी समय तीन विभिन्न स्थानों में विद्रोह हुए जिनका संबंध इसी विद्रोह से था। दौलताबाद के गवर्नर हुशंग ने सुना कि वारंगल की महामारी में सुलतान की मृत्यु हो गई है। इसलिए उसने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। परंतु जब उसे पता चला कि सुलतान जीवित है तब वह भय के मारे भाग गया और उसने एक हिन्दू राजा के यहाँ शरण ली। उसने उसे सुलतान के पास भेज दिया। चूँकि हुशंग सुलतान का कृपापात्र रहा था और उसका विद्रोह भ्रम के कारण हुआ था, उसे क्षमा कर दिया गया परंतु दौलताबाद का शासन अब क़ुतुलुग़ खाँ के सिपुर्द कर दिया गया। इसी समय सुलतान की ठीक खबर न मिलने के कारण लाहौर में हुलाजूँ मंगोल और गुलचंद्र खोखर ने विद्रोह किया और लाहौर के गवर्नर का वध कर दिया। परंतु ख्वाजा जहाँ ने इस विद्रोह का दमन कर दिया। अहसनशाह के बेटे सय्यद इब्राहीम ने सुलतान की मृत्यु का समाचार सुन कर सिंध का खजाना दिल्ली जाने से रोक लिया और विद्रोह कर दिया। सुलतान ने उसे क्षमा करना चाहा परंतु उसने ऐसा उद्दण्डता-पूर्ण व्यवहार किया कि उसको मृत्यु-दंड देना आवश्यक हो गया।

बंगाल का विद्रोह (१३३७ ई०)

ग़यासुद्दीन बहादुर की मृत्यु के बाद बहराम खाँ सोनारगाँव का शासन चलाता रहा। उसकी मृत्यु के बाद उसका सिलहदार (अस्त्र-शस्त्र रखने वाला) फ़ख्रुद्दीन मुबारकशाह के नाम से गद्दी पर बैठ गया और उसने अपने नाम के सिक्के चलाए। यह घटना सन् १३३७ के लगभग हुई। लखनौती का हाकिम क़द्रखाँ इस विद्रोह को दबाने की चेष्टा में मारा गया और कुछ समय के लिए फ़ख्रुद्दीन का अधिकार सतगाँव तथा लखनौती पर भी स्थापित हो गया। सुलतान मुहम्मद इस समय अकालग्रस्त जनता की व्यवस्था करने में इतना व्यस्त था कि वह सुदूर बंगाल का विद्रोह दबाने न जा सका। फलतः फ़ख्रुद्दीन स्वतंत्र बना रहा परंतु लखनौती पर उसका अधिक समय तक अधिकार नहीं रहा। थोड़े ही समय के बाद लखनौती भी स्वतंत्र हो गया और वहाँ के शासक शम्सुद्दीन इलियासशाह तथा फ़ख्रुद्दीन में अनेक युद्ध हुए। परंतु सुलतान मुहम्मद इस स्थिति से लाभ नहीं उठा सका क्योंकि उसे बराबर निकटवर्ती विद्रोहों में फँसा रहना पड़ा।

इस समय से सुलतान की आर्थिक कठिनाइयाँ बढ़ती हुई प्रतीत होती हैं। उसने अपनी आय बढ़ाने के उद्देश्य से प्रांतों का शासन उन व्यक्तियों को देना आरंभ किया

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो पहले की अपेक्षा अधिक कर देने का वादा करते थे। परंतु ऐसा दैवदुर्विपाक कि उनमें से अधिकांश प्रांतपतियों ने उतना कर देना संभव न देख कर विद्रोह कर दिये जिससे सुलतान की कठिनाइयाँ और भी बढ़ गईं।

ठेकेदारों के विद्रोह

वारंगल से लौटते समय सुलतान ने जो नयी नियुक्तियाँ की थीं उनमें एक थी नसरत खाँ की बीदर में नियुक्ति। उसने एक करोड़ टंक प्रति वर्ष देने का वचन दिया था। परंतु उसने देखा कि इतना दे सकना असंभव है। उसे भय था कि सुलतान उसकी असमर्थता को क्षमा न करके उसे कठोर दण्ड देगा। अस्तु उसने सन् १३३६ में विद्रोह कर दिया। परंतु वह कैद कर लिया गया और दिल्ली भेज दिया गया। इसी भांति सन् १३४४ में कड़ा के हाकिम निज़ाम ने भी विद्रोह किया परंतु वह भी पराजित हुआ।

इनके अतिरिक्त १३४७ ई० तक अनेक अन्य विद्रोह हुए परंतु उनमें से अधिकांश दक्षिण में हुए अथवा उनका संबंध दक्षिण के प्रबंध से था। इनके अतिरिक्त कुछ विद्रोह सुलतान की आर्थिक नीति के कारण भी हुए जिनका उल्लेख सुलतान के सुधारों के संबंध में किया जायगा। अब सुलतान की दक्षिण नीति तथा उसके परिणामों पर संक्षेप में विचार करना उपयोगी होगा।

सुलतान की दक्षिण-नीति

मुहम्मद बिन तुग़लक के राज्याभिषेक के समय तक देवगिरि तथा तेलंगाना पर सुलतान का सीधा शासन स्थापित हो चुका था। तेलंगाना को कई भागों में विभक्त कर दिया गया था और उनके लिए अलग-अलग हाकिम नियुक्त कर दिये गये थे। इन हाकिमों ने स्थानीय हिन्दू राजाओं से सम्पर्क स्थापित करके अपना प्रभाव बढ़ाने की चेष्टा की। दक्षिण की स्थिति उत्तर भारत की अपेक्षा बहुत जटिल थी। क़ुत्बुद्दीन मुबारकशाह की नीति के फलस्वरूप दिल्ली के सुलतान का दक्षिण के अधिकाधिक भाग पर सीधा शासन स्थापित होता जा रहा था। परंतु दक्षिण के हिन्दू शासकों और उनके सामंतों ने मुस्लिम सत्ता को हृदय से स्वीकार नहीं किया। मुसलमानों के धार्मिक अत्याचारों के कारण हिंदू असंतोष और भी बढ़ गया और वे अपने धर्म के अपमान का बदला लेने की चिंता करने लगे। दिल्ली दक्षिण भारत से इतनी दूर थी कि वहाँ से सुलतान दक्षिण भारत पर अधिक नियंत्रण नहीं रख सकता था। फलतः उसे प्रांतीय शासकों को काफी स्वच्छन्दता देनी पड़ती थी। उस समय के सभी तुर्क सर्दार स्वतंत्र शासक होने का स्वप्न देखा करते थे और जल्दी जल्दी राजवंशों के बदलने के कारण तथा प्रत्येक राजवंश के समय एक नये सामंत वर्ग की उत्पत्ति के कारण उनकी राजवंश के प्रति कोई विशेष श्रद्धा नहीं रहती थी। केवल सुविधा और स्वार्थ का ध्यान रख कर ही वे अपनी राज-भक्ति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की मात्रा स्थिर करते थे। दक्षिण के अमीरों के लिए स्वतंत्र होने की अपेक्षाकृत अधिक सुविधा थी। इस कारण दक्षिण के प्रायः प्रत्येक योग्य प्रांतपति ने स्वतंत्र होने की चेष्टा की। दक्षिण के हिन्दू इन विद्रोहियों से सहयोग करने के लिए सदा उद्यत रहते थे क्योंकि वे समझते थे कि दिल्ली के सुलतान की शक्ति दुर्बल रहने में ही उनका कल्याण है। विद्रोह की इच्छा करने वाले अमीर हिन्दुओं को प्रसन्न रखने की चेष्टा करते थे और उनके विरुद्ध सैनिक दबाव डालने के स्थान पर उनको अपनी ओर मिलाने का उद्योग करते थे। इस भांति हिन्दुओं की शक्ति के विनाशक ही उसके पोषक बन गये। फलतः दक्षिण भारत के हिन्दुओं पर कभी उस प्रकार का सैनिक और राजनैतिक दबाव नहीं पड़ा जैसा उत्तर के राजपूतों को सहना पड़ा था। इसलिए उनमें प्रत्याक्रमण करने की शक्ति बची रह गई। मुहम्मद बिन तुग़लक के समय के दक्षिण के विद्रोहों को समझने के लिए इन तीनों बातों को सदा स्मरण रखना पड़ेगा—(१) दक्षिण भारत पर अधिकार हुए बहुत कम समय बीता था और वह दिल्ली से बहुत दूर था, (२) दक्षिण में नियुक्त किये जाने वाले अमीर सुलतान के कठोर नियंत्रण से अपेक्षाकृत मुक्त रहने के कारण स्वतंत्र होने की चेष्टा करते थे, और (३) हिन्दू राजे अपने वंश तथा धर्म के अपमान को भूले नहीं थे तथा अपनी स्वतंत्रता को प्राप्त करने के लिए सदा उपयुक्त अवसर की ताक में रहते थे।

सुलतान मुहम्मद ने बहाउद्दीन गुर्शस्प का विद्रोह दबाते समय उत्तर में राजधानी रहने की असुविधा का अनुभव किया। उसने हिन्दू राजाओं के दर्प को भी देखा। अस्तु उसने दौलताबाद में राजधानी स्थापित करके वहाँ रह कर दक्षिण को अच्छी तरह से अधीन बनाने का उद्योग करना चाहा। परंतु उत्तर भारत के विद्रोह तथा शासन की समस्याओं ने उसे निश्चित होकर दो-चार वर्ष भी लगातार दक्षिण में न रहने दिया। बेचारा सुलतान विद्रोहों की गति के अनुसार उत्तर, पूरब, दक्षिण भागता रहा। उसने दक्षिण को संगठित करने के उद्देश्य से ही तमाम धन लगाकर राजधानी का परिवर्तन किया था परंतु उससे कोई विशेष लाभ होना तो दूर रहा, उल्टे धन तथा मान की हानि हुई। इसलिए विवश होकर सन् १३३५ ई० में जलालुद्दीन अहसनशाह के स्वतंत्र हो जाने पर उसने उत्तर से आकर बसने वालों को दौलताबाद छोड़ कर अपने जन्मस्थान वापस जाने की अनुमति दे दी।

सुलतान ने गुर्शस्प के विद्रोह के सिलसिले में कुछ और साम्राज्य-विस्तार भी किया। इस प्रकार सुलतान का साम्राज्य दक्षिण तथा दक्षिण-पश्चिम की ओर और अधिक बढ़ गया। सुलतान की उदारता की कहानियाँ सुन कर मध्य एशिया के अनेक महत्वाकांक्षी व्यक्ति भारत आए थे: सुलतान ने उनको अपनी सेना में भर्ती कर लिया-अथवा शासन में स्थान दिया। इन लोगों को प्रायः शताधिकारी अमीर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहा गया है। अस्तु शताधिकारी विदेशी अमीरों का पर्याय बन गया है। सुलतान ने इन शताधिकारियों में से अधिकांश को गुजरात, मालवा तथा दक्षिण में नियुक्त किया था। देशी अमीर इनकी नियुक्ति से जलते थे और इनको निकलवाने तथा दण्डित कराने के लिए व्यग्र रहते थे। इस कारण शताधिकारियों का एक संगठित वर्ग उत्पन्न हो गया जो अपने सदस्यों के हितों की रक्षा के लिए सचेष्ट रहने लगा। अस्तु, दक्षिण में एक और समस्या खड़ी हो गई। फिर भी अहसनशाह के विद्रोह के पूर्व तक सुलतान की शक्ति दृढ़ बनी रही और हिन्दू राजाओं, तुर्क अमीरों तथा शताधिकारियों ने खुले तौर पर कोई अशांति पैदा नहीं की। परंतु अहसनशाह के सफल विद्रोह ने मानो दूसरों की सफलता का आत्मविश्वास प्रदान कर दिया और इसके बाद से विद्रोहों की आग इस प्रकार भड़की कि वह मुहम्मद बिन तुग़लक के दक्षिणी साम्राज्य को भस्मीभूत किए बिना शांत नहीं हुई। उसकी लपटों ने मालवा, गुजरात तथा सिंध को भी उत्तप्त किया और स्वयं सुलतान भी एक प्रकार से उन्हीं का शिकार हुआ। सुविधा की दृष्टि से हम दक्षिण के इन विद्रोहों को दो भागों में विभाजित करेंगे—(१) हिन्दुओं के विद्रोह, (२) मुसलमानों के विद्रोह।

अहसनशाह के स्वतंत्र होने के साथ ही साथ हिन्दुओं ने भी उत्पात आरंभ किया। इसलिए पहले हिन्दू विद्रोहों का वर्णन करना ही उपयुक्त प्रतीत होता है।

विजयनगर की स्थापना (१३३६ ई०)

कम्पिला के राजा की पराजय के समय प्रतापरुद्रदेव के दो संबंधी हरिहर और बुक्का भी बंदी बना लिये गये थे और दिल्ली भेज दिये गये थे जहाँ संभवतः उनको जबर्दस्ती मुसलमान भी बना लिया गया था। परंतु इन लोगों ने कभी भी अपने पूर्वजों के धर्म में आस्था कम नहीं की और हृदय से हिन्दू बने रहे। मलिक मक़बूल को तेलंगाना का हाकिम नियुक्त किया गया था और कम्पिला भी उसी के प्रभाव-क्षेत्र में पड़ता था। सन् १३३५ के लगभग वहाँ हिन्दुओं का प्रतिरोध इतना बढ़ गया कि मक़बूल किसी भी प्रकार उनका दमन न कर सका। उस समय सुलतान मुहम्मद ने हरिहर और बुक्का की सहायता से वहाँ शांति स्थापित करनी चाही। उसने सोचा कि वे लोग स्थानीय प्रभावशाली व्यक्ति हैं तथा वे सुलतान के भी भक्त हैं अस्तु संभव है जहाँ मलिक मक़बूल असफल हुआ है, वे सफल होंगे। इस कारण उसने हरिहर को उस क्षेत्र का शासक तथा बुक्का को मंत्री बना कर भेजा। हरिहर की नियुक्ति का समाचार सुनकर जनता में सर्वत्र हर्ष छा गया। उन्होंने समझा कि उनकी विजय हो गई और विधर्मी विदेशी शासक हारकर हट जाने को बाध्य हुआ है। हरिहर ने आते समय सुलतान से वादा किया था कि वह उसके आधिपत्य को स्वीकार करता हुआ शासन करेगा। परंतु स्थानीय जनता को यदि यह विदित होता कि वह भी तुर्कों का सेवक-मात्र है तो उसे शांति-स्थापन में कठिनाई

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती। इसके विपरीत यदि वह जाते ही अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर देता तो एक ओर उसे सुलतान का कोपभाजन बनना पड़ता और और दूसरी ओर माबर तथा होयसलवंशी राज्यों को उस पर आक्रमण करने की सुविधा मिल जाती क्योंकि उस समय उसकी शक्ति काफी क्षीण थी। इसलिए उसने बड़ी बुद्धिमत्ता से कार्य किया। उसने जन-साधारण का विश्वास प्राप्त करने के लिए हिन्दू धर्म के प्रति निष्ठा प्रकट की और स्थानीय धर्मगुरु माधवविद्यारण्य को अपना गुरु स्वीकार किया। उसने अपने व्यवहार द्वारा यह व्यक्त किया कि वह एक स्वतंत्र शासक है और उसे सुलतान की शक्ति का कोई भय नहीं है यद्यपि वह उससे व्यर्थ युद्ध भी नहीं करना चाहता। परंतु सुलतान को संतुष्ट रखने के लिए उसने महामंडलेश्वर से ऊँचा विरुद् धारण नहीं किया। संभवतः वह बीच-बीच में सुलतान को कुछ भेंट भी भेजता रहा होगा। यह समझ कर कि हरिहर सुलतान मुहम्मद का करद राजा है और उसे आवश्यकता पड़ने पर सुलतान के अन्य हाकिमों से सहायता प्राप्त होना संभव है, वीर बल्लाल तथा जलालुद्दीन अहसनशाह को उस पर आक्रमण करने का साहस नहीं हुआ। इस भांति हरिहर को अपेक्षित शांति मिली। उसने शासन को संगठित किया, कर वसूल करने की उचित व्यवस्था की, विद्यारण्य को अपना धर्मगुरु तथा महामंत्री बना लिया और उसी के परामर्श से विजय-नगर की स्थापना की। पहले इस नगर का नाम विद्यारण्य का अनुकरण करते हुए विद्यानगर था। परंतु बाद में यह बदल कर विजयनगर हो गया। हरिहर ने सेना को संगठित करके अपना प्रभाव-क्षेत्र बढ़ा लिया और चार-पाँच वर्ष के भीतर ही कोन्कन तथा मलाबार समुद्रतट का कुछ भाग एवं तुंगभद्रा नदी की तलहटी का क्षेत्र उसके अधिकार में आ गया। वह स्वतंत्र विजयनगर का प्रथम शासक माना जाता है और उसके उत्तराधिकारियों ने अल्पकाल में ही विजयनगर की कीर्ति एवं शक्ति को बहुत बढ़ा दिया।

वीर बल्लाल तृतीय और मदुरा के सुलतान

दक्षिण भारत का दूसरा हिन्दू नेता वीर बल्लाल तृतीय था। वह १२९२ ई० में गद्दी पर बैठा था और उसने तुर्कों के प्रथम आक्रमण के समय से उत्तरकालीन इतिहास की सभी घटनाओं की गति-विधि का अवलोकन किया था। वह बड़ा वीर, पराक्रमी एवं महत्वाकांक्षी था। परंतु काफ़ूर, खुसरो और मुहम्मद तुग़लक के विरुद्ध उसे सफलता नहीं मिली। उसने दिल्ली के सुलतानों को प्रायः संतुष्ट रखा और इस प्रकार उनको सुदूर दक्षिण में अधिक शक्ति प्राप्त करने का अवसर नहीं दिया। उन्हीं के निरंतर दबाव के कारण उसे अपने राज्य का उत्तरी भाग छोड़ देना पड़ा था और उसने सुदूर दक्षिण में शक्ति-संवर्द्धन की चेष्टा आरंभ की। इसी काल में माबर की स्वतंत्र रियासत स्थापित हो गई। अब वीर बल्लाल को यश तथा राज्य प्राप्त करने के लिए एक नूतन क्षेत्र प्राप्त हो गया। वीर बल्लाल को स्मरण था कि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसी ने किस प्रकार तुर्कों का मदुरा में पथ-प्रदर्शन किया था। वह चाहता था कि उसी के पराक्रम से मदुरा से म्लेच्छ निकाल दिये जायँ और हिन्दू धर्म तथा राजत्व की पुनः सम्मान-युक्त प्रतिष्ठा हो। अस्तु, उसने माबर के सुलतानों से बराबर युद्ध किया और उनके राज्य का कुछ भाग जीत भी लिया। परंतु सन् १३४२ ई० में वह अपनी प्रमादजन्य उदारता के कारण अपमानजनक मृत्यु को प्राप्त हुआ। उसने सुलतान ग़यासुद्दीन दमग़ानशाह के समय में मदुरा-विजय के उद्देश्य से उसके निकट-वर्ती मार्ग-रक्षक दुर्ग पर आक्रमण किया और जब शत्रु की पराजय आसन्न थी तब उसने उसे अपने सुलतान के पास जाने की अनुमति दे दी और चौदह दिन तक उसके स्वेच्छापूर्वक शरणापन्न होने के लिए प्रतीक्षा करने का वादा किया। इस काल में उसने विजय को ऐसा सुनिश्चित समझ लिया कि उसने अपनी सेना को सजग चौकसी में नहीं रखा। फलतः जब शत्रु ने आकस्मिक धावा बोल दिया तब वह बंदी बना लिया गया और अभयदान देने के बावजूद सुलतान ने उसकी खाल खिंचवा ली।

इस पराजय से हौयसलों की शक्ति को बहुत धक्का लगा। परंतु दक्षिण की स्वतंत्रता के सेनानी समाप्त नहीं हुए। वीर बल्लाल का स्थान अन्य व्यक्तियों ने लिया और स्वतंत्रता के उद्योग जारी रहे। इन्हीं सेनानियों में से एक कृष्णनायक था। वह प्रतापरुद्रदेव द्वितीय का पुत्र था। उसने अपने राजवंश को पुनरुज्जीवित करने का संकल्प कभी परित्याग नहीं किया। सुलतान मुहम्मद की शक्ति को घटते और विद्रोहों की लपटों को प्रचण्ड वेग से बढ़ते देखकर उसने अपने अनुयायियों को एकत्रित और संगठित करना आरंभ कर दिया। कृष्णनायक की शक्ति के बढ़ने पर मलिक मक़बूल के लिए वारंगल में ठहर सकना असंभव हो गया और वह दिल्ली भाग गया। उस समय दक्षिण के हिन्दू शासकों में सबसे अधिक शक्तिवान बीर बल्लाल और उसका उत्तराधिकारी विरूपाक्ष बल्लाल थे। अस्तु सन् १३४३ के लग-भग कृष्णनायक ने वीर बल्लाल के सहयोग से तुर्कों की शक्ति को उखाड़ फेंकने की योजना बनाई। वह स्वयं उसके पास मिलने गया और उसके अनुरोध तथा तत्कालीन स्थिति से प्रभावित होकर बल्लाल चतुर्थ ने सहयोग करने का वचन दे दिया। दोनों में यह तय हुआ कि वारंगल, द्वारसमुद्र, कम्पिला और माबर से मुस्लिम सत्ता को विदा करने के लिए वे संयुक्त मोर्चा स्थापित करेंगे। इसके बाद उसने कम्पिला के शासकों से संपर्क स्थापित किया। वे उसके संबंधी भी थे। इस कारण उनको इस संयुक्त हिन्दू मोर्चे में सम्मिलित करना अधिक कठिन नहीं हुआ। विजयनगर के इन प्रारंभिक शासकों ने स्वार्थ-सिद्धि के लिए भी इस संगठन में मिलना उपयोगी समझा। फलतः गोदावरी के दक्षिण एक सशक्त मुस्लिम-विरोधी दल बन गया जिसने सुल-तान के हाकिमों को उत्तर की ओर खदेड़ दिया तथा माबर को विघटित करने की

कृष्ण नायक का स्वतंत्रता-संग्राम

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेष्टा की। परंतु इस पिछले उद्देश्य में उन्हें तत्काल सफलता नहीं मिली। बल्लाल चतुर्थ सन् १३४६ में माबर के विरुद्ध युद्ध करता हुआ मारा गया। आगे चलकर इस पराजय से हिन्दू हितों की रक्षा हुई क्योंकि विजयनगर के शासकों ने उसके राज्य को शीघ्र ही आत्मसात् करके इतनी शक्ति प्राप्त कर ली कि माबर के स्वतंत्र राज्य का टिक सकना असम्भव हो गया। परंतु यह घटना मुहम्मद बिन तुग़लक की मृत्यु के बाद हुई। फिर भी इतना स्पष्ट है कि हरिहर एवं बुक्का, वीरबल्लाल तृतीय, कृष्णदेव नायक तथा विरूपाक्ष बल्लाल के उद्योग से सुलतान मुहम्मद का शासन देवगिरि को छोड़कर शेष सभी दक्षिण भारत से उठ गया।

दक्षिण के मुस्लिम विद्रोह

नर्बदा के दक्षिण शेष सभी भाग से सुलतान मुहम्मद की सत्ता को विदा करने का कार्य विदेशी शताधिकारियों ने किया। इस विद्रोह की पृष्ठभूमि है मुस्लिम हाकिमों के पूर्ववर्ती विद्रोह। अस्तु पहले उनका संक्षेप में उल्लेख करके देवगिरि में एक स्वतंत्र मुस्लिम राज्य की स्थापना का वर्णन किया जायगा।

बहाउद्दीन गुर्शस्प, जलालुद्दीन अहसनसाह, हुशंग और नसरत ख़ाँ के विद्रोहों का वर्णन पहले किया जा चुका है। इनके बाद सन् १३३९ में शताधिकारियों का पहला विद्रोह हुआ। इस विद्रोह का नेता अलीशाह था जो क़ुतुलुग़ का अनुयायी था और जिसे गुलबर्गा कर उगाहने के लिए भेजा गया था। अलीशाह ने गुलबर्गा के हाकिम भैरों का वध कर दिया और शाही ख़ज़ाने पर अधिकार कर लिया। इसके बाद उसने बीदर पर भी अधिकार कर लिया। परंतु क़ुतुलुग़ ख़ाँ ने उसे पराजित करके बंदी बना लिया। सुलतान ने उसे ग़ज़नी भेज दिया परंतु वह बिना अनुमति लिए वापस चला आया। इसलिए उसे प्राणदण्ड दिया गया।

ऐनुल्मुल्क का विद्रोह (१३४०-४१ ई०)

सुलतान दक्षिण की व्यवस्था से संतुष्ट नहीं था। उसे अपने अध्यापक क़ुतलुग़ ख़ाँ पर अविश्वास होने लगा और उसने वहाँ के शासन का भार किसी योग्यतर व्यक्ति के हाथ में सौंपने का इरादा करके ऐनुल्मुल्क मुलतानी को दक्षिण भेजने का निश्चय किया। क़ुतलुग़ ख़ाँ के शासन की बर्नी ने खूब प्रशंसा की है। परंतु उसने यह नहीं बताया कि उसकी उदारता का अधीन कर्मचारियों पर क्या बुरा प्रभाव पड़ा। साधारण जनता प्रसन्न थी क्योंकि अधीन कर्मचारियों का उत्पात नहीं था, कर बहुत भारी नहीं थे और दण्ड अपेक्षाकृत हल्के थे। परंतु उसकी उदारता का एक फल यह भी हुआ कि अधीन कर्मचारी सरकारी रुपया खा जाते थे और समय पर हिसाब नहीं देते थे। इस भांति क़ुतलुग़ ख़ाँ की शासन-नीति से हानि थी केवल सुलतान की और शेष सब लोगों को लाभ था। अवध का हाकिम ऐनुल्मुल्क मुलतानी सुलतान का मित्र तथा एक अनुभवी एवं योग्य व्यक्ति था। सुलतान ने उसे दक्षिण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रबंध करने के लिए भेजने का निश्चय किया। परंतु सुलतान ने जब ऐनुल्मुल्क के पास दक्षिण जाने का आदेश भेजा तब उसने विद्रोह कर दिया क्योंकि उसके भाइयों को संदेह हुआ कि सुलतान उसे बदनाम कराने के लिए वहाँ भेज रहा है और संभव है, पर्याप्त सफलता न मिलने पर वह किसी न किसी बहाने दण्डित किया जाय। ऐनुल्मुल्क के विद्रोह का समाचार सुन कर सुलतान को बहुत दुःख हुआ।

ऐनुल्मूल्क ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी, अलाउद्दीन का विरुद् ग्रहण किया और ५०,००० सैनिकों के साथ सुलतान पर आक्रमण किया। सुलतान तेजी से कन्नौज की तरफ बढ़ा और उसने सभी स्थानीय हाकिमों को अपनी-अपनी सेना लेकर आने का आदेश दिया। विद्रोहियों के निकट आने पर कन्नौज के पास दोनों सेनाओं में युद्ध हुआ जिसमें ऐनुल्मुल्क की पराजय हुई और वह बंदी बना लिया गया। उसे फटे-चीथड़े पहनाकर दर्बार में लाया गया और निम्नश्रेणी के लोगों ने उसका तरह-तरह से अपमान किया। इस भांति उसका सम्मान मिट्टी में मिल गया। तब सुलतान ने इतनी कृपा की कि उसे प्राणदण्ड न देकर कारागार में डलवा दिया और फिर कुछ समय बाद पूर्णतया क्षमा कर दिया।

शताधिकारियों के विद्रोह के कारण

ऐनुल्मुल्क के विद्रोह के कारण दक्षिण की व्यवस्था में एक और बाधा पड़ी। सुलतान तीन चार वर्ष दिल्ली में रहकर उत्तर भारत की व्यवस्था ठीक करने लगा। इसी समय उसने सुना कि शताधिकारियों ने बहुत उपद्रव मचा रखा है। मुहम्मद बिन तुग़लक के समय में जिन लोगों को अमीरान-ए-सद (शताधिकारी) कहा गया है उनमें से अधिकांश व्यक्ति विदेशी थे यद्यपि वे किसी एक ही देश अथवा जाति के नहीं थे। उनमें मंगोल, अफ़ग़ान, तुर्क सभी शामिल थे। इनके अतिरिक्त कुछ राजपूत तथा भारतीय मुसलमान भी इनमें सम्मिलित थे। वे लोग प्रायः एक शत सैनिकों के नायक होते थे तथा प्रायः एक शत ग्रामों में शांति रखते और वहाँ से कर वसूल करते थे। इन लोगों की राज्य के प्रति कोई विशेष निष्ठा नहीं थी। वे बड़े साहसी तथा वीर होते थे और शीघ्र से शीघ्र अधिक से अधिक धन बटोरने की चिन्ता में रहते थे। जो इनमें से अधिक दक्ष होते थे उनको और ऊँचे पद भी दिये जाते थे। सुलतान ने मालवा, गुजरात तथा देवगिरि और बीदर को दौलताबाद के प्रधान के अधीन रखा था। इस भांति उसका पद साधारण प्रांतपतियों की अपेक्षा अधिक महत्व का था। सुलतान ने १३४१-४५ के बीच में कई लोगों से सुना कि शताधिकारी बहुत बेईमान, स्वार्थी और उद्दण्ड हो गये हैं तथा वे सरकारी रुपया गबन करते रहते हैं। उसने समझ लिया कि उनको वश में करने के लिए नये हाकिमों को नियुक्त करना आवश्यक है। अस्तु, उसने क़ुतलुग़ खाँ को खलीफा के पत्र का दर्शन करने के बहाने दिल्ली बुला लिया और फिलहाल उसके स्थान पर उसके भाई तथा गुजरात के हाकिम

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निज़ामुद्दीन को नियुक्त किया। उसने मालवा, गुजरात, बीदर आदि के लिए नये हाकिम नियुक्त किये और उनको आदेश दिया कि वे कड़ाई और तत्परता के साथ राजकर इकट्ठा करें तथा विरोधियों का दमन करें। इन नये हाकिमों में से एक का नाम अज़ीज़ खुम्मार था जो शराब बनानेवाले का बेटा था और जिसे यकायक मालवा का शासक नियुक्त किया गया। सुलतान ने इन सब को जो आदेश दिया था उसके अतिरिक्त अज़ीज़ से शताधिकारियों को किसी प्रकार शांत करने के लिए विशेष अनुरोध किया। अज़ीज़ ने एक दिन इनमें से ८९ व्यक्तियों को बुलाया और उनको डाँटा-फटकारा। परंतु बाद में उसने उनको भोजन कराया तथा शराब पिलाई। जब वे लोग गहरी नींद में सो गए तब उसने उन सब का वध करा दिया। इस खबर को पाकर सुलतान बहुत प्रसन्न हुआ। परंतु अन्य सभी वर्गों में इसकी कटु आलोचना होने लगी। शताधिकारी वर्ग विशेष रूप से शंकित हो गया। अफवाहें फैलने लगीं कि इसी भांति सभी शताधिकारी समाप्त किये जायँगे। अस्तु, वे अपनी-अपनी रक्षा के लिए चिंतित होने लगे तथा सुलतान के और विरोधी हो गये।

जनता में क़ुतलुग़ खां के हटाये जाने से असंतोष था ही। नये पदाधिकारियों की कठोरता से वे और भी असंतुष्ट होने लगे। शताधिकारियों का पूर्ण सहयोग न मिलने के कारण सब क्षेत्रों से पूरा कर वसूल करना और कठिन हो गया। इस भांति सुलतान का आर्थिक संकट प्रायः वैसा ही बना रहा। उसने दक्षिण का कर दौलताबाद के निकट धारागढ़ में एकत्रित करने का आदेश दिया था। मालवा की अशांति के कारण उस धन को दिल्ली लाना कठिन हो रहा था। इसी समय गुजरात से मलिक मक़बूल अपने साथ राजकोष लेकर दिल्ली के लिए चला। परंतु शताधिकारियों ने उस पर अचानक एक रात आक्रमण कर दिया और सारा राजकोष तथा अनेक सुन्दर घोड़े छीन लिये। इसी धन से उन्होंने सेना इकट्ठा कर ली और खुल्लम-खुल्ला विद्रोह आरंभ कर दिया।

विद्रोह का आरंभ होना

अज़ीज़ खुम्मार ने इन विद्रोहियों को दबाकर नाम कमाना चाहा। परंतु जब वह उनके विरुद्ध लड़ने गया तब वह पराजित हुआ और विद्रोहियों ने उसे बहुत अपनानजनक ढंग से मार डाला। इससे मालवा में भी अव्यवस्था फैलने लगी और विद्रोहियों की संख्या तथा शक्ति बहुत बढ़ गई। मलिक मक़बूल को अपनी रक्षा के लिए अन्हिलवाड़ा के दुर्ग में शरण लेनी पड़ी।

सुलतान को जब यह समाचार मिला तब वह स्वयं गुजरात के लिए रवाना हुआ और उसने दिल्ली का शासन मलिक फ़ीरोज़, मलिक कबीर तथा ख्वाजा जहाँ को सौंप दिया। क़ुतलुग़ खाँ ने सुलतान को परामर्श दिया कि वह स्वयं गुजरात न जाकर उसे जाने का आदेश दे और उसने विश्वास दिलाया कि वह शीघ्र ही संपूर्ण अशांति को दूर कर देगा। परंतु सुलतान ने इसे स्वीकार नहीं किया। सुलतान

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के गुजरात जाने से विद्रोहियों में घबड़ाहट फैल गई। वे इधर-उधर भागने लगे। मलिक मक़बूल ने एक दल का पीछा करते हुए नर्बदा तट पर उसे परास्त किया और अनेक विद्रोहियों को उनके परिवार समेत बंदी बना लिया। सुलतान के आदेश के अनुसार उन सब का वध कर दिया गया। इससे शताधिकारियों को विश्वास हो गया कि सुलतान उनको किसी भी दशा में क्षमा नहीं करेगा। फलतः जो व्यक्ति जीवित बच गये थे वे विद्रोह की तैयारी करने लगे। सुलतान ने विद्रोहियों की कमजोरी को देखकर उन सभी लोगों को कठोर दण्ड देना आरंभ किया जिन्होंने मक़बूल पर आक्रमण किया था अथवा किसी प्रकार का विरोध किया था। इसका फल यह हुआ कि समस्त गुजरात में सुलतान की शक्ति का आतंक जम गया परंतु अशांति के कारण दूर नहीं हुए।

गुजरात के विद्रोह का दमन

देवगिरि के शताधिकारी सोचने लगे कि शायद उनका भी अंत सन्निकट है। अस्तु, वे अपनी रक्षा का उपाय सोचने लगे और सफल विद्रोह के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय दिखाई नहीं पड़ता था। इसलिए जो लोग गुजरात अथवा मालवा से भागकर आये उनको उन्होंने शरण दी और वे अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाने लगे। उसी समय सुलतान ने एक अमीरों का दस्ता दौलताबाद भेजा और उसने राजाज्ञा के अनुसार उस क्षेत्र के कर्मचारियों का हिसाब देखना आरम्भ किया। उसके बाद दूसरी आज्ञा आई जिसमें डेढ़ हजार सैनिक तथा प्रमुख शताधिकारियों को सुलतान की सेवा में भेजने की बात थी। इन लोगों ने राजाज्ञा मान ली परंतु वे बराबर शंकित रहते थे। मार्ग में उनके साथ दुर्व्यवहार किया जाने लगा जिससे उनका संदेह और भी बढ़ गया। सुलतान के प्रतिनिधियों ने बड़ी बुद्धिहीनता का परिचय दिया। फल यह हुआ कि शताधिकारियों ने एक दिन आधी रात के समय हमला कर दिया और अधिकांश सैनिकों को मार डाला। इसके बाद वे दौलताबाद लौट आये और उन्होंने निज़ामुद्दीन को कारागार में डाल दिया तथा अन्य पदाधिकारियों का वध करके दुर्ग पर अधिकार कर लिया। उन्होंने मलिक इस्माइल मख अफ़ग़ान को अपना सुलतान घोषित कर दिया और मराठा प्रदेश को आपस में बांट कर अपनी शक्ति संगठित करना आरंभ किया। इस सफलता से विद्रोह की आग एक बार फिर भड़क उठी और बरार, खानदेश, गुजरात तथा मालवा में विद्रोह के लक्षण पुनः प्रकट होने लगे तथा अनेक विद्रोही देवगिरि में आकर एकत्रित होने लगे।

देवगिरि का विद्रोह

सुलतान इस विद्रोह का समाचार पाकर देवगिरि आ गया और उसने विद्रोहियों को पराजित किया। परंतु विद्रोहियों की शक्ति समाप्त नहीं हुई। उन्होंने संगठित ढंग से अपने सेनापतियों में से कुछ को देवगिरि के दुर्ग की रक्षा का भार दिया और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ बीदर, गुलबर्गा तथा अन्य गढ़ों की ओर चले गये। उसी समय सुलतान को गुजरात में तग़ी के विद्रोह की सूचना मिली। उसने समझा कि देवगिरि के विद्रोहियों की कमर टूट चुकी है और वे शीघ्र ही घुटने टेकने के लिए बाध्य होंगे। अस्तु, उसने उनके दमन का भार अमीरों पर छोड़कर गुजरात जाने का निश्चय किया। यह सुलतान की भारी भूल हुई क्योंकि उसके चले जाने से विद्रोहियों का साहस बढ़ गया तथा शाही सेनापति आपस में झगड़ने लगे। देवगिरि का घेरा चलता रहा। इसी बीच में हसन कांगू ने कृष्ण नायक से भी कुछ सहायता प्राप्त कर ली। अब उसने आक्रमण आरंभ किया और लगातार विजयों द्वारा सभी शाही अमीरों को दक्षिण छोड़ने के लिए बाध्य किया। उसकी सफलता से मलिक मख अफ़ग़ान बहुत संतुष्ट हुआ और उसने स्वयं राजपद त्यागकर उसे दौलताबाद का शासक बनाने का प्रस्ताव किया। अन्य सर्दारों ने भी इसे स्वीकार कर लिया। इस भांति १३४७ ई० में हसन अला-उद्दीन बहमनशाह के नाम से गद्दी पर बैठ गया और उसने बहमनी राज्य की नींव डाल कर मुहम्मद तुग़लक के दक्षिणी साम्राज्य की इति श्री कर दी। यह उसके सौ-भाग्य की बात है कि सुलतान को तग़ी के विद्रोह से फ़ुर्सत ही नहीं मिली और वह दक्षिण पर पुनः अधिकार स्थापित करने का अवसर न पा सका।

बहमनी राज्य की स्थापना

तग़ी सुलतान मुहम्मद की कृपा से ही एक उच्च पद को प्राप्त कर सका था। परन्तु उस समय की राजनीतिक दशा ऐसी नहीं थी कि कृतज्ञता की भावना विद्रोही प्रवृत्ति को रोक सके। गुजरात में अशान्ति पहले से ही थी। सुल-तान के नये पदाधिकारी नीच एवं अयोग्य थे। हिन्दू राजा मुसल-मानों की शक्ति घटाने में सदा सहयोग करने को उद्यत रहते थे। फलतः तग़ी को विद्रोह करने का अच्छा अवसर मिल गया। उसने गुजरात के गवर्नर का वध कर दिया, अन्हिलवाड़ा तथा खम्भात पर अधिकार कर लिया और भड़ौंच पर आक्रमण किया। उसके समर्थकों की संख्या बराबर बढ़ती गई और उसने अन्हिलवाड़ा तथा खम्भात से प्राप्त धन का उपयोग करके एक विशाल सेना तैयार करली। सुलतान तेजी से भड़ौंच की ओर बढ़ा परन्तु तग़ी पीछे हट गया। खम्भात तथा अन्हिलवाड़ा के पास भीषण संग्राम हुए और तग़ी को अन्त में सिंध में शरण लेनी पड़ी। सुलतान ने कुछ समय के लिए युद्ध बन्द करके गुजरात के शासन की व्यवस्था की। उसके बाद उसने दिल्ली से सेना बुलाकर तग़ी के आश्रय-स्थल ठट्टा पर धावा करने की तैयारी की। परन्तु वह ठट्टा के निकट पहुँचकर बीमार पड़ गया और मार्च १३५१ ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

तग़ी का विद्रोह (१३४७-५१ ई०)

इस भांति दक्षिण का साम्राज्य सुलतान के लिए बहुत हानिकारक सिद्ध हुआ। उसके समय के विद्रोहों का श्रीगणेश दक्षिण में ही हुआ। वहीं की स्थिति को ठीक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने के लिए उसने राजधानी का परिवर्तन किया जिसके कारण उसको न केवल आर्थिक क्षति हुई वरन् उसके यश में भी बट्टा लगा। दक्षिण में ही पहला स्वतंत्र राज्य स्थापित हुआ जिसके बाद विघटनकारी शक्तियाँ दिन प्रति दिन प्रबलतर होती गईं और यात्रा की कठिनाइयों तथा मार्ग की दूरी के कारण वह न दक्षिण को ही संभाल सका और न उत्तर को ही। एक-एक करके दक्षिण के प्रान्त स्वतंत्र हो गये और सुलतान की सत्ता का अन्त करके माबर, विजयनगर, वारंगल, द्वारसमुद्र, तथा गुलबर्गा में स्वाधीन राज्य स्थापित हो गये। दक्षिण के सम्पर्क का उत्तर भारत की व्यवस्था पर भी प्रभाव पड़ा। राजधानी बदलने के कारण किशलू खाँ का विद्रोह हुआ। दक्षिण की व्यवस्था सुधारने की चेष्टा में ऐनुलमुल्क का भयंकर विद्रोह हुआ। दक्षिण से ठीक समय पर कर न मिलने के कारण सुलतान ने ठेकेदारी की प्रथा को चलाया और उस समय उसका प्रचलन उत्तर भारत के कुछ भागों में भी हो गया जिनके फलस्वरूप कड़ा, समाना और सुन्नम में विद्रोह हुए। असहनशाह के विद्रोह के कारण उत्तर भारत में लाहौर तथा हाँसी के विद्रोह हुए और दक्षिण के शताधिकारियों का दमन करने के उद्देश्य से मालवा तथा गुजरात में भी उनका दमन किया गया जिसके कारण मालवा, गुजरात तथा सिंध में भी घोर अशान्ति व्याप्त हो गई और उत्तर भारत की व्यवस्था भी लड़खड़ा गई। अस्तु, यह कहना अनुचित न होगा कि सुलतान की असफलता का एक प्रमुख कारण है दक्षिण पर आधिपत्य। यहीं परिस्थिति आगे चलकर मुग़लवंश के शासकों के समय में भी देखने को मिलेगी। उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक उन्नति द्वारा आवागमन के साधनों में गतिशीलता आने पर दक्षिण तथा उत्तर भारत को एक शासन में संयुक्त करना सम्भव हुआ है। उसके पूर्व मौर्य, सातवाहन, राष्ट्रकूट, तुग़लक, मुग़ल तथा मराठा साम्राज्यों में से प्रत्येक का अनुभव यही रहा कि दक्षिण और उत्तर को अधिक समय तक एक केन्द्रीय शक्ति के हाथ में रखना संभव नहीं है। मुहम्मद बिन तुग़लक इसी ऐतिहासिक तथ्य की उपेक्षा करने के कारण इतने संकट में पड़ा। परन्तु इतना स्मरण रखना आवश्यक है कि दक्षिण पर सीधा अधिकार करने की भूल उसने आरम्भ नहीं की। उसे यह भूल विरासत में मिली थी और औरंगजेब की भांति वह अपने पूर्व-कालीन शासकों के कार्य के लिये दण्डित हुआ। उसने दक्षिण के शासन में कुछ भूलें कीं। परन्तु यदि वह भूलें न भी करता तो भी माबर, कम्पिला, वारंगल, और द्वारसमुद्र का स्वतंत्र होना अनिवार्य था और उनके स्वतंत्र होने पर शेष भाग में भी विद्रोहात्मक प्रवृत्ति फैलना स्वाभाविक होता।

दक्षिण-नीति पर एक दृष्टि

सुलतान मुहम्मद एक अध्ययनशील, सत्यान्वेषक, एवं विवेकपूर्ण व्यक्ति था। प्रोफेसर मेहदी हुसेन ने उसकी आत्मकथा के कुछ पृष्ठ ढूँढ़ निकाले हैं जिनसे पता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चलता है कि सुलतान सत्य की खोज में व्यस्त था। वह किसी भी बात को बिना तर्क और बुद्धि की कसौटी पर कसे स्वीकार करने को उद्यत नहीं था।

सुलतान की शासन-नीति

बहुधा लोग कहते हैं कि धर्म का आधार है विश्वास न कि तर्क-बुद्धि। परन्तु मुहम्मद का कहना था कि कोई बुद्धिमान व्यक्ति किसी भी बात पर—ईश्वर पर भी—तब तक विश्वास कर कैसे सकता है जब तक उसके सभी संदेह दूर न हो गए हों और विश्वास के लिये एक बौद्धिक आधार प्राप्त हो गया हो। सुलतान की इस प्रवृत्ति का प्रभाव उसकी शासन-नीति पर भी पड़ा। वह यह मानने को तैयार नहीं था कि जो धार्मिक एवं राजनीतिक सिद्धान्त सातवीं सदी के अरब देश के लिए उपयुक्त थे वे उसी रूप में चौदहवीं सदी के भारत के लिए भी ठीक थे। अपने अध्ययन-काल में उसे धर्म तथा राज-सिद्धान्तों का जो ज्ञान प्राप्त हुआ था उसके आधार पर वह यह भी जान गया था कि धर्म के ठेकेदारों—उलमा, मौलवी, सय्यद, संत—का आचरण कितना स्वार्थमय तथा पतित था और उन्होंने अपनी सुविधा को ध्यान में रखकर किस प्रकार के अना-चार किये तथा कराये थे। उसने अपने व्यक्तिगत जीवन में भी देखा था कि उलमा-वर्ग बहुधा कितना संकुचित विचारों वाला, दाम्भिक एवं पतित है। वह विचार-विनिमय के लिए जब उनसे परामर्श करता तब वह देखता कि वे अंध-विश्वासी, हठी, अज्ञानी एवं बुद्धिहीन हैं। वे धर्म के सिद्धान्तों के युक्ति-युक्त निरूपण में असमर्थ, तर्क में क्षीण एवं विचारों में कूपमण्डक हैं। अस्तु, उसकी उनके ऊपर से श्रद्धा हट गई और उसने उनको राज्य में कोई विशेष स्थान देना राज्य के लिए घातक तथा प्रजा के लिए अन्यायपूर्ण समझा। अभी तक उलमा-वर्ग का न्याय तथा धर्मविभागों में एकाधिकार था। सुलतान ने यह एकाधिकार तोड़ दिया क्योंकि वह समझता था कि वास्तविक न्याय एवं सद्धर्म के लिए जिस प्रकार के मानसिक विकास की आव-श्यकता है, उलमावर्ग ठीक उसके प्रतिकूल है। फलतः मुहम्मद तुग़लक धर्म-निर-पेक्ष राज्य की स्थापना में अलाउद्दीन से बहुत आगे बढ़ गया। अलाउद्दीन को जो कुछ उचित प्रतीत होता था वही वह करता था और उलमावर्ग से कहता था कि राज्य के हित का ध्यान रखकर ही वह आदेश निकालता है और इस बात की चिन्ता नहीं करता कि परलोक में क्या होगा। वह उलमा के प्रति सम्मान का भाव रखता था, उनसे परामर्श करता था और जहाँ संभव हो वहाँ उनकी बात मानता था। वह यह भी स्वीकार करता था कि उसे धर्म के सिद्धान्तों का ज्ञान नहीं है। इसी कारण वह उनसे ज्ञातव्य बातें पूछता था। परंतु मुहम्मद तुग़लक स्वयं खूब पढ़ा-लिखा व्यक्ति था। उसने कुरान, हदीस और संबंधित साहित्य का गहरा तथा आलोचनात्मक अध्य-यन किया था। उसने उलमावर्ग को अपनी अपेक्षा कम जानकारी वाला पाया और संदेहों का समाधान करने में उनको इतना अक्षम पाया कि वह कहता था कि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन लोगों के बताये धर्म पर चलने से बुतपरस्त हो जाना कहीं अधिक अच्छा है। अस्तु उसका अनुभव यह था कि उलमा-वर्ग से विचार-विमर्श करना व्यर्थ एवं सार-हीन है। फलतः उसने न केवल उनके द्वारा प्रतिपादित नीति को अस्वीकार किया वरन् उनसे धर्म तथा नियम संबंधी चर्चा करना भी बंद कर दिया और उनको सामान्य जनता की कोटि में रख कर उनकी अहमियत पर गहरा आघात पहुँचाया। उसने अनुभव, अध्ययन, विचारशील मनन एवं इस्लाम के सिद्धान्तों के सामूहिक आधार पर अपनी नीति निर्धारित की और राजनियमों का एक संग्रह तैयार किया जिसका बर्नी उल्लेख करता है परंतु जिसका वह वर्णन नहीं करता। इस भांति मुहम्मद ने दार्शनिक एवं बौद्धिक आधार पर धर्मप्रधान राज्य को अपर्याप्त एवं अनुपयुक्त स्थिर किया और विवेक तथा अनुभव के आधार पर शासन किया। उसने सभी प्रजा की समानता को स्वीकार करते हुए वर्ग-विशेष के विशेषाधिकारों का अंत कर दिया और सरकारी नौकरी जन्म के आधार पर न देकर योग्यता के अनुसार देना आरंभ किया। बर्नी और इसामी ने सुलतान की नीति की कड़ी आलोचना की है और बर्नी ने व्यक्तिगत असंतोष के कारण यहाँ तक लिख मारा है कि सुलतान की असफलता का कारण यही था कि उसने नीच लोगों को ऊँचे पद दे दिये थे। इन नीच लोगों में उसने अजीज़ खुम्मार, फ़ीरोज़ हज्जाम, मनका बबर्ची, लधा माली तथा मक़बूल गायक के नाम गिनाये हैं। उसने मक़बूल की पदोन्नति की आलोचना करके यह प्रगट कर दिया है कि उसका मत पक्षपातपूर्ण एवं अविश्वसनीय है क्योंकि मक़बूल एक अत्यंत योग्य एवं सफल कर्मचारी था और इसी कारण वह फ़ीरोज़ के काल में प्रधानमंत्री तथा नायब के पद पर नियुक्त हुआ था। सुलतान जानता था कि पिछले काल के अमीरों की अवहेलना करने से वे असंतुष्ट होंगे और विरोध पैदा करेंगे। इस कारण उसने खुरासान, इराक, फारस, बोखारा, समरक़ंद आदि देशों से आने वाले विदेशियों को भी उनकी योग्यतानुसार ऊँचे पद दिये। व्यवहार में इसके कारण उसे बहुत कष्ट उठाना पड़ा। उलमा-वर्ग उसका कट्टर विरोधी हो गया और उन्होंने उसके प्रति असंतोष फैलाने में कोई कसर उठा नहीं रखी। बदायूँनी लिखता है कि उसके अंतिम वर्षों में उन्होंने उसे गद्दी से उतारने का भी षड्यंत्र किया। देशी अमीरों ने विदेशियों का मान एवं प्रभाव बढ़ना अपने लिए अपमानजनक समझा और उनमें असंतोष बढ़ने लगा। सुलतान ने जो निम्न-वर्ग के लोक नियुक्त किये उनमें से कुछ अनुभवहीन एवं असफल सिद्ध हुए। इस हेतु सभी नियुक्तियों के प्रति अविश्वास की भावना फैलने लगी। विदेशी अमीरों को देशीय लोगों का समुचित सहयोग नहीं मिलता था और उनको उनके विरोध के कारण अपनी स्थिति के विषय में कुछ शंका भी रहती थी। इस कारण उनमें स्वार्थ तथा गुटबंदी बढ़ गई। इन अमीरों का देश के प्रति कोई स्नेह नहीं था। वे केवल अपनी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्तिगत उन्नति चाहते थे। इस कारण जब उनके विरुद्ध कार्यवाही आरंभ हुई तब उन्होंने संगठित रूप से विद्रोह कर दिया। इस भांति सुलतान की नीति असफल हो गई। इस असफलता का मूल कारण सुलतान का अहंकार तथा दूसरों की भावनाओं की उपेक्षा था। उसने उलमा को अपदस्थ ही नहीं किया वरन् उनका तिरस्कार भी किया। उसने विदेशी अमीरों पर आवश्यकता से अधिक कृपा की और उनकी नियुक्ति के पूर्व उचित जाँच नहीं कराई। इस कारण राज्य का संतुलन बिगड़ गया।

हिन्दुओं के प्रति नीति

ग़यासुद्दीन तुग़लक के समय से ही हिन्दुओं के प्रति धार्मिक असहिष्णुता की नीति में परिवर्तन होने लगा था। उसके समय में देवालयों के विध्वंस तथा बलात् धर्म-परिवर्तन की घटनायें नहीं सुनाई पड़तीं। उसने उन हिन्दुओं को जिनकी नियुक्ति खुसरो या मुबारक शाह के समय में हुई थी सरकारी पदों से तभी हटाया जब उनके विरुद्ध कोई गंभीर राजनीतिक अपराध सिद्ध हो गया। मुहम्मद बिन तुग़लक के समय में भी यही नीति रही और कुछ दिशाओं में अधिक उदार हो गई। इस भांति हम देख चुके हैं कि उसने नगरकोट-विजय के बाद ज्वालामुखी मंदिर को तोड़ने अथवा वहाँ किसी प्रकार का धार्मिक अनाचार करने की चेष्टा नहीं की जैसा कि उसके उत्तराधिकारी फ़ीरोज़ ने भविष्य में किया। इसके अतिरिक्त मुहम्मद बिन तुग़लक सत्य की खोज में योगियों की संगति करता था और उसने उनके दार्शनिक मत को समझने की सुविधा की दृष्टि से संस्कृत भी सीख ली थी। उसने कई हिन्दुओं को ऊँचे पद दिये थे। रतन सिंध में एक प्रभावशाली कर्मचारी था और उसको अज़ीमुस्सिंध की पदवी दी गई थी। भैंरों गुलबर्गा का शासक नियुक्त किया गया था और क़ुतलुग़ खाँ के हटाए जाने के बाद धराधर देवगिरि में अर्थ-विभाग का अध्यक्ष नियुक्त किया गया था। उसने अकाल-पीड़ितों की सहायता तथा कृषि की उन्नति के लिए जो उद्योग किया उससे पता चलता है कि वह हिन्दू प्रजा के हितों का भी ध्यान रखता था और अलाउद्दीन अथवा ग़यासुद्दीन की भांति वह उन्हें आर्थिक संकट से त्रस्त रखने की कामना नहीं करता था। इस प्रकार विदित होता है कि मुहम्मद उस समय तक के मुसलमान सुलतानों की अपेक्षा हिन्दुओं के प्रति अधिक उदार, सहृदय तथा न्यायी था और उसके काल में हिन्दुओं को जहाँ कष्ट हुआ भी उसका कारण राजनीतिक था न कि धार्मिक और सुलतान ने जान-बूझ कर उनको कष्ट देने के लिए ही कुछ नहीं किया।

सुलतान और खलीफा

सुलतान मुहम्मद दूसरा व्यक्ति है जिसके विषय में यह स्पष्टतः विदित है कि उसका खलीफा से संबंध था। इल्तुतमिश ने जिस परिस्थिति में खलीफा का नियुक्तिपत्र प्राप्त किया था उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। उसके बाद खलीफा की ऐसी दुर्गति हुई

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि उसके दो वंशधर बलबन के शरणागत हुए और उसकी कृपा पर आश्रित होकर अपना पेट पालने लगे। शेष परिवार का क्या हुआ यह भारतीय सुलतानों को पता नहीं रहा। फिर भी क़ुत्बुद्दीन मुबारकशाह को छोड़ कर शेष सुलतानों ने खलीफा के नाम के प्रति कुछ-न-कुछ सम्मान बराबर दिखाया। मुहम्मद तुग़लक ने पहले अपनी स्वतंत्र तर्क-बुद्धि के अनुसार किसी बाहरी व्यक्ति के नियुक्ति पत्र के आधार पर शासन करने की बात ठीक नहीं समझी। इस कारण सन् १३४१ तक उसने कुछ नहीं किया। परंतु जब उसने उलमा के विरोध और प्रांतपतियों के विद्रोह को बराबर बढ़ते देखा तब उसने अशांति के कारणों को खोजने और उनका निराकरण करने की चेष्टा की। उस समय उसे यह अनुभव हुआ कि शायद उसने बुद्धि के सामने अल्लाह की मर्यादा का जो तिरस्कार किया है उसी का यह दण्ड है। अस्तु, अल्लाह को संतुष्ट करने के लिए उसने न केवल अपने व्यक्तिगत जीवन और आचरण में वरन् शासन-नीति में भी परिवर्तन किया। उसने मुसलमान जनता के आचरण और उनके द्वारा धार्मिक सिद्धान्तों के पालन का निरीक्षण करने के लिए कर्मचारी नियुक्त किये तथा अपराधियों को कड़े दण्ड दिये। उसी भांति उसने यह भी सोचा कि शायद अल्लाह के पैगंबर के प्रतिनिधि के वंशधर के अधिकार की उपेक्षा करना भी अपराध हुआ है। उसने संभव है यह भी सोचा हो कि खलीफा का नियुक्तिपत्र मिल जाने पर उलमा को दब जाना पड़ेगा और वह उसे विधिवत् शासक मानने तथा उसकी शक्ति के पोषक बनने के लिए बाध्य होंगे। इस भांति उलमा-वर्ग का विरोध सदा के लिए शांत हो जायगा। इस उद्देश्य से सुलतान ने १३४०-४१ ई० में मिस्रवासी अब्बासी खलीफा के पास पत्र भेजकर नियुक्ति-पत्र के लिए प्रार्थना की। उसका उत्तर आने के पूर्व ही ग़यासुद्दीन नामक एक कथित वंशधर दिल्ली आ गया। सुलतान ने शायद इसे ईश्वर का अनुग्रह समझा और तुरंत उसके विलासपूर्ण जीवन-यापन की व्यवस्था करके अपने को धन्य समझा। बाद में सन् १३४४ और १३४६ में खलीफा के यहाँ से नियुक्ति-पत्र भी आये। सुलतान ने न केवल नियुक्ति-पत्रों की वरन् पत्रवाहकों की भी बड़ी आवभगत की। उसने उन पत्रों तथा उनके लेखक के प्रति सम्मान प्रकट करने में अपने को बहुत नगण्य, निकृष्ट, एवं निम्नकोटीय चाटुकार प्रदर्शित किया। इससे विद्रोह शांत होना तो दूर रहा, उलटे उसके प्रति असम्मान का भाव बढ़ गया। फलतः सुलतान का यह कार्य भी साम्राज्य के विघटन में सहायक हुआ।

केन्द्रीय, प्रांतीय अथवा स्थानीय शासन में मुहम्मद तुग़लक ने कोई महान् परिवर्तन नहीं किया। जो विवरण प्राप्त हैं उनसे यह विदित होता है कि केन्द्रीय सरकार का संगठन प्रशासकीय दृष्टि से अधिक उत्तम बनाने की चेष्टा की गई और सुलतान ने विभागों एवं कर्मचारियों की संख्या काफी बढ़ा दी तथा उनका एक दूसरे के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ संबंध सुधार दिया। प्रांतीय शासन में प्रधान कर्मचारियों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। स्थानीय पदाधिकारियों के विषय में डाक्टर मेहदी हुसेन ने लिखा है कि प्रत्येक प्रांत में कई जिले (शिक) तथा प्रत्येक जिले में कई नगर जिनके साथ शतग्राम अथवा परगने संबद्ध रहते थे, होते थे और शतियों के पदाधिकारियों को शताधिकारी कहते थे। परंतु शताधिकारी का जो अर्थ उन्होंने किया है उसका कोई समकालीन आधार नहीं बताया। इससे केवल इतना ही कहा जा सकता है कि स्थानीय शासन भी प्रायः पूर्ववत् ही रहा।

साधारण शासन में परिवर्तन

इस दिशा में सुलतान का अतिचर्चित कार्य है दिल्ली के स्थान पर देवगिरि को राजधानी बनाना। यद्यपि इस संबंध में अनेक प्रकार के प्रवाद प्रचलित हैं परंतु आधुनिक कालीन विद्वानों के अनुसंधान से इस कार्य का स्वरूप और महत्व प्रायः ठीक-ठीक स्थिर हो गया है। यह घटना १३२७ ई० में हुई—बहाउद्दीन गुर्शस्प के विद्रोह के बाद और बहराम ऐबा, किशलू खाँ के विद्रोह के पूर्व। इसके प्रधान कारण दो थे :—

राजधानी बदलना (१३२७ई०)

(क) कारण

(१) साम्राज्य का विस्तार बहुत बढ़ गया था जिसके कारण दिल्ली से उसका ठीक प्रबंध कर सकना दुष्कर था। बहाउद्दीन गुर्शस्प के विद्रोह की प्रारंभिक सफलता से यह बात और स्पष्ट रूप से प्रकट हो गई। सुलतान ने देवगिरि को यह गौरव देने का निश्चय किया क्योंकि वह साम्राज्य के प्रायः केन्द्र में था और वहाँ से लखनौती, लाहौर, मुलतान, दिल्ली, माबर प्रायः समान दूरी पर थे।

(२) दक्षिण की विजय समाप्त हुए अभी बहुत कम समय बीता था। १२९६ ई० के पूर्व तक दक्षिण का कोई राजा दिल्ली के सुलतान के किसी प्रकार के प्रभाव में नहीं था। दक्षिण की सैनिक विजय १३१२ ई० में समाप्त हुई परंतु दक्षिण के किसी भी भाग से स्थानीय हिन्दू राजवंशों का अधिकार हटाने का साहस नहीं किया जा सका वरन् उनको करद बनाये रखने के लिए उनके साथ उदारता का व्यवहार किया गया। सन् १३१८ से सल्तनत के सीधे शासन का श्रीगणेश हुआ और १३२७ ई० में यह चरम उत्कर्ष को पहुँचा। परंतु इस ३० वर्ष के काल में ही यह अनुभव किया गया कि दक्षिण पर अधिकार रख सकना बहुत कठिन है क्योंकि करद हिन्दू शासक कर देना बंद करने के लिए बराबर अवसर ढूंढ़ते रहते है और जहाँ उनको हटाने की चेष्टा की जाती है वहाँ मुस्लिम प्रशासक स्वतंत्र सल्तनत स्थापित करने के षड्यंत्र आरंभ कर देता है। अस्तु सुलतान ने दक्षिण की ओर अधिक ध्यान देना आवश्यक समझा। दक्षिण में राजधानी स्थिर करने में उत्तर भारत में अव्यवस्था फैलने का विशेष भय भी नहीं था क्योंकि मंगोलों के आक्रमण प्रायः बंद

१६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो चुके थे और उत्तर भारत में तुर्कों का अधिकार अधिक स्थायी घर कर चुका था

परंतु कुछ समकालीन तथा अर्वाचीन लेखकों ने अन्य कारण भी बताये हैं जो अधिक विश्वसनीय नहीं प्रतीत होते। यहया कहता है कि दोआब में कर-वृद्धि एवं अकाल के कारण अशांति फैल गई। सुलतान ने वहाँ की हिन्दू जनता को दण्ड देने के लिए समस्त दिल्लीवासियों को देवगिरि (दौलताबाद) जाने का आदेश दिया। इब्नबतूता लिखता है कि दिल्ली के कुछ लोग सुलतान की नीति से असंतुष्ट थे। इस कारण वे पत्रों में गालियाँ लिख-लिख कर उनको तीरों में बाँध कर रात के समय सुलतान के महल में फेंकते रहते थे। सुलतान नहीं जानता था कि यह शरारत कौन करता है। अस्तु, उसने समस्त दिल्लीवासी जनता को दण्ड देने के लिए उसे उजाड़ने का निश्चय किया। बर्नी लिखता है कि सुलतान मध्यम-श्रेणी और उच्चवर्ग के लोगों का विनाश करना चाहता था। इसलिए उसने दिल्ली उजाड़ने का इरादा किया। यह सब कथायें निराधार हैं क्योंकि दिल्ली कभी भी पूरी नहीं उजड़ी और उसमें टकसाल तथा अन्य सरकारी अधिकरण बराबर बने रहे।

एक लेखक ने सुझाव दिया है कि उसने मंगोलों के आक्रमण से राजधानी को सुरक्षित रखने के लिए उसे पश्चिमोत्तर सीमा से दूर हटाना चाहा। परंतु राजधानी के पास रहने के कारण ही अलाउद्दीन और बलबन अपनी सीमा-सुरक्षा-व्यवस्था में सफल हुए थे। राजधानी के दूर रहने पर राजधानी भले ही बची रहती परंतु उत्तर भारत का समूचा साम्राज्य ही विदेशी आक्रमणकारी के हाथ में चला जाता। दूसरे उस समय विदेशी आक्रमणों का भय ही नहीं था। इस कारण यह सुझाव भी स्वीकार करने योग्य नहीं प्रतीत होता।

दूसरी विचारणीय बात है कि सुलतान ने सचमुच क्या और कैसे किया? सुलतान ने शायद यह निश्चय किया था कि साम्राज्य की सुव्यवस्था के लिए दो राजधानियाँ आवश्यक हैं। ऐसा सोचने के तीन आधार हैं: (१) मसालिक उल अबसार के लेखक का यह कथन है कि दिल्ली सल्तनत की दो राजधानियाँ हैं, एक दिल्ली और दूसरी देवगिरि (क़ुव्वतुल इस्लाम), (२) दिल्ली से बराबर सिक्के ढाले जाने के प्रमाण मिल चुके हैं क्योंकि १३२७, १३२८, १३२९ ई० के दिल्ली टकसाल के सिक्के उपलब्ध हैं, (३) बहराम ऐबा के विद्रोह के समय सुलतान ने दिल्ली में ठहरकर पहले सेना एकत्रित की थी और बाद में वह वहीं दो वर्ष तक रहा था। अस्तु, ऐसा प्रतीत होता है कि उसने दिल्ली को उत्तर भारत का प्रधान नगर बनाये रखते हुए दक्षिण भारत, मालवा तथा गुजरात के लिए दौलताबाद को केंद्रीय स्थल बनाना चाहा। यदि सुलतान अधिक समय देवगिरि में रहता तो निश्चय ही उसका प्रभाव दिल्ली से बढ़ जाता। परंतु सचमुच ऐसा हो नहीं सका और सुलतान को

(ख) परिवर्तन का स्वरूप

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तर भारत में ही अधिक समय बिताना पड़ा। देवगिरि (दौलताबाद) के महत्व को बढ़ाने के लिए उसने यह निश्चय किया कि वहाँ पर राजवंश के लोग, बड़े-बड़े अमीर, विद्वान् संत-महात्मा आदि बसा दिये जायें। इन लोगों के वहाँ बसने पर वह मुस्लिम सभ्यता का प्रसार-केन्द्र बन सकता था और मुस्लिम जनसंख्या बढ़ने पर ही दक्षिण पर अधिकार बनाए रखने में सुविधा होती। इसलिए सुलतान ने अपने परिवार के लोगों में अपनी माता मखदूमजहाँ को वहाँ भेजा। साथ ही उसने दर्बार के अमीरों, विद्वानों, घोड़े हाथियों, राजकीय भण्डारों आदि को भी वहाँ भेजा। कुछ सरकारी दफ्तरों के कर्मचारी, सैनिक तथा व्यापारी भी गये होंगे। इन सब की सुविधा के लिए सुलतान ने कई कार्य किये। उसने दिल्ली से दौलताबाद तक की सड़क की समुचित मरम्मत करा दी और उसके किनारे-किनारे आवश्यक वस्तुओं की बिक्री का प्रबंध कर दिया। दौलताबाद में घर बनवाने के लिए जिनके पास धन की कमी थी उनके मकान सुलतान ने खरीद लिये और उनको वही धन यात्रा तथा गृह-निर्माण में व्यय करना सुलभ हो गया। मार्ग के लिए उसने सवारियों का भी प्रबंध कराया, तथा दिल्ली से दक्षिण जाते समय अन्य प्रकार की भी सुविधायें देने की व्यवस्था की। परंतु अधिकांश आनेवालों को यह आदेश एक प्रकार का दण्ड ही प्रतीत हुआ होगा और नये स्थान में जाकर बसने में असुविधा भी हुई होगी। इसी आधार पर बर्नी ने यह कटूक्ति की है कि जानेवालों में से बहुत थोड़े लोग जीते लौट सके। दौलताबाद में रहनेवाले दिल्ली-वासी समय बीतने पर भी संतुष्ट न हो सके। अस्तु माबर के स्वतंत्र होने के बाद सुलतान जब अस्वस्थ होकर दौलताबाद आया तब उसने उन सभी लोगों को दिल्ली जाने की आज्ञा दे दी जो इस नये वातावरण में सुखी नहीं थे। इस भांति प्रायः आठ वर्ष के बाद सुलतान ने अपने पूर्वादेश की आंशिक भूल को स्वीकार किया।

सुलतान को इस कार्य के कारण बहुत बदनामी मिली है। कुछ लोगों ने उसे केवल क्रूर, अदूरदर्शी तथा प्रजापीड़क कहकर ही संतोष नहीं किया वरन् उसे पागल ठहराने की भी दुष्चेष्टा की है। सुलतान का इस योजना पर

(ग) परिणाम

काफी धन व्यय हुआ। प्रजा में इसके कारण काफी असन्तोष फैला और दिल्ली नगरी की भव्यता पर ऐसा आघात लगा कि वह अपने पूर्व-गौरव को प्राप्त न कर सकी। अनेक लोगों की व्यर्थ जानें गईं और हजारों परिवारों की समृद्धि स्वाहा हो गई। परंतु यह मानना पड़ेगा कि दक्षिण भारत पर जो कुछ नियंत्रण संभव हो सका था वह प्रधानतः दौलताबाद को केंद्रीय शक्ति का अधिकरण बनाने के कारण ही हुआ था। दौलताबाद की गौरव-गरिमा बढ़ गई। वहाँ का गढ़ सुदृढ़ तथा राजकोष अधिक परिपूर्ण हो गया और वहाँ पर केन्द्रित सैनिक शक्ति के सहारे अनेक विद्रोह दबाये जा सकें। परंतु जब दौलताबाद

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के रक्षक ही सुलतान के विरोधी हो गये तब उस गढ़ तथा राजकोष का बल पा जाने के कारण वे तुग़लक साम्राज्य के दक्षिणी भाग की अंत्येष्टि करने में सफल हो गये।

सुलतान मुहम्मद ने भूमि-व्यवस्था में अनेक परिवर्तन किये और उनमें से कुछेक के कारण उसकी बहुत आलोचना भी की गई है। उसने गद्दी पर बैठने के बाद ही अनेक आदेश निकाले और एक अधिकरण केवल यह देखने के लिए नियुक्त किया कि उसके आदेशों का उचित पालन किया जाता है या नहीं। इन आदेशों के अनुसार प्रांतीय वज़ीरों और कोषाध्यक्षों को नियमित रूप से आय-व्यय का हिसाब भेजना पड़ता था। हिसाब की कड़ाई से जाँच की जाती थी और कुछ भी धन पावना नहीं रहने दिया जाता था। जिनके पास कुछ पावना रह जाता था उन कर्मचारियों के साथ कड़ाई का व्यवहार किया जाता था और सुलतान ने इस विशेष वसूली के लिए एक अलग विभाग और उसका अध्यक्ष नियुक्त किया था। इसे दीवान-ए-मुस्तख़रिज कहते थे। किसानों से लगान वसूल करने का कार्य पहले की ही तरह होता था केवल अंतर इतना हो गया था कि इस समय पिछला पावना वसूल करने और भविष्य में पावना न रहने देने की दृष्टि से एक नये पदाधिकारी की सृष्टि की गई जिसे शताधिकारी कहते थे और जो प्रायः एक शत ग्रामों के हिन्दू खोतों, मुक़द्दमों, चौधरियों और मुस्लिम आमिलों तथा मुतसर्रिफों के कार्य का निरीक्षण करता था।

भूमि-व्यवस्था

भूमि-संबंधी नियमों में दोआब की कर-वृद्धि की विशेष चर्चा की गई है। बर्नी ने इसे सुलतान की क्रूरता और रक्तपिपासा का परिचायक माना है। अनेक उत्तर-कालीन इतिहास-लेखकों ने भी उसका अनुकरण करते हुए सुलतान की बहुत भर्त्सना की है। बर्नी ने घटनाक्रम को थोड़ा-बहुत तोड़-मरोड़ कर भी रखा है और आगे-पीछे की बातें मिला दी हैं। समस्त प्राप्त विवरण के अनुसंधान से विदित होता है कि सुलतान ने दोआब की भूमि की उर्वरा-शक्ति का ध्यान रखते हुए कर बढ़ाने का निश्चय किया। दोआब में कर हलके रखने पर हिन्दू नेताओं के पास धन एकत्रित होने लगता था और वे तुरंत विद्रोही होने लगते थे। इस कारण राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से वहाँ के कर हलके करना अनुचित समझा जाता था। अलाउद्दीन ने वहाँ की जनता से उपज का ½ लिया था। कुत्बुद्दीन मुबारक ने संभवतः उसे ३३% कर दिया था। ग़यासुद्दीन तुग़लक ने उसमें ९% से १०% तक वृद्धि करने की अनुमति दी थी। अस्तु, उसके समय में भूमिकर प्रायः ४०% हो गया होगा। सुलतान मुहम्मद के विचार से पूर्व-अनुभव के अनुसार अभी उसमें ५% से १०% की वृद्धि करना संभव था। अस्तु, उसने यही आदेश जारी कर दिया। बर्नी तथा हबीबुस्सियर ने १० या २० में १ की वृद्धि को एक के स्थान पर १० और २० टंक लेने की बात लिखी है।

दोआब में करवृद्धि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधारण स्थिति में इस वृद्धि के कारण कोई विशेष असंतोष न होता। परंतु उस समय अनेक छोटी-छोटी असंतोष की बातें एकत्रित हो गईं जिनके सामूहिक फलस्वरूप प्रजा का कष्ट काफी बढ़ गया और उसमें विरोध की भावना घर करने लगी। दोआब में कुछ विद्रोही प्रवृत्ति के लोग सदा ही विद्यमान रहते थे। उन्होंने इस असंतोष को और भी भड़का दिया। सुलतान ने जनता के असंतोष के कारणों की जाँच न करके उसे बल-पूर्वक दबाना चाहा। इस कारण आरंभ में स्थिति और खराब हो गई। सुलतान ने जो अन्य नये आदेश जारी किये थे उनके कारण हिन्दू अधिकारियों (खोत, मुक़द्दम) आदि में असंतोष बढ़ रहा था क्योंकि उनके लिए सरकारी रुपया खा जाना कठिन हो गया था। फिर भी वह प्रजा से कुछ अधिक वसूल करके अपना स्वार्थ सिद्ध कर सकते थे। परंतु जब सुलतान ने भूमि-कर को भी बढ़ा दिया तब उनके लिए प्रजा से अधिक वसूल कर सकना कठिन हो गया। अस्तु, स्वार्थ की दृष्टि से उन्होंने इस कर-वृद्धि का विरोध किया। संभव है उन्होंने यह भी सोचा हो कि यदि कर-वृद्धि का कुछ भी विरोध न किया गया तो शायद वह अभी और बढ़ा दिया जाय। इस वातावरण में प्रजा से वसूली का कार्य कुछ शिथिलता से किया गया होगा। उधर सरकारी वैतनिक कर्मचारियों ने अपनी जान बचाने के लिए सारा भुगतान लेने की चेष्टा की। इस कारण असंतोष और बढ़ा। उसी समय कहीं-कहीं पर वर्षा कम होने के कारण फसल खराब हो गई। इसके लिए पहले भूमि-कर में कुछ छूट दे दी जाती थी। परन्तु इस समय छूट के स्थान पर वृद्धि कर दी गई। इससे जनता बौखला गई। स्थानीय हिन्दू नेताओं ने भी उनको थोड़ा-बहुत भड़काया होगा। सरकरी कर्मचारियों ने जब अधिक कड़ाई की तब उनमें से कुछ मार डाले गये। इस पर अधिकारियों ने क्षेत्र के लोगों को दण्ड देकर बदला लेने का उद्योग किया। इसमें कहीं जनता का विरोध दब गया और कहीं विरोध इतना उग्र हो गया कि शताधिकारी तथा उनके सैनिक भी मार डाले गये। इस प्रकार की स्थिति को देखकर राजपूत सामंतों ने भी विद्रोहियों के साथ मिलकर लूट-मार शुरू कर दी और दिल्ली जाने वाले अन्न को मार्ग में ही लूट लिया। प्रजा ने समझ लिया कि इसके कारण राज्य की ओर से देर-सबेर सेना आयेगी। अस्तु, उसने बचने की दृष्टि से खेत उजाड़ दिये और जंगलों में शरण ली। वहाँ उसको अपने ढोरों को पालने में भी सुविधा थी। यह अशांति बरन से लेकर कन्नौज तक व्याप्त थी और डलमऊ के क्षेत्र में विद्रोहियों का सबसे अधिक जोर था। सुलतान ने जब यह समाचार सुना और देखा कि दोआब में कृषि बंद हो जाने तथा लूट-मार बढ़ने के कारण राजधानी में अकाल फैल रहा है तथा राजकोष एवं राज-मर्यादा को भारी क्षति हो रही है तब उसने स्वयं विद्रोहियों को दण्ड देने का निश्चय किया।

दोआब में विद्रोह और अशांति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसने जंगल में छिपे लोगों को घिरवा लिया और उनको कड़ी सजायें दीं। विद्रोहियों के नेता मार डाले गय और साधारण जनता को गाँवों में वापस जाकर खेती करने के लिए बाध्य किया गया। बर्नी ने इसी घटना को अतिरंजित करके कहा है कि सुलतान ने कर-वृद्धि एवं अकाल से त्रस्त जनता को खदेड़-खदेड़ कर इस प्रकार मारा जैसे कि वे हिंस्र पशु हों और सुलतान आखेट का आनन्द ले रहा हो। परंतु बलबन तथा अलाउद्दीन के समय में विद्रोहियों के प्रति किये गये व्यवहार से तुलना करने पर सुलतान मुहम्मद का कार्य उदारतापूर्ण प्रतीत होता है।

अकाल-पीड़ितों की सहायता और कृषि में सुधार

सुलतान के दुर्भाग्य से अकाल ने अंत तक उसका पीछा न छोड़ा। दोआब में सन् १३२६ में कर बढ़ाया गया। उसके बाद ही वहाँ अकाल पड़ा जो दो-तीन वर्ष तक चलता रहा। फिर तीन-चार वर्ष अच्छी फसल होने के पश्चात् लगभग १३३४ ई० से पुनः अकाल आरंभ हुआ जो सन् १३४१ तक बहुत भयंकर रहा। उसके बाद दक्षिण और गुजरात में अकाल पड़े। इस भांति सुलतान को अकाल के कारण बहुत असुविधा उठानी पड़ी। हम पहले देख चुके हैं कि अकाल के कारण किस प्रकार सुलतान माबर, बंगाल, विजयनगर और वारंगल के विद्रोहों को दबाने की समुचित व्यवस्था करने में असमर्थ रहा था। उसे सन् १३३७-१३४० ई० में राजधानी के अनेक लोगों तथा राजदर्बार से संबंधित व्यक्तियों को कन्नौज के पास ले जाना पड़ा था जहाँ भोजनादि की ठीक व्यवस्था होने के कारण जनता ने उस स्थान का नाम स्वर्गद्वारी रख दिया था।

सुलतान ने अकाल-पीड़ितों की रक्षा का सराहनीय उद्योग किया। उसने अकाल-ग्रस्त क्षेत्र में लगान माफ कर दिया अथवा घटा दिया। सिंचाई के लिए कुएँ खुदवाये, किसानों को ऋण देकर कृषि फिर आरंभ करने की व्यवस्था करा दी और अन्न-वितरण की व्यवस्था कराई। अनेक स्थानों पर पका हुआ भोजन भी बाँटा जाता था। जब तक संभव रहा सुलतान ने दिल्ली में अन्न एकत्रित कराके वहाँ से अन्न-वितरण की व्यवस्था कराई। परंतु जब वहाँ अन्न पहुँचना दुर्लभ होने लगा तब उसने दिल्ली के स्थान पर स्वर्गद्वारी को अस्थायी निवासस्थान बनाया और वहाँ रह कर अकाल-पीड़ितों को अधिक-से-अधिक सहायता देने की चेष्टा की। परंतु इस सब से भी विशेष लाभ नहीं हुआ और लाखों व्यक्ति भूख के मारे मर गये, दोआब की कृषि की दशा बहुत खराब हो गई और अनेक गाँव उजड़ गये।

सन् १३४१-४४ के बीच में सुलतान ने एक नयी योजना आरंभ की। उसने दोआब का एक ऊजड़ स्थान पुनर्वास के लिए चुना। यह स्थान तीस कोस लंबा था। संभव है वह उतना ही अथवा उससे कुछ कम चौड़ा रहा हो। यहाँ पर उसने कृषि मंत्री (अमीर-कोही) के अधीन १०० शिक़दार नियुक्त किये और उन्होंने वादा किया

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि वे वहाँ एक बालिश्त भूमि भी बेकार न रहने देंगे। उनको कुल मिलाकर सत्तर लाख टंक कृषि-सुधार पर व्यय करने तथा फसल को सुधारने के लिए दिये गये।

सुलतान ने उनको समुचित पारितोषिक देने का भी लालच दिया ताकि वे उस योजना की सफलता में पूरा योगदान करें तथा बंजर भूमि को भी जुतवायें। परंतु वे लोग स्वार्थी तथा लालची सिद्ध हुए और सुलतान के गुजरात तथा दक्षिण में फँसे रहने के कारण उनको अधिकांश रुपया खा जाने में कठिनाई नहीं हुई।

इस भांति हम देखते हैं कि सुलतान ने कृषि की दशा सुधारने तथा राज्य की आय बढ़ाने के जो उद्योग किये वे प्रकृति के कोप, कर्मचारियों के विश्वासघात तथा जनता के अविश्वास के कारण सफल नहीं हुए। फिर भी उसने भूख से तड़पती जनता पर तरस खाकर सरकारी कोष से करोड़ों टंक निकाल कर उसे भोजन देने की व्यवस्था की और अकाल के दुष्परिणामों को शीघ्र-से-शीघ्र समाप्त करने की चेष्टा की जो अवश्य ही स्तुत्य है।

सुलतान के अन्य महत्वपूर्ण परिवर्तन मुद्राओं के निर्माण, मूल्य, अंकन आदि से संबंध रखते हैं। उसने सभी प्रकार के मुद्राओं का रूप सुन्दर कर दिया, उन पर खोदी जानेवाली आयतों का चयन बहुत सुरुचि के साथ किया और दोकानी नामक एक नया सिक्का चलाया। उसने छोटे सिक्कों को प्रचुर मात्रा में ढलवाया जिससे जनता को किसी प्रकार का कष्ट न हो और सुवर्ण तथा चाँदी के मूल्य को ध्यान में रखते हुए स्वर्ण एवं रजत टंक की विनिमय दर को पूर्ववत् रखने के लिए स्वर्ण टंक में १७५ ग्रेन के स्थान पर २०० ग्रेन स्वर्ण कर दिया तथा चाँदी का १४० ग्रेन का टंक चलाया जिसे अदली कहते थे। बाद में यह व्यवस्था सुविधाजनक सिद्ध न होने पर उसने १३३२ ई० से फिर पूर्व परिपाटी के अनुसार १७५ ग्रेन वाले सोने-चाँदी के टंकों का ही रवाज रखा।

मुद्रा-नीति

परंतु चाँदी की कमी के कारण उसे एक अन्य प्रयोग करना पड़ा जो सर्वथा असफल सिद्ध हुआ। सन् १३३० ई० में सुलतान ने ताँबे के टंक ढलवाए और आदेश जारी किया कि उनको चाँदी के टंक के समान माना जाय। इस आदेश के निकलने पर कुछ दिन बहुत सुविधा हुई। परंतु बाद में गड़बड़ी बढ़ने लगी। प्रायः लोग यह समझने में असफल रहे कि केवल राजाज्ञा से ताँबा चाँदी के समान कैसे हो सकता है। वह सोचते थे कि ताँबा ताँबा ही रहेगा और चाँदी, चाँदी। जानबुझक्कड़ लोगों ने बताया कि यह केवल एक शाही चाल है जिसके द्वारा जनता के पास के सब चाँदी के टंक खींच कर राजकोष में भर लिये जायँगे और देश नें चलेगा यही ताँबे का टंक। इस प्रकार के मनोभावों का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि लोगों ने चाँदी के टंकों को

तांबे का सिक्का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शीघ्रातिशीघ्र भू-गर्भ में सुरक्षित कर दिया और सब काम-काज ताँबे के टंकों द्वारा होने लगा। थोड़ी बुद्धि रखने वाले सुनारों ने अपने घर में टकसाल बना लिए और उनका सबसे अधिक समय जाली सिक्के ढालने में जाने लगा। फलतः इन सिक्कों की संख्या बहुत बढ़ गई और प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा यह होने लगी कि उसे देना हो तब वह ताँबे के टंक का व्यवहार करे परंतु जब उसे लेना हो तब वह चाँदी का टंक ले अथवा सोने का। व्यापारियों ने ताँबे के टंक के बदले सामान देने से इन्कार कर दिया। इस भांति सरकार के लिए हस्तक्षेप करना आवश्यक हो गया। सुलतान ने देख लिया कि उसकी एक और प्रिय योजना असफल हो गई। अस्तु, उसने आदेश निकाला कि ताँबें का सिक्का अब नहीं चलेगा और जिन लोगों के पास ताँबे के सिक्के हों वे तुरंत राजकोष में जमा करके उनको बदल लें। दिल्ली में इन सिक्कों का एक पहाड़ लग गया परन्तु कोई समकालीन अथवा उत्तर-कालीन इतिहासकार यह लांछन नहीं लगाता कि सुलतान ने उनके बदले में चाँदी-सोने के टंक नहीं दिलवाए। इस भांति राजकोष को भयंकर क्षति हुई परंतु राज्य की साख नष्ट नहीं हुई। धीरे-धीरे लोग इस घटना को भूल गए और सार्वजनिक जीवन में जो उथल-पुथल मची थी वह शांत हो गई। इस नीति के कारण केवल सम्राट् को ही आर्थिक क्षति हुई, शेष सभी वर्गों ने खूब धन पैदा कर लिया।

सुलतान ने इस प्रकार की प्रतीक मुद्रा क्यों चलाई? इसका मूल कारण है चाँदी की कमी। चाँदी की कमी उस समय केवल भारत ही में नहीं वरन् समस्त विश्व में अनुभव की जा रही थी। इस समय से लेकर लोदियों के समय तक चाँदी के सिक्के कम मिलने का कारण चाँदी की कमी ही है। परंतु चाँदी के टंक के बिना साधारण जीवन में काफी असुविधा होती थी। इस असुविधा को कैसे दूर किया जाता? सुलतान बहुत उर्वर मस्तिष्क वाला व्यक्ति था। उसे नयी योजनाएँ चलाने का व्यसन भी था। वह चाहता था कि अपनी नूतन कृतियों द्वारा वह अपनी बुद्धिमत्ता का सिक्का जमा दे तथा अपने नाम को इतिहास में अमर कर जाय। इसलिए जब उसने देखा कि चीन और फारस में प्रतीक मुद्रा का प्रचलन है, तब उसने भारत में भी इसे चलाने का निश्चय कर लिया। कुछेक विद्वानों ने कहा है कि सुलतान ने विद्रोहों को दबाने, अकाल-पीड़ितों की सहायता करने, नयी योजनाएँ कार्यान्वित करने, नये महल बनवाने तथा मुक्त हस्त से राजकोष का धन दान करने में इतना व्यय कर दिया था कि उसे आर्थिक संकट का अनुभव होने लगा था। इस मुद्रानीति द्वारा वह उस संकट को काटना चाहता था। परंतु यदि उसको सचमुच संकट रहा होता तो वह बाद में जाली सिक्कों के बदले में भी सुवर्ण मुद्रायें किस प्रकार दे सकता? इससे यह मत ग्राह्य प्रतीत नहीं होता। कुछेक ने कहा है कि वह झक्की और अस्थिर-बुद्धि का व्यक्ति था। उसने सुना था

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि विदेशों में प्रतीक मुद्रा का चलन है। इसलिए उसने झक्क में आदेश कर दिया कि यहाँ पर भी उसका चलन हो। परंतु इस मत को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि झक्की-पन का अपरिहार्य प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया जा सका है।

आज के युग में प्रतीक मुद्रा को सभी प्रगतिशील राष्ट्रों ने अपनाया है और अर्थ-शास्त्र के विद्वानों ने उसकी उपादेयता को स्वीकार किया है। परंतु १४वीं सदी के भारत में प्रतीक मुद्रा का सफल होना कठिन था। आजकल भी बहुत से लोग कहते सुने जाते हैं कि रुपया अब कहाँ है। रुपए के बदले में बस कागज मिलता है या लोहा। दूसरे, प्रतीक मुद्रा की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उसका अनुकरण करके नागरिकों द्वारा उसका ढालना अत्यंत कठिन होना चाहिए। मुहम्मद बिन तुग़लक ने इस पहलू पर पर्याप्त विचार किये बिना ही इस योजना को कार्यान्वित करने में भूल की। यदि जाली सिक्का ढालने वालों का पता लगाने और उनको कड़े दण्ड देने की व्यवस्था होती तो संभवतः यह योजना इतना शीघ्र अव्यवहार्य सिद्ध न होती।

सुलतान की न्यायप्रियता की सभी इतिहासकारों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। उसने न्यायविभाग के कार्य में विशेष अभिरुचि प्रदर्शित की। उसने उलमावर्ग के बाहर के लोगों को भी न्याय-विभाग में नियुक्त किया और वह स्वयं सप्ताह में दो बार प्रति सोमवार और गुरुवार को केवल न्याय करने के लिए दर्बार करता था। उसने राजधानी में न्याय की विशेष व्यवस्था की। दीवानखाना के चारों फाटकों पर एक अमीर तैनात रहता था जो जनता की फ़रियाद सुनता था। यदि उनमें से कोई भी किसी व्यक्ति की बात न सुने तो वह व्यक्ति सद्रेजहाँ (प्रधान न्यायधीश) के पास जा सकता था और वहाँ पर भी निराश होने पर सीधे सुलतान के पास जा सकता था। सुलतान ने अपने भाई मुबारक खाँ को मीरदाद नियुक्त किया और उसको उन बड़े-बड़े अमीरों और राजकर्मचारियों को न्यायालय में उपस्थित करने का भार दिया जो सामान्यतः क़ाज़ी को धमका कर अदण्डित बच जाते थे। सुलतान ने सभी व्यक्तियों पर एक समान नियम लगाया और वह सैय्यद तथा उल्मा को भी अपराध करने पर कड़ा दण्ड देने में हिचकता नहीं था। वह अपने विरुद्ध भी मुकदमा चलाने की अनुमति देता था। एक बार शेखज़ादा जामी ने सुलतान को 'अत्याचारी' कहा। सुलतान ने तुरंत यह मामला क़ाज़ी के सिपुर्द कर दिया और शेखज़ादा को आदेश दिया कि वह अपने मत को प्रमाणित करे। परंतु जब शेखज़ादा केवल वही बात दोहराता रहा और उसके पक्ष में कोई प्रमाण नहीं दिया तब वह लोहे के पिंजड़े में बंद कर दिया गया और बाद में राजद्रोह के अपराध पर उसे मृत्युदण्ड दिया गया। जिन लोगों को मृत्युदण्ड दिया जाता था उनको जल्लाद

सुलतान के अन्य सुधार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के पास भेजने के पूर्व सुलतान राजमहल में रहनेवाले मुफ्तियों से तर्क करता था। यदि वह मुफ्तियों के तर्क से प्रभावित हो जाता था तो अभियुक्त छोड़ दिया जाता था। परंतु यदि मुफ्ती सुलतान द्वारा लगाये अभियोगों का संतोषजनक उत्तर न दे पाते थे तो उसे मृत्यु-दण्ड दे दिया जाता था। इस भांति वह न्याय में बड़ी सतर्कता बरतने की चेष्टा करता था।

परंतु एक बार अपराध सिद्ध होने पर बहुत कड़ा दण्ड दिया जाता था और उस समय किसी की जाति, वर्ग आदि का ध्यान नहीं रखा जाता था। लोगों की खाल खिचवाना, आँख निकलवा लेना, नाक-कान, हाथ-पैर कटवा देना इस समय के सामान्य दण्ड थे। बहुधा यातनायें देकर अपराध की स्वीकृति करा ली जाती थी। मृत व्यक्तियों के शिर अथवा भूसा-भरी हुई खालें अक्सर स्थानों में लटकती दिखाई पड़ती थीं। इससे दण्ड-विधान की कठोरता एवं वीभत्सता प्रकट होती है।

सुलतान का दान-विभाग प्रतिवर्ष करोड़ों रुपया व्यय करता था। सुलतान को किसी बात में इतना सुख नहीं मिलता था जितना दीन-दुखियों का कष्ट निवारण करने के लिए दान देने में। परंतु, जैसा कि प्रायः होता है, सुलतान की इस प्रवृत्ति से लोगों ने अनुचित लाभ उठाया और अपने कष्ट की मनगढ़ंत कहानियाँ कहकर उससे बहुत धन प्राप्त किया।

सुलतान ने डाक-चौकियों, पुलिस, गुप्तचर, सेना आदि में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया और अलाउद्दीन के समय के नियमों को चलने दिया। सामाजिक क्षेत्र में भी उसने नैतिक आचरण की रक्षा के लिए प्रायः उन्हीं साधनों का उपयोग किया जो अलाउद्दीन एवं ग़यासुद्दीन के समय में अपनाये गये थे।

सुलतान मुहम्मद बिन तुग़लक के राज्य-काल की घटनाओं का जो विवरण प्रस्तुत किया गया है उसके आधार पर यह सहज ही कहा जा सकता है कि मध्ययुगीन इतिहास में उसका एक विशिष्ट स्थान है। सुलतान मुहम्मद का व्यक्तित्व अनेक दृष्टियों से आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक प्रतीत होता है। उसके समान विद्वान् शासक उस समय तक दिल्ली के सिंहासन पर आरूढ़ नहीं हुआ था। वह फारसी साहित्य का प्रकाण्ड विद्वान्, सुरुचिपूर्ण साहित्यकार, मार्मिक आलोचक तथा ओजस्वी वक्ता था। अरबी भाषा और साहित्य का भी उसे ज्ञान था तथा उसने धार्मिक साहित्य का गहन अध्ययन किया था। उसे दर्शन तथा संबंधित शास्त्रों में विशेष रुचि थी और उसने उनका व्यापक दृष्टि से सत्यान्वेषक की स्वतंत्र बुद्धि लेकर अनुशीलन किया था। इसके साथ ही उसे भौतिक, रासायनिक तथा आयुर्वेदिक विज्ञानों में भी रुचि थी और उसने तर्क-शास्त्र, गणित, ज्योतिष आदि शुद्ध बौद्धिक शास्त्रों में पर्याप्त ख्याति लाभ की थी। इस बहुमुखी प्रतिभा के कारण लोग उसे अपने समय

मुहम्मद बिन तुगलक का व्यक्तित्व

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का अरस्तू कहते थे। विद्याव्यसन के साथ-साथ उसमें उच्चकोटि को कर्मठता विद्यमान थी और वह सैनिक तथा प्रशासकीय क्षेत्रों में सुलतान पद पाने के पूर्व ही विख्यात हो चुका था। मृत्यु समय तक भी उसने जिस उत्साह और तत्परता के साथ तग़ी का पीछा किया उससे विदित होता है कि उसमें कितना अध्यवसाय था और उसका शरीर कितना पुष्ट था। उसकी न्याय-प्रियता तथा उदारता की कहानियाँ विदेशों तक फैल गई थीं और उसके आत्मविश्वास तथा शौर्य में किसी को संदेह नहीं था। व्यक्तिगत जीवन में वह एक आस्थावान मुसलमान था जो अपने धर्म के नियमों का पालन करता था। परंतु उन नियमों को वह अपनी बुद्धि के काँट पर तौलकर मानने का अभ्यस्त था न कि पुरोहित वर्ग द्वारा दी गई रूढ़िगत व्यवस्था के अनुसार। उसके धार्मिक सिद्धान्तों का अन्यत्र विश्लेषण किया जा चुका है और हम देख चुके हैं कि उनके कारण किस प्रकार असंतोष की वृद्धि हुई थी। उसका नैतिक आचरण अनुकरणीय था और संभवतः उसने एक से अधिक विवाह नहीं किया। इस सभी दृष्टियों से वह प्रशंसा का पात्र है। परंतु उसमें दोष भी थे। उसमें विद्या के कारण विनय के स्थान पर अहंकार का प्राधान्य था और वह समझता था कि यदि कोई उसे वाग्युद्ध में पराजित न कर सके तो उसका मत उपेक्षणीय तथा भ्रांतिपूर्ण है। अधिक विद्या ने उसे कुछ हद तक आवश्यकता से अधिक आदर्शवादी बना दिया था और वह विचार-क्षेत्र में अनंत सुन्दर सुकोमल योजनाओं का सृजन करता रहता था जो व्यवहार-क्षेत्र की कठिन भूमि में आते ही कुंठित, संकुचित तथा अनुपयुक्त हो जाती थीं। वह नूतनता का ऐसा पुजारी था कि व्यवहारिकता की उपेक्षा करके कार्यारम्भ कर देता था। उसे अपनी बुद्धिमता का ऐसा दम्भ था कि वह किसी निर्णय पर पहुँचते ही उसे तुरंत कार्यान्वित करने के लिए उतावला हो उठता था तथा दूसरे अनुभवी व्यक्तियों से परामर्श करना अनावश्यक समझता था। इस उतावलेपन के कारण उसे बहुत क्षति उठानी पड़ी। उसमें हठ की भी मात्रा कम नहीं थी। गलती का अनुभव होने पर भी वह समय से उसे न सुधार कर हठ के साथ उसी दिशा में चलता रहता था। वह जानता था कि कठोर दण्डों से असंतोष बढ़ रहा है, उलमा के तिरस्कार से विष-वमन हो रहा है, विदेशियों पर कृपा करने से राज्य का संतुलन बिगड़ रहा है, परंतु उसने समय रहते किसी भी दिशा में मत-परिवर्तन नहीं किया। जब ज़ियाउद्दीन बर्नी से उसने विद्रोहों के कारण तथा उनके शमन के उपायों के विषय में चर्चा की तब उसने पिछले सम्राटों की नीति के विषय में जिज्ञासा करने के बाद अपना निर्णय यही बताया कि जब तक प्रजा विद्रोह बंद नहीं करती तब वह अपनी नीति में कोई परिवर्तन नहीं करेगा। परंतु विद्रोह शांत करने के बाद वह फ़ीरोज़, मलिक कबीर तथा ख्वाजाजहाँ को राज्य-भार सौंप कर अवकाश ग्रहण करेगा। इससे सुलतान के हठी स्वभाव का परिचय मिलता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसमें अध्यवसाय तथा लगन की भी कमी थी और जब इस दोष के साथ अदूर-दर्शिता की पुट मिल जाती थी तब परिणाम और भी भयंकर होता था। उसने माबर के विरुद्ध कोई दूसरी सेना नहीं भेजी, शताधिकारियों का दौलताबाद पर अधिकार होने पर वह उनको बिना पूर्णतया नष्ट किये गुजरात की ओर चल पड़ा जिसके कारण न वह दक्षिण को साम्राज्य से बाहर जाने से रोक सका और न वह तग़ी को ही परास्त कर सका। उसमें मनुष्यों को परखने की शक्ति थी, परंतु उच्च कोटि की नहीं। इस कारण उसने अनेक ऐसे कर्मचारी नियुक्त कर दिये जिन्होंने उसके साम्राज्य की जड़ खोदने में कोई कसर उठा नहीं रखी। अस्तु, इस बात को निःसंकोच स्वीकार करते हुए कि सुलतान मुहम्मद ने अपनी विद्वत्ता, प्रगल्भता, ओजस्विता, प्रतिभा, एवं वाक्पटुता से अपने समकालीन व्यक्तियों को अवश्य आश्चर्यचकित कर दिया होगा, इस तथ्य से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि उसके चरित्र में अनेक ऐसे दोष थे जिनके कारण वह सफल शासक नहीं हो सकता था और इन दोषों ने उसकी असफलता में निश्चय ही काफी योग दिया। एक विद्वान् ने तो उसे इस्लामी जगत का विद्वानतम मूर्ख तक कह डाला है और उसकी नीति में इँगलैण्ड के शासक जेम्स की नीति से बहुत सादृश्य लक्षित किया है।

इतना होने पर भी यह कहने का कोई युक्तियुक्त आधार नहीं है कि सुलतान सिड़ी, अस्थिर बुद्धि, पागल अथवा विरोधी गुणों से युक्त था। किसी भी समकालीन इतिहासकार ने उसे सिड़ी, पागल अथवा अस्थिर बुद्धि वाला नहीं बताया है। सभी ने उसकी गणना संसार के महान् शासकों में की है। उसने २६ वर्ष तक जिस ढंग से शासन-संचालन किया उससे भी यही विदित होता है कि उसमें यह दोष नहीं थे। इब्नबतूता ने उसे विरोधी गुणों वाला अवश्य बताया है परन्तु यदि कोई व्यक्ति किसी भी बड़े आदमी की दिनचर्या की छानबीन करके विरोधी बातों को एक साथ दिखाना चाहे तो उसे इसमें सफलता मिल सकती है। सुलतान एक ही समय में विरोधी बातें नहीं करता था। वह न्याय करते समय पूर्णतया पक्षपातरहित होने की चेष्टा करता था और दण्ड देते समय पूर्णतया निष्ठुर क्योंकि उस समय कठोर दण्ड देने की परिपाटी का ही चलन था। इसी भांति वह व्यक्तिगत जीवन में धर्मानुयायी था परंतु धर्म के ठेकेदारों के अपराधों की उपेक्षा नहीं करता था। यह बातें वास्तविक विरोध के उचित उदाहरण नहीं हैं। इस भांति दोआब में कर-वृद्धि, राजधानी-परिवर्तन, प्रतीक मुद्रा-प्रचलन, विदेश-विजय आदि कार्य ऐसे नहीं हैं जिनके आधार पर सुलतान को कोई भी पक्षपातरहित व्यक्ति पागल कहने की धृष्टता करे।

सुलतान के कार्य के विषय में भी एकमत नहीं है। कुछ लोगों ने उसके समस्त राज्यकाल को ही असफल घोषित कर दिया है। परंतु ऐसा कहना भी बहुत उचित

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है। यह सच है कि उसने जितना विशाल साम्राज्य विरासत में पाया था उसका प्रायः आधा ही वह अपने उत्तराधिकारी के लिए छोड़ सका और उस आधे भाग में भी घोर अशांति व्याप्त थी। परंतु उसके सभी कार्य सर्वथा असफल एवं अहितकर नहीं थे। सैनिक क्षेत्र में उसने नगरकोट, हिमाचल तथा डलमऊ को पहले पहल जीतकर सल्तनत के अधीन बनाया और यह स्थान उसके उत्तराधिकारी के लिए भी हितकर थे क्योंकि उनके द्वारा उत्तरी सीमा सुरक्षित होती थी। उसने विद्रोहों को दबाने में असफलता पाई परंतु केवल वहीं जहाँ वह किसी कारण जाने में असमर्थ रहा। गुर्शस्प, किशलू ख़ाँ तथा ऐनुल्मुल्क के बड़े भयंकर विद्रोह थे। पर सुलतान ने इन तीनों को ही सफलता-पूर्वक शांत किया। माबर और बंगाल वह अकाल तथा महामारी के कारण नहीं जा सका, दौलताबाद का विद्रोह उसने प्रायः शांत ही कर दिया था। यदि वह गुजरात न जाता तो वह विद्रोह निश्चय ही दब जाता। इसी भांति तग़ी भी अपनी अंतिम घड़ियाँ गिन रहा था और उसकी पराजय निश्चित थी। परंतु उसी समय वह मर गया। अस्तु, उसकी सैनिक असफलता का वास्तविक कारण उसकी व्यक्तिगत अयोग्यता नहीं अपितु साम्राज्य का अत्यधिक विस्तार, आवागमन के साधनों की आपेक्षिक गतिहीनता, योग्य सेनापतियों का अभाव तथा अकाल और महामारी का असामयिक प्रकोप था। उसका साम्राज्य टूटा और यह कार्य दक्षिण से ही आरंभ हुआ। परंतु दक्षिण-नीति का पूर्ण दायित्व केवल उसके ऊपर नहीं है। उसके समय में जो विद्रोह हुए उनमें उसकी शासन-सुधार-योजनाओं का भी प्रभाव पड़ा। परंतु सभी शासन-संबंधी योजनाएँ असफल नहीं रहीं। प्रारंभिक वर्षों में नयी व्यवस्था इतनी सफल रही कि बर्नी भी स्वीकार करता है कि साम्राज्य के कोने-कोने से नियमानुसार समय के भीतर राजकर आते थे और किसी का साहस नहीं था कि राजाज्ञाओं की अवहेलना करे। केन्द्रीय शासन का उसने जो विस्तार किया वह भी हितकर ही था। न्याय-विभाग के सुधार की सभी ने प्रशंसा की है। अकाल-पीड़ितों की सहायता, कृषि की उन्नति के प्रयत्न, हिन्दुओं को ऊँची नौकरियाँ देना, धर्म-निरपेक्षता को बढ़ाना, दीन-दुखियों की सहायता करना किसी भी संदर्भ में असफल अथवा अहितकर नहीं सिद्ध किये जा सकते। सुलतान की मुद्रानीति इतनी विशद, व्यापक तथा सुरुचिपूर्ण है कि उसके आधार पर उसे भूरि-भूरि प्रशंसा प्राप्त हुई है। अस्तु, यह प्रकट है कि सुलतान का शासन-प्रबंध कई दिशाओं में श्लाघनीय एवं स्तुत्य है। परंतु उसका दुर्भाग्य है कि उसकी असफलताओं का वर्नी ने ऐसा अतिरंजित वर्णन किया है और स्थान-स्थान पर ऐसी कटूक्तियाँ की हैं कि उनके कारण उसके लोकहितकारी कार्यों पर भी पर्दा पड़ गया है। इतिहास के विद्यार्थियों को संतुलित दृष्टिकोण से उसके कार्य की समीक्षा करनी चाहिए। यह कहना कठिन है कि सुलतान एक महान् अथवा दूरदर्शी राजनीतिज्ञ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। उसकी भूलें, उसकी असफलताएँ तथा उसकी योजनाओं का अधकचरापन हमें ऐसा कहने से रोकता है। यह भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि वह एक 'भाग्यहीन आदर्शवादी' था जिसे विशेष दोष न रहने पर भी दैव-दुर्विपाक के कारण असफल होना पड़ा क्योंकि संसार में जिस किसी भी व्यक्ति ने महानता प्राप्त की है उसने नियति के विरुद्ध युद्ध करके भाग्यचक्र को अपने पक्ष में मोड़कर अथवा परिस्थिति के अनुसार अपने को मोड़कर प्राप्त की है। मुहम्मद बिन तुग़लक इस कोटि का महान व्यक्ति नहीं था। फिर भी उसने जो कुछ किया अथवा करना चाहा उसके आधार पर उसे दिल्ली के सुलतानों में एक सम्मानित स्थान प्राप्त रहेगा।

सहायक ग्रन्थ

१. ईश्वरी प्रसाद—क़रौना टर्क्स।

२. मेहदी हुसेन—दी राइज़ ऐण्ड फाल आफ मुहम्मद-बिन तुग़लक।

३. रामप्रसाद त्रिपाठी—सम ऐस्पेक्ट्स आफ मुस्लिम ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृष्ठ ५५-६३: २७४-२८२।

४. इलयिट और डासन—भाग ३।

५. क़ुरेशी—ऐडमिनिस्ट्रेशन आफ दी सल्तनत आफ डेल्ही।

६. हेग—कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग ३, पृष्ठ १२७-१७२।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खण्ड ४

तुर्की सल्तनत का पतन और अंत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। उसकी भूलें, उसकी असफलताएँ तथा उसकी योजनाओं का अधकचरापन हमें ऐसा कहने से रोकता है। यह भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि वह एक 'भाग्यहीन आदर्शवादी' था जिसे विशेष दोष न रहने पर भी दैव-दुर्विपाक के कारण असफल होना पड़ा क्योंकि संसार में जिस किसी भी व्यक्ति ने महानता प्राप्त की है उसने नियति के विरुद्ध युद्ध करके भाग्यचक्र को अपने पक्ष में मोड़कर अथवा परिस्थिति के अनुसार अपने को मोड़कर प्राप्त की है। मुहम्मद बिन तुग़लक इस कोटि का महान व्यक्ति नहीं था। फिर भी उसने जो कुछ किया अथवा करना चाहा उसके आधार पर उसे दिल्ली के सुलतानों में एक सम्मानित स्थान प्राप्त रहेगा।

सहायक ग्रन्थ

१. ईश्वरी प्रसाद—क़रौना टर्क्स।

२. मेहदी हुसेन—दी राइज़ ऐण्ड फाल आफ मुहम्मद बिन तुग़लक।

३. रामप्रसाद त्रिपाठी—सम ऐस्पेक्ट्स आफ मुस्लिम ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृष्ठ ५५-६३: २७४-२८२।

४. इलयिट और डासन—भाग ३।

५. क़ुरेशी—ऐडमिनिस्ट्रेशन आफ दी सल्तनत आफ डेल्ही।

६. हेग—कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग ३, पृष्ठ १२७-१७२।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खण्ड ४

तुर्की सल्तनत का पतन और अंत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

११

सुलतान फ़ीरोज तुग़लक और उसके उत्तराधिकारी

सुलतान मुहम्मद की मृत्यु अचानक हुई थी। सन् १३४५ में जब उसने राज्य-त्याग करने की बात कही थी तब उसने फ़ीरोज़, मलिक कबीर और ख्वाजा जहाँ को राजशक्ति सौंपने की बात कही थी। सुलतान मुहम्मद का सचमुच क्या उद्देश्य था यह स्पष्ट नहीं है। वह अवकाश ग्रहण करके एक संरक्षक समिति को शासन-अधिकार देने परन्तु अपना नाम-मात्र का अधिकार बनाये रखने की व्यवस्था कर रहा था अथवा वह अपने पुत्र के पक्ष में राज्यत्याग करके उसकी अल्पवयस्कता के कारण एक संरक्षक समिति का विधान बना रहा था अथवा वह राज्यत्याग करके इस समिति को स्थायी रूप से अधिकार देना चाहता था? बर्नी ने इस विषय पर कोई प्रकाश नहीं डाला परन्तु इस बात से इतना स्पष्ट हो जाता है कि सुलतान मुहम्मद अपने उत्तराधिकारी के सम्बन्ध में फ़ीरोज़ को विचाराधीन रखता था। बदायूँनी लिखता है कि फ़ीरोज़ के आचरण तथा व्यवहार से उलमा-वर्ग प्रसन्न था। उसने अपने भाई के राज्यकाल में अपनी शासन-सम्बन्धी योग्यता का भी पर्याप्त परिचय दिया था। अस्तु १३५०-५१ ई० में उलमा ने फ़ीरोज़ को गद्दी पर बिठाने एवं मुहम्मद को राज्य-च्युत करने का षड्यन्त्र किया। परन्तु सुलतान को इसका पता चल गया और उसने फ़ीरोज़ तथा संबंधित उलमा को ठट्टा के पास उसके सैनिक पड़ाव में उपस्थित होने का आदेश दिया। इसके पूर्व कि उनके विषय में कोई कार्य किया जाय, सुलतान मर गया।

उत्तराधिकार का प्रश्न

अस्तु, उत्तराधिकार का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। सुलतान मुहम्मद ने जिन तीन व्यक्तियों को शासन सौंपने की बात सन् १३४५ में कही थी, उनमें से कबीर खां मर चुका था, ख्वाजा जहाँ दिल्ली में था और केवल फ़ीरोज़ सेना के समक्ष उपस्थित था। कहते हैं कि मृत्यु के पूर्व सुलतान ने फ़ीरोज़ को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर दिया था। परन्तु यदि यह सच भी हो, तो भी ऐसा प्रतीत होता है कि यह वसीयतनामा लिखित नहीं था क्योंकि बाद में ख्वाजा जहाँ अथवा खुदावन्दज़ादा को यह दिखाया नहीं गया। केवल इसका उल्लेख किया गया। स्थिति यह थी कि सेना शत्रु के देश में पड़ी थी। मंगोल सैनिक थोड़ी ही दूर पर थे। अनिश्चित उत्तराधिकार के कारण मुस्लिम राज्यों में स्वाभाविक गति से अव्यवस्था फैलने लगती है। देश में विद्रोह की आग पहले से ही सुलग रही थी। ऐसी दशा में किसी-न-किसी ऐसे व्यक्ति को तुरन्त उत्तराधिकारी निश्चित करना आवश्यक था जो सेना को नियंत्रण में रख सके और शासन का भार उठाने की क्षमता रखता हो। वह व्यक्ति सैनिक पड़ाव के निकट ही उपलब्ध होना चाहिए ताकि उसे तुरन्त राज्य-भार दिया जा सके। उस समय तक यह परिपाटी भी प्रायः दृढ़ हो चुकी थी कि यथासंभव उत्तराधिकारी का निर्वाचन पिछले राजा के वंश से ही करना चाहिए। इन दृष्टियों से केवल दो व्यक्ति विचारणीय थे। एक था फ़ीरोज़ जो सुलतान के सगे चाचा का लड़का था, जिस पर सुलतान की बराबर कृपा रही थी और जिसे शासन-संचालन का भी अनुभव था। दूसरा व्यक्ति था सुलतान मुहम्मद का भानजा और सुलतान ग़यासुद्दीन का नवासा, खुदावंदज़ादा का पुत्र। यह व्यक्ति वयस्क होने के अतिरिक्त सुलतान मुहम्मद का निकटतर सम्बन्धी था। परन्तु उसे शासन का अनुभव नहीं था और न उसकी योग्यता का ही कुछ निश्चित प्रमाण मिला था। यदि कुछ प्रमाण था तो इसी बात का कि वह आलस्य और आनन्द का जीवन बिता कर सन्तुष्ट था। इन दोनों व्यक्तियों में फ़ीरोज़ निश्चय ही कहीं अधिक उपयुक्त था। सेना के सर्दारों तथा उलमा ने जब उत्तराधिकारी का निर्वाचन करने के लिए सभा की, तब शेख नासिरुद्दीन अवधी, चिराग़-ए-देहलवी ने फ़ीरोज़ का नाम प्रस्तावित किया। खलीफ़ा अलमुस्तंसिर बिल्ला के वंशधर ग़यासुद्दीन ने इसका अनुमोदन किया। निर्वाचन-समिति ने काफी विचार-विमर्श के बाद इसी प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और फ़ीरोज़ को उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। इस निर्वाचन को अधिक पुष्ट करने के उद्देश्य से उन्होंने यह भी कहा कि सुलतान मुहम्मद ने अपने अंतिम वसीयतनामा में फ़ीरोज़ को ही उत्तराधिकारी नियुक्त किया था।

इस निर्णय का पता चलते ही खुदावंदज़ादा ने इसका विरोध किया और कहा कि उसके पुत्र का अधिकार कहीं अधिक प्रबल है। परन्तु सेनापतियों और अमीरों ने उसके वंशगत अधिकार की चर्चा न करके यह उत्तर दिया कि वह राजपद के लिए अनुपयुक्त था और उनका विश्वास है कि जो निर्णय किया गया है वही उनकी रक्षा का एकमात्र साधन है। इस भांति छावनी में फ़ीरोज़ का अधिकार निश्चित रूप से स्वीकृत हो गया। उससे जब पहले यह बात बताई गई तो उसने राज्य-भार लेने के प्रति अनिच्छा और धार्मिक जीवन बिताने की आकांक्षा प्रकट की। परन्तु जब उलमा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने उससे कहा कि जनहित की दृष्टि से उसका यह कर्त्तव्य है कि वह इसको वहन करे और ईश्वर ने उस पर जो दायित्व डाला है उसका निर्वाह करे, तब वह प्रकटतः अनिच्छापूर्वक उनके अनुरोध की रक्षा करने के लिए राजपद स्वीकार करने पर सहमत हो गया।

अब फ़ीरोज़ ने दिल्ली के लिए प्रस्थान किया। वह सिंध की सीमा तक ही पहुँचा था कि उसे ख्वाजा जहाँ द्वारा भेजा हुआ एक पत्र मिला। उस पत्र को लाने वाला दल उलमा का था। उस पत्र में लिखा था कि ख्वाजा जहाँ ने सुलतान की मृत्यु का समाचार पाकर उसके पुत्र को गद्दी पर बिठा दिया है और वह आशा करता है कि फ़ीरोज़ उसके संरक्षक का पद स्वीकार करके साम्राज्य की व्यवस्था को दृढ़ करने में सहायक होगा।

इस पत्र ने एक नयी उलझन पैदा कर दी। फ़ीरोज़ ने वह पत्र अमीरों और उलमा के पास भेज दिया। अमीरों ने कहा कि सुलतान मुहम्मद के कोई पुत्र था ही नहीं। इसलिए जो निर्णय हो चुका है वही ठीक है। उलमा ने कहा कि जिस लड़के को ख्वाजा जहाँ ने गद्दी पर बिठाया है वह अल्पवयस्क होने के कारण नियमतः राज-पद के लिए अनुपयुक्त है। साथ ही पूर्व निश्चय बदलने के लिए जिन दशाओं का वर्णन विधान-पण्डितों ने किया है उनका भी अभाव है। इस कारण फ़ीरोज़ को जो भार दिया गया है उसे वह वहन करता रहे। इस भांति दोनों ही वर्ग के लोगों ने तथा-कथित मुहम्मद तुग़लक के पुत्र के अधिकार को अस्वीकृत कर दिया और फ़ीरोज़ अबाध रूप से दिल्ली की ओर बढ़ता गया। ख्वाजा जहाँ ने भी आगे आकर उसका स्वागत किया और अपनी भूल के लिए क्षमा माँगी। इस भांति फ़ीरोज़ को राजधानी में भी सुलतान स्वीकार कर लिया गया और वह बालक हटा दिया गया। बाद में वह मार डाला गया या मर गया।

सर वुल्ज़ले हेग ने कहा है कि फ़ीरोज़ ने जान-बूझ कर अपने बड़े भाई के बेटे का हक़ मारा और बलपूर्वक अवैध ढंग से शासनाधिकार प्राप्त किया। हेग के मतानुसार जो बालक गद्दी पर बिठाया गया था वह वास्तव में सुलतान का पुत्र था। परंतु डाक्टर ईश्वरीप्रसाद ने उस बालक को मुहम्मद का पुत्र मानने में अनेक कठिनाइयाँ दर्शायी हैं। वह कहते हैं कि यदि सुलतान के कोई पुत्र होता तो तत्कालीन इतिहासकार उसके जन्म की चर्चा करते, खुदावंदज़ादा अपने बेटे की बजाय उसी के पक्ष का समर्थन करती, फ़ीरोज़ यह न पूछता कि सुलतान के कोई बेटा है या नहीं, सर्दार यह न कहते कि सुलतान के कोई पुत्र नहीं है और फ़ीरोज़ स्वयं उसका अधिकार छीनने को राज़ी न होता। परंतु ख्वाजा जहाँ राजधानी में ही रहकर किसी नकली व्यक्ति को सुलतान का बेटा कहकर किस प्रकार गद्दी पर बिठा सकता था? यदि उसका उद्देश्य फ़ीरोज़ के स्थान पर स्वयं शक्ति प्राप्त करने का होता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो वह फ़ीरोज़ को संरक्षक होने के लिए क्यों आमंत्रित करता ? इससे संदेह होता है कि जैसा फ़रिश्ता और बदायूँनी कहते हैं सुलतान के पुत्र था। डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी का भी मत है कि मुहम्मद तुग़लक का पुत्र ही दिल्ली में गद्दी पर बिठाया गया था। यह स्वीकार कर लेने पर परंपरा की दृष्टि से फ़ीरोज़ ने अवश्य ही राज्य पर बलात् अधिकार किया परन्तु इस्लामी सिद्धान्त के अनुसार उसका निर्वाचन पूर्णतया वैध तथा लोकहित में था और इसलिए उसे किसी का हक़ छीनने वाला नहीं कहा जा सकता।

फ़ीरोज़ ने अपने व्यक्तिगत चरित्र एवं शासनाधिकार प्राप्त करने की दशाओं का ध्यान रखकर अपने उद्देश्य स्थिर किये। राज्य को विनाश से बचाने के लिए उससे शासन-सत्ता लेने के लिए कहा गया था। अस्तु, वह समझता था कि वह खुदा के बंदों का संरक्षक है। इसलिए वह लोकहित-रंजन में सहायक सभी कार्य करना चाहता था। फ़ीरोज़ एक धार्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति था और वह राज्य की चिन्ताओं को वहन करने की अपेक्षा मक्का में अथवा साधु-संन्यासियों की संगति में जीवन-यापन करना अधिक पसंद करता। अस्तु, उसने जनहितरंजन के वे ही साधन अपनाये जो भगवान के निर्देशों के अनुकूल हों। सौभाग्य से क़ुरान में वे सभी निर्देश संकलित थे। फ़ीरोज़ उन्हीं को मानकर चलने का इच्छुक था और उनके अर्थ तथा अभिप्राय के विषय में वह उन लोगों का मत स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत था जिन्होंने क़ुरान और हदीस के अनुशीलन में ही अपना सारा जीवन लगा दिया था। इस भांति फ़ीरोज़ के समय में धर्मनिरपेक्षता के स्थान पर धर्मप्रधान राज्य की ओर स्वाभाविक गति हुई। फ़ीरोज़ अपनी धर्मभीरुता के कारण राज्य में उलमा की प्रधानता बढ़ाने के लिए तत्पर हो गया।

फ़ीरोज़ के उद्देश्य

फ़ीरोज़ ने अपने पूर्ववर्त्ती शासक के समय की घटनाओं का जो अनुभव प्राप्त किया था उसके कारण उसने यह स्थिर किया कि वह यथासाध्य उन भूलों से बचकर चलेगा जिनके कारण पिछले शासन-काल में इतनी अशान्ति बढ़ी थी। वह यथासंभव संतप्त एवं असंतुष्ट व्यक्तियों को प्रसन्न करके पिछले सुलतान की आत्मा को शान्ति देना चाहता था। वह यह भी समझता था कि जनता के कष्टों को दूर करने के लिए उसकी आर्थिक अवस्था का सुधार परमावश्यक है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये आंतरिक शान्ति एवं व्यवस्था की नितांत आवश्यकता है।

एक मुसलमान शासक का कर्त्तव्य है कि वह मुस्लिम अनधिकृत क्षेत्र को इस्लामी शासन के अंतर्गत लाये। साथ ही उस समय की विद्रोहात्मक स्थिति के कारण भी कुछ युद्ध करने अनिवार्य थे। परंतु फ़ीरोज़ सैनिक विजयों के लिए उपयुक्त पात्र नहीं था। इसलिए उसने अनिवार्य युद्ध ही किये और अपनीशे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्ति शान्तिकालीन विजयों में लगाई। इसी कारण उसके समय में शासन-सुधार की ओर विशेष ध्यान दिया गया। युद्ध द्वारा आर्थिक लाभ उठाना फ़ीरोज़ के लिए संभव नहीं था। इसलिये उसने ऐसी नीति अपनायी जिससे प्रजा की दशा सुधरने के साथ-साथ राज्य की भी श्रीवृद्धि हो।

यद्यपि फ़ीरोज़ को बहुसंख्यक अमीरों, उलमा, संतों, सैनिकों तथा राजकर्मचारियों का समर्थन प्राप्त था तो भी उसकी कठिनाइयाँ कम नहीं थीं। ख्वाजा जहाँ के कार्य के कारण उसका राज्यारोहण सर्व-सम्मति के आधार पर नहीं हो सकता था और उस बालक के कारण भविष्य में भी कठिनाई हो सकती थी। मुहम्मद के भाग्नेय की ओर से भी उसे विरोध की आशंका थी। यह उसकी प्रथम समस्या थी। अपने अधिकार को निष्कण्टक बनाये बिना कोई भी अन्य कार्य आत्म-विश्वास और सफलता के साथ करना दुष्कर था। दूसरे, देश की प्रायः समस्त जनता असंतुष्ट थी और घोर आर्थिक संकट से त्रस्त थी। इस स्थिति को यदि शीघ्र न सुधारा गया तो साम्राज्य का अवशेष भाग भी भूसात् हो जायगा। उसकी जड़ बुरी तरह हिल चुकी थी और उसका कुछ भाग ढह भी चुका था। यह उसकी दूसरी कठिन समस्या थी। तीसरे राजकोष प्रायः रिक्त था। सुलतान मुहम्मद की अपव्ययिता, उसकी योजनाओं की असफलता, शासन की वर्द्धमान विशृंखलता एवं अकाल तथा अशान्ति के कारण पूर्व-संचित धन प्रायः समाप्त हो गया था। ख्वाजा जहाँ ने बालक सुलतान के राज्यारोहण के समय दिल्लीवासियों को बहुत धन बाँटा था। इससे जो कुछ बचा था वह भी समाप्त हो गया। अस्तु, फ़ीरोज़ की तीसरी विशेष समस्या थी आर्थिक स्थिति को ठीक करना। सुलतान मुहम्मद की नीति के कारण राज्य के अमीर भी काफी असंतुष्ट थे। उनको फिर से राजभक्त बनाना था। उलमा वर्ग मुहम्मद के समय में राजसत्ता का विरोधी हो गया था। सुलतान को उसे राजशक्ति का समर्थक बनाना था। छठे, उसे विद्रोही प्रान्तों के विषय में कोई नीति स्थिर करनी थी, चाहे वह उनकी स्वतंत्रता को स्वीकार कर ले अथवा वह युद्ध-द्वारा उनको फिर से दिल्ली की सल्तनत की अधीनता स्वीकार करने पर बाध्य करें।

फ़ीरोज़ को कठिनाइयां

अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए उसने ख्वाजा जहाँ का वध करा दिया और किसी-न-किसी प्रकार मुहम्मद के पुत्र को भी अपने मार्ग से हटा दिया। दिल्ली में जिन लोगों को ख्वाजा जहाँ से धन मिला था वे आशंकित थे कि संभवतः सुलतान ग़यासुद्दीन की भांति फ़ीरोज़ भी उनसे वह धन वापस माँगेगा। परंतु फ़ीरोज़ ने ऐसा नहीं किया। इससे वे लोग बहुत प्रसन्न हुए। अनेक लोगों के पास बहुत धन पावना था। सुलतान ने उन सब लोगों को पिछले ऋण के भार से मुक्त कर दिया।

फ़ीरोज़ के प्रारम्भिक कार्य

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस भांति उसने उनकी भी कृतज्ञता प्राप्त कर ली। इसके बाद उसने उन लोगों के नाम सूचीबद्ध कराये जिन्होंने सुलतान मुहम्मद के समय में किसी प्रकार की क्षति उठाई थी। उन सब को धन देकर संतुष्ट किया गया और उनसे तुष्टिपत्र लिखवा लिये गये। यह सभी पत्र सुलतान मुहम्मद की क़ब्र में गाड़ दिये गये। यह कार्य अत्यन्त कूटनीतिक था। प्रकटतः इसका उद्देश्य था मुहम्मद का परलोक सुधारना। परंतु वास्तव में इस कार्य के द्वारा उसने सुलतान मुहम्मद के अत्याचारों की सूची बनवाई और यह प्रकट किया कि वह स्वयं न केवल उन अत्याचारों की भर्त्सना करता है वरन् उनके लिए मुहम्मद का उत्तराधिकारी होने के नाते दण्ड भोगने को भी प्रस्तुत है। इस भांति उसने मुहम्मद की तुलना में अपने को उदार, न्यायी, प्रजा-प्रतिपालक, धर्मात्मा तथा सदाशयतापूर्ण प्रकट किया। इस कार्य से उसकी लोक-प्रियता बहुत बढ़ गई। फ़ीरोज ने अपने अधिकार को सुदृढ़ करने के लिए ख़लीफा का नियुक्ति-पत्र प्राप्त कर लिया और अपने को ख़लीफा का नायब घोषित किया। उसने ख़ुतबे तथा सिक्कों में खलीफ़ा के नाम के साथ-साथ अपना नाम भी रखा और अपनी जीवनी (फ़तूहात-ए-फ़ीरोज़शाही) में खलीफा द्वारा समर्थन प्राप्त करना उसने एक महान् सौभाग्य की बात मानी है।

फ़ीरोज़ ने शासन-कार्य चलाने के लिए योग्य व्यक्तियों का चयन किया और उनको अपना पूर्ण विश्वास प्रदान किया। उसने ख्वाजा जहाँ के स्थान पर नायब वज़ीर मलिक मक़बूल को नियुक्त किया और उसे खान-ए-जहाँ की उपाधि दी। वज़ीर को संतुष्ट रखने के लिए उसने उसे १३ लाख वार्षिक वेतन देना स्वीकार किया। ख्वाजा हिसामुद्दीन जुनैद को भूमि-कर-व्यवस्था का भार दिया गया, मलिक राज़ी को नायब आरिज़ का पद देकर सेना के संगठन का भार सौंपा गया और मलिक ग़ाज़ी शहना को सार्वजनिक निर्माण विभाग का कार्य दिया गया। फ़ीरोज़ के शासन की सफलता का बहुत कुछ श्रेय इन्हीं व्यक्तियों को है।

फ़ीरोज का शासन-काल

फ़ीरोज़ ने १३५१ से १३८८ ई० तक शासन किया। इस ३७ वर्ष के काल में उसने सल्तनत की जड़ को खोखला कर दिया और उसके पतन का मार्ग प्रशस्त कर दिया। परंतु जब तक वह जीवित रहा तब तक कोई विशेष विद्रोह नहीं हुआ और सुलतान का साम्राज्य अक्षुण्ण बना रहा। इस विरोधी स्थिति का कारण यह था कि सुलतान का आंतरिक शासन इतना शांतिमय और उदार था कि सभी वर्ग उससे संतुष्ट रहे। उस समय फसल भी अच्छी होती रही जिससे जनसाधारण का जीवन सुखमय रहा। परंतु कुछ दिशाओं में उसका शासन इतना दुर्बल और ढीला था कि राज-कर्मचारी बेईमान, लापरवाह तथा अयोग्य होने लगे: सुलतान की वैदेशिक नीति भी अधिक सम्मानपूर्ण नहीं थी। इसके कारण भी सल्तनत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की प्रतिष्ठा और शक्ति घटी। उसकी धार्मिक नीति तथा उसके दीर्घजीवन के कारण भी सल्तनत को क्षति पहुँची। इस भांति अपने दीर्घ शासनकाल में वह सल्तनत को सशक्त करना तो दूर रहा उसे और दुर्बल कर गया जिससे उसका अंत अवश्यम्भावी हो गया। फ़ीरोज़ के शासन-काल का यही महत्व है।

सुविधा की दृष्टि से, हम पहले उसकी वैदेशिक नीति का विवरण देंगे और फिर उसकी आंतरिक शासन-नीति का विश्लेषण कर के इस बात पर विचार करेंगे कि उसके कार्य का सल्तनत पर क्या प्रभाव पड़ा।

फ़ीरोज़ की वैदेशिक नीति

फ़ीरोज़ को युद्ध से स्वाभाविक घृणा थी। इसलिए वह विजय-कार्य को अधिक महत्व नहीं देता था। वह अपने पड़ोसी राज्यों के साथ शांतिमय सम्बन्ध रखना चाहता था और अपने देश की जनता को व्यर्थ रक्तपात से बचाना चाहता था। उसकी प्रवृत्ति कुछ विचित्र-सी थी। वह सोचता था कि केवल अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए हजारों मुसलमानों को कटवा देना अनैतिक एवं अधार्मिक कार्य है जिसके लिए एक दिन उत्तर देना पड़ेगा। अस्तु उसने अहिंसा के सिद्धान्त को न मानते हुए भी यथासंभव युद्ध से बचने की चेष्टा की। जब उसे किसी कारण युद्ध करना पड़ा तब उसने ऐसी नीति का पालन किया जिससे हताहतों की संख्या न्यूनतम हो।

बंगाल-विजय की असफल चेष्टा (१३५३-५४; १३५९-६०)

उसके समय में केवल ६ स्थानों में युद्ध हुआ। सबसे पहले सन् १३५३-१३५४ ई० में बंगाल पर आक्रमण किया गया। पश्चिमी बंगाल के शासक हाजी इलयास ने शम्सुद्दीन का विरुद् धारण कर लिया था और वह स्वेच्छाचारी शासन कर रहा था। फ़ीरोज़ ने सोचा कि यदि वह पश्चिमी बंगाल पर अधिकार कर ले तो उसकी मर्यादा बढ़ जायगी। उसे यह समझाया गया था कि बंगाल पर अधिकार करना सुगम है। इसलिए उसने सन् १३५३ ई० में बंगाल पर चढ़ाई कर दी और एक घोषणा प्रकाशित की जिसमें उसने इलयास के अत्याचारों का विशद भाव वे उल्लेख करके बंगाल की जनता को उसके विरुद्ध भड़काना चाहा।

उसने इक़दला दुर्ग पर आक्रमण किया और उस पर कड़ाई के साथ घेरा डाला। जब उसने इसमें सफलता न पाई तब उसने वापस लौटने का बहाना किया। परंतु ज्योंही बंगाल की सेना ने उसका पीछा किया, उसने लौटकर धावा कर दिया और भागी हुई सेना ने इक़दला में शरण ली। सुलतान ने फिर उसका घेरा डाला। जब इलयास के लिए और युद्ध चला सकना असंभव हो गया तो एक दिन प्रातःकाल दुर्ग की ओर से चीत्कार कर-करके रोने-विलापने का शब्द सुनाई पड़ा। सुलतान ने जब इसका कारण पूछा तो उसे बताया गया कि दुर्ग की जनता सोचती है कि जब

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुलतान की सेना दुर्ग में प्रवेश करेगी तब उसके सैनिक केवल मार-काट, लूट-मार से ही संतुष्ट न होंगे वरन् वह महिलाओं पर अत्याचार भी करेंगे। उसी अपमान की आशंका से वे विलाप कर रही थीं। सुलतान ने सोचा यदि ऐसा हुआ तो इसका दायित्व उसी पर रहेगा और वही इस पाप का भागी होगा। इसलिए उसने सेना को दिल्ली लौटने का आदेश दे दिया और इस युद्ध में व्यय हुआ श्रम तथा धन बिलकुल व्यर्थ हो गया। सुलतान की धर्मभीरु रणनीति का यह पहला उदाहरण है।

इसके कुछ वर्ष बाद फ़ख्रुद्दीन के जामाता ज़फ़र खाँ ने पूर्वी बंगाल पर अपना अधिकार जताया और सुलतान से सहायता माँगीं। सुलतान उसे साथ लेकर सन् १३५९ ई० में एक बार फिर बंगाल पर चढ़ाई करने गया। उस समय वहाँ का शासक सिकंदर था। उसने पहले सुलतान का विरोध किया परन्तु बाद में वह पूर्वी बंगाल छोड़ने के लिए तैयार हो गया। सुलतान ने अब ज़फ़र खाँ को वहाँ का शासन सँभालने का आदेश दिया। परन्तु ज़फ़र खाँ को दिल्ली में जो सुख मिला था वह पूर्वी बंगाल में मिलना संभव नहीं था। इस कारण उसने वहाँ जाने में अनिच्छा प्रकट की। सुलतान ने क़ुरान से शकुन उठाया कि कौन व्यक्ति वहाँ का हाकिम नियुक्त किया जाय। शकुन के अनुसार ज़फ़र खाँ को भेजना चाहिए था, परन्तु वह जाने के लिए सहमत नहीं था। इस कारण किसी दूसरे को भी नियुक्त नहीं किया गया। इस भांति यह आक्रमण भी निष्फल सिद्ध हुआ। इसकी निष्फलता की मूल में भी धर्म-भीरुता ही प्रधान थी।

इस आक्रमण के बाद सुलतान ने अपनी सेना का उपयोग दो हिन्दू राजाओं के विरुद्ध किया और वहाँ उसे कुछ सफलता भी मिली। यह दोनों ही आक्रमण सन् १३६० ई० में हुए। पहले उसने जौनपुर वापस आने पर उड़ीसा के राजा पर आक्रमण किया। मुसलमान इतिहासकार उसे जाजनगर कहते थे। शम्ससिराज अफीफ लिखता है कि उस समय जाजनगर की आर्थिक दशा बहुत अच्छी थी। वहाँ इतनी मंदी थी कि दो जीतल में एक घोड़ा खरीदा जा सकता था और वहाँ के प्रायः सभी लोग बड़े बड़े मकानों में रहते थे और प्रत्येक के अपने निजी फल-फूल के उद्यान थे। जब स्थानीय राजा ने सुलतान के आने का समाचार सुना, वह भागकर एक टापू में छिप गया। सुलतान की सेना ने नगर को लूटा और उसने जगन्नाथ की मूर्ति को समुद्र में फिंकवा दिया। राजा ने सुलतान के पास दूत भेजकर वादा किया कि वह उसकी अधीनता मानने तथा वार्षिक कर भेजने को प्रस्तुत है। सुलतान ने उसे कर के बदले हाथी भेजने का आदेश दिया और इसके बाद वह वापस लौट पड़ा।

जाजनगर और बीरभूमि (१३६० ई०)

इसके बाद बीरभूमि के राजा पर आक्रमण किया गया। वह भी पराजित

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ। उसने भी प्रतिवर्ष सुलतान के पास हाथी भेजने का वचन दिया।

इसके बाद सुलतान राजधानी वापस आया। उसने सुना कि नगरकोट के राजा ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी है। इसलिए फ़ीरोज़ ने अपनी सेना के साथ नगरकोट पर धावा किया। राजा ने वीरता के साथ सुलतान का सामना किया परन्तु उसकी पराजय हो गई। अब उसने दुर्ग के भीतर से रक्षात्मक युद्ध आरम्भ किया। सुलतान ने नगर में प्रवेश किया और उसने ज्वालामुखी के मन्दिर को भ्रष्ट किया तथा देवी की प्रतिमा को तोड़ दिया। उसने वहाँ की जनता को एकत्रित करके मूर्तिपूजा के विरुद्ध एक भाषण दिया और उनको समझाने की चेष्टा की कि उसने देवी की प्रतिमा को इसलिए नहीं तोड़ा कि उनके हृदय को आघात लगे वरन् इसलिए कि वे इस पाप से मुक्ति पा सकें और समझ सकें कि मूर्ति-पूजा कितना बड़ा पाप है। इस भांति उसने जले पर नमक छिड़कने का प्रयत्न किया। इतिहासकार फरिश्ता ने लिखा है कि उसने मूर्ति के टुकड़े तथा गो-मांस को एक कपड़े में बाँधकर उस मंदिर के ब्राह्मणों के गले में लटकवाया और उसी दशा में उनको नगर भर में घुमाया। सुलतान ने शायद यह कार्य इसलिए किया कि जिससे वे फिर किसी को मूर्तिपूजा के लिए प्रोत्साहित न करें।

नगरकोट
(१३६०ई०)

इसी के साथ-साथ युद्ध भी चलता रहा और ६ महीने के घेरे के बाद राजा ने सुलतान की अधीनता स्वीकार करने का वचन दिया। सुलतान ने उसे क्षमा कर दिया और वह दिल्ली लौट आय।।

इन तीनों युद्धों में सुलतान को कुछ यश भी मिला और कुछ धन भी। परंतु यदि ध्यान से विचार किया जाय तो इनमें भी उसे समुचित सफलता नहीं मिली। तीन में से एक की भी शक्ति वह इतनी कम नहीं कर सका कि वह वहाँ अपना सीधा शासन स्थापित कर सकता। नगरकोट में वह दुर्ग पर अधिकार करने में असमर्थ रहा और जाजनगर में वह राजा को संधि करने के लिए स्वयं आने पर बाध्य नहीं कर सका। किसी भी स्थान में वह राजवंशों के संचित राजकोष पर अधिकार नहीं कर सका और दो स्थानों में उसने धार्मिक असहिष्णुता का प्रदर्शन करके हिन्दू जनता को अपमानित किया परंतु इस्लाम अथवा सल्तनत का कुछ उपकार नहीं किया। इस भांति इन क्षेत्रों में भी एक प्रकार से सुलतान असफल ही रहा।

सुलतान का अंतिम आक्रमण ठट्टा पर हुआ। फ़ीरोज़ ने यह आक्रमण मुहम्मद तुग़लक के प्रति किये गये दुर्व्यवहार का बदला लेने के लिए किया था। परंतु यह बात ध्यान देने योग्य है कि राज्यारोहण के बाद बारह वर्ष बीतने पर उसे इस कर्त्तव्य का भान हुआ। उस समय उस क्षेत्र का शासक जाम बबिनिया था। उसकी

सिंध पर आक्रमण
(१३६२-६३ ई०)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सैनिक शक्ति प्रवल थी और उसकी सेना में २०,००० घुड़सवार तथा ४,००,००० पैदल थे। इसलिए फीरोज़ ने ९०,००० घुड़सवार, ४८० हाथी तथा वहुसंख्यक पैदल सेना के साथ आक्रमण किया। फ़ीरोज़ शांति के आधार पर युद्ध करना चाहता था और जहाँ तक संभव हो रक्तपात बचाना चाहता था। इसलिए जब शत्रु हारकर दुर्ग के भीतर बंद हो जाता था तब वह क़िले पर आक्रमण करने अथवा दीवालें तोड़ने या दीवार पर चढ़कर किले में घुसने की आज्ञा नहीं देता था। वह चाहता था कि शत्रु का बाहर से बिलकुल संबंध काट दिया जाय और उसे भूखों मारकर घुटने टेकने पर बाध्य किया जाय। इस नीति के कारण घेरों में बहुत समय लगता था। सुलतान ने ठट्टा में भी इस नीति का अनुसरण किया। उसी समय वहाँ अकाल और महामारी का प्रकोप हुआ जिसमें सुलतान के एक चौथाई सैनिक मर गये। घबड़ा कर सुलतान वहाँ से भागा। उसने सोचा कि गुजरात में सेना को थोड़ा विश्राम देकर फिर आक्रमण करना ठीक होगा। इसलिए वह गुजरात की ओर चल दिया। परंतु ऐसा भोला सिद्ध हुआ कि पथ-दर्शकों ने उसे भटका दिया जिसके कारण अन्न-जल का कष्ट और अधिक बढ़ गया तथा अनेक सैनिकों की जान गई। कुछ दिन तक सुलतान का पता ही नहीं रहा। परंतु उसके मंत्री खानजहाँ मक़बूल ने बड़ी मुस्तैदी से काम किया। वह शासन का कार्य ठीक से चलाता रहा। कुशल गुप्त-चरों को भेजकर उसने सुलतान का पता लगवाया और शीघ्र ही उसके पास कुमक भेजी। गुजरात के हाकिम ने भी समुचित सहायता की। अस्तु सेना का पुनर्गठन सम्भव हो सका और सुलतान ने फिर सिंध की ओर प्रस्थान किया। जाम बबिनिया ने कुछ दिन और युद्ध चलाने के बाद आत्म-समर्पण कर दिया। सुल्तान ने उसके एक सम्बन्धी को वहाँ का शासक नियुक्त किया और बबिनिया को अपने साथ दिल्ली ले गया। थोड़े समय के बाद उसने उसे क्षमा कर दिया और ठट्टा वापस जाने की अनुमति दे दी।

इस भांति इस युद्ध से भी सल्तनत को कोई स्थायी लाभ नहीं हुआ। सिंध के शासक ने कुछ समय के लिए सुलतान की अधीनता स्वीकार कर ली। परंतु उसने समय पाते ही फिर स्वतंत्र शासक की भांति शासन करना आरंभ कर दिया। सुलतान ने इस युद्ध के समय जैसी अयोग्यता का प्रदर्शन किया वैसा पहले नहीं किया था। शायद इसी कारण उसने भविष्य में कोई दूसरा युद्ध नहीं किया।

बहमनी वंश और फ़ीरोज़ (१३६५-६६ ई०)

सन् १३६५-१३६६ ई० में उसे साम्राज्य-विस्तार का अवसर मिला। परंतु उसने उसका उपयोग नहीं किया। उस समय बहमनी राज्य में आंतरिक कलह मची हुई थी। एक दल का नेता बहराम खाँ था। उसने सुलतान के पास संवाद भेज कर वचन दिया कि यदि सुलतान उसे वहाँ का शासनाधिकार दिला दे तो वह

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिर से दिल्ली की अधीनता स्वीकार कर लेगा। उसकी दया को प्रोत्साहित करने के लिए उसने तत्कालीन शासक मुहम्मदशाह बहमनी के अत्याचारों का अतिरंजित वर्णन भी लिख भेजा। परंतु फ़ीरोज़ ने यह संकट मोल लेना ठीक नहीं समझा। उसने बहराम ख़ाँ के प्रतिनिधियों को यह कह कर भगा दिया कि उन्होंने सुलतान मुहम्मद के साथ जो दुर्व्यवहार किया था उसी का भगवान उन्हें दण्ड दे रहा है। उसे उन्हें भोगना ही चाहिए। वह उनकी रक्षा करने के लिए प्रस्तुत नहीं है। अपने दर्बारियों से उसने कहा कि खलीफा ने बहमनी राज्य को मान्यता प्रदान कर दी है। ऐसी दशा में उस पर आक्रमण करना खलीफा का अपमान करना है। इसलिए वह हस्तक्षेप न करने के लिए विवश है।

फ़ीरोज़ की दुर्बल वैदेशिक नीति के परिणाम

सुलतान के युद्धों का जो विवरण यहाँ दिया गया है उससे निम्नांकित निष्कर्ष निकलते हैं:—(१) सुलतान फ़ीरोज़ साम्राज्य-विस्तार की न इच्छा रखता था न क्षमता, (२) उसमें सैन्य-संचालन की योग्यता अत्यन्त निकृष्ट कोटि की थी, (३) उसकी रणनीति दब्बू एवं धर्मभीरु थी, (४) उसके सैनिकों का उत्साह बराबर गिरता गया होगा क्योंकि उन्हें इस प्रकार युद्ध करना पड़ता था जिसमें शत्रु को सबसे अधिक सुविधा थी, (५) इन विपरीत दशाओं में भी उन्हें विजय का पूर्ण लाभ नहीं मिलता था क्योंकि कहीं सुलतान स्त्रियों के रोने से द्रवित हो जाता था और कहीं क़ुरान के हस्तक्षेप से, (६) सुलतान और सल्तनत की प्रतिष्ठा बहुत घट गई होगी, सेना में युद्ध के लिए उत्साह प्रायः समाप्त हो गया होगा और देश की सुरक्षा खतरे में पड़ गई होगी। तैमूर के आक्रमण के समय इन कुपरिणामों का स्पष्ट परिचय मिलेगा।

फ़ीरोज़ की शासन-नीति

फ़ीरोज़ एक हिन्दू माता का पुत्र था। फिर भी अमीरों तथा उलमा ने प्रायः एक स्वर से उसे अपना सुलतान स्वीकार कर लिया। परंतु फ़ीरोज़ शायद यह भूल नहीं सका कि उसकी माता हिन्दू थी और संभवतः इसी कारण उसने इस्लाम के सिद्धान्तों के प्रति आस्था रखने तथा हिन्दुओं पर अत्याचार करने का विशेष प्रदर्शन किया। उसके पूर्व जितने भी सुलतान हुए थे वे कुछ न कुछ अपना स्वतंत्र मत रखते थे और सुलतान ग़यासुद्दीन बलबन के समय से उलमा का शासन पर प्रभाव उत्तरोत्तर घट रहा था। फ़ीरोज़ ने अपने को विशुद्ध मुसलमान साबित करने के लिए इस नीति को सहसा उलट दिया और अपनी नकेल उलमा के हाथों में दे दी। वह छोटी-छोटी बातों में किस प्रकार उनके निर्देश पर चलता था, यह देख कर तरस आता है। इस नीति का कुपरिणाम यह हुआ कि शासन का संचालन संकीर्णता, पक्षपात एवं साम्प्रदायिकता के आधार पर होने लगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुल्ला-मौलवी उसे बराबर घेरे रहते थे और उसे गैरसुन्नी मुसलमानों तथा हिन्दुओं के ऊपर अत्याचार करने के लिए उकसाया करते थे। उन्हीं की सलाह से उसने ब्राह्मणों पर भी जज़िया लगा दिया। जब दिल्ली के ब्राह्मणों ने इसका विरोध किया और अनशन आरंभ कर दिया तब भी सुलतान ने अपनी नीति नहीं बदली। अंत में अन्य हिन्दुओं ने ब्राह्मणों की ओर से कर देना स्वीकार किया और सुलतान ने उलमा की स्वीकृति लेकर इतनी सुविधा कर दी कि सभी ब्राह्मणों से १० टंक प्रति वर्ष प्रति व्यक्ति के स्थान पर ५० कानी के हिसाब से जज़िया लिया जाय। इस भांति उसने उन सबको सर्वाधिक निर्धन श्रेणी वाला मान लिया क्योंकि उस समय जज़िया की दर धनी वर्ग के लिए ४० टंक, मध्यम श्रेणी वालों के लिए २० टंक तथा निम्न श्रेणी वालों के लिए १० टंक नियत थी। फ़ीरोज़ का कहना था कि चूँकि ब्राह्मण ही हिन्दुओं के धार्मिक नेता हैं इसलिए उनसे अवश्य ही कर लेना चाहिए। परंतु उसने ऐसा करने में एक बड़ा अन्याय किया। ब्राह्मण इस कर से सदा मुक्त रहे थे और इस्लामी परिपाटी के अनुसार जो सुविधायें परम्परागत हों तथा पूर्ववर्ती सुलतानों द्वारा दी गई हों उनमें हस्तक्षेप करना अनुचित समझा जाता था।

धार्मिक पक्षपात

इससे भी अनुचित कार्य था दिल्ली के एक ब्राह्मण को जीवित जलवा देना। उसका अपराध यह था कि उसके जीवन और विचारों से प्रभावित होकर कुछ मुसलमान स्त्रियाँ हिन्दू हो गई थीं। सुलतान ने उससे इस्लाम-धर्म स्वीकार करने के लिए कहा। परंतु जब उससे ऐसा करने से इन्कार किया तो उसे तथा उसकी पूजा की प्रतिमाओं को जलवा दिया गया। इस प्रकार का अत्याचार एकदम अभूतपूर्व था। इसके कारण हिन्दू जनता की धार्मिक भावनाओं पर बहुत ठेस लगी।

इसके अतिरिक्त सुलतान ने ज्वालामुखी तथा जगन्नाथ के मंदिरों को भ्रष्ट किया, हिन्दुओं के धार्मिक मेलों पर रोक लगाई, नये मंदिर गिरवा दिये तथा पुराने मंदिरों के जीर्णोद्धार की अनुमति नहीं दी। इस भांति उसने हिन्दुओं पर अनेक अत्याचार किये, हाँ इतना अवश्य है कि उसने उन प्राचीन मंदिरों को ध्वस्त नहीं किया जिनमें किसी प्रकार की मरम्मत आदि की आवश्यकता नहीं थी।

कटेहर के राजा ने तीन सैय्यदों का वध कर दिया था। इसका बदला लेने के लिए प्राय: पाँच वर्ष तक राजा की प्रजा में से जो पकड़े मिलता था, उसी को मौत के घाट उतार दिया जाता था।

सुलतान की यह कठोरता केवल हिन्दुओं के ही विरुद्ध नहीं थीं। उसने गैर-सुन्नी मुसलमानों के ऊपर भी अत्याचार किया। शियाओं का एक वर्ग ऐसा था जिसकी कुछ धार्मिक क्रियाएँ सुलतान को अत्यन्त वीभत्स एवं अश्लील प्रतीत होती थीं। उसने उनके नेताओं को पकड़वा लिया और उनको कड़ी चेतावनी दी कि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे उस प्रकार की क्रियाएँ बन्द कर दें। इसी भांति उसने महदवियों, मुलहिदों एवं सूफ़ियों के धार्मिक कृत्यों एवं विश्वासों में हस्तक्षेप किया और महदवी नेता रुकनुद्दीन को उसने मरवा डाला। फ़ीरोज़ ने यह सब कार्य उलमा को संतुष्ट रखने तथा अपना परलोक सुधारने की दृष्टि से किया और राज्य के ऊपर पड़ने वाले कुपरिणाम की चिन्ता न की।

करनीति में परिवर्तन

धर्म के प्रभाव के ही कारण सुलतान ने अपनी कर-नीति भी बदल दी। उसने जज़िया, ज़कात, खराज और खम्स के अतिरिक्त अन्य सभी कर बंद कर दिये क्योंकि धर्म-पुस्तकों में केवल उन चार करों का ही उल्लेख था। भारतवर्ष में प्रायः सुलतान लूट के माल का ४/५ लिया करते थे और १/५ सैनिकों को देते थे। परन्तु फीरोज़ ने इस्लामी नियम के अनुसार ४/५ सैनिकों को देना तथा १/५ राज्य के लिए लेना निश्चय किया। फ़ीरोज़ ने फ़तूहात-ए-फ़ीरोज़शाही में उन करों का उल्लेख किया है जिनको उसने धर्म-विरुद्ध होने के कारण बन्द कर दिया था। उनमें से कुछ कर थे; दलालत ए-बाज़ा रहा, गुलफ़रोशी, चुंगी-ए-ग़ल्ला, नीलकरी, माहीफ़रोशी, साबुन करी, रेशमानफ़रोशी, रोग़न करी, घरी या करही, और चराई। संभवतः अंतिम दो करों से ही विशेष आमदनी होती रही होगी, परन्तु अन्य करों से भी कुछ-न-कुछ आय अवश्य होती होगी। सुलतान ने आय की चिन्ता न करके इन सभी करों को बन्द कर दिया।

इसके बाद उसने भूमि-कर की व्यवस्था की ओर ध्यान दिया। उसने ख्वाजा हिसामुद्दीन को आदेश दिया कि वह राज्य की आय का ठीक-ठीक हिसाब तैयार करे। उसने साम्राज्य भर का दौरा किया और ६ वर्ष के परिश्रम के बाद राज्य की आय ६ करोड़ ८५ लाख टंक निश्चित की। इस आय का विवरण सरकारी दफ्तर में रखा गया और उसी के अनुसार स्थानीय अधिकारियों से कर वसूल किया जाने लगा।

अब सुलतान ने राज्य की आय बढ़ाने के लिए उद्योग किया। उसने पूर्वी पंजाब में कृषि बढ़ाने के उद्देश्य से दो बड़ी-बड़ी नहरें बनवाईं और उसका नाम रजिवा और उलुग़खानी रखा। यहया ने इन नहरों की संख्या चार-बताई है इन नहरों से प्रायः १६० मील लम्बा क्षेत्र सिंचने लगा और उनके आस-पास कृषकों की नयी बस्तियाँ उत्पन्न होने लगीं। फलतः खेती की उपज बढ़ गई और उसी के अनुसार राज्य की आय भी बढ़ने लगी। साथ ही उसने किसानों को अच्छी किस्म की फसलें बोने के लिए प्रोत्साहित किया। इससे भी उसकी कुछ आय बढ़ गई। परन्तु इससे अधिक आय हुई सिंचाई कर से। सुलतान ने उलमा के परामर्श से उपज का दशमांश सिंचाई कर नियत किया।

सुलतान ने १२००० नये बाग़ लगवाये और उनकी उपज बेंचकर धन उपार्जन किया। इस साधन से उसे एक लाख अस्सी हजार टंक प्रति वर्ष की आय होने लगी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुलतान ने ३६ कारखाने स्थापित किए थे जिनमें अनेक प्रकार का सामान तैयार होता था। इसमें से अधिकांश सामान सरकारी खर्च में लगता था परन्तु जो अतिरिक्त सामान बचता था वह बेच दिया जाता था। इससे भी सरकार को कुछ आय होती थी। सुलतान ने पिछले राज्य-काल की भांति छोटे मूल्य के सिक्के भी पर्याप्त मात्रा में ढलवाये। इससे भी उसको कुछ आय होती थी।

इसके अतिरिक्त सुलतान कभी-कभी प्रान्तों और इलाकों का कर उगाहने का कार्य उन लोगों को दे देता था जो सबसे अधिक रुपया देने का वादा करते थे। इस ठेकेदारी व्यवस्था से राज्य को निश्चित आय से अधिक धन मिलने लगा। परन्तु इसके कारण प्रजा का कष्ट बढ़ गया होगा। उदाहरण-स्वरूप गुजरात की घटना का उल्लेख किया जा सकता है। गुजरात की साधारण निकासी २ करोड़ टंक प्रति वर्ष थी। शम्सी दमग़ानी ने उसके अतिरिक्त ४० लाख टंक, १०० हाथी, २०० अरबी घोड़े, तथा ४०० हिन्दू और हब्शी गुलाम देने का वचन दिया। इसलिए गुजरात का शासन उसी को सौंप दिया गया। परन्तु जब उसने यह धन एकत्रित करने के लिए कर बढ़ा दिये तब उसका विरोध आरम्भ हो गया और बाद में उसकी हत्या कर दी गई।

न्याय-व्यवस्था

सुलतान ने न्याय-व्यवस्था में भी उलमा के परामर्श को प्रधानता दी। उसने पहले की भांति न्याय-व्यवस्था तथा धर्म-विभाग के सभी पद फिर उलमा के लिए पृथक् कर दिये। उसने मुसलमानों को मृत्युदण्ड देना प्रायः बन्द कर दिया। साथ ही उसने अंग-भंग की सज़ायें भी बन्द कर दीं क्योंकि वह कहता था कि ख़ुदा के बन्दों को कुरूप अथवा अपंग बनाने का किसी को अधिकार नहीं है। सुलतान की इस उदारता का फल यह हुआ कि अपराधियों का भय घट गया परन्तु सुलतान की लोक-प्रियता बढ़ गई।

सुलतान और उलमा

सुलतान की इस नीति का परिणाम यह हुआ कि उलमा वर्ग जो सुलतान मुहम्मद के समय में राजशक्ति का विरोधी तथा आलोचक हो गया था अब उसका प्रबल समर्थक एवं पोषक बन गया। सुलतान ने उलमा को संतुष्ट करने के लिए उन्हें फिर से जागीर देना आरम्भ कर दिया और जागीर में दी जाने वाली भूमि का परिमाण बढ़ा दिया। इसलिए उलमा संतुष्ट, समृद्ध तथा सुखी रहे। उनके समर्थन से सुलतान की शक्ति अवश्य दृढ़ हुई किन्तु उनका प्रभाव बढ़ने से धार्मिक पक्षपात और कट्टरता में वृद्धि हुई जिसने आगे चलकर सल्तनत को क्षति पहुँचायी।

जिस भांति फ़ीरोज़ ने उलमा की प्रायः सभी शिकायतें दूर करके उन्हें पूर्णतया संतुष्ट किया था उसी भांति उसने अमीरों तथा सर्दारों को भी प्रसन्न किया

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फ़ीरोज़ और अमीर

सुलतान अलाउद्दीन और मुहम्मद बिन तुग़लक ने जागीर प्रथा को तोड़ने का प्रयास किया था। वे अपने प्रधान अमीरों को प्रायः स्थानांतरित भी करते रहते थे जिससे उनकी शक्ति बहुत अधिक न बढ़े। वे उनके हिसाब की कड़ाई से जाँच कराते थे और उनकी गति-विधि पर दृष्टि रखने के लिए गुप्तचर तैनात करते थे तथा सरकारी रुपया वसूल करने में कभी-कभी बड़ी कठोरता का व्यवहार करते थे। सुलतान फ़ीरोज़ ने यह सब बातें बन्द कर दीं या बदल दीं। उसने अमीरों को बड़ी-बड़ी जागीरें दीं और उनके वेतन तथा भत्ते बहुत बढ़ा दिये। शम्ससिराज अफ़ीफ लिखता है कि वज़ीर को १३ लाख टंक प्रति वर्ष तथा अन्य उच्च पदाधिकारियों को ८ लाख, ६ लाख, ४ लाख टंक वार्षिक वेतन मिलता था। उनको जिस क्षेत्र का हाकिम नियुक्त किया जाता था वहाँ से उनको तब तक कभी नहीं हटाया जाता था जब तक कि वे नियत कर देते रहें। उनको किसी प्रकार की भेंटें आदि भी नहीं देनी पड़ती थीं। यदि कोई अमीर सुलतान को कुछ भेंट करता भी था तो उसका मूल्य उसके हिसाब में लिख लिया जाता था और सरकारी हिसाब करते समय वह धन मुजरा दिया जाता था। उसने युद्ध भी बंद कर दिये थे। इसलिए अमीरों को सुख और शान्ति के साथ जीवन-यापन की पूर्ण स्वच्छंदता थी। उनके घरों में सोना-चाँदी, जवाहरात एकत्रित होने लगे और वे सब खूब धनी हो गये तथा बड़ी सजधज के साथ रहने लगे। इस भांति उसने अमीरों के मान को बहुत बढ़ा दिया। साथ ही उसने गुप्तचरों को भी हटा दिया और पावनेदारों पर अत्याचार करने की मनाही कर दी। फलतः उनको अब किसी प्रकार के अपमान अथवा अत्याचार का भय न रहा और वे इस सुखमय स्थिति को बनाये रखने के लिए सुलतान को खुशी के साथ स्वामी मानते रहे। उनके लिए अब ऐसा कोई सुख नहीं था जो वे स्वतंत्र होकर प्राप्त करते। इस कारण फ़ीरोज़ के जीवन-काल में उन्होंने विद्रोह की इच्छा ही नहीं की। परन्तु भविष्य में अमीरों का इतना शक्ति-संपन्न होना राजवंश के लिए अहितकर हुआ और फ़ीरोज़ की मृत्यु के बाद ही सल्तनत के टुकड़े-टुकड़े होने लगे। इस भांति यद्यपि सुलतान की नीति से उसे तात्कालिक लाभ हुआ परंतु सल्तनत को हानि हुई और उसका विघटन अवश्यम्भावी हो गया।

फ़ीरोज की सेना

फ़ीरोज़ के नायब आरिज़ मलिक राज़ी ने सेना को व्यवस्थित एवं संगठित रखने के लिए काफी प्रयत्न किया। उसने सैनिकों के घोड़ों की कड़ाई से जाँच की और उनको अच्छे घोड़े रखने के लिए बाध्य किया। उसने सैनिकों के हथियार, वर्दी, आचरण आदि की भी कड़ाई से जाँच की और इस भांति सेना का अनुशासन बिगड़ने नहीं पाया। परंतु धीरे-धीरे सुलतान फ़ीरोज़ की नीति के कारण सेना भी पतित होने लगी और उसमें साम्रा-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्य की रक्षा करने की क्षमता नहीं रह गई। फ़ीरोज़ का उद्देश्य था सभी प्रभावशाली वर्गों को संतुष्ट रखना और उसके द्वारा शान्तिपूर्वक शासन करना। इसलिए उसने सैनिकों तथा उनके पदाधिकारियों के लिए जागीर देने की प्रथा फिर चला दी। जागीरें पाकर सैनिक बहुत प्रसन्न हो गए क्योंकि अब उनकी आय बिलकुल स्थिर हो गई। परंतु जागीरें देने से सेना में जो दोष आते हैं उनकी ओर फ़ीरोज़ ने ध्यान नहीं दिया। बलबन से लेकर मुहम्मद तुग़लक तक सेना को गतिशील एवं राजभक्त बनाने की दिशा में जो कार्य हुआ था वह इसी एक आज्ञा से कट गया। दूसरे, फ़ीरोज़ ने १३६३ के बाद युद्ध बंद कर दिये और सेना को चुस्त रखने के लिए उसने कोई अन्य उपाय भी नहीं निकाला। फलतः सैनिक आलसी और आरामतलब होने लगे। उसके समय तक बराबर ही यह नियम था कि वृद्ध हो जाने पर सैनिकों को हटा दिया जाता था और उनके स्थान पर नवयुवक भर्ती कर लिए जाते थे। परंतु फ़ीरोज़ के समय में वृद्ध लोगों ने एक प्रतिनिधि-मण्डल भेजा और कहा कि जीवन भर जिन्होंने राज्य की सेवा की अब मरने के समय उनको असहायावस्था में छोड़ देना कहाँ तक धर्मानुकूल कार्य है। फ़ीरोज़ को उनका तर्क अकाट्य प्रतीत हुआ। इसलिए उसने आदेश निकाल दिया कि कोई बूढ़ा निकाला न जाय परंतु चूंकि वह स्वयं सैनिक कार्य के लिए अनुपयुक्त था इसलिए उसे अपने स्थान में अपने परिवार का कोई दूसरा व्यक्ति भेज देना चाहिए। इस भांति सेना में वंशानुगत नियुक्ति का नियम चल गया। सैनिक की उपयुक्तता की जाँच सरकारी कर्मचारियों के स्थान पर अवकाश ग्रहण करने वाला सैनिक करने लगा। जो वेतन पाता था वह कार्य नहीं करता था, जो कार्य करने वाला था वह वेतन नहीं पाता था; उसे केवल आशा रहती थी कि बूढ़े के मरने पर उसे वेतन मिलना आरंभ होगा। इस प्रकार की व्यवस्था ने सैनिक कुशलता की रीढ़ तोड़ दी। सुलतान को चाहिए था कि वह सेना के संगठन को ठीक रखता और वृद्ध सैनिकों के लिए कुछ पेंशन नियत कर देता। परंतु फ़ीरोज़ मितव्ययी भी था। इस कारण वह खर्च बढ़ाने का विरोधी था। इस नीति का कुपरिणाम भी उसके मरने के बाद प्रगट हो गया।

जो सैनिक युवक एवं स्वस्थ होते थे वे धीरे-धीरे खराब होने लगे। इसका पूर्ण दायित्व सुलतान पर ही था। उसने सैनिकों के रणक्षेत्र से भागने के अपराध को भी केवल भर्त्सना द्वारा दण्डित किया। इससे सैनिकों का भय जाता रहा और उनका अनुशासन नष्ट होने लगा। दूसरे, सुलतान ने रिश्वत की प्रथा को भी प्रोत्साहित किया। एक सैनिक को वेतन पाने में कठिनाई हो रही थी और इस कारण वह खिन्न खड़ा था संयोग से सुलतान उस ओर से निकला और उससे पूछा कि वह क्यों दुखी है सैनिक ने कारण बता दिया। तब सुलतान ने कहा कि मुंशी को कुछ देकर क्यों नहीं काम साध लेते? सैनिक ने कहा कि मेरे पास कुछ देने को है ही नहीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस पर सुलतान ने अपनी जेब से एक अशर्फी निकाल कर दे दी और वह सैनिक घूस देकर अपना काम कराने में सफल हो गया। जहाँ सुलतान स्वयं घूस देने की केवल सलाह ही न देता हो वरन् घूस का रुपया भी देता हो, वहाँ राजकर्मचारियों के नैतिक आचरण का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। इन सबका फल यह हुआ कि सुलतान के दीर्घ शासन-काल में सेना बिलकुल अयोग्य, काहिल, व्यवस्था-हीन एवं पंगु हो गई। सल्तनत के विनाश में सुलतान के इस कार्य ने भी योग-दान दिया।

शासन में अव्यवस्था एवं भ्रष्टाचार का फैलना

फ़ीरोज़ ने शासन-यंत्र को भी खराब कर दिया। उसने राजकर्मचारियों को प्रसन्न करने के लिए उनके वेतन तथा भत्ते बढ़ा दिये, गुप्तचर हटा दिये तथा बकाया पावना वसूल कराने में अपमानजनक ढंगों का उपयोग बंद कर दिया। इसलिए राज-कर्मचारी सरकारी रुपया खा जाने लगे और मनमानी करने लगे। फ़ीरोज़ ने सब काम अपने मंत्रियों पर छोड़ रखा था और स्वयं उनके काम का समुचित निरीक्षण नहीं करता था। इस कारण भी कुछ ढिलाई आने लगी। दूसरे, उसने भ्रष्टाचार को भी प्रोत्साहित किया। काजरशाह के विरुद्ध यह शिकायत हुई कि वह शशकानी सिक्के में अपेक्षित चाँदी से एक ग्रेन कम चाँदी देता है और इस भाँति राजकोष का धन अपनी जेब में रखकर राज्य तथा प्रजा दोनों को ठगता है। इसकी परीक्षा के लिए राजा के सामने वे सिक्के गलवाये गये और चाँदी तुलवाई गई। सुलतान और खानजहाँ को मालूम भी हो गया कि सुनारों ने अपेक्षित चाँदी मिला कर कमी पूरी कर दी है। परन्तु उसने राज्य की साख ठीक रखने के उद्देश्य से काजरशाह को निर्दोष सिद्ध कर दिया, उसे सम्मान के साथ नगर में घुमाया और झूठी शिकायत करने वालों को दण्ड दिया। आगे चल कर उसने काजर-शाह को भी हटा दिया परन्तु भ्रष्टाचार के अपराध पर नहीं। इस भाँति उसने राज-कर्मचारियों का पृष्ठपोषण करने के लिए निरपराध व्यक्तियों को दण्ड दिया, भ्रष्टाचार पर पर्दा डाला और जनता की आँख में धूल झोंकने की चेष्टा की। ऐसी परिस्थिति में शासन-सूत्रों का ढीला पड़ना अनिवार्य था।

सुलतान ने जनसाधारण को सुखी तथा संतुष्ट रखने के लिये भी अनेक कार्य किये। करों को हल्का करने, दण्डविधान की बर्बरता घटाने तथा राजकर्मचारियों की आर्थिक स्थिति सुधारने का उल्लेख ऊपर हो चुका है। इन सभी का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभाव जनता पर पड़ा और उसकी दशा पहले से अच्छी हो गई। साथ ही सुलतान ने रोगियों के निःशुल्क इलाज के लिए अस्पताल खोले। दिल्ली के अस्पताल में रोगी को मुफ्त भोजन भी दिया जाता था। सुलतान ने शिक्षा को भी प्रोत्साहन

सार्वजनिक हित के कार्य

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया और अनेक मकतब तथा मदरसे खुलवाये तथा साधु-संतों, अनाथों, दीन-दुखियों को राज्य की ओर से सहायता देने की व्यवस्था की।

दास-व्यवस्था

परंतु इस दिशा में सुलतान का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है सफेदपोश बेरोजगार मुसलमानों के भरण-पोषण की व्यवस्था। व्यवसायहीन मध्यम श्रेणी वाले मुसलमान को कभी-कभी बहुत कष्ट भोगना पड़ता था। सुलतान ने इस वर्ग के संकट को भी समाप्त करने की चेष्टा की। उसने ऐसे लोगों की सूची बनवाई और उनको अपने व्यक्तिगत दासों में भर्ती कर लिया। उनकी संख्या बढ़ते-बढ़ते एक लाख अस्सी हजार हो गई। जब सुलतान ने देखा कि संभव है वह सबको काम न दे सके तब उसने अमीरों को भी इसका अनुकरण करने के लिए कहा और जो लोग इस कार्य में विशेष अभिरुचि दिखाते थे उन पर सुलतान कृपा रखता था। इन दासों का एक अलग विभाग बना दिया गया और उनकी योग्यतानुसार उनको विभिन्न वर्गों में बाँट दिया गया। इनमें से अधिकांश व्यक्ति सरकारी कारखानों, बागों तथा निर्माण-विभाग में तैनात किये गये। कुछ लोग राजदर्बार तथा राजमहल में भी रख लिये गये। सुलतान के इस कार्य से लाखों व्यक्तियों को सम्मानपूर्वक रोटी कमाने की सुविधा हो गई। परंतु आगे चल कर इस व्यवस्था से भी हानि हुई। सुलतान के व्यक्तिगत दास होने के कारण उनका अहंकार बढ़ गया और उनकी संख्या बहुत अधिक होने के कारण वे अशांति सृष्टि करने लगे।

सार्वजनिक निर्माण-कार्य

सुलतान ने सार्वजनिक निर्माण-विभाग के द्वारा बहुत कार्य कराया जिससे बेकारी कम हुई तथा जनसाधारण को स्थायी लाभ हुआ। इस विभाग के कर्मचारी निर्माण-कार्य की योजना बनाते तथा उस पर होने वाले व्यय का अनुमान प्रस्तुत करते थे। अर्थ-विभाग उसकी जाँच करके उसे स्वीकृति प्रदान करता था। उसके बाद कार्य आरंभ होता था। इस भाँति नहरों और सड़कों के अतिरिक्त पुल, मस्जिद, मदरसे, नगर, बाग़ बनवाए गये और अशोक के दो स्तम्भ दिल्ली लाकर गड़वाए गये। उसने क़ुत्बमीनार की भी मरम्मत कराई। इस भाँति इस दिशा में फ़ीरोज़ ने बहुत कार्य किया।

उत्तराधिकारी का निर्वाचन

सुलतान फ़ीरोज़ ने भावी शांति की रक्षा के हेतु अपना उत्तराधिकारी पहले से घोषित करना उपयोगी समझा। अस्तु, उसने सन् १३५९ के लगभग अपने ज्येष्ठ पुत्र फतह खाँ को युवराज घोषित कर दिया। परंतु फतह खाँ १३७५ ई० में ही मर गया। अब सुलतान ने अपने द्वितीय पुत्र ज़फ़र खां को युवराज घोषित किया परंतु वह भी फ़ीरोज़ के पहले ही मर गया। अब फ़ीरोज़ ने अपने तीसरे बेटे मुहम्मद खाँ को युवराज न बना कर फ़तह खाँ के बेटे तुग़लकशाह को युवराज घोषित किया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस कार्य से मुहम्मद खाँ बहुत असंतुष्ट हुआ। कुछ लोगों को यह भी संदेह था कि खानजहाँ स्वयं शक्ति छोड़ना नहीं चाहता। इसलिए वह मुहम्मद खाँ के स्थान पर उसके भतीजे को युवराज बनाने का समर्थन कर रहा है। मुहम्मद खाँ के मित्र बराबर उसे भड़काते रहे। फलतः दर्बार में दो दल हो गये—एक खानजहाँ के अनुयायियों का और दूसरा मुहम्मद खाँ के मित्रों का। वज़ीर ने राजकुमार पर यह अभियोग लगाया कि वह राजशक्ति प्राप्त करने के लिए षड्यंत्र कर रहा है। परंतु राजकुमार ने सुलतान से भेंट करके अपने को निर्दोष सिद्ध कर दिया तथा वज़ीर को ही षड्यंत्र करने का दोषी बनाया। राजधानी में ठहरने की सुविधा रहते-रहते उसने मंत्री को नष्ट करने का निश्चय किया क्योंकि उसे अब पूर्ण विश्वास हो गया था कि सुलतान वज़ीर के प्रभाव में आकर उसे युवराज बनाने में आनाकानी कर रहा है। एक दिन उसने मंत्री के महल पर हमला कर दिया और उसकी संपत्ति को लूट लिया तथा उसको घायल कर दिया। बाद में उसने उपयुक्त अवसर पाकर उसका वध करवा दिया। राजकुमार मुहम्मद ने अब सुलतान के समान कार्य करना आरंभ किया। सारी शक्ति उसके हाथ में आ गई। खुतबे तथा सिक्के में भी उसका नाम रख दिया गया और उसने शाह का विरुद् धारण किया। फिर भी उसने अपने वृद्ध पिता का अधिकार समाप्त नहीं किया और नाम के लिए फ़ीरोज़ ही सुलतान बना रहा।

मुहम्मद ने काफी सतर्कता से शासन करने का उद्योग किया। फिर भी उलमा उससे असंतुष्ट हो गये। तुग़लकशाह के समर्थकों के साथ वज़ीर के मित्र भी मिल गये और उन लोगों ने गृहयुद्ध की तैयारी कर ली। सुलतान यह सब दृश्य देखता रहा परंतु उसमें इतनी शक्ति नहीं थी कि वह कुछ निर्णय करता और उसे कार्यान्वित करता। दोनों विरोधी दलों में जम कर युद्ध आरंभ हो गया। परंतु उसी समय सुलतान फ़ीरोज़ ने तुग़लकशाह के पक्ष का समर्थन किया। उसकी लोकप्रियता के कारण मुहम्मद के समर्थकों की संख्या घटने लगी तथा उसके विरोधियों का उत्साह बढ़ गया और वह पराजित होकर राजधानी छोड़ने के लिए बाध्य हुआ। इसके कुछ समय बाद ही सुलतान की मृत्यु हो गई।

फ़ीरोज़ विनम्र स्वभाव, उदार प्रवृत्ति एवं धार्मिक भावना वाला व्यक्ति था। किसी के साथ कठोर व्यवहार कर सकना उसके लिए कठिन था। हाँ, यदि धर्म की उन्नति अथवा रक्षा के लिए कठोरता अपेक्षित हो तो वह उसे अपना सकता था। इसीलिए हम देखते हैं कि वह राजद्रोहियों, भगोड़े सिपाहियों, अभियुक्तों, बेईमान एवं भ्रष्ट कर्मचारियों को क्षमा कर सकता था परंतु हिन्दुओं और महदवियों की हत्या करने में संकोच नहीं करता था। सुलतान फ़ीरोज़ बिलकुल उलमा के

फ़ीरोज़ का चरित्र और व्यक्तित्व

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इशारों पर चलता था और व्यक्तिगत जीवन तथा सार्वजनिक नीति में उनके मत का आदर करता था। साधारण दृष्टि से वह एक धर्म-निष्ठ मुसलमान था। परंतु वह मद्यपायी तथा संतों की मज़ारों का भक्त था जो इस्लाम के सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। वह स्वयं नेकनीयत था और दूसरों की नेकनीयती पर विश्वास करता था। इसी कारण उसने जिसे एक बार अपना विश्वासपात्र बनाया उसके कार्य में फिर कोई हस्तक्षेप नहीं किया। उसने अपनी शक्ति भर प्रजाप्रतिपालक होने की चेष्टा की और सभी वर्गों के प्रति ऐसी नीति का पालन किया जिससे वे संतुष्ट रहें और सुलतान के प्रति कृतज्ञता की भावना से प्रेरित हों। उसने उलमा, अमीर, व्यापारी, सैनिक, राजकर्मचारी, साधारण जनता—सबको प्रसन्न रखने का उद्योग किया और उसके सौभाग्य से इस काल में अकाल भी नहीं पड़े जिससे सर्वत्र धन-धान्य की प्रचुरता रही। सुलतान फ़ीरोज़ ने मुस्लिम जनता का जितना उपकार किया उतना किसी अन्य सुलतान ने नहीं किया। इसी कारण तत्कालीन मुस्लिम इतिहासकारों ने उसे आदर्श शासक बताया है। परंतु सैनिक योग्यता और दूरदर्शी राजनीतिज्ञता के अभाव में कोई निष्पक्ष इतिहासकार उसे इस सम्मानित विरुद् से विभूषित नहीं कर सकता। वह बड़े संकट के समय में शासक हुआ था। उस अशांति के वातावरण में उसने जिस शीघ्रता के साथ शांति स्थापित की वह अवश्य प्रशंसनीय है। उसके अनेक कार्य निश्चित रूप से प्रजाहितकारी थे—नहरों, सड़कों, पुलों, अस्पतालों का निर्माण, मदरसों तथा मकतबों की स्थापना, बेरोज़गारों को काम पर लगाना, करों को हल्का कर देना, कृषि में उन्नति करना, दीन असहायों की सहायता करना, आदि। परंतु केवल इतने के ही कारण हम उसे एक सफल अथवा महान शासक नहीं कह सकते। उसकी नीति के कारण देश में अव्यवस्था तथा भ्रष्टाचार में वृद्धि हुई और सल्तनत का पतन अवश्यम्भावी हो गया। उलमा के हाथों में अपनी बुद्धि को बेंच देना, धार्मिक पक्षपात की नीति को बढ़ा देना, अमीरों को इतना उद्दण्ड बना देना कि वे राजाज्ञा की भी उपेक्षा करने लगें, सेना को अकर्मण्य बना देना और समस्त शासन-यंत्र को नियंत्रण की कमी एवं भ्रष्टाचार के प्रश्रय द्वारा दूषित कर देना तथा उत्तराधिकारी के प्रश्न का उचित समाधान न कर सकना, सल्तनत के लिए घातक सिद्ध हुए। अस्तु फ़ीरोज़ को मध्यम कोटि का शासक कहा जा सकता है। उसने अपने जीवन-काल में देश के भीतर शांति रखी, मितव्ययिता तथा वणिक बुद्धि द्वारा राज्य की आय बढ़ाई और साम्राज्य के विघटन को कम-से-कम कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया।

फ़ीरोज़ की मृत्यु के बाद उसके वंशजों में कोई ऐसा नहीं निकला जो शासनाधिकार को दृढ़ता के साथ अपने हाथ में रख सकता। फलतः विघटनकारी शक्तियाँ दिन-प्रति-दिन अधिक बलवती होती गईं। फ़ीरोज़ के बाद उसका पौत्र तुग़लकशाह

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीय के नाम से गद्दी पर बैठा। परंतु उसके चचा राजकुमार मुहम्मद ने उसका विरोध किया और अपने को दिल्ली का वास्तविक शासक घोषित किया तथा नासिरुद्दीन मुहम्मद शाह का विरुद् धारण किया। उसने अपने साथियों को एकत्रित करके दिल्ली पर आक्रमण किया परंतु मलिक फ़ीरोज़ अली, खानजहाँ और बहादुर नाहिर के विरोध के कारण उसकी पराजय हो गई और उसने काँगड़ा क्षेत्र में शरण ली।

फ़ीरोज़ के अयोग्य वंशधर (१) तुग़लकशाह द्वितीय (१३८८-१३८९ ई०)

तुग़लकशाह की स्थिति दृढ़ होने लगी। परंतु उसने अपने आचरण द्वारा स्वयं अपने विरोधियों की सृष्टि आरंभ कर दी। उसने सुरा और सुन्दरी का सेवन असंयमित ढंग से आरंभ किया जिसके कारण उसका सम्मान दिन प्रतिदिन घटने लगा। उसने भावी विरोधियों को केवल संदेह के आधार पर बंदीगृह में डाल दिया। इस दशा से भयभीत होकर अबू बक्र ने जो फ़ीरोज़ के द्वितीय पुत्र ज़फ़रखाँ का बेटा था षड्यंत्र करना आरंभ किया।

नायब वज़ीर रुकनुद्दीन तथा राजमहल के रक्षक सैनिकों की सहायता से उसने विद्रोह कर दिया। सुलतान वज़ीर को साथ लेकर भागा परंतु वह पकड़ा गया और मार डाला गया। अबू बक्र अब दिल्ली का स्वामी हो गया। परंतु जब तक मुहम्मदशाह जीवित था तब तक उसकी स्थिति संकटमय ही थी। वह उसकी पराजय की योजना तैयार कर रहा था कि उसे पता चला कि रुकनुद्दीन अबू बक्र की हत्या करके स्वयं सुलतान होने का स्वप्न देख रहा है। अस्तु, उसने रुकनुद्दीन का वध कर दिया। इससे अबू बक्र का पक्ष दुर्बल हो गया और समाना के शताधिकारियों ने विद्रोह करके वहाँ के हाकिम का वध कर दिया तथा मुहम्मदशाह को नेतृत्व ग्रहण करने के लिए आमंत्रित किया। मुहम्मदशाह ने इस परिस्थिति से लाभ उठाकर दिल्ली पर दूसरी बार आक्रमण किया। परंतु बहादुर नाहिर ने उसे फिर परास्त किया।

(२) अबू बक्र (१३८९-९०)

मुहम्मदशाह ने अब जलेसर में अपना अड्डा जमाया। अबू बक्र से असंतुष्ट अमीर मुहम्मदशाह के पास एकत्रित होने लगे। इनमें दो प्रमुख व्यक्ति थे। मलिक सरवर (जिसे उसने ख्वाजा जहाँ की उपाधि दी तथा अपना वज़ीर नियुक्त किया) और नासिरुलमुल्क खिज्र खाँ। दिल्ली लेने का एक और प्रयास किया गया परंतु यह भी असफल रहा। तो भी उसके समर्थकों की संख्या बढ़ती गई। पश्चिमोत्तर क्षेत्र में सुलतान, समाना, लाहौर, हिसार और हाँसी के हाकिम पूर्णतया उसके समर्थक हो गये।

अबू बक्र ने जलेसर पर आक्रमण किया परंतु मुहम्मदशाह ने उसी समय दिल्ली

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर अधिकार कर लिया। अबू बक्र के वापस जाने पर उसे फिर जलेसर भागना पड़ा। परंतु अब अबू बक्र का भाग्य-सूर्य तेजी से अस्ताचल की ओर जा रहा था। उसका एक प्रधान समर्थक और दिल्ली की पुलिस का अध्यक्ष इस्लाम खाँ मुहम्मदशाह से मिल गया और उसने उसे दिल्ली आने के लिए आमंत्रित किया। अबू बक्र को जब इस षड्यंत्र का पता चला तब वह बिलकुल घबड़ा गया और मेवात की ओर भाग गया। इसलिए मुहम्मदशाह ने दिल्ली में प्रवेश करके राज-सिंहासन पर अधिकार कर लिया। उसने इस्लाम खाँ को अपना वज़ीर नियुक्त किया और राजमहल के सैनिकों को बर्खास्त कर दिया क्योंकि उन्होंने षड्यंत्रों में भाग लिया था। इसके बाद उसने अबू बक्र के विरुद्ध सेना भेजी और उसे पराजित करके मेरठ में कैद कर दिया जहाँ वह कुछ समय बाद मर गया। अब मुहम्मद का अधिकार अपेक्षाकृत निष्कण्टक हुआ।

(३) नासिरुद्दीन मुहम्मदशाह (१३९०-९४ ई०)

मुहम्मदशाह ने सुलतान की शक्ति बढ़ाने का उद्योग किया। गुजरात में दमग़ानी की हत्या के बाद से दिल्लीश्वर का अधिकार क्षीण होता गया था। दमग़ानी की हत्या में अबू राजा तथा मंत्री के मित्रों का हाथ था। उसके बाद फरहतुल्मुल्क वहाँ का हाकिम नियुक्त हुआ। राजकुमार मुहम्मद ने उसके स्थान पर सिकंदर ख़ाँ को नियुक्त किया परन्तु फरहतुल्मुल्क ने सिकन्दर को कार्यभार सौंपने के स्थान पर उसकी हत्या कर डाली और शासन का अधिकार अपने हाथों में ही रखा। अब राजगद्दी पाने के पश्चात् मुहम्मदशाह ने ज़फ़र ख़ाँ को गुजरात पर अधिकार करने के लिए भेजा। ज़फ़र ख़ाँ सुलतान मुहम्मदशाह की ओर से वहाँ शासन करने लगा। इसके बाद उसने इटावा तथा भँसोड़ के हिन्दू विद्रोहों का दमन किया और फिर बहादुर नाहिर के विरुद्ध सेना भेजी। यद्यपि बहादुर नाहिर पराजित हो गया परंतु उसकी शक्ति का नाश नहीं हुआ।

इस्लाम खाँ की नियुक्ति से ख्वाजा जहाँ संतुष्ट नहीं था। वह उसके विरुद्ध बराबर षड्यंत्र करता रहा। अंत में उसने सुलतान से शिकायत की कि इस्लाम ख़ाँ विद्रोह की तैयारी कर रहा है। उसके भतीजे ने भी उसके विरुद्ध साक्षी दी। इस कारण उसका वध करा दिया गया और ख्वाजा जहाँ का प्रभुत्व जम गया। बहादुर नाहिर तथा दोआब के हिन्दुओं के विरुद्ध बराबर युद्ध चलते रहे और उनसे थक कर सन् १३९४ ई० में सुलतान मर गया।

मुहम्मदशाह के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र हुमायूँ राजा हुआ और उसने अलाउद्दीन सिकंदरशाह का विरुद् धारण किया परंतु वह शीघ्र ही मर गया और उसके बाद ख्वाजा जहाँ ने उसके छोटे भाई राजकुमार महमूद को गद्दी पर बिठा दिया। उस समय पंजाब में

(४) महमूदशाह (१३९४-१४१२ ई०)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खोखरों का विद्रोह बढ़ रहा था। उनसे युद्ध करने के लिए पिछले सुलतान ने प्रांतपतियों को राजधानी आने का आदेश भेजा था। वे सब महमूद को इतना उपेक्षणीय समझते थे कि वे उसके राज्यारोहण की प्रतीक्षा किये बिना ही लौटने लगे। बहुत समझाने-बुझाने पर वे रुके और सुलतान महमूदशाह नियमतः अभिषिक्त हो गया।

महमूदशाह के समय में साम्राज्य के प्रांतों में स्वतंत्र राज्यों की स्थापना आरंभ हो गई। सब से पहिले ख्वाजा जहाँ ने अपने लिए मलिक उस्शर्क़ की पदवी प्राप्त की और फिर वह हिन्दुओं का विद्रोह दबाने के बहाने चला गया। उसने हिन्दू राजाओं को हराया तो अवश्य परंतु इससे दिल्ली के सुलतान को कोई लाभ नहीं हुआ। ख्वाजा जहाँ ने जौनपुर को अपनी राजधानी बनाकर स्वतंत्र शर्क़ी सल्तनत की स्थापना की और इस भांति सुलतान का अधिकार पूर्वी क्षेत्र से उठ गया। गुजरात का हाकिम ज़फ़र ख़ाँ भी प्रायः स्वतंत्र हो गया। दिपालपुर के हाकिम सारंग ख़ाँ ने समाना के अतिरिक्त प्रायः समस्त पश्चिमोत्तर प्रांत अपने वश में कर लिया और वह भी स्वेच्छा-पूर्वक शासन करने लगा।

इतने से ही बस नहीं हुआ। राजधानी में भी षड्यंत्र चलते रहे। इन षड्यंत्रों में मल्लू ख़ाँ, मुक़र्रब ख़ाँ तथा सआदत ख़ाँ ने विशेष भाग लिया। सुलतान महमूद का वज़ीर सआदत ख़ाँ था। उसमें तथा संरक्षक मुक़र्रब ख़ाँ में गहरी प्रतिद्वंदिता थी और दोनों ही एक दूसरे को नीचा दिखाना चाहते थे। मल्लू ख़ाँ सारंग ख़ाँ का भाई था और वह अत्यंत महत्वाकांक्षी, स्वार्थी तथा कुटिल था। जिस समय सुलतान ग्वालियर में था मल्लू ने वज़ीर का वध करके सुलतान को वश में करने का षड्यंत्र रचा। परंतु वह इसमें असफल हुआ और कठिनाई से बचकर दिल्ली आया। उसके अन्य सहयोगी मार डाले गये।

जब सुलतान वापस आया तब मुक़र्रब ने उसे भीतर घुसने की अनुमति नहीं दी। सुलतान तथा सआदत ख़ाँ की सारी चेष्टाएँ विफल हो गईं। तब सुलतान ने मुक़र्रब की राय के अनुसार कार्य करने का वचन दिया और वह राजधानी में प्रवेश पा गया। परंतु इस कार्य से सआदत को बहुत क्षोभ हुआ। उसने अपने महत्त्व को बनाए रखने के लिए तुग़लकशाह द्वितीय के छोटे भाई नसरत ख़ाँ को मेवात से बुला कर उसे सुलतान घोषित कर दिया और फ़ीरोज़ाबाद में अपने सैनिकों का पड़ाव डाला। कुछ समय बाद सआदत ने अपने मित्रों को शत्रु बना लिया और उसने मुक़र्रब ख़ाँ से सहायता माँगी। मुक़र्रब ने पहले उसे आश्रय देने का वचन दिया और जब वह उसके अधिकार में आ गया तब उसका वध करा दिया।

मल्लू ख़ाँ ने नसरतशाह का पक्ष लिया और उसकी ओर से दिल्ली पर अधिकार करना चाहा। परंतु जब वह इसमें सफल नहीं हुआ तब उसने नसरतशाह का साथ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छोड़कर मुक़र्रब खाँ की अधीनता स्वीकार कर ली। एक बार राजधानी में रहने का अवसर पाकर उसने फिर कुचक्र चलाने आरंभ किये और मुक़र्रब को मार कर सुलतान महमूद का वज़ीर तथा संरक्षक बन बैठा। मल्लू ने महमूद की ओर से शासन करने का निश्चय किया और नसरतशाह की शक्ति नष्ट करने के उद्देश्य से उस पर आक्रमण किया। इस समय नसरतशाह का प्रधान मंत्री ज़फ़र खाँ का बेटा तातर खाँ पराजित होकर अपने पिता के पास गुजरात चला गया और नसरतशाह दोआब में छिप रहा।

तैमूर का आक्रमण (१३९८-९९ ई०)

इसी समय समरक़ंद के अमीर तैमूर ने भारत पर आक्रमण किया। तैमूर बर्लास तुर्कों में से एक था और उसने अपने व्यक्तिगत शौर्य द्वारा चग़ताई तुर्कों की अध्यक्षता प्राप्त कर ली थी। उसकी इच्छा भारत पर आक्रमण करने की हुई। आक्रमण का वास्तविक कारण था साम्राज्य-लिप्सा तथा भारत की राजनीतिक विश्रृंखलता। परंतु तैमूर ने अपने सर्दारों तथा अमीरों के सामने इसे धार्मिक कर्तव्य का रूप देने की चेष्टा की।

उसने पहले सन् १३९७ में अपने पौत्र पीर मुहम्मद को भारत पर आक्रमण करने के लिए भेजा। पीर मुहम्मद ने सिंधु पार किया और मुलतान का घेरा डाला। वहाँ पर उस समय सारंग खाँ का अधिकार था। पीर मुहम्मद ने जब सारंग खाँ के पास तैमूर की अधीनता स्वीकार करने का संवाद भेजा तब उसने इसे अस्वीकार किया और कहला भेजा कि भिक्षा माँगने से साम्राज्य प्राप्त नहीं होता, उसके लिए चाहिए बाज़ू में ताक़त और तलवार में धार। पीर मुहम्मद ने तैमूर को उसकी शक्ति और प्रतिक्रिया का विवरण लिख भेजा। अब तैमूर ने स्वयं भारत की ओर आने का निश्चय किया।

उसने अपने मंत्रियों और सेनापतियों को एकत्रित किया और उनके सामने अपनी ग़ाज़ी बनने की इच्छा का जिक्र किया। उसने कहा कि मेरी इच्छा है कि मैं विधर्मियों पर आक्रमण करके ग़ाज़ी का पद प्राप्त करूँ। मैंने जब क़ुरान का फ़ाल (शकुन) निकाला तो उसमें भी इसका समर्थन मिला। अस्तु, मैं चाहता हूँ कि आप लोग निश्चय करें कि भारत पर आक्रमण करना उचित होगा अथवा चीन पर।

इस पर एक व्यक्ति ने कहा कि भारत की विजय तभी संभव हो सकती है जब मार्ग की चार विकट बाधाओं का प्रतिकार किया जा सकें। भारत-विजय में पहली प्रधान बाधा है वहाँ की पाँच विशाल नदियाँ जो काश्मीर के पहाड़ों से निकलकर अरब सागर में गिरती हैं और जिनको नाव और पुल के बिना पार नहीं किया जा सकता। वहाँ की दूसरी बाधा है घने जंगल जिनको भेद करके आगे बढ़ना बहुत दुष्कर है क्योंकि पेड़ और लताएँ इस प्रकार चिपटी रहती हैं कि मार्ग अवरुद्ध हो

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है। तीसरे, भारत के वन्य प्रदेशों में अनेक सुन्दर दुर्ग हैं और वहाँ के सैनिक, भूमिपति तथा राजे दुर्घर्ष योद्धा हैं। चौथे, वहाँ एक भीमकाय पशु होता है जो सैनिक और घुड़सवार दोनों को एक साथ पकड़ कर इस प्रकार घुमाकर पटकता है कि उनके चीथड़े निकल आते हैं।

एक दूसरे वर्ग ने इसका प्रतिवाद किया और कहा कि सुलतान महमूद ने केवल तीस हज़ार अश्वारोहियों की सहायता से इन सभी बाधाओं पर विजय प्राप्त कर के भारत की संपत्ति प्राप्त की थी तब अमीर को इन बाधाओं से क्या भय हो सकता है क्योंकि उसके पास तो एक लाख सैनिक प्रस्तुत हैं। भारत-विजय द्वारा जो विपुल धनराशि प्राप्त होगी उससे सैनिक समृद्ध हो जायँगे, राजकोष भर जायगा तथा अन्य विजयें सुगम हो जायँगी।

राजकुमार शाहरुख ने कहा कि भारतवर्ष एक समय फारस के साम्राज्य का अंग रहा था। अमीर ने फारस को वश में कर लिया है इसलिए उसे भारत पर अधिकार करके अपना यश बढ़ाना चाहिए। राजकुमार मुहम्मद सुलतान ने कहा कि भारत में विधर्मियों का निवास है इसलिए उस पर आक्रमण करना हमारा धार्मिक कर्त्तव्य है। साथ ही वहाँ पर सोने-चाँदी, हीरे-मोती आदि का विपुल भण्डार है तथा वहाँ की भूमि अत्यंत उर्वर है। इस कारण भारत-विजय आर्थिक दृष्टि से भी हितकर है। इस बात का समर्थन करते हुए, वज़ीरों ने कहा कि भारत की वार्षिक आय ६ अरब है।

परंतु कुछ सर्दारों ने इसका विरोध किया। उन्होंने कहा कि यह ठीक है कि ईश्वर की कृपा से हम भारत पर विजयी हो सकते हैं। परंतु यदि विजय के पश्चात् हम वहाँ स्थायी रूप से बस गये तो हमारी जाति पतित हो जायगी और कुछ पीढ़ियों के बाद हमारे वंशधर भी अपनी शक्ति और शूरता खो बैठेंगे और वे भी वहाँ के निवासियों के समान हो जायँगे। यह सुनकर कुछ निराशा-सी छा गई। तब तैमूर ने कहा,

"भारत पर आक्रमण करने में मेरा उद्देश्य यह है कि हमलोग विधर्मियों के विरुद्ध सेना ले जाकर मुहम्मद के सिद्धान्त के अनुसार उनको सद्धर्म में दीक्षित करें और देश को कुफ़ तथा बहु-ईश्वरवाद के कलुष से मुक्त कर और उनके देवालयों तथा मूर्तियों का विध्वंस करके खुदा के समक्ष ग़ाज़ी और मुजाहिद के रूप में प्रगट हों।"

उलमा ने भी कहा कि तैमूर का उद्देश्य धर्मानुकूल है और उसमें सहयोग करना प्रत्येक मुसलमान का कर्त्तव्य है। अस्तु, विरोध समाप्त हो गया और आक्रमण की तैयारी होने लगी।

इस विवरण से विदित होता है कि तैमूर अपनी साम्राज्य-विस्तार की योजना को धर्म का स्वरूप देना चाहता था। परंतु जब उसने सेनापतियों का विरोध देखा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तब उसने साम्राज्य-स्थापन के उद्देश्य को छोड़ दिया और केवल लूट-मार करने तथा विधर्म का विनाश करने की बात कही।

तैमूर अप्रैल १३९८ में समरकंद से रवाना हुआ और उसने मार्ग में सूचना पाई कि मई १३९८ में पीर मुहम्मद ने मुलतान और उच्छ पर अधिकार कर लिया है। मार्ग में दुर्गों का निर्माण तथा समरकंद से अपना संबंध अविच्छिन्न रखने की व्यवस्था करता हुआ तैमूर सितंबर मास में सिंधु तट पर पहुँचा। सिंधु पार करके उसने स्थानीय शासक शहाबुद्दीन मुबारकशाह को पराजित किया और झेलम पार की।

इसके बाद वह तलम्बा पहुँचा। वहाँ के नागरिकों ने धन देने का वचन देकर अभयदान पाया। परंतु जब धन एकत्रित किया जा रहा था तब किसी बात पर झगड़ा हो गया और तैमूर ने समस्त जनता की हत्या का आदेश निकाल दिया। इसके पश्चात् उसने खोखरों को पराजित करके उत्तरी मार्ग को सुरक्षित बनाया और पीर मुहम्मद के आने पर उसे दक्षिण पार्श्व का संचालक नियुक्त किया।

अब तैमूर वेगपूर्वक आगे बढ़ने लगा। सीमा की रक्षा का कोई समुचित प्रबंध नहीं था। दिल्ली का सुलतान मल्लू खाँ के हाथ की गुड़िया मात्र था। सेना जर्जर एवं दुर्बल थी। अस्तु, तैमूर को मार्ग में विशेष बाधा नहीं हुई। पाकपट्टन, दीपालपुर, सिरसा, फ़तेहाबाद, समाना, कैथल, पानीपत आदि नगरों और मार्ग के ग्रामों को रौंदता तथा नष्ट करता हुआ वह दिसंबर के प्रारंभ में दिल्ली के समीप पहुँच गया। तैमूर का साधारण नियम यह था कि वह पहले नगर पर आक्रमण करता था। जब वहाँ की जनता रक्षा के लिए प्रार्थना करती तब वह धन की माँग करता। इस आधार पर समझौता हो जाने के पश्चात् उसके सैनिक नगर में प्रवेश करते और किसी-न-किसी बहाने झगड़ पड़ते। उसी को बहाना बनाकर सारा नगर लूट लिया जाता और नष्ट-भ्रष्ट कर दिया जाता था। कहीं तैमूर के शत्रुओं को छिपाने का अभियोग लगाया जाता, कहीं सैनिकों के अपमान की बात कही जाती और कहीं समझौता तोड़ने का अपराध मढ़ा जाता। परंतु होता सर्वत्र वही था। नगर में बहुत से स्त्री-पुरुष पकड़ भी लिये जाते थे और उनको दास बनाकर सैनिकों में बाँट दिया जाता था।

दिल्ली के निकट आने पर जब उसका अधिकार लोनी पर हुआ तो उसने बिना कारण ही वहाँ की हिन्दू जनता का वध करा दिया। परंतु मार्ग के मगरों में उसने हिन्दू मुसलमान का भेद किये बिना सभी को समान रूप से लूटा था और अपमानित किया था एवं वध किया था।

दिल्ली की सेना से पहली मुठभेड़ में तैमूर की पराजय हुई। इसको देखकर वे एक लाख बंदी जो तैमूर की सेना में विद्यमान थे हर्षित हुए। यह देखकर तैमूर ने उन सबके वध का आदेश निकाल दिया और मौलाना नासिरुद्दीन उमर जिन्होंने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कभी एक चिड़िया भी नहीं मारी थी पंद्रह मनुष्यों की हत्या करने के लिए बाध्य हुए। तैमूर के निकट मानव-जीवन का जैसे कोई मूल्य ही नहीं था!

१७ दिसंबर को महमूद की सेना और तैमूर में युद्ध हुआ। दिल्ली की सेना शीघ्र ही तितर-बितर हो गई और सुलतान प्राण बचाकर गुजरात की ओर भागा। उसका संरक्षक बरन की ओर भागा और राजधानी की जनता तैमूर के अत्याचारों की कल्पना मात्र से थर्रा गई। दिल्ली में भी वही हुआ जो अन्य नगरों में हुआ था। कई दिन तक लूट, बलात्कार और हत्या का ताण्डव नृत्य होता रहा। दिल्ली-वासियों ने यथा-साध्य विरोध किया परंतु असंगठित नागरिक जनता सैनिकों का सामना किस प्रकार कर सकती। फलतः अत्यंत भीषण हत्याकाण्ड हुआ। सीरी, जहाँ-पनाह तथा पुरानी दिल्ली की बस्तियाँ उजड़ गईं, स्थान-स्थान पर मृत व्यक्तियों के मुण्डों के स्तम्भ खड़े हो गये और सभी कारीगर पकड़ कर तैमूर के मध्यएशियाई साम्राज्य में भेज दिये गये।

दिल्ली की लूट में तैमूर को अतुल संपत्ति प्राप्त हुई। उसे लेकर वह फ़ीरोज़ा-बाद, वज़ीराबाद, मेरठ, हरिद्वार, जम्मू आदि होता हुआ मार्च १३९९ में लाहौर पहुँचा। प्रायः सभी स्थानों में उसे विरोध का सामना करना पड़ा परंतु विजय सदा उसी की हुई और लूट-मार हत्या आदि का क्रम वैसा ही रहा जैसा कि आने के समय रहा था। मार्ग में खिज्र खाँ और बहादुर नाहिर ने उससे भेंट की तथा उसकी अधी-नता स्वीकार कर ली। लाहौर में तैमूर ने एक दर्बार किया और खिज्र खाँ को लाहौर, मुलतान और दिपालपुर का शासक नियुक्त किया। इसके बाद उसने सब सर्दारों को अपने-अपने प्रांतों में जाने का आदेश दिया और वह स्वयं भी समरकंद लौट गया।

आक्रमण के परिणाम

तैमूर के मार्ग में पड़ने वाला समस्त क्षेत्र वीरान और ऊजड़ हो गया और वहाँ बहुत अव्यवस्था फैल गई। दिल्ली में कोई स्वामी नहीं था। नगर बिलकुल उजड़ गया, अनेक भव्य इमारतें नष्ट हो गईं तथा मृत शरीरों के सड़ने के कारण महामारी फैल गई। आग और लूट के कारण अन्न भी नष्ट हो गया और कृषि के जला देने के कारण अकाल फैल गया। इस दशा में दिल्ली का दृष्य बड़ा भयावह हो गया और कुछ समय तक वहाँ बस सकना कठिन हो गया।

भारतीय जनता और विशेषकर हिन्दुओं को धन-जन की अपार क्षति सहन करनी पड़ी। तैमूर यहाँ से केवल धन-सामग्री ले ही नहीं गया वरन् जो ले जाना संभव नहीं था उसे नष्ट करता गया। इस क्षति को पूरा करने में अनेक वर्ष लग गये। हिन्दुओं के मन में इस्लाम के प्रति जो अश्रद्धा फ़ीरोज़ के कृत्यों के कारण उत्पन्न हुई थी वह सौ-गुनी बढ़ गई क्योंकि तैमूर ने यह सब अनाचार और हत्या-काण्ड धर्म-प्रसार के नाम से किया था। हिन्दुओं के मन से सल्तनत के प्रति भक्ति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का भाव भी उठ गया और उन्होंने अपनी रक्षा के लिए स्वयं व्यवस्था करने की आवश्यकता को अनुभव किया।

दिल्ली की सल्तनत को इस आक्रमण से बहुत हानि पहुँची। उसका तो एक प्रकार से विनाश ही हो गया। राजधानी ध्वस्त, राजकोष रिक्त, राजा और वज़ीर पलायनकारी, इस स्थिति में सल्तनत के प्रति भला किसकी आस्था रह सकती थी। गुजरात में मुज़फ़्फ़रशाह पहले ही स्वतंत्र हो गया था। वही हाल जौनपुर के शर्क़ियों का था। मालवा का शासक दिलावर ख़ाँ भी अब प्रायः स्वतन्त्र हो गया और पंजाब तथा उत्तरी सिंध में खिज्र ख़ाँ तैमूर के हाकिम की तरह शासन कर रहा था। समाना, बयाना और कालपी तथा महोबे के प्राँतिपति भी स्वेच्छापूर्वक शासन करने लगे। स्थान-स्थान पर हिन्दू राजाओं ने भी कर देना बंद करके अपना प्रभाव-क्षेत्र बढ़ाना आरंभ कर दिया।

परंतु जहाँ भारतीयों तथा दिल्ली के सुलतान को इतनी क्षति हुई वहाँ तैमूर को इस आक्रमण से बहुत लाभ हुआ। उसकी ख्याति में वृद्धि हुई। उसके आर्थिक साधन बढ़ गये और उसने भारत से प्राप्त धन के द्वारा विशाल इमारतों का निर्माण कराया। भारतीय कारीगरों ने अपनी उत्कृष्ट कला से इनको अलंकृत किया और इस भाँति तैमूर की राजधानी तथा अन्य नगरों में सुन्दर इमारतें खड़ी हो गईं। तैमूर को पंजाब से वार्षिक कर भी मिलता था और इस भाँति उसके साम्राज्य का विस्तार बढ़ गया यद्यपि उसका दायित्व नहीं बढ़ा।

तुग़लक वंश का अन्त

कुछ समय बीतने पर नसरतशाह ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया और उसने मल्लू ख़ाँ के विरुद्ध एक सेना भेजी। परंतु उसने स्थानीय हिन्दू राजाओं की सहायता से उसे हरा दिया और दिल्ली पर पुनः अधिकार कर लिया। नसरतशाह मेवात की ओर भाग गया और थोड़े ही समय बाद मर गया।

मल्लू ख़ाँ ने अब फिर शक्ति बढ़ाने की चेष्टा की। उसने बयाना के शासक को हरा दिया और बाद में उसको आश्वस्त करके जौनपुर के विरुद्ध युद्ध करने ले गया। परंतु वहाँ से लौटते समय उसका वध कर दिया। इसी भांति उसने धोका देकर बहादुर नाहिर के पुत्र मुबारक ख़ाँ का भी बध कर दिया और अपने भूतपूर्व हिन्दू सहायकों को दबाने का उद्योग किया। परंतु इससे उसकी शक्ति में इतनी वृद्धि नहीं हुई जितनी उसकी बदनामी बढ़ी।

अब उसने सुलतान महमूद के नाम का लाभ उठाने के विचार से उसे राजधानी में आने के लिए आमंत्रित किया। महमूदशाह ने गुजरात में बहुत अपमान सहा था। वहाँ से ऊबकर वह धार गया। परंतु दिलावर ख़ाँ ने भी उसके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया। वह अपमान की रोटी खा रहा था। उसी समय उसे मल्लू ख़ाँ का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निमंत्रण मिला। अस्तु, वह दिल्ली वापस चला गया। परंतु वहाँ जाकर उसने अपनी स्थिति को पहले से भी खराब पाया। इसलिए १४०२ ई० में जब मल्लू ने इब्राहीम शर्क़ी के ऊपर आक्रमण किया, वह शर्क़ी सुलतान से मिल गया। यहाँ भी उसे अपमान ही मिला। इसलिए वह वहाँ से भागकर कन्नौज आया और उस पर अधिकार करके वहीं रहने लगा। मल्लू ने कन्नौज जीतना चाहा पर वह इसमें सफल नहीं हुआ। यदि मल्लू जीवित रहता तो वह सुलतान को शांति से न रहने देता। परंतु सन् १४०५ ई० में वह खिज्र खाँ के विरुद्ध युद्ध करता हुआ मारा गया।

महमूदशाह ने १४०५ ई० के पूर्व तीन बार अपने कर्त्तव्य से मुख मोड़कर केवल स्वार्थ का ध्यान रखा था। दो-बार वह अपनी स्थिति सुधारने की इच्छा से शत्रु-पक्ष से मिल गया था। ऐसे व्यक्ति से भविष्य के विषय में कोई आशा नहीं की जा सकती थी। वह केवल किसी महत्वाकांक्षी व्यक्ति का आश्रित ही बनने के योग्य था। सन् १४०५ ई० में दिल्ली पर दौलत खाँ का प्रभुत्व जम गया और उसने महमूदशाह को सम्मानपूर्वक वापस बुलाया। परन्तु महमूदशाह और दौलत खाँ को पूर्व पश्चिम दोनों ही ओर संकट था। सन् १४०६ ई० में उन्होंने जौनपुर के शासक इब्राहीमशाह शर्क़ी पर आक्रमण किया। शर्क़ी सुलतान ने प्रत्याक्रमण करके कन्नौज पर अधिकार कर लिया और सम्भल तथा बरन तक पीछा किया। परंतु उसी समय गुजरात के शासक के आक्रमण का समाचार सुनकर वह वापस चला गया। इसी भाँति जब दौलत खाँ ने खिज्र खाँ पर आक्रमण किया तब उसने सुन्नम, सरहिंद और हिसार पर अधिकार कर लिया। इसी पतनोन्मुख दशा में सन् १४१२ ई० में महमूदशाह की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के साथ तुग़लक वंश का अंत हो गया यद्यपि उसके उत्तराधिकारी कुछ समय तक तुग़लक सुलतानों के नाम के ही सिक्के ढलवाते रहे। महमूद के बाद दौलत खाँ दिल्ली का स्वामी हुआ।

मुग़लेतर दिल्ली के मुस्लिम राजवंशों में तुग़लक वंश का शासन सबसे अधिक समय तक रहा। इसी राजवंश ने मुस्लिम सत्ता का सर्वाधिक प्रसार किया और इसी के काल में विघटनकारी शक्तियाँ इतने प्रचण्ड वेग से उठीं कि उन्होंने सल्तनत को सदा के लिए भूसात् कर दिया। इस स्थान पर हम इसके पतन के कारण और उसके स्वरूप पर संक्षेप में विचार करेंगे। गुलतान ग़यासुद्दीन तुग़लक ने सर्वसम्मति से अधिकार प्राप्त किया था। उसकी नीति भी ऐसी थी जिसके कारण उसके राजवंश की नींव दृढ़तर हो गई। उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी मुहम्मद बिन तुग़लक अत्यंत ही विलक्षण व्यक्ति था। उसके समय में अकाल और महामारी ने डेरा डाल लिया, उसकी नूतन योजनाओं ने तत्कालीन जनता को चकाचौंध कर दिया और उनमें से कुछ की असफलता ने उसका सम्मान घटा दिया। साम्राज्य के विस्तार

तुग़लक वंश के पतन के कारण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के कारण किसी भी एक स्थान से साम्राज्य का नियंत्रण संभव नहीं था। निरंकुश राजतंत्र में विघटन की शक्तियाँ निहित रहती ही हैं। अवसर मिलते ही वे प्रकट होने लगीं। हिन्दुओं ने अपनी बेड़ियाँ उतार फेंकी और तुर्क प्रांतपतियों ने स्वतंत्र सल्तनतों की स्थापना की चेष्टा आरंभ कर दी। सुलतान के दुर्भाग्य से उसके समय में योग्य सेनापतियों का भी अभाव था और जो योग्य थे भी उन्होंने सुलतान के साथ हार्दिक सहयोग नहीं किया। विदेशी अमीरों के षड्यन्त्रों से स्थिति और भी जटिल हो गई और सुलतान के हठी स्वभाव एवं क्रूर दण्डों ने विद्रोह की ज्वाला को और भी उत्तेजित कर दिया। उसकी मृत्यु के पूर्व सम्पूर्ण दक्षिण, बंगाल और सिंध स्वतंत्र हो गये। इस भाँति साम्राज्य के पतन का आरंभ सुलतान मुहम्मद बिन तुग़लक के समय में ही आरंभ हो गया।

उसके उत्तराधिकारी फ़ीरोज़ ने दया, स्नेह एवं उदारता का व्यवहार करके सभी वर्गों का विश्वास प्राप्त कर लिया और देश में शांति स्थापित कर दी। परन्तु उसने धार्मिक पक्षपात को अपना कर हिन्दुओं को विद्रोही बना दिया। उसकी वैदेशिक नीति से सल्तनत के मान को बट्टा लगा जिससे शत्रुओं का साहस बढ़ गया और खोये हुए प्रांत दुबारा जीते न जा सके। उसने सेना का प्रबंध बिगाड़ कर सल्तनत की रीढ़ तोड़ दी और शासन में भ्रष्टाचार, जागीर प्रथा, ठेकेदारी, दास-व्यवस्था आदि के कारण ऐसी विशृंखलता के बीज बो दिये जिनका दुष्परिणाम उसके ही शासन के अंतिम वर्षों में प्रकट होने लगा। सल्तनत की नींव भीतर ही भीतर खोखली हो गई। उसके उत्तराधिकारियों की अयोग्यता के कारण अमीरों को षड्यन्त्र करने का अवसर मिल गया और उनकी गुटबंदियों के कारण सल्तनत की शक्ति क्षीण से क्षीणतर होती गई। तैमूर के आक्रमण ने रही-सही शक्ति भी समाप्त कर दी। उसके बाद तुग़लक वंश का पतन और अंत तो ध्रुव निश्चित हो गया। संदिग्ध रहा केवल यह कि उसका स्थान जौनपुर के शर्क़ी लेंगे अथवा पश्चिमोत्तर भाग का शासक खिज्र खाँ। सन् १४१४ ई० में यह भी स्पष्ट हो गया और तुग़लक वंश का स्थान सैय्यद वंश ने ले लिया।

सन् १३३५ से तुग़लक साम्राज्य का विघटन आरंभ हुआ और उसके ७७ वर्ष बाद इस वंश का अंत हुआ। पिछले राजवंशों के इतिहास में हमने देखा है कि विघटन आरंभ होने के बाद राजवंश के अंत होने में अधिक समय नहीं लगता परंतु तुग़लक वंश के विषय में यह बात नहीं देखी जाती। इसका क्या कारण है? तुग़लक वंश का तृतीय शासक फ़ीरोज़ इतना उदार एवं नेक था कि उसके विरुद्ध विद्रोह करने से कोई विशेष लाभ होने की आशा नहीं दिखाई पड़ती थी। इस कारण उसके राज्यकाल में अमीरों ने विद्रोह की इच्छा नहीं की। उसने ३७ वर्ष तक शासन किया। इसलिए विघटन-कार्य इतने दिनों तक प्रायः स्थगित रहा। उसके बाद

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद्यपि राजवंश के लोग अयोग्य एवं अनुपयुक्त सिद्ध हुए परंतु राजवंश के प्रति इस प्रकार की भावना बन गई थी कि सहसा किसी का साहस नहीं होता था कि वह वंश-परिवर्तन की चेष्टा करे। तीसरे, अमीरों में व्यक्तिगत ईर्ष्या एवं स्पर्धा इतनी बढ़ी हुई थी कि कोई भी दूसरे के अधीन रहने के लिए प्रस्तुत नहीं था। इस कारण भी राजवंश का जीवन-काल बढ़ गया।

सहायक ग्रन्थ

१. इलियट और डासन—भाग ३।
२. त्रिपाठी—पृष्ठ ६४-७७; २८२-२९१।
३. कुरेशी—ऐडमिनिस्ट्रेशन आफ दी सल्तनत आफ डेल्ही।
४. हेग—कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ़ इण्डिया—भाग ३, पृष्ठ १७३-२०५।
५. ईश्वरी प्रसाद—मेडीवल इण्डिया, पृष्ठ २९६-३५२।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१२

राजनीतिक विशृंखलता—प्रांतीय राज्यों का उदय

पन्द्रहवीं सदी की विशेषतायें

तुग़लक साम्राज्य के टूटने के कारण जिन स्वाधीन राज्यों का जन्म हुआ उनकी शक्ति क्रमशः बढ़ती गई। तुग़लक शासकों के बाद दिल्ली पर सैय्यदों का अधिकार हुआ परन्तु उनमें इतनी शक्ति नहीं थी कि वे एक भी स्वाधीन राज्य को पुनः दिल्ली की अधीनता में ला सकते। इसके विपरीत दिल्ली का जो थोड़ा सा राज्य था उस पर भी पड़ोसी स्वतन्त्र राज्य दाँत लगाने लगे और उन्होंने उसका कुछ भाग दबा भी लिया। इस भांति दिल्ली में केन्द्रीय सरकार किसी स्वाधीन प्रांतीय राज्य से किसी प्रकार श्रेष्ठतर नहीं रह गई। केवल पिछले सुलतानों की राजधानी के साथ संयुक्त होने के कारण इसका मान कुछ अधिक था। फलतः पंद्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध राजनीतिक विश्रृंखलता का युग रहा और इस काल में किसी सार्वभौम सत्ता की स्थापना संभव भी प्रतीत नहीं होती थी। पंद्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दिल्ली पर एक नयी शक्ति का अधिकार जमा जिसने राजनीतिक विश्रृंखलता नष्ट करने का श्रीगणेश किया। परंतु वास्तविक एवं व्यापक एकीकरण का कार्य मुग़ल सम्राट् अकबर के राज्याभिषेक के बाद आरंभ हुआ। इसलिए पूरी पंद्रहवीं सदी को एक विशिष्टता प्राप्त हो गई है। इस काल में केन्द्रीय मुस्लिम सत्ता का अभाव रहा। परंतु इस्लामी सभ्यता एवं शासन का प्रसार हुआ क्योंकि इस युग के स्वाधीन राज्यों में अधिकांश राज्य मुसलमानों के थे जिन्होंने अपने-अपने क्षेत्र में हिन्दू राजनीतिक शक्ति को दबाने अथवा नष्ट करने की चेष्टा की और दिल्ली के पिछले सुलतानों का अनुकरण कर के साहित्य तथा कला को प्रश्रय दिया। इस युग की एक अन्य विशेषता है हिन्दू-मुसलमानों का निकटतर सम्पर्क में आना और एक दूसरे के साथ अधिक मेल-जोल का संबंध स्थापित करना। इस काल में कुछ धार्मिक अत्याचार करने वाले शासक भी हुए परंतु प्रायः यह देखा गया कि लोगों का दृष्टिकोण साम्प्रदायिकता के संकुचित क्षेत्र

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से ऊपर उठकर राजनीतिक बन गया। अब हिन्दू या मुसलमान राजनीतिक सुविधा की दृष्टि से एक दूसरे के शत्रु या मित्र बनते थे न कि धार्मिक विद्वेष अथवा सद्भाव के कारण। इस राजनीतिक संबंध का प्रभाव सामाजिक क्षेत्र पर भी पड़ा और हिन्दुओं तथा मुसलमानों में पड़ोसी के संबंध स्थापित होने लगे। हिन्दू-मुसलमान संतों के पास भी दोनों धर्मों के लोग जाने लगे और उन संतों की वाणी में इन दोनों धर्मों में एकता स्थापित करने की प्रवृत्ति विशेषरूप से प्रगट होने लगी। इस भाँति भारतीय राष्ट्रीय विकास में पंद्रहवीं सदी का एक विशेष स्थान है।

सैय्यद वंश (१४१४-१४५१)

खिज्र खाँ ने जिस राजवंश की स्थापना की उसे सैय्यद वंश कहा गया है। इसका आधार यह है कि एक बार मलिक मर्दान दौलत ने जो फ़ीरोज के समय में मुलतान का शासक था एक दावत दी। उसमें हाथ धुलाने का कार्य मलिक सलीमाँ कर रहा था। जब अमीर सैय्यद जलाल बुखारी ने यह देखा तो उसने कहा कि सलीमाँ से यह कार्य न कराना चाहिए क्योंकि वह सैय्यद परिवार में जन्मा था। इससे लोगों को विदित हुआ कि सलीमाँ सैय्यद है। इसी सलीमाँ का पुत्र खिज्र खाँ था।

खिज्र खां की उन्नति

खिज्र खाँ नेकचलन, बात का धनी, विनम्र एवं मृदु-भाषी तथा धार्मिक प्रवृत्ति का मनुष्य था। इसलिए वह सुलतान फ़ीरोज़ का कृपा-पात्र बन गया। मलिक मर्दान दौलत भी उससे बहुत स्नेह करता था। फ़ीरोज ने मलिक मर्दान की मृत्यु के कुछ समय बाद खिज्र खाँ को मुलतान का शासक नियुक्त कर दिया। यही उसकी प्रथम प्रभावशाली नियुक्ति थी। जब पश्चिमोत्तर क्षेत्र में सारंग खाँ का प्रभाव बढ़ा तब उसने खिज्र खाँ को मुलतान से हटा दिया और वह दिल्ली चला गया। तैमूर के आक्रमण के समय वह उससे मिल गया और उसने उस पर ऐसा प्रभाव डाला कि उसने उसे लाहौर, दीपालपुर और मुलतान का हाकिम नियुक्त कर दिया। उसकी उन्नति में यह दूसरी विशेष घटना है। इसके बाद उसने मल्लू खाँ को पराजित करके अपने यश को बढ़ाया और सन् १४०५ ई० से उसकी कीर्ति बराबर बढ़ती गई। सन् १४१४ ई० में उसने दिल्ली पर अधिकार कर लिया और रायात-ए-आला एवं मसनद-ए-आला की उपाधियाँ ग्रहण कीं। उसके ऊपर तैमूर का ऐसा आतंक जमा था कि उसने शाह की उपाधि कभी ग्रहण नहीं की और न अपने नाम के सिक्के ही चलाए। उसके उत्तराधिकारी मुबारकशाह ने पहले-पहल शाह की उपाधि ली और अपने नाम के सिक्के चलाए। उसने तैमूर के उत्तराधिकारियों का प्रभुत्व भी अस्वीकार किया। उसी के समय से स्वतंत्र सैय्यद वंश का आरम्भ हुआ यद्यपि इस वंश की स्थापना ७ वर्ष पहले ही हो चुकी थी।

इस वंश में केवल चार शासक हुए जिन्होंने कुल मिलाकर ३७ वर्ष शासन किया,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ख़िज्र ख़ाँ (१४१४-१४२१ ई०) और मुबारकशाह (१४२१-१४३४ ई०) ने कुछ सैनिक शक्ति प्रदर्शित की और हिन्दू राजाओं तथा मुसलमान अमीरों को दबाने एवं स्वतंत्र पड़ोसी राज्यों को दिल्ली राज्य पर अधिकार न करने देने में सफलता पाई। परन्तु बाद वाले दोनों शासक—मुहम्मदशाह (१४३४-१४४४ ई०) और अलाउद्दीन आलमशाह (१४४४–१४५१ ई०) बिलकुल दुर्बल और अयोग्य निकले। उनके समय में अमीरों के षड्यन्त्र बढ़ गये, पड़ोसी राज्यों ने उनके इलाकों पर अधिकार करना आरंभ कर दिया और अफ़ग़ानों का प्रभाव दिन प्रतिदिन बढ़ने लगा। अंत में अफ़ग़ान नेता बहलोल ने दिल्ली पर अधिकार करके एक नये राजवंश की स्थापना की।

सैय्यद वंश के शासक

सुविधा की दृष्टि से हम पहले दो सुलतानों का हाल एक साथ देंगे और बाद वाले सुलतानों का दूसरे भाग में। ख़िज्र ख़ाँ और मुबारक शाह को अपना सारा समय विद्रोहों को दबाने तथा पड़ोसियों से लड़ने में बिताना पड़ा। इस काल में हिन्दू विद्रोहों के प्रधान केन्द्र थे कटेहर, खोखर प्रदेश, दोआब और ग्वालियर। मुसलमानों के विद्रोह विशेषकर बयाना, बदायूँ, मेवात, सरहिंद तथा पंजाब में हुए। पड़ोसी राज्यों में मालवा, गुजरात तथा जौनपुर के राज्यों से संघर्ष हुआ।

दोआब और कटेहर में कोयल, संभल, चंदवार, कम्पिल, इटावा, और बदायूँ के राजपूतों एवं खत्रियों ने विशेष रूप से उपद्रव किये। इनमें सबसे अधिक प्रभावशाली व्यक्ति राजा वीरसिह था। ख़िज्र ख़ाँ ने १४१४ ई० में अपने वज़ीर ताजुल्मुल्क को यहाँ का विद्रोह दबाने के लिए भेजा। १४१८ में वह स्वयं वहाँ गया और १४२० ई० में फिर ताजुल्मुल्क को भेजा। परन्तु उसे विशेष सफलता नहीं मिली। पराजित होने पर स्थानीय राजा कर देने का वादा कर लेता था परंतु सुलतान की सेना के लौटते ही वह अपना वादा भूल जाता था। मुबारकशाह को भी १४२३ से १४२५ ई० तक काफ़ी प्रयत्न करना पड़ा तब वह इस क्षेत्र से कर वसूल करने में कुछ सफलता पा सका।

हिन्दू-विद्रोह (१) दोआब और कटेहर

ग्वालियर के राजाओं ने भी अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली और स्थानीय क्षेत्र को अपने अधिकार में कर लिया। ख़िज्र ख़ाँ और मुबारकशाह ने ग्वालियर के राजा के विरुद्ध १४१५, १४१६, १४२१ और १४२६ ई० में सेना भेजी। परंतु इससे कोई स्थायी लाभ नहीं हुआ। ग्वालियर का राजा पहले सैनिक विरोध करता था और जब हारने लगता था तब अधीनता स्वीकार करने एवं कर देने का वादा कर देता था। परंतु वह कभी इस वादे पर दृढ़ नहीं रहता था। इसीलिए जब-जब अवकाश मिलता, सैय्यद सुलतान

(२) ग्वालियर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
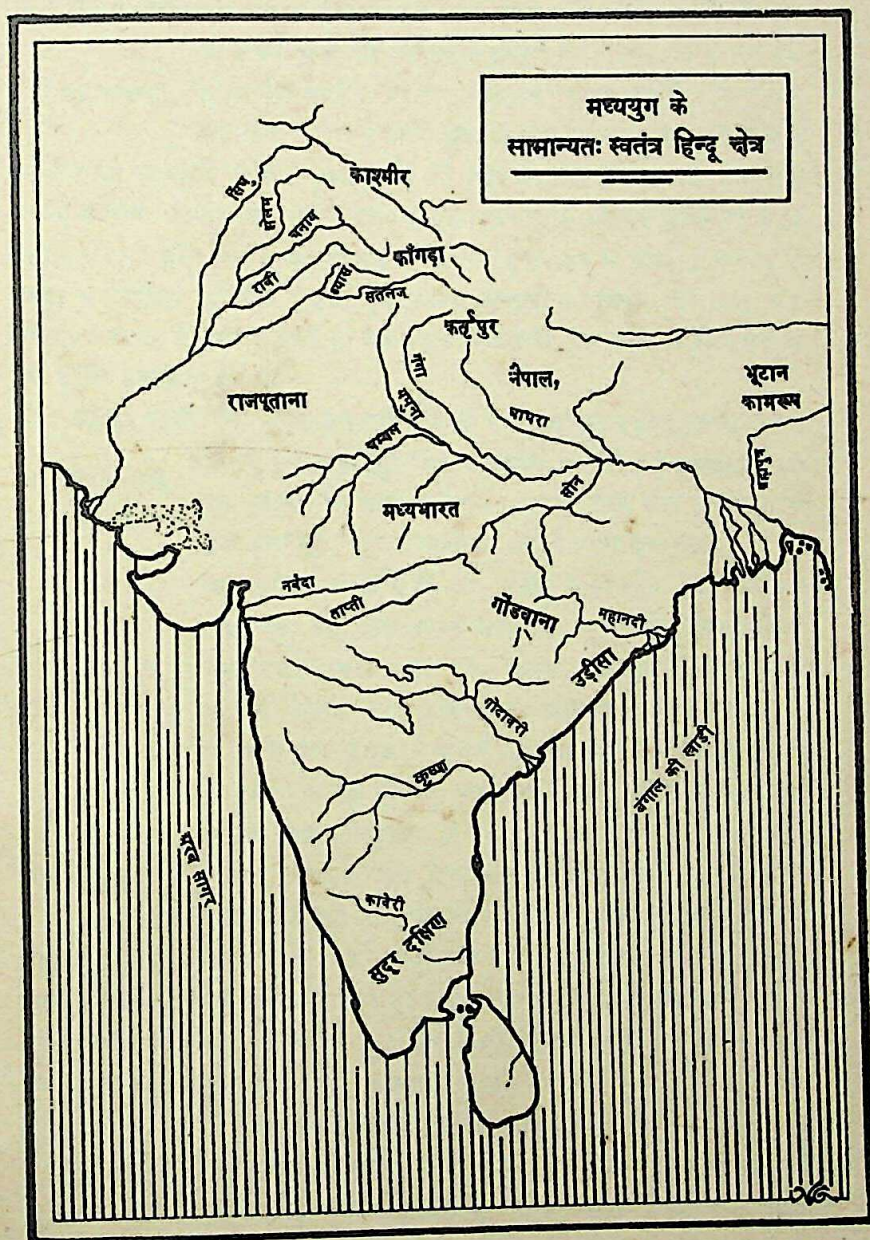
उसके पास सेना लेकर कर माँगने जाते थे।

स्थानीय विद्रोहियों में सबसे भयंकर खोखर थे। मुबारकशाह को उनसे कई बार युद्ध करना पड़ा। उनका नेता दशरथ (जसरथ) खोखर था। उसने मुस्लिम प्रदेश को लूटना और उजाड़ना आरंभ किया तथा सन् १४२१ ई० में सरहिंद का घेरा डाला। सुलतान मुबारकशाह ने उसे हराकर भगा दिया। परंतु अगले वर्ष वह फिर प्रकट हो गया और उसने लाहौर पर आक्रमण किया। सुलतान ने उसे फिर पराजित किया और वह पीछे हटने के लिये बाध्य हुआ। सन् १४२८ ई० में उसने जालंधर पर अधिकार करने की चेष्टा की और फिर विफल हुआ। १४२९ और १४३३ के बीच में पंजाब में बहुत अराजकता रही और उसका एक कारण खोखरों का विद्रोह भी था। अंत में मुबारकशाह ने सभी शत्रुओं का दमन कर दिया और कुछ काल के लिए पंजाब में शांति स्थापित हो गई।

(३) खोखर

बहादुर नाहिर और उसके उत्तराधिकारियों ने सैय्यदों को कभी हृदय से अपना सम्राट् स्वीकार नहीं किया। खिज्र खाँ और मुबारकशाह को प्रायः आधे दर्जन धावे करने पड़े। परंतु उससे कोई स्थायी लाभ नहीं हुआ और वहाँ सैय्यदों का प्रभाव बहुत कम रहा।

मुस्लिम विद्रोह : (१) मेवात

सरहिंद के हाकिम मलिक तोग़न ने दो बार विद्रोह किया और दोनों बार हरा दिया गया तथा क्षमा करके जालंधर का हाकिम नियुक्त किया गया। उसने कुछ समय तक सुलतान के शत्रुओं के दमन में सहयोग किया। परंतु बाद में वह खोखरों से मिल गया।

(२) सरहिंद

१४२९ और १४३३ के बीच में पंजाब में कई मुस्लिम अमीरों ने विद्रोह किये। उनमें से एक था भटिण्डा का शासक पौलाद, दूसरा था सारंग खाँ और तीसरा था मलिक तोग़न जिसका ऊपर उल्लेख हो चुका है। इसी समय काबुल के शेख अली ने आक्रमण किया और उत्तर की ओर खोखरों ने लूट-मार आरंभ कर दी। सुलतान मुबारकशाह ने बड़े साहस और अध्यवसाय के साथ इस विद्रोह का सामना किया और अंत में वह सभी शत्रुओं का दमन करने में सफल हो गया। परंतु पंजाब में समुचित व्यवस्था स्थापित कर सकने के पूर्व ही उसकी हत्या कर दी गई जिससे उसके उत्तराधिकारियों का पंजाब पर अधिकार शीघ्र ही समाप्त हो गया।

(३) पंजाब

दिल्ली के दक्षिण-पूर्व की ओर बयाना का प्रांत था। वहाँ पर औहदीयों का अधिकार था। वे लोग तैमूर के आक्रमण के समय से ही प्रायः स्वतन्त्र हो गये थे और उनकी वही स्थिति इस समय भी रही।

(४) बयाना

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ोसी राज्य

(१) गुजरात

खिज्र खाँ का दिल्ली पर अधिकार हुए थोड़े ही दिन बीते थे कि गुजरात के शासक अहमदशाह प्रथम ने नागौर पर हमला किया और दुर्ग का घेरा डाला। खिज्र खाँ सेना लेकर उसका सामना करने गया परंतु अहमदशाह बिना युद्ध किये ही गुजरात वापस चला गया।

(२) मालवा

मालवा के शासक सुलतान हुशंग ने १४२४ ई० में ग्वालियर पर आक्रमण किया। यद्यपि ग्वालियर का राजा बराबर दिल्ली की अधीनता स्वीकार नहीं करता था तो भी मुबारकशाह उसे अपना करद राजा समझता था और वह नहीं चाहता था कि वहाँ किसी अन्य व्यक्ति का प्रभुत्व स्थापित हो। इस कारण वह हुशंग का सामना करने के लिए चल पड़ा। हुशंग ने उसे चम्बल तट पर रोकना चाहा परंतु मुबारकशाह एक दूसरे उथले स्थान का पता लगाकर नदी पार कर गया और हुशंग पराजित हो कर मालवा लौटने के लिए बाध्य हुआ। सन् १४३४ ई० में कालपी के हाकिम ने मालवा की अधीनता स्वीकार कर ली। मुबारकशाह इसका विरोध करने जा रहा था परंतु मार्ग में ही उसकी हत्या कर दी गई।

(३) जौनपुर

जौनपुर के शर्क़ियों ने महमूदशाह तुग़लक के समय में दिल्ली पर अधिकार करने की चेष्टा की थी। परंतु खिज्र खाँ ने उनके हौसलों पर पानी फेर दिया। तभी से वे सैय्यदों के प्रति द्वेष-भाव रखने लगे। सन् १४२६-२७ में उनके शासक इब्राहीमशाह को पहले-पहल हस्तक्षेप करने का अवसर मिला। बयाना का हाकिम मलिक मुहम्मद खाँ स्वतंत्र होना चाहता था और सुलतान मुबारकशाह उसको अधीनता स्वीकार करने के लिए दबा रहा था। इस परिस्थिति में उसने इब्राहीमशाह शर्क़ी से सहायता माँगी इब्राहीमशाह एक सेना लेकर कालपी तक बढ़ आया। बाद में उसने भोगाँव और बदायूँ पर भी अधिकार कर लिया। इसके बाद उसने बयाना के विद्रोहियों से सम्पर्क स्थापित करने की चेष्टा की। परंतु मुबारकशाह ने तेजी से बढ़कर उसे मार्ग में ही रोक लिया और पराजित करके जौनपुर की ओर भगा दिया। उसके लौटने पर भोगाँव तथा बदायूँ फिर सैय्यद शासक के अधिकार में आ गये।

मुबारकशाह की हत्या (१४३४ ई०)

मुबारकशाह ने अपने १३ वर्ष के शासनकाल में दिल्ली के सुलतान की शक्ति बढ़ाने के लिए बहुत उद्योग किया। उसने न केवल हिन्दू राजाओं और मुसलमान अमीरों के विद्रोह शांत किय, वरन् मालवा तथा जौनपुर के शासकों को भी पराजित किया। साथ ही उसने शासन को भी व्यवस्थित करना चाहा। उसने संदिग्ध राजभक्ति वाले कर्मचारियों तथा मंत्रियों को निकाल दिया अथवा उन पर कड़ा नियंत्रण रखा। परंतु इसके कारण उसके प्रति असंतोष बढ़ने लगा। पंजाब के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्रोह के समय उसने सरवरुल्मुल्क पर दृष्टि रखने के लिए कमालुद्दीन को भी उसके साथ संयुक्त कर दिया। इससे सरवरुल्मुल्क बहुत असंतुष्ट हुआ और उसने तथा मीरन सद्र ने सुलतान के वध की योजना बनाई। सिधारन और सिद्धपाल नामक खत्री तथा उनका नौकर रानू सुलतान की हत्या के लिये बुलाए गये और उन्होंने फरवरी १४३४ ई० में उसकी हत्या कर दी।

मुबारकशाह की मृत्यु के साथ सैय्यद वंश का पतन आरंभ हो गया। उसका उत्तराधिकारी मुहम्मदशाह बहुत दुर्बल शासक था। सरवरुल्मुल्क उस पर पूरी तौर से हावी हो गया। उसके समय में हत्यारे खत्रियों का प्रभाव बढ़ने लगा। यह बात सुलतान को बहुत बुरी लगी। सरवरुल्मुल्क के विरोधी भी बदला लेने के लिए संगठित होने लगे। इसमें कमालुद्दीन और सम्भल के हाकिम इल्लाहदाद लोदी ने विशेष भाग लिया। उनके उद्योग से सरवरुल्मुल्क तथा उसके साथी मार डाले गये और कमालुद्दीन प्रधान मंत्री हो गया।

सैय्यद वंश का पतन और अन्त

मुहम्मदशाह की दुर्बलता का समाचार सुनकर पड़ोसियों के हमले फिर आरंभ हो गये। जौनपुर के शासक इब्राहीमशाह शर्की ने दक्षिण-पूर्वी जिलों पर अधिकार कर लिया और सन् १४४० ई० में मालवा का शासक महमूद खिलजी दिल्ली पर ही चढ़ आया। उसको आक्रमण करने में एक सुविधा यह भी थी कि दिल्ली के कुछ अमीरों ने भी उसके साथ सहयोग करने का वादा कर दिया था। परंतु मुहम्मदशाह ने सरहिंद के अफ़गान हाकिम बहलोल की सहायता से उसे पराजित कर दिया।

जौनपुर के शासक महमूदशाह शर्की का दबाव बराबर बढ़ रहा था। मुहम्मदशाह ने उसके साथ विवाह-संबंध स्थापित करके उसको अपनी ओर करने का उद्योग किया। सुलतान ने अपनी बहन अथवा कन्या बीबी राजी का विवाह महमूदशाह के साथ कर दिया। इसलिए फिलहाल जौनपुर का विरोध कम हो गया।

परंतु मुहम्मदशाह का उत्तराधिकारी अलाउद्दीन आलमशाह अपने पिता से भी अधिक अयोग्य था। उसके समय में अफ़ग़ानों का प्रभाव तेजी से बढ़ने लगा और बहलोल लोदी ने प्रायः समस्त पंजाब पर अधिकार कर लिया। सुलतान का वज़ीर हमीद खाँ उसका मित्र था। यद्यपि वह अपनी राजभक्ति के कारण सुलतान की शक्ति की भरसक रक्षा करना चाहता था, परंतु आलमशाह को इतनी बुद्धि भी नहीं थी कि वह शत्रु और मित्र में भेद कर सके। फलतः वह हमीद खाँ की राय के विरुद्ध सन् १४४७ से बदायूँ में रहने लगा और बाद में कुछ अमीरों के भड़काने से उसने हमीद खाँ के वध की आज्ञा निकाल दी। इसी समय बहलोल ने दिल्ली पर आक्रमण किया और हमीद खां जो किसी प्रकार बदायूँ से भागकर दिल्ली आ गया था उससे मिल गया तथा उसे दिल्ली के सिंहासन पर बिठाकर उसने सैय्यद वंश का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंत कर दिया।

दिल्ली की सल्तनत की दुर्बलता के कारण जिन स्वाधीन राज्यों की स्थापना हुई उनमें से जौनपुर उसका निकटतम पड़ोसी था। इस राज्य की नींव सन् १३९४ ई० में मलिक सरवर ने डाली थी। उसने मलिक उस्शर्क़ की उपाधि प्राप्त की थी और अपने बाहुबल से उसने पश्चिम में कोयल से पूरब में बिहार और तिरहुत तक अपना अधिकार जमा लिया था। उसकी बढ़ती हुई शक्ति से प्रभावित होकर बंगाल के शासक ने उसे प्रति वर्ष हाथी भेजने का वचन दिया था।

जौनपुर का शर्क़ी वंश

मलिक सरवर के अतिरिक्त इस वंश में पाँच अन्य शासक हुए—मुबारकशाह, (१३९९-१४०२ ई०), इब्राहीमशाह (१४०२-१४३६ ई०), महमूदशाह (१४३६-१४५७ ई०), मुहम्मदशाह (१४५७-१४५८ ई०) और हुसेनशाह (१४५८-१५०० ई०), जिनमें इब्राहीमशाह, महमूदशाह तथा हुसेनशाह अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुए।

इस वंश के शासकों का घनिष्टतम संबंध दिल्ली के सुलतानों से रहा। सैय्यद सुलतानों के समय तक के संबंध का विवरण ऊपर दिया जा चुका है। लोदियों और शर्क़ियों के बीच प्रायः चालीस वर्ष तक युद्ध चलता रहा जिसका विवरण अगले अध्याय में दिया जायगा। बंगाल और मालवा के मुसलमान शासकों तथा उड़ीसा और झारखण्ड के हिन्दू राजाओं से भी उनके युद्ध हुए। परन्तु उनकी वैदेशिक नीति अधिक सफल नहीं रही।

उन्हें सफलता मिली कला और साहित्य के क्षेत्र में। इस दिशा मे इब्राहीम शाह शर्क़ी सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इन लोगों ने फ़ारसी के अतिरिक्त हिन्दी को भी प्रश्रय दिया और उनके दरबार में इतने अधिक एवं इतने उच्च कोटि के कवि और साहित्यिक रहते थे कि उसे पूर्व का शीराज़ कहा जाने लगा। इन शासकों ने अनेक सुन्दर इमारतें भी बनवाईं परन्तु उनमें से अधिकांश सिकन्दर लोदी ने तुड़वा दीं। फिर भी जो बच रही हैं वह उनके कला-प्रेम का प्रमाण देती हैं। इन इमारतों में अटाला देवी मस्जिद, जामा मस्जिद, झँझीरा मस्जिद तथा लाल दरवाजा मस्जिद विशेष उल्लेखनीय हैं। जौनपुर की मस्जिदों में सबसे आकर्षक वस्तु है उनका प्रवेश-द्वार। अटाला देवी तथा जामा मस्जिद विशाल इमारतें हैं और उन्हीं के विस्तार के अनुरूप ये प्रवेश-द्वार बनाए गये हैं। परन्तु उसके ऊपरी भाग में केवल दिखावटी द्वार तथा खिड़कियाँ बनाये गये हैं और वास्तविक प्रवेश-द्वार अपेक्षाकृत छोटा है। इसका सामूहिक प्रभाव बहुत अच्छा पड़ता है और मस्जिद की भव्यता तथा विशालता स्पष्टरूप से प्रगट होती है।

शर्क़ियों के पूर्वी पड़ोसी बंगाल के शासक थे। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बंगाल पर दिल्ली का अधिकार अधिक दिन तक नहीं रहता था। तुग़लक शासन-काल में १३२४ से १३३७ ई० तक बंगाल पर दिल्ली का प्रभुत्व रहा। उसके बाद पूरा बंगाल स्वतंत्र हो गया। उस समय से प्राय: २०० वर्ष तक स्वतंत्र रहने के बाद बंगाल कुछ समय के लिए सूरवंशी अफ़ग़ानों के अधीन हो गया परन्तु शेरशाह की मृत्यु के बाद वह फिर स्वतंत्र हो गया और अकबर के समय में दाऊद की पराजय के बाद इस प्रान्त की स्वतंत्र सल्तनत का अंत हुआ।

बंगाल

इस काल में वहाँ अनेक राजवंशों का शासन रहा जिनमें एक दीनाजपुर के राजा गणेश का वंश था। उसने शक्ति प्राप्त करने के बाद हिन्दुओं का प्रभाव बढ़ाना चाहा परन्तु हिन्दू इतने असंगठित थे कि उसे विवश होकर अपने पुत्र का धर्म-परिवर्तन कराना पड़ा और तब सन् १४१४ ई० में वह जलालुद्दीन मुहम्मद के नाम से शासक स्वीकार कर लिया गया।

राजा गणेश के वंश का अंत एक अमीर ने किया जो नासिरुद्दीन महमूद के नाम से सन् १४४२ में शासक हुआ। सन् १४८६ ई० में उसका वध करके एक हब्शी शासक बन बैठा और उसने बारबकशाह की उपाधि धारण की। उसके बाद वहाँ एक सैयद वंश की स्थापना हुई जिसमें हुसेन शाह और नसरत शाह ने बहुत ख्याति पाई। सन् १५३८ ई० में शेरशाह ने इस वंश का अंत करके अफ़ग़ानों का प्रभुत्व स्थापित किया जो प्राय: ४० वर्ष के बाद अकबर के समय में समाप्त हुआ।

इन सुलतानो के समय में बँगला साहित्य और भाषा का खूब विकास हुआ और मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त अनेक सुविख्यात संस्कृत तथा फारसी ग्रंथों का बंगला में रूपान्तर किया गया। इन शासकों ने अपनी प्रजा की आर्थिक तथा सामाजिक दशा सुधारने की भी चेष्टा की और हिन्दू-मुसलमान संतों के प्रभाव से हिन्दू-मुसलमानों में मेल-जोल काफी बढ़ गया। इस प्रांत की इमारतों में दो विशेषताएँ हैं—एक, रंगीन ईंटों का प्रयोग और दूसरा वर्षा से रक्षा के लिए ढलवाँ छतों का निर्माण।

बंगाल के शासकों को प्राय: स्वच्छंदतापूर्वक कार्य करने का अवसर मिलता था क्योंकि वे भारत के एक कोने पर स्थित थे। इसके ठीक विपरीत मालवा की दशा थी। वहाँ के शासक अपने पड़ोसियों के कारण सदा युद्ध-रत रहने के लिए बाध्य थे। मालवा की स्वाधीन सल्तनत की स्थापना दिलावर खाँ ने की थी। परंतु उसने महमूदशाह तुग़लक को जो ऊपरी सम्मान दिखाया उससे उसका पुत्र अप्रसन्न हो गया और उसने माण्डू में रहना आरंभ किया तथा कुछ समय बाद वह अपने पिता का वध करके हुशंगशाह के नाम से गद्दी पर बैठ गया। हुशंग के पुत्र को हटाकर महमूद खिलजी ने राज्य पर अधिकार

मालवा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर लिया और उसका वंश प्रायः एक-सौ वर्ष शासन करने के बाद गुजरात के आक्रमणों के कारण समाप्त हो गया।

इस राज्य में पाँच प्रमुख शासक हुए—हुशंगशाह (१४०६-१४३५ ई०), महमूद खिलजी प्रथम (१४३६-१४६९ ई०), ग़यासुद्दीन (१४६९-१५०० ई०), नासिरुद्दीन (१५००-१५११ ई०), और महमूद द्वितीय (१५११-१५३१ ई०)।

हुशंगशाह और सैयदों के संबंध का उल्लेख अन्यत्र हो चुका है। हुशंगशाह को जीवन का सबसे बड़ा अपमान उस समय सहना पड़ा जब गुजरात के शासक मुज़फ्फ़रशाह ने उसे बंदी बना लिया। महमूद प्रथम इस राज्य का सर्वश्रेष्ठ शासक था। उसने शर्क़ी तथा लोदी सुलतानों से प्रायः बराबर मैत्री-पूर्ण संबंध रखा। परंतु राजपूताना और दक्षिण में उसने कई विजयें प्राप्त कीं और बूँदी तथा अजमेर पर अधिकार कर लिया। उसने माण्डू में एक विजय-स्तम्भ भी खड़ा कराया और मिस्र के खलीफा ने उसकी कीर्ति से प्रभावित होकर उसे स्वीकृति-पत्र भेजा। उसने देश के भीतर शांति रखी और उसकी प्रजा सुखी तथा समृद्ध रही।

उसका पुत्र ग़यासुद्दीन नव-बालाओं और कमनीय दासियों के चयन में ही लगा रहा। इस कारण उसके समय से पतन आरंभ हो गया और महमूद द्वितीय के समय में जब गुजरात के शासक बहादुरशाह ने मालवा पर अधिकार कर लिया तब इस स्वाधीन सल्तनत का अंत हो गया।

इस क्षेत्र में भी कला को प्रश्रय मिला और माण्डू तथा धार में अनेक इमारतें बनवाई गईं। परंतु यहाँ की सबसे अधिक विशेषता है संगीत का प्रोत्साहन। मालवा के शासकों ने अपने सुरुचिपूर्ण प्रश्रय द्वारा संगीत की उन्नति में बहुत सहायता की।

मालवा का पड़ोसी और अरब सागर के तट पर स्थित गुजरात का राज्य था। यहाँ का प्रथम स्वाधीन शासक ज़फ़र खाँ था जिसने १३९६ में मुज़फ्फ़र शाह की उपाधि ग्रहण की। इस वंश में दस सुलतान हुए जिनमें अहमदशाह (१४११-१४४२ ई०), महमूदशाह बीगढ़ (१४५८-१५११ ई०) और बहादुरशाह (१५२६-१५३७ ई०) अधिक प्रसिद्ध हैं। इन सुलतानों ने गुजरात के हिन्दू राजाओं की शक्ति कम की और उनमें से कुछ को—यथा, गिरनार और चम्पानेर—इस्लाम धर्म स्वीकार करने पर बाध्य किया। उन्होंने मालवा और राजपूताना के शासकों से भी बराबर युद्ध किये और बहादुरशाह ने मालवा तथा चित्तौड़ दोनों पर अधिकार कर लिया यद्यपि यह अधिकार अधिक दिन तक नहीं रहा। उनके युद्ध खानदेश, बहमनी, दिल्ली तथा सिंध के राज्यों से भी हुए। पुर्तगालियों के भारत आने पर उनको उनसे भी कई युद्ध करने पड़े। इस वंश के पतन का कारण था मुग़लों तथा पुर्तगालियों का

गुजरात

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वेष तथा पिछले शासकों की अयोग्यता।

इन शासकों ने गुजरात की आंतरिक उन्नति में भी योगदान किया। अहमद शाह ने अहमदाबाद नाम का नगर बसाया और उसे अपनी राजधानी बनाया। उसने अपने न्याय, सच्चरित्रता एवं शौर्य के कारण बहुत ख्याति लाभ की और अपने दामाद को क़ाज़ी की सिफ़ारिश के विरुद्ध मृत्यु-दण्ड दिया क्योंकि उस पर हत्या का अभियोग था।

महमूदशाह बीगढ़ इस वंश का सर्वश्रेष्ठ शासक था। उसने अनेक विजयें प्राप्त कीं तथा पुर्तगालियों को हराने के लिए मिस्र और कालीकट के शासकों से सहयोग किया। उसने कुछ मस्जिदों का भी निर्माण कराया जिनमें से एक चम्पानेर में इस समय भी विद्यमान है। गुजरात के शासकों ने गुजराती भाषा और साहित्य की उन्नति में सहायता की तथा उनकी इमारतों में बावलियों और जालीदार खिड़कियों का उल्लेख करना आवश्यक है।

इन राज्यों के अतिरिक्त उत्तर भारत में अनेक दूसरे राज्य भी थ। काश्मीर तथा सिंध में मुसलमान शासक राज्य कर रहे थे। राजपूताना में अनेक राजपूत राज्य थे जिनमें सबसे अधिक प्रभाव चित्तौड़ के सीसोदियों का था। राणा हम्मीर के समय से ही मेवाड़ की उन्नति होने लगी थी और एक वर्णन के अनुसार उसने सुलतान मुहम्मद बिन तुग़लक को भी बंदी बना लिया था। यह घटना चाहे सत्य न भी हो परंतु यह निर्विवाद है कि राजपूताने पर दिल्ली के सुलतानों का अधिकार नहीं रहा। राणा हम्मीर के बाद राणा कुम्भा एक प्रतिभा-संपन्न शासक हुआ। उसने अपने पड़ोसियों के विरुद्ध कई युद्ध किये और उनमें प्राप्त विजयों के स्मारक-स्वरूप चित्तौड़ में विजय-सतम्भ बनवाया। राणा कुंभा विद्वानों का आश्रय-दाता तथा धर्म का प्रतिपालक था। उसके बाद दूसरा प्रतापी राजा राणा साँगा हुआ जिसने प्रायः समस्त राजपूताने पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया और मालवा का भी कुछ भाग दबा लिया। इस वंश के विषय में हम आगे के अध्यायों में बहुत बार उल्लेख करेंगे।

मेवाड़

हिमालय की तराई, बुन्देलखण्ड, बघेलखण्ड, मालवा तथा मध्य-भारत में भी अनेक छोटे-बड़े हिन्दू राज्य थे जो प्रायः स्वतंत्र रहते थे परंतु कभी राजनीतिक दबाव बढ़ने के कारण किसी प्रबल पड़ोसी की अल्पकालीन अधीनता भी स्वीकार कर लेते थे। शेष भाग में भी सैकड़ों छोटे-छोटे राजे और जमींदार थे जो प्रायः किसी को कर नहीं देते थे और जो स्वच्छंदतापूर्वक शासन करते के लिए निरंतर युद्ध करते रहते थे।

अन्य राज्य

दक्षिण भारत में बहमनी तथा विजयनगर राज्य थे। परंतु उनका उत्तर भारत के इतिहास पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। इन दोनों राज्यों का पारस्परिक संबंध

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अत्यन्त संघर्षमय रहा जिसके कारण आगे चलकर उन दोनों का ही अंत हो गया और उनके स्थान पर दूसरे राज्य स्थापित हो गये।

सुल्तान मुहम्मद बिन तुग़लक के समय में अलाउद्दीन हसन बहमनशाह ने सन् १३४७ ई० में बहमनी वंश की नींव डाली थी। उसने दौलताबाद के स्थान पर गुलबर्गा को अपनी राजधानी बनाया। इस वंश का शासन सन् १५१८ ई० तक रहा और इसमें चौदह शासक हुए। इन शासकों में अलाउद्दीन हसन (१३४७-१३५८ ई०), मुहम्मद प्रथम (१३५८-१३७७ ई०), फीरोजशाह (१३९८-१४२२ई०) और अहमदशाह वली (१४२२-१४३५ ई०) अधिक प्रसिद्ध हैं।

बहमनी राज्य

अलाउद्दीन हसन ने अपने राज्य को चार भागों में बांटा जिनको 'तरफ़' कहते थे। इन चारों में उसने एक-एक तरफदार नियुक्त किया जो शांति और व्यवस्था रखते तथा राज-कर वसूल करते थे। यह तरफदार गुलबर्गा, दौलताबाद, बरार और बीदर में रहते थे।

उसके पुत्र मुहम्मद प्रथम के समय में शासन-संगठन का कार्य और आगे बढ़ा और उसके मंत्री सैफ़ुद्दीन ग़ोरी ने केन्द्रीय शासन का कार्य कई विभागों में विभक्त करके उसे ८ प्रधान मंत्रियों को सुपुर्द किया। उन मंत्रियों की सूची इस प्रकार है:—

(१) **वकील उस्सल्तनत**—जो दिल्ली के मलिक नायब या वकील के समान होता था।
(२) **वजीर-ए-कुल**—वह वकील को छोड़कर अन्य सभी मंत्रियों के कार्य का निरीक्षण करता था।
(३) **अमीर-ए-जुमला**—वह अर्थ-विभाग का अध्यक्ष था।
(४) **वजीर-ए-अशरफ़**—वह वैदेशिक नीति तथा दर्बार-संबंधी कार्यों को देखता था।
(५) **नाजिर**—वह अर्थ-विभाग से संलग्न था और उपमंत्री की भांति कार्य करता था।
(६) **पेशवा**—वह वकील के साथ संयुक्त था।
(७) **कोतवाल**—पुलिस का अध्यक्ष था और शांति की व्यवस्था रखता था।
(८) **सद्रेजहां**—न्याय-विभाग, धर्म तथा दान विभाग का अध्यक्ष होता था।

इस भांति आंतरिक शासन को संगठित करके इन सुलतानों ने युद्धों को ओर ध्यान दिया। उनके कुछ युद्ध मालवा, खानदेश तथा गुजरात के शासकों से भी हुए परंतु दक्षिण के हिन्दू राज्यों—विजयनगर, वारंगल, उड़ीसा से उनका बराबर ही युद्ध छिड़ा रहा। इन युद्धों का मूल कारण था राज्य-लिप्सा एवं धार्मिक विरोध। हिन्दू राजे मुसलमानो हुकूमत का अंत करके दक्षिण-भारत को म्लेच्छों के शासन से मुक्त

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर देने का स्वप्न देखते थे। इसलिए वे अवसर पाते ही बहमनी राज्य की सीमा पर युद्ध छेड़ देते थे। बहमनी शासक दक्षिण में इस्लामी सभ्यता का प्रसार करना अपना ईश्वरदत्त कर्त्तव्य समझते थे। हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों की संख्या बहुत कम थी। इस कारण बहमनी वंश के अनेक शासकों ने जेहाद का नारा लगाकर अपने सैनिकों का उत्साह बढ़ाने की चेष्टा की। इसी प्रवृत्ति के कारण उन्होंने कभी-कभी अकारण लाखों व्यक्तियों का वध किया। हिन्दुओं ने भी इसका बदला लेने का प्रयत्न किया। परंतु बुक्का प्रथम और मुहम्मद प्रथम के समय में यह समझौता किया गया कि शांतिमय नागरिकों का वध न किया जाय।

मुहम्मद तृतीय के मंत्री गावाँ ने बहमनी राज्य की गिरती हुई शक्ति को रोकने का सफ उद्योग किया और शासन-प्रबंध में अनेक सुधार किये। उसने प्रत्येक तरफ के दो भाग कर दिये ताकि तरफ़दारों की शक्ति अधिक न बढ़ जाय और वे विद्रोह न कर सकें। उसने उनकी शक्ति घटा दी तथा उनके ऊपर केन्द्रीय सरकार का नियंत्रण बढ़ा दिया। उसने अर्थ-विभाग और न्याय का शासन सुधारा तथा सार्वजनिक शिक्षा की व्यवस्था की। भूमिकर का उचित प्रबंध करने के लिए उसने भूमि की नाप कराई और उपज के अनुसार उसका वर्गीकरण किया। किसानों की दशा सुधारने के लिए उसने स्थानीय कर्मचारियों पर नियंत्रण रखा और नियत कर से अधिक रुपया लेने पर उन्हें दण्ड दिया। उसने सेना का भी सुधार किया। इन सब सुधारों का फल यह हुआ कि केन्द्रीय सरकार की शक्ति बढ़ने लगी और प्रांतपतियों का प्रभाव घटने लगा। इसलिए उन लोगों ने उसके विरुद्ध षड्यंत्र किया और उस पर राजद्रोह का झूठा अभियोग लगाकर मूर्ख सुलतान के आदेश द्वारा उसकी हत्या करा दी। महमूद गावाँ की मृत्यु के बाद बहमनी राज्य का पतन अवश्यम्भावी हो गया और थोड़े समय के बाद उसके स्थान पर पाँच स्वतंत्र राज्य—बरार, बीदर, गोलकुण्डा, बीजापुर, अहमदनगर—स्थापित हो गये।

बहमनी शासकों के राज्यकाल का विस्तृत वर्णन पढ़ने पर उनके प्रति श्रद्धा अथवा आदर की भावना नहीं उत्पन्न होती। उन्होंने प्रायः अपनी प्रजा को शांत तथा व्यवस्थित रखा, कला तथा साहित्य की उपेक्षा नहीं की और अपनी राजधानी गुलबर्गा तथा बीदर को सुन्दर भवनों से अलंकृत किया। परंतु उनके विवरण में जो बात बराबर पढ़ने को मिलती है वह है सुरा और सुन्दरी के प्रति अत्यधिक आकर्षण, निरपराध लोगों की नृशंस हत्या, धर्म का नाम लेकर जनता का शोषण तथा दमन और अपने रास-रंग में मस्त रहना। उनकी धार्मिकता उनको संयम अथवा सच्चरित्रता की प्रेरणा नहीं देती थी। उनकी दृष्टि में हिन्दुओं पर अत्याचार करना, उनके मंदिर ढहा देना, उनके बाल-वृद्ध नर-नारियों की हत्या करना अथवा उनको बलपूर्वक कलमा पढ़ा देना ही धार्मिक जीवन का सार था। परंतु यह सब होते हुए भी यह

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वीकार करना पड़ेगा कि उन्होंने विरोधी वातावरण में मुस्लिम सत्ता की जिस तत्परता से रक्षा की वह उनकी दृढ़ता तथा सैनिक योग्यता का परिचय देती है।

बहमनी राज्य का पड़ोसी और शत्रु विजयनगर राज्य था। इसकी स्थापना सन् १३३६ ई० में हरिहर और बुक्का ने एक महात्मा विद्यारण्य की सहायता से की थी।

(२) विजय-नगर

हरिहर और बुक्का ने राजनीतिक सुविधा की दृष्टि से स्वतंत्रता-सूचक उपाधियों का उपयोग नहीं किया। परंतु इस वंश के तृतीय शासक हरिहर द्वितीय ने महाराजाधिराज की उपाधि ग्रहण की और इस भांति उसने अपनी स्वतंत्र सत्ता की स्पष्ट घोषणा कर दी।

१३३६ और १५६५ के बीच में विजयनगर में तीन राजवंशों ने शासन किया। इनमें से प्रथम दो राजवंश बहमनी शासकों के समकालीन थे परंतु तृतीय राजवंश के शासनकाल में बहमनी राज्य के स्थान पर पाँच मुस्लिम रियासतें बन गईं। इस कारण उसे साधारणतः उतना उग्र मुस्लिम प्रतिरोध नहीं सहना पड़ा जितना कि प्रथम दो राजवंशों को सहना पड़ा था।

प्रथम राजवंश का शासन १३३६ ई० से लगभग १४८६ ई० तक रहा। इस वंश के शासकों ने बहमनी शासकों के विरुद्ध अधिक-सफलता नहीं पाई। प्रायः पराजय इन्हीं की होती थी। परंतु बहमनी शासक कभी इतने प्रबल नहीं सिद्ध हुए कि वे विजयनगर पर अधिकार कर लें अथवा विजयनगर राज्य का कोई बड़ा भाग अपने स्थायी अधिकार में कर सकें। प्रायः होता यह था कि बहमनी सुलतान रायचूर दोआब का बहुतेरा भाग रौंद डालते थे और हिन्दू जनता को तंग करते थे। परंतु उनके लौटने के बाद विजयनगर के शासक फिर उनके हाकिमों को निकाल कर अपना अधिकार स्थापित कर लेते थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने दक्षिण के हिन्दू नरेशों से युद्ध किये। उनमें वे सफल रहे और उनका साम्राज्य धुर दक्षिण तक फैल गया।

दूसरा राजवंश १५०५ ई० तक सत्तारूढ़ रहा। इसके समय में शासन-सुधार में प्रगति हुई। इन्होंने भी बहमनी सुलतानों के विरुद्ध सफलता नहीं पाई परन्तु तामिल देश के हिन्दू शासकों को उन्होंने कई युद्धों में पराजित किया।

तीसरा राजवंश १५०५ ई० से आरंभ हुआ और इसका शासन १५७० ई० तक रहा। इसी वंश में विजयनगर का सर्वश्रेठ शासक कृष्णदेवराय हुआ जिसकी शक्ति का उल्लेख बाबर ने अपनी आत्मकथा में किया है। तत्कालीन इतिहासकारों ने भी कृष्णदेवराय (१५०९-१५३० ई०) के व्यक्तित्व, शासन-प्रबंध तथा कुशल सेना-पतित्व की प्रशंसा की है। उसने मुसलमानों को पराजित करके पिछली हारों का बदला चुकाया। परंतु विजयोल्लास में वह बहुत दर्पवान एवं घमण्डी हो गया। इसलिए मुस्लिम रियासतों में विजयनगर की शक्ति कम करने की इच्छा प्रबल

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो उठी। कृष्णदेवराय की मृत्यु के बाद सदाशिव के मंत्री रामराजा ने भी मुसलमान रियासतों की प्रजा पर बहुत अत्याचार किया। परंतु वह यह ध्यान न रख सका कि शत्रु संगठित होकर उसका विरोध कर सकता है। फलतः जब सन् १५६५ ई० में बीदर, अहमदनगर बीजापुर और गोलकुण्डा की संयुक्त सेना निर्णायक युद्ध के लिए कटिबद्ध होकर आगे बढ़ी तब वह उसका सामना न कर सका और युद्ध में पराजित होकर मृत्यु को प्राप्त हुआ। विजेताओं ने विजयनगर पहुँचकर पाँच महीने वहाँ डेरा डालकर इस ढंग से हत्याकाण्ड, लूट, विनाश एवं अत्याचार का कार्यक्रम चलाया कि विजयनगर जिसकी सुन्दरता एवं समृद्धि की प्रशंसा सभी विदेशी यात्रियों तथा भारतीय इतिहासकारों ने की है इस प्रकार नष्ट-भ्रष्ट हो गया कि उसका पुनः निर्माण असंभव हो गया। लाखों व्यक्ति मार डाले गये और असंख्य नर-नारी दासता की बेड़ियों में पड़े। इस भांति विजयनगर के वैभव का अंत हो गया। उत्तरकालीन शासकों का प्रभाव और राज्य बहुत संकुचित हो गया और कालान्तर में वे केवल स्थानीय सामंतों की कोटि के रह गये।

विजयनगर का शासन-प्रबन्ध

विजयनगर का शासन-प्रबंध विशेष रूप से उल्लेखनीय है। शासन का उद्देश्य था म्लेच्छों के विरुद्ध हिन्दू संस्कृति, हिन्दू धर्म तथा हिन्दू जनता की रक्षा। इस भाँति राज्य में ब्राह्मण मंत्रियों का काफी प्रभाव था और वहाँ का शासन धर्म-निरपेक्ष नहीं कहा जा सकता। परंतु बहमनी राज्य की तरह यहाँ विधर्मियों पर अत्याचार नहीं किया जाता था। जैनियों, वैष्णवों तथा शैवों के साथ राजा का समान व्यवहार था और वह उन सबको धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान करता था। मुसलमानों के साथ भी कोई पक्षपात-पूर्ण व्यवहार नहीं किया जाता था और देवराय ने जब मुसलमान सैनिक भर्ती किये तब उसने उनके लिए मस्जिदें बनवाने की भी व्यवस्था की। मुसलमान प्रजा को भी सभी प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त थीं। विजयनगर के राजाओं ने शत्रु देश की मुस्लिम प्रजा के विरुद्ध बदला लेने की भावना से जो अत्याचार किया, वही किया।

राजा राज्य-कार्य में एक समिति से परामर्श करता था। इस समिति में मंत्री, प्रांत-पति सेना-नायक, पुरोहित तथा कवि रहते थे। इनकी नियुक्ति राजा स्वयं करता था और वह उनसे परामर्श करने पर उनकी सम्मति मानने के लिए बाध्य नहीं था। राज-दर्बार बड़ी सज-धज से लगता था। उसमें सामंत, विद्वान ब्राह्मण, ज्योतिषी, मंत्री, कवि एवं कलाकार उपस्थित रहते थे। मुस्लिम शासकों की भाँति वे भी दर्बार पर बहुत धन व्यय करते थे। दीपावली, रामनवमी, होली आदि के अवसर पर खूब आनंदोत्सव मनाया जाता था और उस समय दर्बार की सजावट और रंगीनी अत्यंत चित्ताकर्षक होती थी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सारा साम्राज्य लगभग २०० प्रांतों में विभक्त था। प्रांतों का शासन राजवंश वालों, बड़े सामंतों तथा विजित राजवंशों के लोगों को दिया जाता था। प्रांत की आय का १/३ राज-कोष में जमा किया जाता था और शेष २/३ से प्रांतपति प्रांतीय शासन चलाते थे। प्रांतों के आंतरिक शासन में उनको विस्तृत अधिकार प्राप्त थे। परंतु यदि वे राजद्रोह अथवा अत्याचार के दोषी होते थे तो उनको कड़ा दण्ड दिया जाता था। इसलिए प्रांतीय शासक साधारणत: विद्रोह नहीं करते थे।

प्रांतों को कई जिलों में विभक्त किया जाता था जिनको नाडू या कोट्टम कहते थे। जिले परगनों में विभक्त थे और शासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम होता था जिसका प्रबंध ग्राम पंचायत तथा वंशानुगत कर्मचारी करते थे। ग्राम-पंचायतें कर उगाहने, न्याय करने तथा शान्ति रखने में बहुत उपयोगी सिद्ध होती थीं।

भूमिकर के अतिरिक्त अनेक अन्य कर तथा चुंगियाँ ली जाती थीं। परंतु यह ठीक पता नहीं है कि जनता का सचमुच भार क्या था। कर संभवत: हल्के नहीं थे। परंतु वह इतने भारी भी नहीं थे कि जनता बिलकुल पिस जाय। सामंतों तथा बड़े राज-कर्मचारियों की तुलना में उनकी आर्थिक स्थिति अवश्य बहुत खराब थी परंतु यही दशा अन्य पड़ोसी राज्यों की प्रजा की भी थीं।

शासन का स्वरूप सैनिक सामंतशाही था। इसलिए प्राय: न्याय का कार्य स्थानीय अधिकारी करते थे। परंतु क्रमागत न्यायालयों की व्यवस्था का स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। यही दशा सेना की भी थी। राजा के कुछ निजी सैनिक होते थे जिनमें सर्वाधिक संख्या पैदलों की होती थी। राज्य की अधिकांश सेना प्रांत-पतियों एवं स्थानीय अधिकारियों के अधीन रहती थी और इस कारण उसमें सामंतशाही सेना के सभी दुर्गुण विद्यमान थे। उनकी सेनायें संख्या में अधिक होने पर भी उत्तर की मुस्लिम सेनाओं से इसलिए बारबार हार जाती थीं क्योंकि उनमें अश्वारोहियो की संख्या कम रहती थी और सैनिकों की शिक्षा की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता था। इन सेनाओं के सैनिकों में राजा के प्रति वैसी स्वामि-भक्ति की भावना भी नहीं रहती थी जैसी स्थायी केन्द्रीय सेना के सैनिकों में होना स्वाभाविक है।

इस भाँति विदित होता है कि विजयनगर राज्य का आंतरिक शासन कई दृष्टियों से दोषपूर्ण था और न उसमें जनहित की रक्षा का प्रबंध था न सबल केन्द्रीय शक्ति के विकास के लिये स्थान था। मुसलमानों के आने के पूर्व जो दोष हिन्दू सामंत-शाही शासन में थे वे ही इस समय भी चलते रहे। विजयनगर के पतन का यह एक प्रमुख कारण बना।

विजयनगर के शासकों ने तेलगू तथा संस्कृत साहित्य की उन्नति में बहुत योग दिया और उन्होंने साहित्यकारों, कवियों, पण्डितों का सदा सम्मान किया तथा उनके लिए जागीरें नियत कीं। उन्होंने विशाल मंदिर, भव्य राजमहल एवं सुदृढ़ गढ़ों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का भी निर्माण किया। परंतु उस समय की अधिकांश इमारतें नष्ट हो गई हैं और हमें उनका विवरण केवल तत्कालीन लेखकों की पुस्तकों से

कला तथा साहित्य

मिलता है। सब बातों को सामूहिक दृष्टि से देखते हुए विजय-नगर का राज्य अपने वैभव तथा हिन्दू संस्कृति के रक्षण के लिये भारतीय इतिहास में चिर-स्मरणीय रहेगा।

अनेक स्वतंत्र राज्यों के बन जाने से देश की राजनीतिक शक्ति बिखर गई और उसमें विदेशी आक्रमणकारियों का सामना करने की शक्ति नहीं रह गई। परंतु

उपसंहार

इनके कारण केवल हानि ही हानि नहीं हुई। राजनीतिक शक्ति के अनेक केन्द्र हो जाने से अधिक लोगों को सरकारी नौकरी मिलने की सुविधा हुई, स्थानीय आवश्यकताओं की ओर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान दिया गया तथा स्थानीय विशिष्टताओं की रक्षा हुई। स्थानीय राज्यों ने प्रांतीय भाषाओं के साहित्य की उन्नति में भी सहायता की। उन्होंने स्थानीय कला-कारों, स्थानीय कारीगरों तथा स्थानीय साहित्यिकों को भी अपनी प्रतिभा विकसित करने का अवसर प्रदान किया। इस भाँति जनता के सांस्कृतिक स्तर का उत्थान हुआ तथा कलात्मक एवं साहित्यिक कृतियों का परिमाण बढ़ गया। कई स्थानों में धार्मिक सद्भाव एवं साम्प्रदायिक मेल-जोल बढ़ाने का भी उद्योग किया गया। इस प्रकार इन राज्यों की स्वतंत्र सत्ता से अनेक लाभ भी हुए।

सहायक ग्रन्थ

१. ईश्वरी प्रसाद—मेडीवल इण्डिया, पृष्ठ ३५३-४८४।
२. हेग-कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग ३, पृष्ठ २०६-२२७; २५१-४३२।
३. बासू—तारीख-ए-मुबारक शाही (अंग्रेजी अनुवाद)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खण्ड ५

अफ़ग़ानों का प्रभुत्व

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१३

प्रथम अफ़ग़ान साम्राज्य

पार्वत्य प्रदेश के वे अधिवासी जो पूर्व में मुलतान और पेशावर से लेकर पश्चिम में सुलेमान पर्वत और ग़ज़नी तक फैले हुए थे अफ़ग़ान या पठान नाम से परिचित हैं। वे डील-डौल में लम्बे और गोरे तथा बलिष्ठ काठी के होते थे। वे स्वभावतः युद्ध-प्रिय होते थे और उनमें साहस तथा शौर्य की कमी नहीं थी। परंतु वे किसी एक नेता की अध्यक्षता में संगठित नहीं हो सके थे और उनका सांस्कृतिक स्तर भी ऊँचा नहीं था। वे अनेक क़बीलों में विभक्त थे और क़बीले के सभी व्यक्ति समान समझे जाते थे। वे अपना नेता स्वयं चुनते थे और इस चुनाव में उसकी आयु, शूरता, नेतृत्व की क्षमता आदि का ध्यान रखते थे। इसमें किसी वंश-विशेष का महत्व नहीं था। इस भाँति उनका संगठन समानता और लोकतांत्रिक भावना से प्रेरित था। उनका साधारण व्यवसाय पशुपालन था परंतु वे आवश्यकता पड़ने पर अपने धनी पड़ोसियों को लूटकर अपनी आय बढ़ाने में संकोच नहीं करते थे और न इसे अनैतिक समझते थे। उनमें से कुछ लोग व्यापार भी करते थे और एक स्थान से घोड़े ख़रीद कर दूसरे स्थान में बेचते थे। सामान्यतः उनकी आर्थिक दशा अच्छी नहीं थी और चौदहवीं शताब्दी के आरंभ तक भी उनका कोई विशेष सम्मान नहीं था।

अफ़ग़ानों का परिचय

महमूद ग़ज़नवी ने उनके बल एवं शौर्य का लाभ उठाने की दृष्टि से उनको अपनी सेना में भर्ती कर लिया था। भारतीय शासकों ने भी उनका उपयोग किया था। शाहियों और चौहानों की सेना में अफ़ग़ान सैनिक भी थे। परंतु वे किसी उच्च पद पर नियुक्त नहीं किये जाते थे। इलबरी तुर्कों ने उनको पार्वत्य एवं विद्रोही क्षेत्रों में शांति स्थापित करने के लिए तैनात किया और उन्होंने कठोरता के साथ विद्रोहियों का दमन करके नवनिर्मित मुस्लिम सल्तनत की नींव को दृढ़ बनाने में सहायता की। खिलजियों

भारत में अफ़ग़ान

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के समय तक भी तुर्क लोग अफ़ग़ानों को इतना हेय समझते थे कि इस संदेह के कारण कि ख़िलजी लोग तुर्क नहीं अफ़ग़ान हैं उनकी अधीनता में रहना अपने लिए अत्यंत अपमान-जनक समझते थे। तुग़लक सुलतानों के समय में अफ़ग़ानों का प्रभाव बहुत बढ़ा। मुहम्मद तुग़लक के समय में मलिक मल अफ़ग़ान और मलिक मख अफ़ग़ान दो भाइयों ने अमीरों का पद प्राप्त किया और मलिक मख अफ़ग़ान कुछ समय के लिए दौलताबाद का शासक रहा। सुलतान फ़ीरोज़ के समय में भारत में आने वाले अफ़ग़ानों की संख्या बहुत बढ़ गई। जो अफ़ग़ान इस समय आये उनमें अधिकांश लोदी, सूर, नियाज़ी तथा नूहानी थे। यह सब क़बीले आपस में एक-दूसरे से और मूल में ग़िलज़ई अफ़ग़ानों से संबंधित थे। वे अपने को अफ़ग़ान कहते थे यद्यपि उनकी नसों में कुछ ताजिक और तुर्की रक्त भी प्रवाहित हो रहा था।

इन नवागंतुकों में एक व्यक्ति मलिक बहराम था। वह मुलतान के हाकिम मलिक मर्दान दौलत के यहाँ नौकर हो गया और वहीं उसके बेटे बड़े हुए। उसके पाँच पुत्र थे—(१) सुलतानशाह, (२) मलिक काला, (३) मलिक फ़ीरोज़ (४) मलिक मुहम्मद और (५) मलिक ख्वाजा। इनमें सुलतानशाह ने सबसे अधिक ख्याति प्राप्त की। मलिक मर्दान दौलत की मृत्यु के बाद जब खिज्र खाँ मुलतान का हाकिम हुआ तब सुलतानशाह उसके यहाँ नौकर हो गया। तैमूर के लौटने पर खिज्र खाँ का प्रभाव बढ़ने लगा और सन् १४०५ ई० में उसने मल्लू खाँ के विरुद्ध विजय प्राप्त की। इस युद्ध में सुलतानशाह ने भी भाग लिया था और उसी ने मल्लू खाँ का वध किया था। इससे वह खिज्र खाँ का विशेष कृपा-भाजन हो गया और उसे सरहिंद का हाकिम नियुक्त किया गया। जब खिज्र खाँ सुलतान हो गया तब उसने और बहुत से अफ़ग़ान सैनिक भर्ती किये। सुलतानशाह को इसी समय के लगभग इस्लाम खाँ की उपाधि मिली और उसकी गणना राज्य के बड़े अमीरों में होने लगी। प्रथम दो सैय्यद सुलतानों को पंजाब में खोखरों तथा विद्रोही अमीरों के विरुद्ध अनेक युद्ध करने पड़े। इस्लाम खाँ ने इन सभी युद्धों में स्वामिभक्ति, साहस तथा शूरता का परिचय दिया। इस कारण उसका मान बढ़ता गया और यहया कहता है कि उसे खान-ए-आज़म, मलिक उस्शर्क़ एवं मजलिस-ए-आली की उपाधियाँ मिलीं।

बहलोल के पूर्वज

इस्लाम खाँ के साथ उसके भाई भी रहते थे। मलिक काला को उसने दौराला में नियुक्त करा दिया था। जब बहलोल गर्भ में था, अचानक घर की छत गिर पड़ी और उसकी माता उसी में दबकर मर गई। परंतु मलिक काला ने शीघ्रता के साथ उसका पेट चीरकर बच्चे को निकलवा लिया और देखा कि वह जीवित है। यही बालक भारत में प्रथम अफ़ग़ान साम्राज्य का संस्थापक हुआ। कुछ समय के बाद

बहलोल का जन्म

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नियाज़ियों से लड़ता हुआ मलिक काला भी मर गया और बालक बहलोल बचपन में ही माता-पिता के प्यार से वंचित हो गया।

परंतु इससे उसको लाभ ही हुआ। इस्लाम ख़ाँ ने उसे अपनी देख-रेख में ले लिया और बड़े लाड़-प्यार के साथ उसका लालन-पालन किया। इस्लाम ख़ाँ के अपने बेटी-बेटे भी थे। परंतु वह बहलोल को उनसे अधिक प्यार करता था क्योंकि उसे बहलोल की आकृति में उसकी भावी उन्नति के चिन्ह दिखाई पड़ते थे और वह कहा करता था कि बहलोल परिवार के यश और सम्मान को बढ़ायेगा। इसलिए उसने उसे सैनिक तथा प्रशासकीय शिक्षा दी और अपनी कन्या शम्स खातून का उससे विवाह कर दिया। जब सन् १४३१-१४३३ के लगभग इस्लाम ख़ाँ का मृत्यु-समय आया तब उसने बहलोल को ही अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। इससे विदित होता है कि इस्लाम ख़ाँ उसको लोदी परिवार में सबसे अधिक योग्य समझता था। कहते हैं कि समाना के एक फ़क़ीर ने भी बहलोल को देख कर यह भविष्यवाणी की थी कि वह एक दिन दिल्ली का सुलतान होगा। भाग्यचक्र कुछ उसी प्रकार चलता प्रतीत होता था।

बहलोल की उन्नति

परंतु इस्लाम ख़ाँ के बेटे कुत्ब ख़ाँ ने पिता के निर्णय को स्वीकार नहीं किया। इस लिए अफ़ग़ान सर्दारों की एक बैठक हुई। उसमें कोई सर्व-सम्मत निर्णय न हो सका। अफ़ग़ानों में तीन दल हो गए: (१) एक दल चाहता था कि इस्लाम ख़ाँ के निर्णय को मानकर बहलोल को सरहिंद का हाकिम तथा अफ़ग़ानों का नेता स्वीकार कर लिया जाय, (२) दूसरा दल बहलोल के चचा फ़ीरोज़ की आयु और प्रतिष्ठा का ध्यान रखते हुए उसे नेता बनाने के पक्ष में था। (३) तीसरा दल वंशानुगत नेतृत्व के आधार पर क़ुत्ब ख़ाँ को सरहिंद का हाकिम बनाना चाहता था। बहलोल ने यह मतभेद देखकर अपना नाम वापस ले लिया। अब क़ुत्ब ख़ाँ और फ़ीरोज़ में संघर्ष आरंभ हुआ जिसमें क़ुत्ब ख़ाँ हारकर सैय्यद सुलतान मुहम्मदशाह की शरण में चला गया और उसे समझाया कि यदि अफ़ग़ानों को स्वेच्छा से काम करने दिया जायगा तो वे सुलतान के अधिकार को बिलकुल नहीं मानेंगे। साथ ही उसने वादा किया कि यदि उसे सरहिंद का हाकिम बनाया गया तो वह अपने पिता की भाँति बराबर सैय्यद सल्तनत की सेवा करता रहेगा। अस्तु, मुहम्मदशाह ने खोखरों को मिलाकर, सिकंदर तुहफा के साथ एक सेना भेजी जिसने अफ़ग़ानों को हरा दिया और क़ुत्ब ख़ाँ सरहिंद का हाकिम हो गया। फ़ीरोज़ पकड़ा गया। परंतु बहलोल बच निकला और उसने धीरे-धीरे शक्ति संगठित करके सैय्यद साम्राज्य पर छापे मारना आरंभ किया। इसी बीच में फ़ीरोज़ भी बंदी-गृह से निकल भागा और उसने बहलोल के नेतृत्व का समर्थन किया। कुछ समय बाद बहलोल ने सरहिंद पर

लोदियों की आपसी फूट और बहलोल की सफलता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिकार कर लिया और क़ुत्ब ख़ाँ फिर दिल्ली भाग गया।

मुहम्मद शाह ने अब अपने वज़ीर हाजी शुदनी को जिसे हिसाम ख़ाँ की उपाधि मिली थी बहलोल के विरुद्ध भेजा। हिसाम ख़ाँ पराजित हुआ और दिल्ली वापस लौट गया। इस विजय से बहलोल की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई और वह अफ़ग़ानों में बहुत लोकप्रिय हो गया। कुछ समय बाद क़ुत्ब ख़ाँ भी लौट आया और बहलोल से मिल गया। अब बहलोल ने सुलतान मुहम्मदशाह को एक पत्र लिखा जिसमें उसने अपनी स्वामिभक्ति का उल्लेख किया और वादा किया कि यदि उसका शत्रु हिसाम ख़ाँ मार डाला जाय और हमीदख़ाँ उसके स्थान पर वज़ीर बना दिया जाय तो वह तुरंत निर्भय होकर सुलतान की सेवा में प्रस्तुत होगा और उसके आदेशानुसार कार्य करेगा। सुलतान मुहम्मद में व्यावहारिक ज्ञान तो था ही नहीं इसलिए उसने अपने स्वामिभक्त वज़ीर का वध करा दिया। यह सूचना पाकर बहलोल दर्बार गया और उसने सुलतान को सम्मान के साथ भेंटें प्रदान कीं।

बहलोल और हिसाम ख़ां

इसके बाद सन् १४४० में बहलोल ने मालवा के शासक महमूद खिलजी के आक्रमण के समय सुलतान की सेना के हरावल का नेतृत्व किया और अपनी सफलता से सुलतान को इतना संतुष्ट किया कि उसने उसे खान-ए-ख़ानाँ और फ़र्ज़न्द (पुत्र) की उपाधियाँ दीं। दिल्ली से लौटते समय बहलोल ने लाहौर, दिपालपुर, सुन्नम और हिसार-फ़ीरोज़ा पर अधिकार कर लिया और जब मुहम्मदशाह के कहने पर भी उसने उन्हें नहीं छोड़ा तब सुलतान ने उसे वहाँ का हाकिम स्वीकार कर लिया। इस भाँति बहलोल की शक्ति बढ़ गई। अब वह दिल्ली पर अधिकार करने की तैयारी करने लगा।

संपूर्ण पंजाब पर अधिकार (१४४०-४१ ई०)

संभवत: मुहम्मदशाह की मृत्यु के बाद बहलोल ने दिल्ली पर अधिकार करने की चेष्टा की परंतु वह इसमें सफल नहीं हुआ। उसके कुछ दिन बाद आलमशाह बदायूँ चला गया और उसकी शक्ति इतनी घट गई कि लोग कहने लगे 'पादशाही शाहआलम-अज़ देहली ता पालम' अर्थात् विश्व-सम्राट् (शाहआलम) कहलाने वाले का राज्य इतना संकुचित हो गया है कि वह दिल्ली से पालम तक ही रह गया है। उसने ईसा ख़ाँ तुर्क, राजा प्रताप तथा क़ुत्ब ख़ाँ के भड़काने से हमीद ख़ाँ का वध कराना चाहा। हमीद किसी प्रकार जान बचाकर भागा और दिल्ली में प्रवेश पा गया। उसने राजमहल तथा राजकोष पर अपने अनुयायियों का पहरा बैठा दिया और किसी ऐसे उपयुक्त व्यक्ति की खोज करने लगा जो सुलतान होकर उसे मंत्री-पद पर बना रहने दे। अभी वह विचार ही कर रहा था कि बहलोल सेना लेकर

दिल्ली पर अधिकार (१४५१ ई०)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चढ़ आया और बलपूर्वक दिल्ली में घुसने की चेष्टा करने लगा। अंत में हमीद खाँ और बहलोल में समझौता हो गया। हमीद खाँ ने बहलोल को सुलतान स्वीकार कर लिया और बहलोल ने उसे शासन का अधिकार देकर वज़ीर के पद पर रहने देने का वादा किया।

बहलोल इस स्थिति से संतुष्ट नहीं था। इसलिए उसने हमीद खाँ को हटाने के लिए एक षड्यंत्र रचा। अफ़ग़ान अपनी असभ्यता और बर्बरता के लिए कुख्यात थे। बहलोल ने इसका लाभ उठाकर अफ़ग़ानों को और बुद्धू बन जाने के लिए कहा।

हमीद खाँ का पतन

एक दिन जब वे दावत के लिए बुलाये गये तब वे टोपी बनाने के लिए क़ालीन के टुकड़े माँगने लगे, इत्र आने पर उसे चाट गये और पान दिया जाने पर बहुत-सा चूना खाकर इधर-उधर थूकने लगे। यह देखकर हमीद खाँ ने समझा कि वे बिलकुल उजड्ड हैं। इसलिए दूसरे दिन जब वे बिना बुलाए भीतर घुसने लगे तो उसने विरोध नहीं किया। परंतु तुरंत ही उसे बंदी बना लिया गया और वह कुछ भी विरोध न कर सका।

अब बहलोल ने आलमशाह को एक पत्र में लिखा, "मैंने उस दग़ाबाज़ को जिसको आपके पिता ने अदने से अमीर बनाया था बंदीगृह में डाल दिया है क्योंकि वह आपके प्रति विद्रोह की भावना रखता था। आपके प्रतिनिधि-स्वरूप मैंने राज्यकार्य को, जो इधर कुछ दिनों से बहुत बिगड़ गया था व्यवस्थित कर दिया है और मैं आपका आज्ञाकारी सेवक बना हूँ।" आलमशाह ने स्थिति को समझ लिया। बहलोल का विरोध करने की उसमें शक्ति नहीं थी। अस्तु उसने उत्तर में लिख भेजा, "मैं राज्य-भार से तंग आ गया हूँ और इसी कारण मैंने अपने आपको उससे अलग कर लिया है। मेरे पिता ने तुम्हें फ़र्ज़न्द कहा था। इसलिए तुम मेरे भाई के समान हो। वर्तमान परिस्थिति में, तुम्हें राज्य-कार्य चलाना चाहिए। मैंने राजसिंहासन त्याग दिया है और मैं बदायूँ से ही संतुष्ट रहूँगा।"

आलमशाह द्वारा राज्य-त्याग

इस पत्र को पाने के बाद बहलोल ने अप्रैल १४५१ में अपना राज्याभिषेक कराया और उसने अबू मुज़फ़्फ़र बहलोलशाह की उपाधि धारण की। इस भाँति दरवेश की भविष्यवाणी सत्य हो गई और प्रथम अफ़ग़ान साम्राज्य की विधिवत् नींव पड़ गई। बहलोल ने अपने नाम के सिक्के चलाये और ख़ुतबे में भी उसका नाम रख दिया गया।

बहलोल का राज्याभिषेक (अप्रैल १४५१ ई०)

दिल्ली पर अधिकार हो जाने से बहलोल की समस्याएँ सुलझने के स्थान पर एकदम जटिल हो गईं। सैय्यदवंशी शासक अभी जीवित था। जिन लोगों को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके प्रति निष्ठा थी अथवा जिनको उसकी दुर्बलता से लाभ था वे बहलोल के राज-द्रोह को कभी क्षमा न करेंगे और उसे शांति के साथ रहने न देंगे। दूसरे, हमीद खाँ के मित्र भी उसके विरोधी बन गये थे। तीसरे, शर्क़ी सुलतान महमूदशाह की स्त्री बीबी राजो सैय्यद राजकुमारी थी। शर्क़ियों की इच्छा दिल्ली पर अधिकार करने की थी ही। सुलतान महमूद अपनी पत्नी के अधिकार की रक्षा अथवा उसके पितृ-कुल के अपमान का बदला लेने के लिए आक्रमण कर सकता था। चौथे, अफ़ग़ानों के प्रति सर्वसाधारण की घृणा की भावना थी। सुलतान बहलोल को अपने आचरण द्वारा सिद्ध करना होगा कि उनकी धारणा भ्रांतिमूलक थी। साथ ही, उसे प्रधानतः अफ़ग़ानों की सहायता पर ही भरोसा करना पड़ेगा। परंतु अफ़ग़ान अनुयायी भी एक समस्या थे। उनका समानता का सिद्धान्त, स्वतंत्रता-प्रेम, क़बीले के नेता के प्रति श्रद्धा, अहंकार एवं अनुशसानहीनता अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न कर सकते थे और यदि उनके साथ ठीक व्यवहार न किया गया तो वे ही नव-स्थापित अफ़ग़ान राज्य को जड़ खोदने लगेंगे।

बहलोल की कठिनाइयां

उसने राजकोष, राज-भण्डार, घुड़साल तथा हाथीखाना की रक्षा के लिए अफ़ग़ान कर्मचारी नियुक्त किये। दुर्ग की रक्षा के लिए उसने चुने हुए अफ़ग़ान सैनिक तैनात किये और दिल्ली के आसपास सभी प्रांतों एवं ज़िलों में उसने अपने विश्वास-पात्र व्यक्ति रखे। इस भाँति हमीद खाँ के मित्रों से जो भय की आशंका थी वह दूर हो गई। इसके कुछ समय बाद उसने मेवात और दोआब का दौरा किया और वहाँ के अधिकारियों को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया। मेवात के हाकिम अहमद खाँ और सम्भल के हाकिम दरिया खाँ से सात-सात परगने लेकर खालसा कर लिये गये और शेष भाग पर उनका अधिकार रहने दिया गया। कोयल के शासक ईसा खाँ, सकीट के हाकिम मुबारक खाँ, कम्पिला, पटियाली और भोगाँव के राजा प्रताप तथा रापरी के शासक क़ुत्ब खाँ अफ़ग़ान ने बहलोल को अपना सम्राट् स्वीकार कर लिया और इसलिए उन सब को अपने-अपने पदों पर रहने दिया गया। इस भांति पंजाब से लेकर शर्क़ी सल्तनत की पश्चिमी सीमा तक का सारा क्षेत्र उसके अधीन हो गया।

बहलोल के प्रारंभिक कार्य

परंतु उसे शीघ्र ही शर्क़ियों से युद्ध करना पड़ा जो प्रायः ३५ वर्ष तक चलता रहा। बहलोल ने अंत में शर्क़ियों को पराजित करके जौनपुर पर अधिकार कर लिया। परंतु युद्ध-काल में ऐसे अनेक अवसर आये जब उसे राजधानी की रक्षा के लिए भी लाले पड़ गये थे। इस दीर्घकालीन युद्ध के अनेक कारण थे।

शर्क़ियों से युद्ध (१४५२-८६ ई०)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सैय्यद राजकुमारियाँ जिनका विवाह शर्क़ी सुलतानों से हुआ था लोदियों को दिल्ली में टिकने देना नहीं चाहती थीं और अपने पतियों को बराबर आक्रमण करने के लिए उकसाया करती थीं। शर्क़ी सुलतान भी राज्यलिप्सा के वशीभूत होकर उनकी बात को सोत्साह स्वीकार कर लेते थे। इसके विपरीत बहलोल तथा उसके उत्तराधिकारी अपने को पूर्वकालीन सुलतानों का स्थानापन्न समझते थे और इस कारण उन समस्त प्रांतों को अधीन बनाने के इच्छुक थे जो कभी दिल्ली साम्राज्य के अंतर्गत थे। दिल्ली का शासक होने के कारण उनके लिए साम्राज्यवादी परम्परा का अनुसरण करना स्वाभाविक था। दूसरे, दोनों राज्यों के बीच में कोई सुस्पष्ट सीमा-रेखा नहीं थी। इस कारण सीमा पर युद्ध छिड़ जाते थे और बाद में वे विकराल रूप धारण कर लेते थे। तीसरे, अनेक अवसरों पर पूर्वी क्षेत्र के हाकिम कभी इस ओर और कभी उस ओर मिल जाते थे और नूतन युद्धों का सूत्रपात करते थे। चौथे, शर्क़ी सुलतानों की सेनाओं में अधिक सैनिक होने पर भी जब उनकी पराजय हो जाती तो वे इस अपमान को धोने के लिए फिर युद्ध करते थे और यदि उनको सफलता मिलती तो वे मदान्ध हो जाते और लोदियों को समूल नष्ट करने का स्वप्न देखने लगते थे। बहलोल बड़ा कूटनीतिज्ञ एवं चालाक था। वह आवश्यकता पड़ने पर खूब विनम्र हो जाता था परंतु अवसर पाते ही अपने खोये हुए प्रांतों को फिर जीतने की चेष्टा करता था। इस भाँति उनके बीच में ऐसा गहरा द्वेष पैदा हो गया था कि एक के विनाश के बाद ही युद्ध बंद होना संभव था। दोनों ही राज्यों की शक्ति प्रायः संतुलित थी। इस कारण किसी एक का जल्दी विनाश होना भी संभव नहीं था। यही कारण है कि यह युद्ध इतने दिनों तक चलता रहा।

युद्ध के कारण

महमूदशाह ने इटावा पर आक्रमण करके सन् १४५२ ई० में इस युद्ध का सूत्रपात किया। बहलोल ने उसे अनुनय-विनय द्वारा संतुष्ट करके लौटाना चाहा। परंतु उसी समय उसे मुलतान में विद्रोह को दबाने के लिए जाना पड़ा। महमूदशाह ने तुरंत १,७०,००० सैनिक और १,४०० हाथी लेकर दिल्ली पर आक्रमण कर दिया। अफ़ग़ानों ने बहुत बहादुरी से सामना किया परंतु उनकी पराजय निश्चित दिखाई पड़ने लगी। ऐसी दशा में उन्होंने शर्क़ी सेनापति दरिया ख़ाँ लोदी को मिलाने की चेष्टा की और दिल्ली छोड़कर पंजाब जाने की अनुमति चाही। दरिया ख़ाँ अफ़ग़ान होने के कारण शत्रु-पक्ष से मिल गया और उसके विश्वासघात के कारण महमूदशाह की पराजय हुई और उसे बहुत क्षति उठाकर पीछे लौटना पड़ा। इस विजय से बहलोल की शक्ति बढ़ गई और उसे ५० हाथी, अनेक सुन्दर घोड़े, १०० मन सोना तथा बहुत-सा लड़ाई का सामान लूट में मिला।

युद्धों का विवरण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महमूदशाह ने एक दूसरी सेना लाकर फिर आक्रमण किया परंतु बाद में वह राजा प्रताप और क़ुत्ब खाँ की मध्यस्थता मानकर संधि करने पर राजी हो गया। दोनों राज्यों के बीच की सीमा को ठीक करने के लिए यह तै हुआ कि मुबारकशाह सैय्यद और इब्राहीमशाह शर्क़ी के समय की सीमा स्थायी सीमा मानी जाय तथा शर्क़ी हाकिम जूना खाँ शम्साबाद का दुर्ग बहलोल के अनुयायी के सिपुर्द कर दे। बहलोल ने पिछले युद्ध में पकड़े हुए सात हाथी लौटा देने का वचन दिया।

बाद में जूना खाँ ने शम्साबाद देने से इन्कार किया और बहलोल ने उसे बल-पूर्वक छीनना चाहा इसलिए फिर युद्ध हुआ। इस भाँति १४५२ ई० में तीन बार युद्ध हुआ। अंत में महमूदशाह ने शम्साबाद नहीं छोड़ा और उसने बहलोल के साले क़ुत्ब खाँ को बंदी बना लिया।

महमूदशाह की मृत्यु होने पर बहलोल ने फिर आक्रमण किया। उधर जौनपुर राजवंश में उत्तराधिकार का युद्ध छिड़ गया। पहले मुहम्मदशाह वहाँ का शासक हुआ परंतु जब उसने दूसरे राजकुमारों का बध कराना आरंभ किया तब बीबी राजी ने उसको गद्दी से उतारकर हुसेनशाह को गद्दी पर बिठाया। हुसेनशाह का विवाह बीबी खोंज़ा के साथ हुआ था जो सुलतान आलमशाह की बेटी थी। अस्तु हुसेनशाह और बीबी खोंज़ा तथा बीबी राजी ने बार-बार बहलोल पर आक्रमण किये।

इस गृह-युद्ध के समय राजकुमार जलाल खाँ बहलोल के हाथ में पड़ गया। सुलतान हुसेनशाह अपनी शक्ति संगठित करने के लिए समय चाहता था। इसलिए उसने बहलोल से संधि कर ली। क़ुत्ब खाँ और जलाल का विनिमय हो गया और दोनों पक्षों ने चार वर्ष तक शांत रहने का वादा किया।

चार वर्ष समाप्त होने पर बहलोल ने शम्साबाद पर अधिकार कर लिया और राजा कर्ण को वहाँ का शासक नियुक्त किया। परन्तु उसके राजपूत और अफ़ग़ान अनुयायियों में झगड़ा हो गया और अफ़ग़ानों ने वीरसिंह की हत्या कर दी। इस कारण राजा प्रताप, मुबारिज़ खाँ तथा क़ुत्ब खाँ हुसेनशाह से मिल गये। फिर भी बहलोल को विशेष क्षति नहीं हुई और दोनों ने फिर तीन वर्ष के लिए युद्ध बंद कर दिया।

१४६२-१४६६ ई० के बीच हुसेनशाह की शक्ति बहुत बढ़ गई और मेवात, इटावा, कोयल तथा बयाना के हाकिमों ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली और अब उसने दिल्ली पर आक्रमण किया। परंतु बहलोल ने किसी प्रकार फिर राजधानी की रक्षा कर ली और हुसेनशाह वापस लौट गया। कुछ समय बाद उसने फिर प्रत्या-क्रमण किया। बहलोल घबड़ा गया और उसने मालवा के शासक से सहायता माँगी। उसका उत्तर न आने पर उसने हुसेनशाह की अधीनता स्वीकार करने और दिल्ली तथा उसके आसपास १८ कोस तक की भूमि को छोड़कर शेष सब राज्य दे देने का वादा किया। परंतु हुसेनशाह ने इसे स्वीकार नहीं किया। उसके सैनिक लूट-मार करके

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जनता को आतंकित करने लगे। बहलोल राजधानी की रक्षा करता रहा और अपने गुप्तचरों के द्वारा हुसेनशाह की गतिविधि का भी पता लेता रहा। एक समय जब छावनी में अधिक सैनिक नहीं थे उसने १८००० सैनिक लेकर यकायक हमला कर दिया और भीषण मारकाट मचा दी। हुसेनशाह हारकर भागा और बहलोल को लूट में बहुत-सा धन तथा लड़ाई का सामान प्राप्त हुआ। मलका जहाँ भी उसके हाथ में पड़ गई। परंतु उसने उसे सम्मान-पूर्वक वापस भेज दिया।

सन् १४७८ ई० तक बहलोल बराबर रक्षात्मक युद्ध करता रहा। विजय होने पर भी वह शर्क़ियों को संतुष्ट करने की चेष्टा करता रहता था। परंतु १४७८ ई० में स्थिति बदल गई। उस वर्ष आलमशाह की मृत्यु होने पर हुसेनशाह ने बदायूँ पर अधिकार कर लिया और संभल को जीतकर दिल्ली का घेरा डाला। बहलोल बचाव की लड़ाई लड़ता रहा और अंत में हुसेनशाह ने गंगा को सीमा मान कर वापस जाना स्वीकार किया। जब वह लौट रहा था, बहलोल ने उसके ऊपर आक्रमण कर दिया और बहुत सा सामान लूट लिया। हुसेनशाह की सेना बिलकुल हतोत्साह हो गई और वह बराबर पीछे हटती गई। बहलोल ने शम्साबाद, कम्पिला, पटियाली, कोयल, सकीट और जलाली पर अधिकार कर लिया।

हुसेनशाह ने एक बार फिर युद्ध किया परंतु वह पराजित हुआ। इसके बाद १४७९-८० ई० में हुसेनशाह ने फिर आक्रमण किया और फिर पराजित हुआ। ग्वालियर तथा भाटा (वर्तमान रीवाँ) के राजाओं की सहायता से वह किसी प्रकार जौनपुर पहुँचा परंतु बहलोल ने उसका पीछा न छोड़ा और उसे बिहार में खदेड़कर उसने बारबकशाह को जौनपुर का शासक नियुक्त किया तथा क़ुत्ब ख़ाँ को मझौली में तैनात किया। सन् १४८६ में हुसेनशाह ने एक बार फिर जौनपुर पर अधिकार कर लिया परंतु बहलोल की कुमक पहुँचते ही हुसेनशाह को फिर भागना पड़ा। सिकंदर के समय में उसने एक बार फिर जौनपुर पर अधिकार करना चाहा परंतु १४९४ में उसे बिहार से भी हाथ धोना पड़ा और इस भाँति शर्क़ी साम्राज्य का सदा के लिए अंत हो गया।

शर्क़ी-लोदी युद्ध आरंभ होने के समय शर्क़ियों की आर्थिक तथा सैनिक स्थिति कहीं अधिक दृढ़ थी। हुसेनशाह के समय में भी शर्क़ियों की शक्ति अत्यंत प्रबल थी।

शर्क़ियों की पराजय के कारण

फिर भी अंत में उनकी पराजय हुई और उनके वंश का अंत हो गया। इसके कई कारण हैं। शर्क़ी सुलतान सैय्यदों के समर्थकों की सहानुभूति प्राप्त नहीं कर सके क्योंकि उन्होंने सैय्यदों की ओर से नहीं वरन् अपना साम्राज्य बढ़ाने के लिए युद्ध किया। यद्यपि युद्ध का आधार राजनीतिक एवं वंशगत ईर्ष्या थी तो भी शर्क़ी पक्ष में दरिया ख़ाँ तथा कुत्ब ख़ाँ के रहने के कारण उनको विश्वासघात का सामना करना

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ा। बहलोल ने अपनी सेना में सभी मार्के के पद अफ़ग़ानों को ही दिये इसलिए उसे इस प्रकार की क्षति नहीं उठानी पड़ी। शर्क़ी सुलतान अहंकारी एवं दम्भी थे परंतु बहलोल ऊपर से विनम्र एवं भीतर से बहुत चालाक कूटनीतिज्ञ था। इस कारण शर्क़ियों ने विजय का लाभ खो दिया और लोदियों ने पराजय को विजय में परिणत करने में सफलता पाई। लोदी शासक पहले रक्षात्मक युद्ध करता रहा इसलिए शर्क़ियों को जौनपुर से आकर युद्ध करने पड़ते थे और उनका राजधानी से संबंध रख सकना कठिन हो जाता था। शर्क़ी सुलतान उचित समय पर उचित कार्य नहीं कर पाते थे। वे संयमशील युद्ध के समय लूटमार करने लगते और पीछे हटते समय रसद की रक्षा को ठीक व्यवस्था नहीं करते थे। उन्हें गृह-युद्ध के कारण भी क्षति हुई जब कि लोदी शक्ति केन्द्रित और संगठित बनी रही।

अहमद यादगार लिखता है कि राजकुमार बायज़ीद ने सिंध पर अधिकार कर लिया। ग्वालियर का राजा प्रायः स्वतंत्र रहा परंतु वह बीच-बीच में सुलतान को भेंट देकर संतुष्ट करता रहा था। सन् १४८७ ई० में राजा मानसिंह ने बहलोल को अस्सी लाख टंक दिये और उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। उसने धौलपुर के राजा से भी कर वसूल किया और कालपी पर अधिकार करके वहाँ अपने पौत्र आजम हुमायूँ को नियुक्त किया।

बहलोल की अन्य विजयें

जिस समय बहलोल गद्दी पर बैठा उस समय दिल्ली की सल्तनत अपनी अंतिम साँसें गिन रही थी। उसने विघटनकारी शक्तियों को रोका, विद्रोही हाकिमों को अधीन किया, एक पड़ोसी राज्य को समाप्त करके अपने साम्राज्य की सीमा बढ़ाई और दक्षिण की ओर अपना प्रभाव-क्षेत्र बढ़ाया। इस भांति उसने दिल्ली सल्तनत में एक नई जान फूंक दी और उसमें नूतन शक्ति का संचार होने लगा।

बहलोल की विजयों का महत्त्व

बहलोल बहुत बुद्धिमान, वाक्पटु एवं व्यवहार-कुशल व्यक्ति था। वह व्यक्तियों के गुण-अवगुण की पहचान करने में दक्ष था और उनसे अधिक-से-अधिक लाभ उठाने की क्रिया खूब जानता था। वह धार्मिक नियमों का पालन करता था, सादा जीवन व्यतीत करता था और मुल्ला-मौलवियों का आदर करता था। रिज़्क़ुल्ला मुश्ताक़ी लिखता है कि वह रण-स्थल में भी नमाज़ का समय आने पर नागा नहीं करता था।

बहलोल की शासन नीति

वह अपने अमीरों को वश में रखने में सफल हुआ। उसकी नीति यह थी कि वह उनके साथ भाईचारे का व्यवहार करता था, उनके सामने सिंहासन पर नहीं बैठता था, किसी के भी घर जाकर निःसंकोच खा पी लेता था और दुःख-सुख में सबके साथ सहानुभूति और आत्मीयता का व्यवहार करता था। यदि कोई अमीर असंतुष्ट हो जात

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो वह उसकी चाटुकारी करके उसे प्रसन्न कर लेता और उसके सामने पगड़ी उतार कर रख देता और कहता कि यदि तुम मुझे राजपद के लिए अनुपयुक्त समझते हो तो यह काम किसी और को दे दो और मुझे जो काम ठीक समझो दे दो। हम सब तो केवल अफ़ग़ान साम्राज्य के सेवक हैं। इस प्रकार की बातें सुनकर अमीर संतुष्ट हो जाते और उसका प्रभाव बराबर बढ़ता जाता। उसमें नेतृत्व का स्वाभाविक गुण था। इसी कारण वह सबसे हिल-मिलकर रहने पर भी आवश्यकतानुसार अनुशासन रखने में समर्थ होता था। बहलोल में जातिगत अथवा सांप्रदायिक पक्षपात नहीं था। इसी कारण वह राजा कर्ण, राजा प्रताप, राजा वीरसिंह, राजा तिलोकचंद, राजा धांधू आदि राजपूतों का सहयोग प्राप्त कर सका।

मृत्यु (१४८९ ई०)

प्राय: ३८ वर्ष शासन करने के पश्चात् वह दिल्ली जाते समय जलाली नामक नगर के निकट बीमार हुआ और मर गया। परंतु मरने के पूर्व उसने अफ़ग़ान साम्राज्य की नींव को काफी दृढ़ कर दिया।

बहलोल के ९ पुत्र थे। उनमें से राजकुमार बायजीद जो शम्स ख़ातून के गर्भ से जन्मा था और जो ज्येष्ठ पुत्र था, पिता की मृत्यु के पहले ही मर गया था।

सुलतान सिकंदर का राज्याभिषेक

बहलोल ने उसके बेटे आज़म हुमायूँ को १४८७-८८ ई० में कालपी और लखनऊ का हाकिम नियुक्त किया था। बहलोल के अन्य पुत्रों में से बारबकशाह जौनपुर का शासक था और उसे प्राय: शाही अधिकार मिले हुए थे। आलम खाँ कड़ा और मानिकपुर का हाकिम था तथा निज़ाम ख़ाँ राजधानी में सुलतान के नायब का कार्य कर रहा था। फ़रिश्ता लिखता है कि सुलतान बहलोल की इच्छा थी कि उसकी मृत्यु के बाद निज़ाम ख़ाँ दिल्ली और दोआब के परगनों का स्वामी तथा अफ़ग़ान साम्राज्य का प्रधान हो तथा उसके अन्य पुत्र-पौत्रादि प्रांत-पतियों के समान शासन करें। इसी उद्देश्य में उसने उन सबको उनकी योग्यतानुसार जागीरें दी थीं। परंतु बहलोल की मृत्यु होते ही अफ़ग़ानों ने स्वेच्छापूर्वक उत्तराधिकारी निर्वाचित करने का निश्चय किया। निज़ाम खाँ, आज़म हुमायूँ और बारबकशाह के नाम प्रस्तावित किये गये। परंतु निज़ाम खाँ की माता ने अपने बेटे को गुप्त सूचना भेजकर तुरंत आने का परामर्श दिया। निज़ाम ख़ाँ अपनी सेना लेकर छावनी में आ गया और उसके आते ही खानखानाँ फ़र्मुली तथा अन्य अमीरों के समर्थन के कारण वह सुलतान चुन लिया गया। उसने बहलोल की लाश को दिल्ली भेज दिया और फिर स्वयं सेना-सहित राजधानी गया। १७ जुलाई १४८९ को जलाली में उसका विधिवत् राज्याभिषेक हुआ और उसने सिकंदरशाह की उपाधि धारण की।

राजगद्दी पर बैठने के पूर्व निज़ाम ख़ाँ अनेक पदों पर कार्य कर चुका था। सबसे पहले वह सरहिंद का हाकिम नियुक्त किया गया था और बहलोल की अनुपस्थिति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के समय वह राजधानी में रहकर केन्द्रीय शासन का संचालन भी कर चुका था। उसको सैनिक अनुभव भी प्राप्त था और उसकी आयु ३१ वर्ष की हो चुकी थी। इतना अनुभव होने पर भी उसका कार्य सुगम नहीं था। अपितु, उसको अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा। वह एक सोनारिन का बेटा था और ईसा खाँ ने इसके ऊपर आक्षेप भी किया था। अस्तु, उसे अपने व्यवहार तथा विचारों से सिद्ध करना था कि वह किसी दीनदार मुसलमान और विशुद्ध अफ़ग़ान से किसी प्रकार घटकर नहीं है। दूसरे, उसे सभी विद्रोहियों और विरोधियों का दमन करके अपनी शक्ति संगठित करनी थी। बहलोल ने राजवंश के अनेक व्यक्तियों को बड़े-बड़े प्रांतों का शासन सौंप रखा था। उनमें से बारबकशाह और आज़म हुमायूँ का नाम सुलतान-पद के लिए भी प्रस्तावित किया गया था। ईसा खाँ जैसे अमीरों ने सिकंदर के राज्यारोहण का खुला विरोध किया था। इन सबकी गतिविधि पर दृष्टि रखना आवश्यक था ताकि उनको अशांति पैदा करने का अवसर न मिले। पूरब की ओर हुसेनशाह शर्क़ी अपना राज्य लौटाने के मंसूबे वना रहा था। अस्तु, जौनपुर क्षेत्र पर कड़ी दृष्टि रखना अपेक्षित था। दक्षिण की ओर बयाना और ग्वालियर के शासक अर्द्ध स्वतंत्र अवस्था में थे। उनकी शक्ति का दमन करना था। इनके अतिरिक्त उसे आर्थिक दशा का सुधार करना था क्योंकि बहलोल की नीति के कारण राजकोष प्रायः रिक्त था।

सिकंदर की समस्याएँ

सिकंदर ने पहले अपने अनुयायियों और समर्थकों को संतुष्ट किया। उसने सैनिकों को दो से चार महीने तक का वेतन इनाम दिया और अमीरों को सुन्दर वस्त्र तथा आकर्षक विरुद् देकर प्रसन्न किया। इसके बाद उसने साम्राज्य का दौरा आरंभ किया। आलम खाँ ने सुलतान का विरोध किया परंतु वह पराजित हुआ और इटावा का हाकिम नियुक्त किया गया। उसके स्थान पर खानखानाँ नूहानी नियुक्त हुआ। इसके बाद उसने ईसा खाँ लोदी पर आक्रमण किया। ईसा खाँ ने वीरता के साथ विरोध किया परंतु अंत में वह भी पराजित हुआ और बंदी वनाकर सुलतान के सामने लाया गया। सुलतान ने उसे क्षमा करना चाहा परंतु वह इस बुरी तरह घायल हुआ था कि वह शीघ्र ही मर गया। उसके स्थान पर राजा गणेश शम्साबाद का हाकिम बनाया गया। इसी भाँति उसने बारबकशाह से भी अधीनता स्वीकार करने का प्रस्ताव किया। परंतु वह सेना लेकर दिल्ली की ओर चल पड़ा। इधर सिकंदर भी आक्रमण करने जा रहा था। फलतः कन्नौज के पास दोनों सेनाओं में मुठभेड़ हुई और बारबकशाह हार कर बदायूँ की तरफ भागा। बाद में पराजित होने पर उसने सिकंदर से

सिकंदर के प्रारंभिक कार्य (१४८९-१४९२ ई०)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्षमा माँग ली और वह फिर जौनपुर का शासक नियुक्त किया गया। उस पर नियंत्रण रखने के लिए सिकंदर ने अपने विश्वासपात्र अमीरों को उसका परामर्शदाता बनाकर रख दिया और जौनपुर-क्षेत्र में कई इलाके अपने समर्थकों को दे दिये। इसी भाँति आज़म हुमायूँ के स्थान पर महमूद खाँ लोदी और बयाना के हाकिम सुलतान शर्फ़ के स्थान पर खान-खानाँ फ़र्मुली को रखा गया। ग्वालियर का राजा मान भी सुलतान की शक्ति से प्रभावित होकर अधीनता स्वीकार करने के लिए सहमत हो गया। इस प्रकार तीन वर्ष के भीतर सिकंदर ने सभी विरोधियों एवं प्रतिद्वंदियों को परास्त कर दिया और बयाना को जीत कर अपनी दक्षिणी सीमा को सुदृढ़ किया।

सिकंदर की वैदेशिक नीति अधिक सफल नहीं रही और वह अपने साम्राज्य का अधिक विस्तार नहीं कर सका यद्यपि उसने कई स्थानों में लगातार वर्षों युद्ध किया। संभवतः इसी दोष को छिपाने के लिए अफ़ग़ान इतिहासकारों ने लिखा है कि वह साम्राज्य बढ़ाने का इच्छुक नहीं था। उसका प्रथम प्रबल संघर्ष हुसेनशाह शर्क़ी से हुआ। बिहार में रहते हुए हुसेनशाह अपना राज्य प्राप्त करने के लिए निरंतर षड्यंत्र करता रहता था। उसके दूत अनेक स्थानों में फैले हुए थे। उसने हिन्दू ज़मींदारों को विशेषकर बचगोतियों और रीवाँ के राजा भैदचंद्र तथा उसके पुत्र लक्ष्मीचंद्र को अपनी ओर मिला लिया था। उसने अपने कुछ अमीरों को चुनार भेज दिया था और बारबकशाह से भी उसका सम्पर्क था। संभवतः बारबकशाह और हुसेनशाह में यह आपसी समझौता हो गया था कि वे दोनों मिलकर सिकंदर से युद्ध करेंगे और उसे पराजित करने के पश्चात् हुसेनशाह पुनः जौनपुर का शासक होगा तथा बारबकशाह दिल्ली की गद्दी पर बैठेगा। इस भांति सिकंदर की स्थिति सचमुच संकटमय थी। उसने पहले बारबकशाह को हराकर उसे अपने नियंत्रण में रखा और बाद में जब वह दो बार हिन्दुओं का विद्रोह दबाने में असमर्थ रहा तब उसने उसे हटाकर बंदीगृह में डाल दिया। उसने बचगोतियों और भाटा (रीवाँ) के राजा का सम्पर्क न होने दिया और बाद में भैदचंद्र के उत्तराधिकारी शालिवाहन को अपनी ओर कर लिया। उसने हुसेनशाह से पहले युद्ध बचाना चाहा परंतु बाद में उसका वीरता के साथ सामना किया और उसे कई स्थानों में पराजित करता हुआ उसे बिहार से बाहर खदेड़ दिया तथा बंगाल के शासक से जिसने उसे आश्रय दिया था यह संधि की कि वे दोनों एक दूसरे की सीमा पर न तो आक्रमण करेंगे और न एक दूसरे के शत्रुओं को किसी प्रकार की सहायता देंगे। इसके बाद वह बिहार में ही कुछ दिन ठहरा रहा और वहाँ के शासन की उचित व्यवस्था करके दिल्ली लौटा। खान-ए-जहाँ

सिकंदर की विजयें
(१) बिहार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का पुत्र हुमायूँ दरवेशपुर का और मुबारक खाँ नूहानी का पुत्र दरिया खाँ नूहानी बिहार का हाकिम नियुक्त हुआ। सारन और तिरहुत के हिन्दू राजाओं का बहुत-सा राज्य छीन लिया गया और अफ़ग़ानों को दे दिया गया। इस भाँति १४९३-१४९५ ई० के बीच हुसेनशाह की शक्ति को समूल नष्ट करके उसने बिहार को भी अपने राज्य में मिला लिया।

सिकंदर का दूसरा प्रधान संघर्ष ग्वालियर के राजा से हुआ। सिकंदर का समकालीन, राजा मान (१४७९-१५१७ ई०) अत्यंत योग्य एवं वीर शासक था। उसके समय में ग्वालियर का गढ़ पहले से भी अधिक सुदृढ़ हो गया था और यद्यपि वह सिकंदर से झगड़ा करने के लिए उत्सुक नहीं था परंतु वह उसका पूर्ण आधिपत्य मानने के लिए भी प्रस्तुत नहीं था। सिकंदर ने सोचा कि ग्वालियर-विजय से उसका सम्मान काफी बढ़ जायगा और उसे मध्य भारत में अपना साम्राज्य बढ़ाना सुगम होगा। इसलिए उसने ग्वालियर की स्वतंत्र सत्ता का नाश करने का संकल्प किया। उसने पहले ग्वालियर के करद राज्य धौलपुर पर आक्रमण किया। धौलपुर के शासक ने बहुत उग्र प्रतिरोध किया। फलतः युद्ध प्रायः तीन वर्ष तक चलता रहा और तब कहीं १५०४ ई० में धौलपुर पर सुलतान का आधिपत्य स्थापित हुआ और उस समय भी यह संभव नहीं हुआ कि धौलपुर के शासक विनायकदेव को हटा कर अफ़ग़ान हाकिम नियुक्त किया जाय। कुछ समय के बाद सिकंदर ने फिर युद्ध आरंभ किया और उसने १५०५ ई० में मंडरैल पर अधिकार कर लिया तथा धौलपुर में क़मरुद्दीन को नियुक्त किया। सन् १५०६-१५०७ ई० में चम्बल के किनारे छिटपुट युद्ध होते रहे परंतु ग्वालियर के राजा की शक्ति विशेष कम नहीं हुई। अंत में सुलतान को असफल लौट जाना पड़ा। इसके पश्चात् उसने १५०७ ई० में अवंतगढ़, और १५०८ ई० में नरवर पर अधिकार कर लिया। उसने मालवा के आंतरिक झगड़ों से लाभ उठाकर १५१२-१५१३ ई० में चंदेरी पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। परंतु ग्वालियर-नरेश स्वतंत्र ही बना रहा।

(२) मध्यभारत (१५०१-१३ ई०)

सिकंदर को बिना युद्ध किए हुए भी कुछ प्रांत प्राप्त हो गये। नागौर में गृह-युद्ध चल रहा था। सिकंदर के हस्तक्षेप की आशंका से वहाँ के शासक मुहम्मद खाँ ने सुलतान की अधीनता स्वीकार कर ली और उसका नाम खुतबे तथा सिक्के में रख दिया। रणथंभौर पर भी उसका इसी भाँति अधिकार होने वाला था परंतु अंत में इसमें सफलता नहीं मिली।

(३) नागौर (१५०९ ई०)

सिकंदर को अनेक विद्रोहों तथा षड्यंत्रों का भी दमन करना पड़ा। सन् १५०० में दिल्ली में असग़र ने विद्रोह किया। इसी समय सम्भल में २२ अफ़ग़ान अमीरों ने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फ़तहखाँ को राजगद्दी देने का षड्यंत्र किया। असग़र का विद्रोह दबा दिया गया परंतु षड्यंत्रकारियों को किसी दूसरे बहाने इधर-उधर भेजने के अतिरिक्त और कोई दण्ड दिया न जा सका। अगले वर्ष सुलतान ने बहुत से अमीरों को राज्य से निष्कासित किया। संभव है, उनमें अधिकांश यही षड्यंत्रकारी रहे हों। इन सब ने ग्वालियर-नरेश के यहाँ शरण ली। लखनऊ का हाकिम अहमद खाँ हिन्दू धर्म की ओर आकृष्ट होने लगा। इसलिए १५०९ ई० में उसे पदच्युत कर दिया गया। मध्यभारत के युद्धों के समय मुजाहिद खाँ, जलाल खाँ और शेरखाँ नूहानी शत्रु-पक्ष से मिल गये थे इसलिए उन्हें पदच्युत करना पड़ा। कभी-कभी अमीर उसका आदेश मानने में आनाकानी करते थे और सुलतान अपने आदेश को बदल देता था।

विद्रोह और षड्यन्त्र

अफ़ग़ान शासकों की सबसे कठिन समस्या आन्तरिक अनुशासन की ही रहती थी। बहलोल ने धमका कर, फुसला कर, चापलूसी करके अपना काम निकाल लिया और उसे अफ़ग़ान सर्दारों की ओर से विशेष कष्ट नहीं हुआ। परंतु सिकंदर को थोड़ी कड़ाई का व्यवहार करना पड़ा। उसने उनको वश में रखने के लिए अनेक उपायों का अवलम्बन किया जिनमें उदारता एवं दृढ़ता का सम्मिश्रण था। उसने खानजहाँ, खानखानाँ, आज़म हुमायूँ आदि आकर्षक उपाधियों की संख्या बढ़ा दी और फ़र्मुली, लोदी तथा नूहानी अमीरों को इनसे विभूषित किया। वह उनके साथ चौगान खेलता, शिकार पर जाता और अक्सर उनको भोजन के लिए आमंत्रित करता। उसने उनको नकद वेतन न देकर जागीरें दीं और सरकार द्वारा निश्चित आय से अतिरिक्त आय का कोई भाग लेने की इच्छा नहीं की। वह सब अतिरिक्त आय जागीरदार को ईश्वर की देन मान कर उसी के अधिकार में रहने देता था। परंतु वह अनुशासन का पालन करवाता था। वह दर्बार में सिंहासन पर बैठता था। राजाज्ञाओं के लिए उसने यह नियम बना दिया था कि जब उनके पहुँचने की सूचना मिले तब संबंधित अमीर को ४-६ मील जाकर उसे ग्रहण करना चाहिए और राजा के दूत तथा स्थानीय अधिकारियों के समक्ष एक सार्वजनिक सभा में उसे पढ़ कर सुना देना चाहिए तथा उसका कड़ाई के साथ पालन करना चाहिए। शम्सखाँ ने संभल में चौगान खेलते समय मार-पीट आरंभ की। इस पर सुलतान ने उसे सबके सामने ठोकरें लगाईं। उसने अमीरों के हिसाब की कड़ाई से जाँच कराई और उनके पद का विना लिहाज किये सभी पावना वसूल किया। उसने गुप्तचरों का प्रबंध किया जो उसे अमीरों की रत्ती-रत्ती खबरें देते रहते थे और उसने हरकारों तथा डाक-चौकियों की व्यवस्था की। उसकी नीति का फल यह हुआ कि अमीरों पर सुलतान का नियंत्रण बढ़ गया, उनकी अनुशासन-हीनता घटी, और राजशक्ति में वृद्धि हुई। अमीर

सिकंदर और अफ़ग़ान सरदार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कभी-कभी असंतुष्ट हुए परंतु प्रायः वे प्रसन्न एवं राजभक्त बने रहे।

सिकंदर ने न्याय का प्रबंध करने में विशेष रुचि दिखाई और सभी अफ़ग़ान इतिहासकारों ने उसकी न्यायप्रियता एवं बुद्धिमत्ता की अनेक कहानियाँ लिखी हैं।

सिकंदर के सुधार

सुलतान स्वयं न्यायाधीश का कार्य करता था और आवश्यक परामर्श के लिए हमेशा उलमा को अपने पास रखता था। उसने निष्पक्ष एवं द्रुत न्याय की स्थापना की तथा अपराधियों का पता लगाने की उचित व्यवस्था की। प्रायः दण्ड कठोर थे, परंतु सुलतान साल में कई बार अपराधियों की रिपोर्ट देखकर उन्हें जेल-मुक्त भी कर देता था।

उसने भूमि की नाप कराई और उसके आधार पर भूमि-कर नियत करने का आदेश दिया। परंतु प्रायः भूमि की नाप किये बिना ही काम चला लिया जाता था। उसने इस काम के लिए एक प्रामाणिक गज चलाया जो प्रायः ३० इंच का होता था और जो बहुत दिन तक सिकंदरी गज के नाम से चलता रहा। उसके समय में कृषकों की दशा संतोषजनक थी।

सिकंदर के समय में १४९५ ई० में एक भीषण अकाल पड़ा। उस समय सुलतान ने अनाज पर की चुंगी उठा ली। इससे अन्य क्षेत्रों से अनाज आ गया और जनता को अधिक कष्ट नहीं हुआ। उसने भविष्य में भी यह चुंगी नहीं ली। इसलिए उसके समय में खूब मंदी रही और सामान्य जनता को अन्न का कष्ट नहीं रहा।

उसके समय में सन् १५०५ ई० में एक भयंकर भूचाल आया और कई बार महामारी फैली। सुलतान ने जनता के कष्ट को दूर करने के लिए चेष्टा की, परंतु इसमें उसे अधिक सफलता नहीं मिली।

शांति-रक्षा की दृष्टि से वह बराबर दिल्ली में ही न रह कर अपना निवास-स्थान बदलता रहता था। पहले वह संभल में रहा। उसके बाद वह बयाना और आगरे में रहने लगा, और आगरे की स्थिति से वह इतना संतुष्ट हुआ कि उसी को राजधानी बनाया तथा वहाँ एक नये नगर की स्थापना की।

सिकंदर की शासन-नीति में कई दोष रह गये थे। जागीर-प्रथा, वंशानुगत अमीर और भूमि की अपूर्ण व्यवस्था इनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। परंतु इनसे भी अधिक हानिकारक सिद्ध हुई उसकी धार्मिक नीति।

सिकंदर की धार्मिक नीति

सुलतान सिकंदर का व्यक्तिगत जीवन बहुत धर्मानुकूल नहीं था। वह दाढ़ी मुड़ाता था, शराब पीता था, संगीत से प्रेम करता था और कभी-कभी रोज़ा तथा नमाज़ में भी नागा कर देता था। वह उलमा की राय से चलने के स्थान पर उनको अपनी राय से चलाने की चेष्टा करता था और उसका उनके प्रति अधिक सम्मानपूर्ण व्यवहार नहीं था। फिर भी उलमा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने उसका विरोध नहीं किया और मुसलमान इतिहासकारों ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है क्योंकि उसने हिन्दुओं के ऊपर धार्मिक अत्याचार किया, उनके अनेक मंदिरों को तोड़ कर मस्जिदें बनवा दीं और उनके धार्मिक कृत्यों में बाधा दी। उसने बोधन ब्राह्मण को केवल इसलिए मृत्यु-दण्ड दिया क्योंकि वह कहता था कि इस्लाम सच्चा धर्म है परंतु हिन्दू धर्म उससे कम सच्चा नहीं है। उसने मथुरा आदि तीर्थ-स्थानों में हिन्दुओं का शिर-मुण्डन बंद करवा दिया और उनके स्वच्छंदता-पूर्वक स्नान करने में बाधा डाली। इस भांति हिन्दुओं पर अत्याचार करके उसने अपने हिन्दू रक्त के दोष को मिटाने की चेष्टा की और इस उद्देश्य में वह सफल भी हुआ। परंतु इसका प्रभाव उसकी हिन्दू जनता पर अच्छा नहीं पड़ा। तबकात अकबरी और मासिर रहीमी के लेखकों ने भी लिखा है कि उसके समय में धार्मिक पक्षपात सीमा को पार कर गया और उसने हिन्दुओं को बहुत सताया।

सिकन्दर की मृत्यु (१५१७ ई०)

कहते हैं कि सुलतान की मृत्यु हाजी अब्दुल वहाब के शाप के कारण हुई। हाजी ने एक दिन सुलतान से दाढ़ी रखने के विषय में बहुत दुराग्रह किया। सुलतान कुछ देर तर्क करके चुप हो रहा और जब हाजी चला गया तब उसने कहा कि हाजी को बहुत घमण्ड हो गया है। उसे पता नहीं कि उसका सम्मान मेरी कृपा पर निर्भर करता है। यदि मैं अपने किसी गुलाम को पालकी पर बिठा दूं तो सारे अमीर उसको उतना ही सम्मान दिखायेंगे जितना कि हाजी को। यह बात जब हाजी ने सुनी तो उसने कहा कि वह रसूल के वंशज का इस प्रकार अपमान करता है। ईश्वर चाहेगा तो उसका गला ही बन्द हो जायगा। सुलतान की मृत्यु कण्ठरोध होने से हुई। इसी लिए लोगों को यह भ्रम हुआ कि उसकी मृत्यु हाजी के श्राप से हुई है।

सिकन्दर की महत्ता

सुलतान सिकंदर लोदी वंश का सर्वश्रेष्ठ शासक था। उसने अपने पिता से प्राप्त राज्य की सीमा को बढ़ाया, राजा की शक्ति को अधिक प्रबल किया और विरोधियों तथा विद्रोहियों को परास्त किया। परन्तु उसमें उच्च-कोटि की सैनिक योग्यता नहीं थी। वह ग्वालियर और भाटा के राजाओं को परास्त नहीं कर सका, दो-तीन बार उसकी सेना को रसद की कमी अथवा गलत मार्ग से जाने के कारण बहुत कष्ट हुआ और वह दुर्गों को विजय करने में अधिक सफल नहीं रहा। उसने शासन-सुधार किये और अमीरों तथा जनसाधारण को संतुष्ट रखने का सफल प्रयत्न किया। परन्तु उसके धार्मिक अत्याचार और जागीरों के प्रचलन से राज्य का अहित हुआ। उसकी सफलता का महत्व इसी में है कि उसने कठिन परिस्थिति में अफ़ग़ान शासन की शक्ति बढ़ाई तथा अफ़ग़ान साम्राज्य का प्रसार किया।

सिकंदर का व्यक्तिगत जीवन प्रशंसनीय था। वह आकृति में जैसा सुन्दर,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुणों से वैसा ही विभूषित था। वह साहित्य-मर्मज्ञ, कला-पारखी तथा सुसंस्कृत मस्तिष्क वाला व्यक्ति था। वह स्वयं भी कविता करता था और कवियों तथा विद्वानों की संगति में आनंद लेता था। उसके वज़ीर मियाँ भुआ ने संस्कृत ग्रंथों के आधार पर तिब्ब-ए-सिकंदरी अथवा महाआयुर्वेद नामक पुस्तक की रचना कराई थी। अफ़ग़ान इतिहासकारों ने सिकन्दर के दर्बारियों में मियाँ ताहिर का उल्लेख किया है जो अनेक विद्याओं तथा कलाओं में पारंगत था। इस भाँति सिकंदर ने अफ़ग़ान राज्य के सांस्कृतिक आधार को पुष्ट करके जनता में उसका सम्मान बढ़ा दिया। सिकंदर की दानशीलता भी उल्लेखनीय है। वह उन लोगों से बहुत प्रसन्न होता था जो उसके इस गुण का अनुकरण करते थे। फलतः अमीरों में भी दानशीलता की वृद्धि हुई और इस कारण मुसलमान साधु-संतों, विधवाओं, अनाथों, विद्वानों आदि को अर्थाभाव का कष्ट नहीं रहा। इन सब बातों में सिकंदर बहुत कुछ सुलतान फ़ीरोज़ के समान है। परन्तु वह फ़ीरोज़ की अपेक्षा अधिक योग्य सेनापति तथा अधिक सफल शासक था और उसने धर्म-गुरुओं को अपने वश में रखा न कि फ़ीरोज़ की तरह उनके वश में रहा। अस्तु, यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि वह पूर्व-मध्यकालीन मुस्लिम शासकों में एक सम्मानित स्थान रखता है।

सिकंदर ने अपनी मृत्यु के पूर्व सभी अमीरों को राजधानी बुलाया था। संभवतः वह ग्वालियर के विरुद्ध दल-बल के साथ आक्रमण करना चाहता था। अस्तु, उसकी मृत्यु के बाद उत्तराधिकारी का निर्णय शीघ्रता से हो गया। ऐसा प्रतीत होता है कि अफ़ग़ान अमीरों ने अपनी पहली बैठक में राजकुमारों को नहीं बुलाया।

इब्राहीम लोदी का राज्याभिषेक

उस सभा में यह निश्चय किया गया कि जलाल और इब्राहीम को क्रमशः जौनपुर तथा दिल्ली क्षेत्रों का स्वतंत्र शासक बना कर साम्राज्य को दो स्वतंत्र भागों में बाँट दिया जाय। इससे एक लाभ यह होगा कि उन दोनों योग्य राजकुमारों को संतोष हो जायगा और गृह-युद्ध की आशंका मिट जायगी। दूसरा लाभ यह होगा कि उन दो में से एक भी विशेष बलवान नहीं रहेगा। इसलिए प्रत्येक अपने-अपने क्षेत्र के सर्दारों का आदर करेगा और उनके अधिकारों को कम करने की चेष्टा नहीं करेगा। फरिश्ता लिखता है कि उन्होंने यह निर्णय इब्राहीम के व्यवहार और स्वभाव से चिढ़ कर किया था। इसके बाद खुली सभा में सभी लोग एकत्रित हुए अमीरों ने साम्राज्य के विभाजन का प्रस्ताव रखा और निश्चय किया कि जलाल जौनपुर-कालपी का और इब्राहीम दिल्ली-आगरा का स्वामी हो तथा पिछले शर्क़ी साम्राज्य की पश्चिमी सीमा उन दोनों के राज्य की विभाजक रेखा हो। जलाल ने इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। इब्राहीम ने इसे पसन्द नहीं किया परन्तु यदि वह उस समय विरोध करता तो संभव है वह बन्दी बना लिया जाता और उसे जो मिल रहा था वह भी न मिलता।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसलिए उसने भी अपनी स्वीकृति दे दी।

दूसरे दिन जलाल ख़ाँ तथा पूर्वी क्षेत्र के अमीर चले गये और इब्राहीम का राज्याभिषेक संपन्न हो गया। परंतु जब रापरी का हाकिम ख़ानजहाँ नूहानी सुलतान को वधाई देने आया तब उसने विभाजन के निर्णय की बहुत भर्त्सना की। अस्तु, फिर अमीरों की एक बैठक हुई और निश्चय किया गया कि जलाल को स्नेहपूर्ण फ़र्मान भेज कर राजधानी बुलाया जाय और उसके आने पर विभाजन के निर्णय को रद्द कर दिया जाय। परन्तु जलाल इब्राहीम के उद्देश्य को ताड़ गया अस्तु उसने जाने से इन्कार कर दिया। अब इब्राहीम ने पूर्वी क्षेत्र के अमीरों को अलग-अलग फ़र्मान भेजे और उनको चेतावनी दी कि वे जलाल को अपना सम्राट् न मानें अन्यथा वे विद्रोही समझे जायँगे। परन्तु यदि वे सुलतान इब्राहीम की अधीनता स्वीकार करेंगे तो उनको अपने पदों पर रहने दिया जायगा। इन फ़र्मानों को पाकर दरियाख़ाँ नूहानी, नसीर ख़ाँ नूहानी, शेखज़ादा मुहम्मद फ़र्मुली आदि ने इब्राहीम की अधीनता स्वीकार कर ली। जलाल के अधिकार में केवल कालपी रह गया। ऐसी दशा में इब्राहीम ने दिसम्बर १५१७ में दूसरी बार राज्याभिषेक कराया और उसने दर्बार करके अमीरों को ख़िलत बाँटी तथा उपहार दिये।

उधर जलाल के समर्थक उसको स्वतन्त्र रहने की सलाह दे रहे थे और उनके परामर्श के अनुसार उसने कालपी में अपना राज्याभिषेक कराया तथा जलालुद्दीन की उपाधि धारण की। इब्राहीम ने इस बीच में आज़म हुमायूँ सरवानी को ग्वालिग़र पर आक्रमण करने भेजा। जलाल ने उसके पुत्र फतह ख़ाँ को अपना वज़ीर नियुक्त किया था। इसलिए उसने ग्वालियर जाकर आज़म हुमायूँ को अपनी ओर मिलाने की चेष्टा की। उसने उसको पितातुल्य मानते हुए उससे न्याय की माँग की और इब्राहीम के विरुद्ध उसकी सहायता माँगी। सिकंदर के पुराने अमीर इब्राहीम के व्यवहार से संतुष्ट नहीं थे क्योंकि वह उनको सामान्य नौकरों की तरह मानता था और उनको दर्बार में हाथ जोड़े खड़ा रखता था। आज़म हुमायूँ ने अपने पुत्र का विरोध करना भी ठीक नहीं समझा। तीसरे, उसे यह भी आशा थी कि जलाल के यहाँ उसे जितना सम्मान मिलेगा उतना इब्राहीम के यहाँ मिलना असंभव है। अस्तु, वह उससे मिल गया और उन दोनों ने मिलकर अवध के हाकिम सईद ख़ाँ पर आक्रमण किया। सईद ख़ाँ लखनऊ चला गया और उसने सुलतान से सहायता माँगी। इस भांति अमीरों के षड्यंत्र और विश्वासघात के कारण गृहयुद्ध आरम्भ हो गया।

जलाल से युद्ध (१५१८ ई०)

इब्राहीम अपनी सेना लेकर पूरब की ओर बढ़ा। उसके आने का समाचार सुनकर फ़तहख़ाँ और आज़म हुमायूँ ने जलाल का साथ छोड़ दिया और सुलतान ने उन्हें क्षमा करके अपनी सेना में रख लिया। अस्तु, जलाल कालपी की ओर लौट

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया। पूरब के अमीरों पर भी इसका प्रभाव पड़ा और वे कन्नौज में सुलतान से भेंट करने आये। सुलतान ने अब आज़म हुमायूँ लोदी, आज़म हुमायूँ सरवानी तथा नसीर खाँ नूहानी को जलाल के विरुद्ध भेजा। जलाल कालपी से आगरा चला गया और जब उसने कालपी पर सुलतान के अधिकार होने की बात सुनी तब वह इस शर्त पर सुलतान की अधीनता स्वीकार करने के लिए राज़ी हो गया कि उसे कालपी का हाकिम बना दिया जाय। परन्तु सुलतान ने इसे अस्वीकार कर दिया। अब जलाल ग्वालियर-नरेश की शरण में गया और जब इब्राहीम ने वहाँ भी उसका पीछा किया तो वह गढ़कटंगा की ओर भागा। वहाँ के गोंडों ने उसे पकड़कर सुलतान के हवाले कर दिया। सुलतान ने उसे हाँसी भेज दिया और मार्ग में उसका वध करा दिया। इस भांति गृहयुद्ध का अन्त हुआ और इब्राहीम की शक्ति बढ़ गई। जलाल के भूतपूर्व समर्थकों ने अपनी भूल स्वीकार कर ली, सुलतान से क्षमा माँगी और उसके आदेशानुसार चलने का वचन दिया।

ग्वालियर-विजय (१५१७-१८ ई०)

गद्दी पर बैठते ही इब्राहीम ने ग्वालियर के विरुद्ध सेना भेजी। सुलतान सिकन्दर जिस कार्य को न कर सका था और अधूरा छोड़ गया था उसे इब्राहीम ने पूरा करना चाहा। जलाल के विद्रोह और आज़म हुमायूँ सरवानी के विश्वासघात के कारण इसमें कुछ बाधा पड़ी। परन्तु इसी समय राजा मान की मृत्यु हो जाने से शत्रुपक्ष थोड़ा दुर्बल हो गया। उसने आज़म हुमायूँ को दूसरी बार ग्वालियर भेजा। परन्तु जब उसने जलाल के भाग जाने की बात सुनी तब उसने आज़म हुमायू को वापस बुला लिया और मानसिंह का उत्तराधिकारी राजा विक्रमादित्य संधि करने पर विवश हुआ। उसने ग्वालियर का दुर्ग तथा राज्य इब्राहीम के हवाले कर दिया और सुलतान ने उसे शम्साबाद का हाकिम नियुक्त किया। इस विजय से इब्राहीम का हौसला और भी बढ़ गया तथा उसकी प्रतिष्ठा में भी वृद्धि हुई।

इब्राहीम और राणा सांगा (१५१७-१८ ई०)

परन्तु एक दूसरे क्षेत्र में उसको ऐसी सफलता नहीं मिली। मेवाड़ का शासक राणा संग्रामसिंह प्रायः समस्त राजपूताना अपने अधिकार में ला चुका था और उसने मालवा का भी कुछ भाग दबा लिया था। राजपूत ख्यातों से विदित होता है कि संभवतः सिकन्दर के समय में भी लोदियों और सीसोदियों में युद्ध हुआ था। सिकन्दर के मरने पर जब इब्राहीम और जलाल में गृह-युद्ध आरम्भ हुआ, तब राणा साँगा ने लोदी सीमा पर आक्रमण किया और उसने खातोली के युद्ध में लोदी सेना को हराया। परन्तु वह स्वयं बुरी तरह घायल हो गया। इसलिए उसने दूसरे युद्ध की तैयारी की। इधर इब्राहीम ने जलाल की ओर से निश्चित होकर और ग्वालियर को जीतकर राणा संग्राम पर आक्रमण करने का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
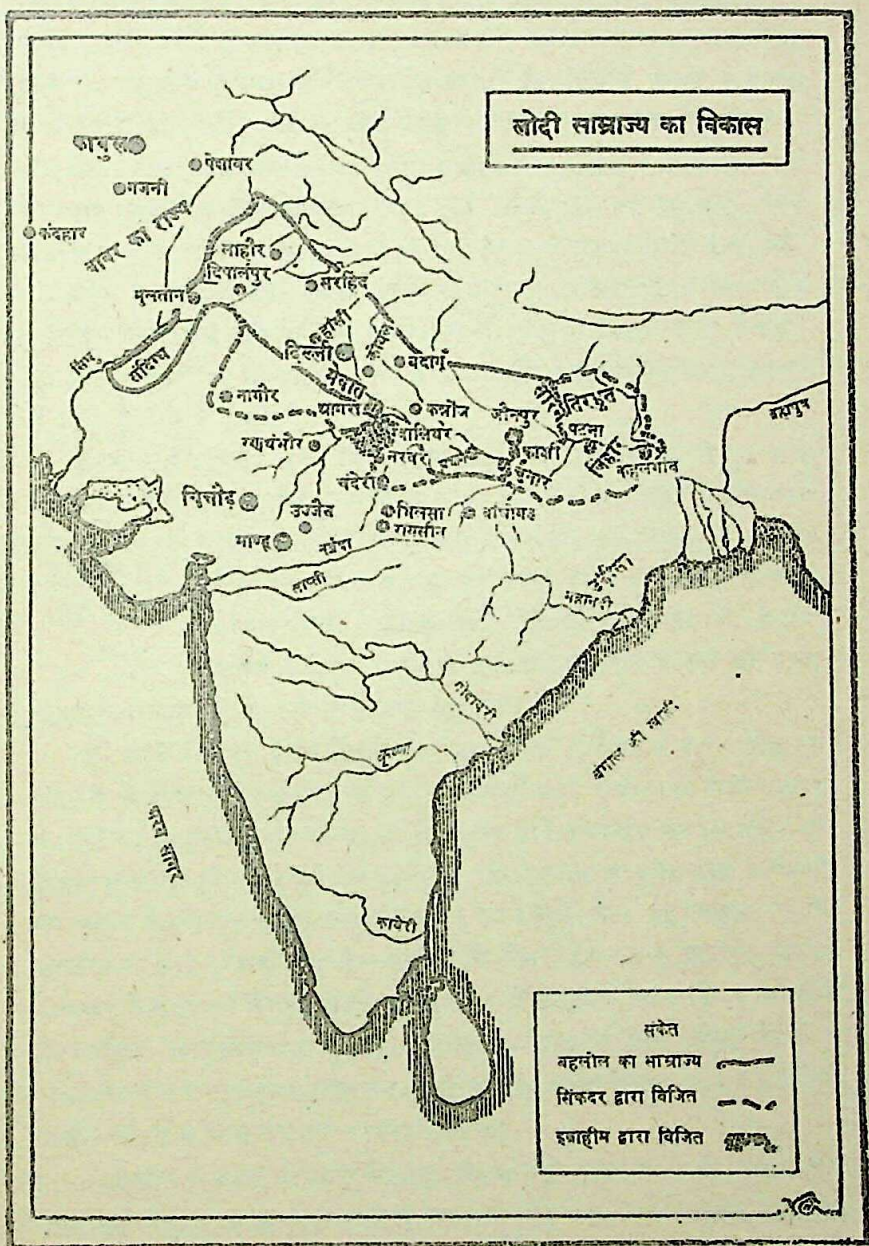
निश्चय किया। उसने एक नवयुवक सेनापति मियाँ माखन की अध्यक्षता में एक सेना भेजी जिसमें मियाँ हुसेन फ़र्मुली, मियाँ मारूफ़ फ़र्मुली और खानखानां फ़र्मुली आदि पुराने अमीरों को सहायक बनाकर भेजा गया। इस कारण लोदी सेना संगठित होकर न लड़ सकी और आपस में इतना द्वेष बढ़ा कि मियाँ हुसेन फ़र्मुली तथा कुछ अन्य अमीर राणा से मिल गये। राणा ने इस स्थिति से लाभ उठाकर हमला किया और धौलसुर के निकट लोदी सेना को पराजित करके बयाना की ओर खदेड़ दिया। यह समाचार सुनकर इब्राहीम स्वयं सेना लेकर गया। उसके आने का समाचार सुनकर विद्रोही अफ़ग़ान अमीर राणा का साथ छोड़कर फिर सुलतान की सेना में आ गये। इस समय जो युद्ध हुआ उसमें किसी पक्ष की विजय नहीं हुई और दोनों सेनायें पीछे हट गईं। परन्तु कुछ समय बाद जब मियाँ हुसेन की मृत्यु हो गई तब राणा ने चंदेरी पर आक्रमण करके उसे सपने अधिकार में कर लिया और इब्राहीम उसे वापस लौटाने के लिए कुछ न कर सका।

इसका मूल कारण यह था कि सुलतान अपनी आंतरिक स्थिति को दृढ़ करने के उद्देश्य में अमीरों से इस प्रकार उलझ गया कि उस किसी और कार्य के लिए अवकाश ही नहीं मिला और अन्त में उसी दशा में उसे एक विदेशी आक्रमण का सामना करना पड़ा। प्रायः सभी अफ़ग़ान इतिहासकारों ने इब्राहीम की नीति की आलोचना की है और उसकी कठोरता, उद्दण्डता तथा प्रतिशोध की भावना को प्रथम अफ़ग़ान साम्राज्य के पतन के लिए दोषी ठहराया है।

इब्राहीम लोदी और अफ़ग़ान अमीर

हम पहले देख चुके हैं कि सिकन्दर के समय में भी अमीरों ने स्वार्थ-बुद्धि एवं अहंकार से प्रेरित होकर विद्रोह एवं षड्यंत्र किये थे और कभी-कभी उन्होंने उसके आदेशों की अवहेलना करने का भी साहस किया था। इब्राहीम को इस प्रकार की स्थिति सह्य नहीं थी। वह सुलतान की श्रेष्ठता का पक्षपाती था और सभी व्यक्तियों को समान रूप से अनुशासन के भीतर रखने का इच्छुक था। वह कहता था कि सुलतान का कोई सम्बन्धी नहीं है—सभी उसके सेवक हैं। परन्तु सफ़ग़ान अमीर सिकन्दर के समय की स्थिति से ही असंतुष्ट ये। वे चाहते थे कि उनके साथ वैसा ही व्यवहार किया जाय जैसा सुलतान बहलोल ने किया था और उनको सेवक के स्थान पर शासक-मण्डल का सदस्य तथा सुलतान का समकक्ष समझा जाय। इसीलिए उन्होंने राज्य के विभाजन की योजना रखी थी।

इब्राहीम ने दर्बार के लिए निश्चित नियम बना दिया कि सभी अमीर हाथ जोड़े खड़े रहेंगे। उसने पुराने अमीरों के घमण्ड और अहंकार से चिढ़कर नवयुवकों को ऊँचे पद देना तथा अपना विश्वासपात्र बनाना आरम्भ किया। साथ ही उसने फ़र्मुलियों, लोदियों और नूहानियों के स्थान पर बनेत, काकर, नियाज़ी, सूर आदि को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रोत्साहन दिया और उनको प्रतिद्वंदी दल के रूप में तैयार करना चाहा। इससे पुराने अमीरों के सम्मान एवं स्वार्थ पर ठेस लगी और वे सुलतान से द्वेष रखने लगे। सुलतान को जब यह विश्वास होने लगा कि कुछ अमीर विरोधी होने के कारण उसके आदेशों की उपेक्षा करते हैं तब उसने उनको दण्ड देना आरम्भ किया। परन्तु उसके कार्य करने का ढंग ऐसा था जिससे लोगों पर यह प्रभाव पड़ा कि वह केवल ईर्ष्या एवं सन्देह के वशीभूत होकर निर्दोष व्यक्तियों को तंग कर रहा है। इस भांति स्थिति बराबर बिगड़ती गई। न तो अमीरों ने अपना दिल साफ करके हृदय से सुलतान के अधिकार को स्वीकार किया और न सुलतान ने ही उनको कभी क्षमा किया। इसी पारस्परिक सन्देह और विद्वेष के कारण प्रायः सारे राज्य में विद्रोह की ज्वाला प्रज्वलित हो उठी जिसे इब्राहीम शान्त नहीं कर सका क्योंकि बीच में ही बाबर ने आकर उसे इस संसार से ही विदा कर दिया।

आज़म हुमायूं सरवानी

सुलतान के कोप का पहला शिकार आज़म हुमायूँ सरवानी बना। आज़म हुमायूँ ने जलाल से मिलकर जिस प्रकार गृह-युद्ध का सूत्रपात कराया था उसके लिए उसे मृत्यु-दण्ड देना अनुचित न होता। परन्तु इब्राहीम ने उस समय उसे क्षमा कर दिया और जलाल को पकड़ कर लाने के लिए भेजा। आज़म हुमायूँ की चेष्टाओं के बावजूद वह कालपी तथा ग्वालियर दोनों ही स्थानों से बच निकला। इससे इब्राहीम को संदेह हुआ कि शायद आज़म हुमायूं ने उसे पकड़ने के लिए उचित उद्योग नहीं किया। इसलिए उसने उसे ग्वालियर के घेरे से वापस बुला लिया और बंदी-गृह में डाल दिया। आज़म हुमायूँ के समर्थकों ने उसे विद्रोह करने की सलाह दी परन्तु इब्राहीम ने इतनी सेना भेजी थी कि वह आज़म हुमायूँ को पराजित करने के लिए यथेष्ट थी। आज़म हुमायूँ ने विद्रोह नही किया, राजाज्ञा के अनुसार वह आगरा गया और बन्दी बनाये जाने पर भी सुलतान को यह सूचना भिजवाई कि उसका पुत्र इस्लाम ख़ाँ विद्रोह करेगा इसलिए सुलतान उसके लिए उचित प्रबन्ध कर ले। कुछ समय बाद वह जेल में ही मर गया। लोगों ने समझा कि उसका वध कर दिया गया। इब्राहीम का दोष यह था कि उसने आज़म हुमायूँ को उस समय दण्ड नहीं दिया जब उसने अपराध किया और बाद में जब दण्ड दिया भी तब उसके ऊपर कोई निश्चित अभियोग नहीं लगाया और न उसे अपनी सफाई देने का अवसर दिया।

मियाँ हुसेन फ़र्मुली

इसी भाँति मियाँ हुसेन फ़र्मुली ने राणा से मिलकर सुलतान की सेना को हराने और उसके स्थान पर ग़यासुद्दीन को राजगद्दी दिलाने का जो घोर अपराध किया था उसके लिए उसे मृत्यु-दण्ड दिया जाता तो अनुचित न होता। परन्तु सुलतान ने उसे ऊपर से क्षमा करके

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चंदेरी का हाकिम नियुक्त किया और बाद में शेखज़ादों के असंतोष से लाभ उठाकर उनके द्वार। उसका वध करा दिया। इससे सुलतान के प्रति असंतोष बढ़ गया और लोग उसे नीच तथा अविश्वासी समझने लगे।

मियां भुआ

तीसरा प्रमुख उदाहरण मियाँ भुआ का है। वह सिकन्दर का लोकप्रिय वज़ीर था। परन्तु अब वह बहुत बूढ़ा हो गया था और उसको दिखाई भी कम पड़ता था। इसके अतिरिक्त वह सुलतान के प्रति अवज्ञा की भावना रखता था और उसके आदेशों को ठीक तरह से मानता नहीं था। यदि इब्राहीम बुद्धिमान और नीतिकुशल होता तो वह उसे बूढ़े होने के आधार पर हटा देता। परन्तु उसने ऐसा न करके उसे बंदीगृह में डाल दिया और उसके पुत्र को वज़ीर बना दिया। यह निरी मूर्खता थी। मियाँ भुआ शीघ्र ही मर गया और उसके संबंध में भी हत्या की अफ़वाह फैल गई।

इस्लाम खां का विद्रोह

आज़म हूमायूँ सरवानी की गिरफ्तारी का समाचार सुनकर उसके पुत्र इस्लाम खाँ ने विद्रोह कर दिया और कड़ा-मानिकपुर का ख़ज़ाना अपने अधिकार में कर लिया। सुलतान ने अहमद खाँ को उसके विरुद्ध भेजा परन्तु वह पराजित हुआ। सुलतान ने अब एक दूसरी और विशालतर सेना इकट्ठा करना आरम्भ की। उसी समय उसे सूचना मिली कि आज़म हुमायूँ लोदी, सईद खाँ लोदी तथा कुछ अन्य अमीर इस्लाम ख़ाँ से मिल गये हैं। सुलतान ने नवयुवकों के दल में से १२ व्यक्तियों के साथ सेना भेजी परन्तु वे लोग अधिक स लता प्राप्त नहीं कर सके। सुलतान बहुत असंतुष्ट हुआ और उसने आदेश भेजा कि जब तक वे विद्रोह को दबाकर विद्रोही प्रान्त को जीत नहीं लेते तब तक वह उनको दर्बार में न आने देगा। साथ ही उसने पूरब की ओर से ग़ाज़ी खाँ नूहानी, दरिया खाँ नूहानी तथा शेखज़ादा फ़र्मुली को आक्रमण करने का आदेश दिया। इस दोहरे आक्रमण के कारण विद्रोही परास्त हुए और इस्लाम खाँ मारा गया तथा सईद खाँ आदि अनेक अमीर बंदी बना लिये गये। सुलतान ने सभी विजयी अमीरों की प्रशंसा की और उनको उपहार दिये।

पूर्व में विद्रोह

परन्तु इस विद्रोह ने सुलतान की सैनिक दुर्बलता प्रकट कर दी। साथ ही पूरबी अमीरों का अहंकार बहुत बढ़ गया। वे समझने लगे कि उन्हीं के उद्योग से इस्लाम खाँ का दमन हुआ था। इसी समय आज़म हुमायूँ, मियाँ भुआ और मियाँ हुसेन की मृत्यु हुई। इसके कारण अनेक पुराने अमीर शंकित होने लगे और सुलतान की आलोचना करने लगे। सुलतान ने सभी संदिग्ध व्यक्तियों को पकड़ कर जेल में डाल दिया और कुछेक को यातनायें देकर मरवा डाला। इसका फल यह हुआ कि दरिया ख़ाँ नूहानी ने समझा कि सुलतान अगला वार उसी पर करेगा। अस्तु, उसने स्वतंत्र होने की चेष्टा की।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी समय उसकी मृत्यु हो गई और उसका पुत्र बहादुर खाँ उसका उत्तराधिकारी हुआ। उसने मुहम्मदशाह की उपाधि धारण की और अपने नाम के सिक्के ढलवाये तथा खुतवे में भी अपना नाम रख दिया। सुलतान ने ग़ाज़ीपुर के हाकिम नासिर खाँ नूहानी को उसके विरुद्ध भेजा। परन्तु वह शत्रु-पक्ष से मिल गया। अब मुहम्मदशाह ने सम्भल तक का प्रदेश जीत लिया और पूर्वी क्षेत्र के सभी अफ़ग़ान सर्दार उससे मिल गये।

दौलत खां का विद्रोह

इस स्थिति में सुलतान ने पंजाब के हाकिम दौलत खाँ लोदी को बुलाया। परन्तु दौलत खाँ ने अपने बेटे दिलावर खाँ के साथ यह संदेश भिजवाया कि वह अस्वस्थ है और स्वस्थ होते ही राजकोष के साथ राजधानी में उपस्थित होगा। सुलतान इस संवाद से बहुत अप्रसन्न हुआ और उसने दिलावर खाँ को बंदीगृह का दृश्य दिखाकर कहा कि यदि दौलत खाँ शीघ्र नहीं आया तो उसकी भी यही दशा होगी। दिलावर खाँ बड़े-बड़े अमीरों को फांसी पर लटकते, दीवारों में चुने जाते तथा अनेक प्रकार की यातनायें सहते देखकर घबड़ा गया और वह अवसर पाते ही भाग निकला। दौलत खाँ ने यह संवाद सुनकर काबुल के शासक बाबर को भारत पर आक्रमण करने और अत्याचारी इब्राहीम का अन्त करने के लिए आमंत्रित किया। इसी समय उसने दूसरे अमीरों से परामर्श करके बहलोल के बेटे आलम खाँ को बुलाया और उसे अला-उद्दीन के नाम से सुलतान घोषित कर दिया तथा उसे भी बाबर से सहायता माँगने भेजा। यह घटना १५२२-२३ ई० में हुई।

काबुल-कंदहार का शासक ज़हीरुद्दीन मुहम्मद बाबर मध्ययुगीन एशिया के महान् व्यक्तियों में से एक था। उसका जन्म फ़रग़ाना के शासक उमर शेख मिर्ज़ा के परिवार में सन् १४८३ ई० में हुआ था। उसका पिता तैमूर का वंशज था और उसकी माता चंगेज़ खाँ के परिवार की थी। बाबर बचपन से ही बड़ा वीर,

बाबर का प्रारम्भिक जीवन

निडर, साहसी, आत्म-विश्वासी एवं महत्वाकांक्षी था। जब वह ११ वर्ष का था तभी उसके पिता की मृत्यु हो गई और सन् १४९४ से १५०४ तक उसे अपने चाचाओं, मामाओं तथा भाइयों की ओर से बहुत विरोध सहना पड़ा। साथ ही उसे सुविख्यात उज़बेग नेता शैबानी खाँ का भी सामना करना पड़ा। तो भी वह कभी घबड़ाया नहीं, उसने फ़रग़ाना पर अधिकार रखने के साथ-साथ दो-बार समरक़ंद पर भी अधिकार किया और अपने महान् पूर्वज तैमूर के सिंहासन पर बैठने का सौभाग्य प्राप्त किया। परन्तु भाग्यचक्र उसे भारत के समीप लाना चाहता था। इसलिए १५०२ से १५०४ ई० तक लाख चेष्टा करने पर भी मध्य-एशिया में उसके लिए कोई भविष्य सुधरने की आशा-किरण नहीं दिखाई पड़ी। उसी समय उसने सुना कि काबुल में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अरग़ुनों के शासन से असंतोष है। वह अक्टूबर १५०४ ई० में काबुल गया और उस पर उसका अधिकार हो गया। १५०४ से १५१२ तक उसका ध्यान विशेष रूप से समरक़ंद की ही ओर लगा रहा परन्तु १५१२ के बाद उसे विश्वास हो गया कि समरक़ंद पर स्थायी अधिकार करना उसकी तत्कालीन शक्ति के बाहर की बात है। इसलिए उसने अफ़ग़ानिस्तान में ही अपनी शक्ति बढ़ाने की ओर अधिक ध्यान देना आरम्भ किया।

बाबर के भारतीय आक्रमण

भारत की सीमा के समीप होने के कारण उसका ध्यान भारत की ओर भी जाता था। वह जानता था कि तैमूर ने एक समय पंजाब पर अपना अधिकार भी स्थापित किया था। वह अपनी आत्मकथा में लिखता है कि "सन् ९१० हिजरी (१५०४ ई०) से जब कि मैंने काबुल का राज्य प्राप्त किया था उस समय तक जब की घटनाओं का इस समय मैं उल्लेख करता हूँ, मैंने भारत-विजय के विषय में कभी विचार करना बंद नहीं किया था। परन्तु चूँकि कभी मुझे बेगों की ओर से आशंका रहती और कभी मेरे और मेरे भाइयों के बीच में झगड़ा होता रहता, अस्तु इन बाधाओं के कारण मैंने यह कार्य करने का कभी उपयुक्त अवसर नहीं पाया था। अन्त में, यह हर्ष की बात है कि सभी बाधाएँ दूर हो गईं। क्या छोटा क्या बड़ा, बेग और सर्दार कोई भी इस योजना के विरुद्ध एक शब्द भी कहने का साहस न कर सका। इसलिए ९२५ हि० (१५१९ ई०) में मैं एक सेना लेकर गया और बजौर की विजय से कार्य आरम्भ किया... इस समय से ९३२ हि० (१५२६ ई०) तक मैं हमेशा क्रियात्मक रूप से हिन्दुस्तान के घटनाक्रम से सम्बद्ध रहा। सात-आठ वर्ष के भीतर मैं स्वयं वहाँ पाँच बार सेना लेकर गया।" इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि यदि उसे दौलत खाँ, आलम खाँ आदि का निमंत्रण न भी मिलता तो भी वह भारत-विजय की चेष्टा अवश्य करता। भारत की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति ने केवल उसका कार्य थोड़ा और सुगम कर दिया।

सन् १५१९ ई० में उसने बजौर और भीरा पर अधिकार कर लिया और वह अपनी आत्मकथा में लिखता है कि 'मैंने भीरा लेने के बाद कड़ा आदेश निकाला कि कोई सैनिक किसी प्रकार की लूट-मार न करे। ऐसा आदेश मैंने इसलिए निकाला था क्योंकि मैं इन प्रान्तों को अपना ही समझता था'। इसी समय उसने मुल्ला मुर्शिद को इब्राहीम के पास यह संवाद देकर भेजा कि चूंकि तैमूर ने पंजाब पर अपना शासन स्थापित किया था इसलिए लोदी सुलतान को चाहिए कि वह उसे मेरी पैतृक सम्पत्ति समझ कर छोड़ दे। यदि वह ऐसा करे तो मैं उसके राज्य के शेष भाग में कोई हस्तक्षेप नहीं करूंगा। दौलत खाँ ने उसे लाहौर से आगे नहीं जाने दिया और वह लौट जाने पर बाध्य हुआ। सन् १५२० ई० में उसने यूसुफ़ज़ाइयों का दमन करके

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्यालकोट तक धावा किया। परन्तु उसे अधूरा काम छोड़कर ही वापस जाना पड़ा। इसलिए उसने कुछ दिन ठहरकर अपनी आंतरिक स्थिति खूब सूदृढ़ करके भारत पर आक्रमण करने का निश्चय किया। उसने १५२२ ई० में अरग़ुनों को क़न्दहार से निकालकर अपनी स्थिति खूब सुदृढ़ कर लीं। उसने उस्ताद अलीक़ुलीं और मुस्तफा रूमी की सेवायें प्राप्त करके अपना तोपखाना भीं सुसंगठित कर लिया और वह तुर्की तथा ईरानी तोपखानों से होड़ करने योग्य हो गया। उसका महान् शत्रु शैवानीं ख़ाँ मर्व कीं लड़ाई में पहले ही मारा गया था और फारस के सफ़वीं शासक उसके प्रति मित्रता का भाव रखते ही थें। इस भांति उसे काबुल-क़ंदहार के विषय में कोई चिन्ता नहीं रह गई।

ठीक इसी समय दिलावर ख़ाँ और आलम ख़ाँ उससे भारत चलने के लिए प्रार्थना करने आये। उनके द्वारा उसे अफ़ग़ानों की फूट का विस्तृत समाचार प्राप्त हो गया। आलम ख़ाँ के आने के कारण वह एक अत्याचारी शासक को हटाकर दूसरे शासक को गद्दी पर बिठाने का दिखावा कर सकता था और उससे पंजाब छोड़ देने की शर्त स्पष्ट करा सकता था। दौलत ख़ाँ के अधीनता स्वीकार करने के कारण पंजाब पर अधिकार करने में कोई कठिनाई भी नहीं होगी। परन्तु बाबर का भाग्य-सूर्य और भी ऊपर उठ रहा था। उसे राणा संग्रामसिंह का भी संवाद मिला जिसमें राणा ने पूरब कीं ओर से हमला करके अफ़ग़ान शक्ति को विभाजित करने का वादा किया। राणा साँगा बाबर की सहायता से अफ़ग़ान साम्राज्य का पूर्वी भाग जीत लेना चाहता था। अस्तु, बाबर को विश्वास होने लगा कि इब्राहीम को हराने में उसे विशेष कठिनाई नहीं होगी। ऐसी दशा में उसने १५२४ ई० में पंजाब पर आक्रमण किया। परन्तु उसके आने के पूर्व ही इब्राहीम की सेना ने लाहौर पर अधिकार कर लिया था। बाबर ने अफ़ग़ानों को हराकर लाहौर और दिपालपुर पर अधिकार कर लिया और जब दौलत ख़ाँ उससे मिलने आया तो उसने उसे जालंधर और सुलतानपुर का हाकिम नियुक्त किया। दौलत ख़ाँ आशा करता था कि उसे फिर लाहौर सौंप दिया जायगा। ऐसा न होने से वह मन-हीं-मन बहुत बिगड़ा और उसने बाबर को धोखा देकर मार डालने की योजना बनाई। परन्तु उसके बेटे दिलावर ख़ाँ ने भेद खोल दिया और दौलत ख़ाँ बन्दी-गृह में डाल दिया गया। उसी समय उसें बल्ख़ कीं रक्षा के लिए काबुल जाना आवश्यक हो गया। अस्तु, वह पंजाब के विभिन्न क्षेत्रों में अपने सेनापतियों को छोड़कर काबुल लौट गया।

उसके लौटते ही स्थिति बदल गई। इब्राहीम ने पंजाब-विजय के लिए एक सेना भेजी। दौलत ख़ाँ ने उनमें से कुछ को अपनी ओर फोड़ लिया और उनकी सहायता से सम्पूर्ण पंजाब पर अधिकार करने की चेष्टा की। आलम ख़ाँ पहले काबुल भाग गया और बाद में वहाँ से लौट कर उसने दौलत ख़ाँ के बेटे ग़ाज़ी ख़ाँ के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ मिलकर दिल्ली पर चढ़ाई की। परन्तु वह पराजित हुआ और उसकी सेना नष्ट-भ्रष्ट हो गई।

यह समाचार सुनकर बाबर शीघ्रातिशीघ्र सेना एकत्रित करके फिर पंजाब आया। वह नवम्बर १५२५ ई० में काबुल से चला और ग़ज़नी तथा बदख्शां की सेनाओं के आने के लिए थोड़ी प्रतीक्षा करके दिसम्बर १५२५ ई० में पंजाब में प्रविष्ट हुआ। उसने दौलत खाँ को पराजित किया और मालोत गढ़ पर अधिकार कर लिया। इसके बाद उसने ग़ाज़ी खाँ का पीछा किया परन्तु वह भाग गया और इब्राहीम से मिल गया। पंजाब पर अपना अधिकार सुदृढ़ करके बाबर दिल्ली की ओर बढा। इब्राहीम भी अपनी सेना के साथ उसका सामना करने के लिए आ रहा था। उसने बिहार के शासक सुलतान मुहम्मदशाह से संधि कर ली थी और उसने बाबर के विरुद्ध सहायता करने का वचन दिया था। परन्तु उसने यह वादा पूरा नहीं किया। इब्राहीम और बाबर की सेना में जो छिट-पुट लड़ाइयाँ हुई उनमें बाबर की ही विजय हुई। इसलिए बीबन जलवानी तथा अन्य अनेक अफ़ग़ान सर्दार बाबर से मिल गये।

पानीपत का युद्ध

बाबर ने पानीपत पहुँचकर अपनी सेना की रक्षा की व्यवस्था की और उसे दुर्भेद्य व्यूह के पीछे छिपा दिया। उसके दाहिने पार्श्व की रक्षा पानीपत के नगर से हो रही थी। बाईं ओर उसने खाइयाँ खुदवाईं और उनको पेड़ काट-काट कर उन्हीं से भरवा दिया। सामने की ओर उसने ७०० गाड़ियाँ खड़ी कीं। उसने उनको रस्सियों से बाँध कर दक्षिण पार्श्व से बाम पार्श्व तक फैला दिया परन्तु उसने बीच-बीच में १००-२०० घुड़सवारों के निकलने भर का स्थान रहने दिया। प्रत्येक दो गाड़ियों के बीच में ६-७ छोटे खंभे बनवा दिये गये जिनके पीछे एक-एक सैनिक छिपकर शत्रु पर वार कर सके परन्तु स्वयं बचा रहे। गाड़ियों के पीछे उसने बन्दूक़चियों और तोपचियों को रखा और घुड़सवारों में से कुछ को केन्द्र में, कुछ को वाम पार्श्व पर, कुछ को दक्षिण पार्श्व में, कुछ को हरावल में, और शेष को तुलग़मा दलों तथा कोतल में विभक्त किया। वह चाहता था कि इब्राहीम पहले आक्रमण करे। इब्राहीम को बाबर की व्यूह-रचना का कुछ पता नहीं था। इसलिए उसने आक्रमण आरम्भ किया। परन्तु उसकी सेना की पंक्तियाँ इतनी लम्बी थीं कि उनके लिए आक्रमण करने को पर्याप्त स्थान न मिला। इससे थोड़ी गड़बड़ी हुई और पास आने पर उन पर तीरों, गोलियों और तोपो का वार हुआ। गाड़ियों के कारण बाधा पड़ने पर उसके सैनिक ठिठके और पीछे से दबाव पड़ने के कारण उनका संगठन टूटने लगा। ऐसी दशा में बाबर के तोपखाने और तीरंदाजों न उनको बुरी तरह मारना आरम्भ किया और दक्षिण-बाम दिशाओं से तुलग़मा आक्रमण करके शत्रु को चारों ओर से घेर लिया गया। बाबर के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुशल सेनापतित्व के कारण १२,००० सैनिकों ने इब्राहीम के एक लाख सैनिकों पर विजय पाई और सुलतान युद्ध-स्थल में लड़ता हुआ मारा गया। प्रायः २०,००० अफ़ग़ान खेत रहे। शेष भाग गये। इब्राहीम की मृत्यु २० अप्रैल, १५२६ ई० को हुई। बाबर के सैनिकों ने दिल्ली और आगरा पर अधिकार कर लिया और एक नये राजवंश की स्थापना की।

बहलोल और सिकन्दर ने जिस साम्राज्य को इतने कष्ट और परिश्रम से स्थापित किया था वह बाबर के एक ही वार से समाप्त हो गया। इब्राहीम की पराजय से ही यह स्थिति पैदा हुई। इस पराजय के क्या कारण थे?

इब्राहीम की पराजय के कारण

बाबर की रणनीति भारत के लिए एकदम नूतन थी और उसके तोपखाने का मुक़ाबला करने वाला यहाँ कोई हथियार नहीं था। बाबर के तीरंदाज़ और उनके तुलग़मा हमले ने भी उसकी विजय में योगदान किया। इब्राहीम के सैनिक उससे संतुष्ट नहीं थे। अफ़ग़ानों में आपसी फूट थी और इब्राहीम लोदी स्वयं योग्य सेनापति नहीं था। यदि उसके गुप्तचर होशियार होते तो वह बाबर पर हमला करने के स्थान पर केवल उसकी छावनी को घेरकर उसकी रसद काटने की चेष्टा करता। परन्तु उसको तो यह भी पता नहीं था कि बाबर ने कोई व्यूह रचना की है या नहीं। वह कूटनीति में भी कच्चा था। संकट के समय भी वह दौलत खाँ, मुहम्मदशाह अथवा राणा साँगा की सहायता नहीं प्राप्त कर सका और बाबर को पंजाब पर अधिकार करने में प्रायः कोई कठिनाई नहीं हुई। बाबर के सौभाग्य से उसे उसके मध्य-एशियाई पड़ोसियों ने इस समय तंग नहीं किया। इसीलिए वह निश्चित होकर यहाँ कार्य कर सका।

इब्राहीम लोदी वंश का अंतिम शासक था। उसमें सब दुर्गुण ही हों सो बात नहीं थी। वह स्वरूपवान, संगीतप्रेमी, विद्वानों का आश्रयदाता तथा दानशील था।

इब्राहीम का चरित्र

उसमें साहस, शौर्य एवं बुद्धि की भी कमी नहीं थी। वह अपनी धुन का पक्का और अध्यवसायी था। परन्तु उसमें कुछ ऐसे दोष थे जिनके कारण उसके राजवंश का सत्यानाश हो गया। वह अहंकारी, हठी तथा अनुदार था और जिससे एक बार चिढ़ जाता था उसको कभी हृदय से क्षमा नहीं करता था। वह केन्द्रीय शासन को सशक्त बनाने के लिए कृतसंकल्प था परन्तु उसने अफ़ग़ान अमीरों की भावना का बिल्कुल ध्यान नहीं रखा। उसके अमीर भी दोषी थे परन्तु इब्राहीम में यह क्षमता नहीं थी कि वह शत्रु को मित्र बना सके अथवा जिस नीति के कारण विरोध बढ़ रहा हो उसको बदल दे या उसकी गति को धीमी कर दे। इस कारण जब एक बार असंतोष फैलना आरम्भ हुआ तो वह बढ़ता ही गया और ९ वर्ष के भीतर उसने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रायः सभी को अपना शत्रु बना लिया। बाबर के आने से उसकी उलझन बढ़ गई। परन्तु बाबर के आने के पूर्व ही उसकी नीति के कारण चंदेरी पर राणा का अधिकार हो गया था और वह बयाना तथा आगरे को लेने की योजना बना रहा था। बिहार में एक स्वतन्त्र राज्य बन गया था और पंजाब के हाकिम स्वेच्छा से विदेशी शासक के चरणों पर गिरने को प्रस्तुत थे। इब्राहीम ने अमीरों के आचरण की जाँच के लिए उचित गुप्तचर नहीं रखे और उसकी सेना भी अधिक कुशल नहीं थी। इसलिए वह न तो उन पर ठीक नियंत्रण रख सका और न उनके विद्रोहों को सफलतापूर्वक दबा सका। जिस समय वह इस विषम परिस्थिति में था उसी समय बाबर ने आक्रमण कर दिया। फलतः वह साम्राज्य की रक्षा करने में अक्षम सिद्ध हुआ। यदि अफ़ग़ान अमीर कुछ कम स्वार्थी और अहंकारी होते अथवा सुलतान कुछ अधिक नीतिकुशल एवं उदार होता तो बाबर को इतनी आसानी से भारत में घुसने का अवसर न मिलता। अमीरों और सुलतान इब्राहीम के संयुक्त दोषों ने साम्राज्य की नींव हिला दी और विदेशी आक्रमणकारी का कार्य सुगम कर दिया। फलतः प्रथम अफ़ग़ान साम्राज्य का अचानक अंत हो गया।

सहायक ग्रंथ

(अध्याय १३ और १६ के लिए)

१. ए० बी० पाण्डेय—फ़र्स्ट अफ़ग़ान एम्पायर इन इण्डिया।
२. त्रिपाठी पृष्ठ ७८-९३।
३. क़ुरेशी—ऐडमिनिस्ट्रेशन आफ दी सल्तनेत आफ डेल्ही।
४. रशब्रुक विलियम्स—ऐन एम्पायर बिल्डर आफ दी सिक्सटींथ सेंचुरी।
५. बेवरिज—मेम्वायर्स आफ़ बाबर (अंगरेजी अनुवाद)।
६. डार्न—ए हिस्ट्री आफ़ दी अफ़ग़ान्स।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खण्ड ६

पूर्व मध्यकालीन शासन और समाज

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१४

राजपूत शासन व्यवस्था

राजपूतों के शासन-काल में सामंतशाही राजतंत्र का प्रायः सम्पूर्ण देश में चलन हो गया। परन्तु राज-शक्ति का आधार, प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार प्रधानतः आध्यात्मिक और नैतिक रहा। भारतीय जनता और भारतीय शास्त्रकार राजा को ईश्वर का अंश मानते थे और उनका यह निश्चित मत था कि अभिषेक की धार्मिक क्रियाओं द्वारा नरत्व में देवत्व प्रस्फुटित हो जाता है। उसका स्वाभाविक कर्त्तव्य है जनता के हित में शासन करना और जनता का कर्त्तव्य है उसके प्रति श्रद्धा और भक्ति का प्रदर्शन करना। इस भाँति एक प्रकार से राज शक्ति का आधार है राजा और प्रजा के बीच का समझौता। प्रजा के प्रतिनिधि ही विभिन्न विधियों द्वारा राजा को अभिषिक्त करके उसे राजपद से विभूषित करते हैं। परन्तु सामान्यतः अभिषेक के लिए पिछले राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही चुना जाता था। इससे प्रतीत होता है कि राज-शक्ति की प्राप्ति मूलतः वंश-परम्परा से होती थी; किन्तु प्रजा के समर्थन और धार्मिक कृत्यों के संयोग से वंशानुगत अधिकार को नैतिक और आध्यात्मिक कलेवर प्रदान किया जाता था।

राजशक्ति के मूलाधार

शासन का उद्देश्य केवल जागतिक सुख-शान्ति की व्यवस्था करने तक ही सीमित नहीं था। हिन्दू आदर्शों के अनुसार, राजा का कर्त्तव्य था कि वह वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करे, नैतिक वातावरण को प्रोत्साहन दे और व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति में बाधक न हो। साथ ही उसे आंतरिक तथा वाह्य शत्रुओं का दमन करके शांति और व्यवस्था की स्थापना करनी चाहिए ताकि जनता सुखमय जीवन व्यतीत कर सकें। राजपूत शासकों ने अखिल भारतीय चक्रवर्ती साम्राज्य स्थापित करके आंतरिक कलह और द्वेष को समाप्त करने का आदर्श भी सामने रखा परन्तु व्यव-

शासन के उद्देश्य

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हार में इस आदर्श के कारण आंतरिक कलह घटने के स्थान पर इतनी बढ़ी कि वह राजपूत शासन का एक अनिवार्य अंग बन गयी। इसका कारण यह था कि राजपूत शासक न तो पराजित राजा के वंश का मूलोच्छेद करते थे और न उसके आंतरिक शासन में ही हस्तक्षेप करते थे। फलतः प्रत्येक कथित चक्रवर्ती सम्राट् के राज्य के भीतर अनेक असंतुष्ट राजवंश बने रहते थे जो अवसर पाते ही स्वतंत्र होने की चेष्टा करते थे। पड़ोसी राज्यों का स्वाभाविक सम्बन्ध शत्रुता का रहता था क्योंकि प्रत्येक अपने पड़ोसी को हराकर अपना करद बनाने का स्वप्न देखा करता था।

इस भांति राजपूत राजतंत्र में सामंतशाही का एक विशिष्ट स्थान था। प्रायः राजपूत शासकों को निरंकुश और स्वेच्छाचारी समझा जाता है। परन्तु उनकी निरंकुशता असीम नहीं थी और कुछ दशाओं में उन्हें राजगद्दी से उतारा भी जा सकता था। राजपूत शासक का कर्त्तव्य था कि वह धर्मशास्त्र तथा नीतिशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार शासन करे। अस्तु वह स्वेच्छानुसार राजनियमों का निर्माण अथवा संशोधन नहीं कर सकता था। प्रत्येक राज्य में एक मंत्रि-परिषद् भी होती थी जिसमें युवराज और पट्टमहिषी को पदेन स्थान मिलता था। कभी-कभी मंत्रि-परिषद् के सदस्यों की नियुक्ति विशिष्ट परिवारों के वंशक्रम के अनुसार की जाती थीं। उस दशा में उनका प्रभाव बढ़ जाता था और राजा सहसा उनके मत को ठुकरा नहीं सकता था। इसके अतिरिक्त प्रत्येक राज्य में अनेक छोटे-छोटे सामन्त रहते थे जिनमें से अधिकांश राजवंश से सम्बन्धित होते थे। स्थानीय तथा केन्द्रीय शासन में इन सामन्तों के विशेष अधिकार थे जिनकी उपेक्षा करना किसी भी राजा के लिए सम्भव नहीं था। इस कारण भी उसकी निरंकुशता सीमित रह जाती थी। इनके अतिरिक्त सर्वत्र ही ग्राम पंचायतें थीं और कहीं-कहीं पर विशेषतः दक्षिण भारत में, जिलों में भी जनता द्वारा निर्वाचित समितियाँ रहती थीं। इन प्रजातांत्रिक संस्थाओं के कारण भी राजा की शक्ति सीमित होती थी। यदि राजा को कोई भयंकर रोग पकड़ ले जिससे वह शासन तथा सैन्य-संचालन का कार्य न कर सके, या यदि वह अत्यन्त क्रूर एवं अत्याचारी हो, अथवा वह बार-बार शत्रु द्वारा पराजित हो जाय तो उसे शासनाधिकार से वंचित किया जा सकता था। इससे स्पष्ट है कि राजपूत शासक सामन्तशाही समाज का एक ऐसा वंशानुगत अध्यक्ष था जिसको एक ओर देवत्व की प्रतिष्ठा प्राप्त थी और दूसरी ओर पदच्युति का भय था। अस्तु, इस काल में वही व्यक्ति राजा रह सकता था जो शरीर से स्वस्थ एवं बलिष्ठ हो, युद्ध-कार्य में प्रवीण एवं पराक्रमी हो, जिसमें नेतृत्व के गुण पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हों और जिसका आचरण यदि आदर्श न भी हो, तो भी हेय एवं घृणित प्रवृत्तियों से

शासन का स्वरूप

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अत्यधिक कलुषित न हो।

राजपूतों में उत्तराधिकार का एक निश्चित नियम था। पिता के बाद साधारणतः उसका ज्येष्ठ पुत्र राज्य का उत्तराधिकारी होता था। यदि वह राजा के जीवन-काल में ही वयस्क हो जाता था तो उसे शासन का अनुभव कराने के लिए मन्त्रि-परिषद् में स्थान मिल जाता था और उसे युवराज घोषित कर दिया जाता था। युवराज की हैसियत से उसे विशेष अधिकार मिलते थे और राजा की अनुपस्थिति अथवा बीमारी के समय वही अकेले अथवा पट्टमहिषी के साथ मिल कर शासन-संचालन करता था। उसकी शिक्षा-दीक्षा का बाल्यकाल से ही समुचित प्रबन्ध किया जाता था और साहित्य, इतिहास, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि का अध्ययन कराया जाता था। साथ ही अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग, हाथी-घोड़े पर चढ़ना, शिकार खेलना, कुश्ती लड़ना आदि भी उसकी शिक्षा के अनिवार्य अंग रहते थे। उसे किशोरावस्था से कोई जागीर दे दी जाती थी और उसका प्रबन्ध करने के सिलसिले में उसमें नेतृत्व के गुणों का विकास हो जाता था। इस भाँति उत्तराधिकारी को अपने भावी पद के योग्य बनाने की ओर यथेष्ट ध्यान दिया जाता था। परन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता था कि राजा अपनी किसी पत्नी के विशेष प्रभाव के कारण अथवा किसी छोटे राजकुमार के विशेष गुणों के कारण ज्येष्ठ पुत्र के स्थान पर किसी अन्य पुत्र को युवराज घोषित कर देता था। ऐसी दशा में कभी-कभी सामन्तों में फूट पड़ जाती थी और ज्येष्ठ पुत्र के समर्थकों के कारण गृह-युद्ध आरम्भ हो जाते थे। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि पुत्र अपने पिता के आचरण से असंतुष्ट होकर अथवा महत्वाकांक्षा से प्रेरित होकर उसका वध कर देता था और बलपूर्वक राजगद्दी प्राप्त कर लेता था। परन्तु इस प्रकार की घटनायें कम होती थीं। यदि कोई राजा निःसंतान मर जाता था तो वंश-परिपाटी के अनुसार सामन्तों में से जो परिवार राजकुल से निकटतम सम्बन्ध रखता था उसी का प्रधान व्यक्ति राजा चुन लिया जाता था। अस्तु, राजपूत शासन-व्यवस्था में साधारणतः उत्तराधिकार के प्रश्न पर झगड़ा होने का अधिक अवसर नही रहता था।

उत्तराधिकार का नियम

यद्यपि सिद्धान्त की दृष्टि से राजा की शक्ति सीमित थी परन्तु व्यवहार में वह काफी व्यापक थी। राजा धर्मशास्त्र के नियमों का स्वयं पालन करता था और प्रजा से भी उनका पालन कराता था परन्तु वह प्रजा को किसी धर्म विशेष को मानने के लिए बाध्य नहीं करता था। इस कार्य में वह स्मृतिकारों तथा अपने राज्य के पण्डितों के मत को समुचित महत्व देता था। इन नियमों के अनुकूल एवं अन्तर्गत उसे राजशासन निकालने का अधिकार था। राज्य में कोई विधानसभा न

राजा के कर्त्तव्य

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होने के कारण राजा ही विधेयक शक्ति का सर्वोच्च आश्रय एवं उपभोक्ता होता था। राजा ही सभी सामन्तों के अधिकारों को स्वीकृति प्रदान करता था और उनकी जागीरें घटाता-बढ़ाता था। वही मंत्रियों को इच्छानुसार नियुक्त करता एवं पदच्युत करता था और आवश्यकता पड़ने पर उनकी बैठक कराके उनसे परामर्श करता था परन्तु वह उनका मत स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं था, यद्यपि साधारणत: वह उनके मत को सहसा ठुकराता नहीं था। सैनिक तथा प्रशासकीय पदों की उच्चतम नियुक्तियाँ वही करता था। इन पदाधिकारियों का नियंत्रण, स्थानांतरण, पदोन्नति आदि उसी के अधिकार-क्षेत्र में थे। कहीं-कहीं पर स्थानीय कर्मचारी वंश-परंपरा से नियुक्त होते थे। वहाँ राजा ही उनको स्वीकृति प्रदान करता था। राजा सम्पूर्ण राज्य का स्वामी समझा जाता था और इस हैसियत से वही जागीरें देने अथवा घटाने बढ़ाने का अधिकारी था परन्तु धीरे धीरे उसका यह अधिकार सीमित हो जाता था क्योंकि अधिकांश सामन्त राजवंश से संबंधित होते थे और उनको जो जागीरें एक बार मिल जाती थीं वे प्रायः बिना विशेष परिवर्तन के उनके वंशजों की बपौती संपत्ति बन जाती थी। राजा उन जागीरों में तभी हस्तक्षेप कर सकता था, जब उसके लिए कोई प्रबल कारण हो अन्यथा संपूर्ण सामंत-वर्ग के विरोध की आशंका रहती थी। राजा ही देश में शांति तथा व्यवस्था रखने के लिए उत्तरदायी था और इस कार्य के लिए वह पुलिस तथा सेना का प्रबन्ध करता था परन्तु सामन्तों के अधीनस्थ प्रदेशों में वह प्रायः हस्तक्षेप नहीं करता था। वह न्याय का प्रबन्ध करता था और प्रायः सर्वोच्च न्यायाधीश का कार्य स्वयं करता था। राजा ही राज-करों को निश्चित करता था और उनकी आय को स्वेच्छा से व्यय करता था। राज्य की आय राजा की व्यक्तिगत आय समझी जाती थी और उसका एक बड़ा अंश राजमहल तथा राज-दरबार के ऊपर व्यय होता था। प्रायः राजे साहित्य तथा कला में रुचि रखते थे और उनके प्रोत्साहन एवं संवर्द्धन के लिए सहर्ष व्यय करते थे। राजा शिक्षा के प्रचार, कृषि की उन्नति, आवागमन के साधनों में सुधार, व्यापार तथा उद्योग के विकास एवं सार्वजनिक स्वास्थ्य की रक्षा के लिए भी कुछ उद्योग करता था, परन्तु इन दिशाओं में विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था और न कोई सुविचारित नीति ही रहती थी। राजा ही वैदेशिक विभाग पर भी नियंत्रण रखता था। परन्तु इस दिशा में समुचित उन्नति नहीं की गई थी और प्रायः प्रत्येक राजा अपने पड़ोसी को हराकर चक्रवर्ती सम्राट् बनने की इच्छा रखता था। उसके यहाँ जो दूत-सम्बन्ध था वह विवाह-सम्बन्ध और युद्ध एवं संधि के उद्देश्य से ही किया जाता था। राजपूतों के आदर्शों के अनुसार कलाकारों, साहित्यकारों, व्यापारियों आदि के आने-जाने में किसी प्रकार की बाधा डालना अनुचित था। अस्तु वे लोग एक राज्य से दूसरे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्य में आते-जाते रहते थे और सर्वत्र उनकी रक्षा का प्रबन्ध किया जाता था तथा उनकी आवभगत की जाती थी। इसी भाँति राजपूत सैनिक युद्ध-काल में कृषकों, स्त्रियों, बच्चों आदि को कभी किसी प्रकार का कष्ट नहीं देते थे। इन नियमों का पालन कराना, सेना का प्रबन्ध एवं रण-वाहिनी का नेतृत्व भी राजा का प्रमुख कर्त्तव्य था।

मंत्रि-परिषद्

इन सब कामों को अकेले सँभाल सकना किसी भी व्यक्ति के लिए संभव नहीं है। इसलिए राजपूत राजतंत्र में मंत्रिपरिषद् की अनिवार्य आवश्यकता थी। सभी राज्यों में एक ही प्रकार के पदों की सूची नहीं मिलती। परंतु कुछ पद ऐसे हैं जो प्रायः सर्वत्र पाये जाते हैं। यहाँ पर मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की सूची इसी तुलनात्मक संकलन के आधार पर दी जा रही है। मंत्रि-परिषद् में पट्ट महिषी और युवराज को विशेष सम्मानित पद प्राप्त था। उनके बाद सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति था प्रधान मंत्री जिसे महामात्य अथवा महामंत्रिन कहते थे। वैदेशिक विभाग का अध्यक्ष महासंधि-विग्रहिक होता था। इसी भाँति अर्थ एवं राजकोषों का अध्यक्ष भाण्डागारिक होता था और राजस्व विभाग का कार्य महाक्षपटलिक के अधीन रहता था। सेना के प्रधान को महासेनापति, महाबलाध्यक्ष अथवा महाबलाधिकृत कहते थे। इनके अतिरिक्त राजवैद्य, ज्योतिषी एवं प्रधान पुरोहित भी परिषद् के सदस्य होते थे। कहीं-कहीं पर राजकवि, अंतःपुरिक, महाप्रतिहार (राजमहल एवं राजदर्बार के प्रबंधक एवं निरीक्षक) और महामुद्राधिकृत (राजमुद्रा रखने वाला) भी मंत्रिपरिषद् के सदस्य होते थे। इन महाधिकारियों में न्याय-विभाग के अध्यक्ष का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। परंतु पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा का मत है कि उसे विनय-स्थिति- स्थापक कहते थे। इनमें से कुछ पद जैसे पुरोहित, ज्योतिषी, विनय-स्थिति-स्थापक आदि प्रायः ब्राह्मणों को दिये जाते थे। शेष पदों पर राजपूत सामंतों की नियुक्ति होती थी। वैश्यों अथवा शूद्रों को मंत्रि-परिषद् में साधारणतः स्थान नहीं मिलता था। मंत्रि-परिषद् के सदस्य अपने-अपने विभागों का संचालन करने के अतिरिक्त राजा को परामर्श देते थे और सामूहिक रूप से राज्य को सुव्यवस्थित तथा राजा को सुपथ-गामी रखने की चेष्टा करते थे।

केन्द्रीय सरकार के अन्य अंग

राज्य की केन्द्रीय सरकार में राजा और मंत्रि-परिषद् के अतिरिक्त वे प्रधान कर्मचारी सम्मिलित होते थे जो या तो राज-दर्बार अथवा राजमहल में किसी विशेष पद पर नियुक्त थे अथवा जो दूसरे छोटे विभागों का काम देखते थे। सभी विभागों की दैनिक कार्यवाही चलाने के लिए अनेक लेखक तथा छोटे पदाधिकारी रहते थे। परंतु इनका विस्तृत वर्णन प्राप्त नहीं है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पूर्ण राज्य अनेक प्रदेशों अथवा क्षेत्रों में विभक्त रहता था। इनमें से केन्द्रीय प्रदेश पर राजा का सीधा अधिकार रहता था। इस प्रदेश के प्रबंध के लिए राजा को स्वयं व्यवस्था करनी पड़ती थी। केन्द्र के नीचे की प्रशासकीय इकाई को भुक्ति, मण्डल, अथवा राष्ट्र, कहते थे। इनके अधिकारियों को प्रायः राजस्थानीय कहते थे। दक्षिण में जहाँ प्रांत अथवा जिले को राष्ट्र कहते थे, इसके पदाधिकारी को राष्ट्र-पति कहते थे। इनके नीचे की इकाई को विषय कहते थे और उसके प्रबंध के लिए विषयपति रखे जाते थे। सबसे नीचे की इकाई ग्राम होते थे। इनमें अपनी पंचायतें होती थीं और एक व्यक्ति जिसे ग्राम-पति, पट्टकिल, या ग्रामकूट कहते थे, इसका अध्यक्ष होता था। यह व्यक्ति स्थानीय जनता में सर्वाधिक प्रभावशाली होता था और यद्यपि उसे कोई वेतन नहीं मिलता था परंतु उसके पद का काफी महत्व था और उसे बेगार, चुंगी आदि के अधिकार रहते थे। इसी से मिलता-जुलता नगरों का प्रबंध था।

स्थानीय शासन

राज्य का शेष भाग सामंतों में बाँट दिया जाता था और वहाँ के शासन का भार उन्हीं के ऊपर रहता था। वे भी प्रायः उसी पद्धति के अनुसार शासन करते थे जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। राजपूत शासन-व्यवस्था में इन सामंतों का अत्यधिक महत्व है। सामंतों में से अधिकांश राजा के कुल के ही व्यक्ति होते थे परंतु कुछ व्यक्ति ऐसे भी थे जो राज-परिवार से किसी प्रकार का संबंध नहीं रखते थे। जब कोई स्वतंत्र राजा पराजित हो जाता था और कर देने के लिए बाध्य होता था तब वह भी एक प्रकार का सामंत ही होता था। दूसरे राज्यों से निष्कासित अथवा स्वेच्छा से आने वाले प्रभावशाली व्यक्तियों को भी आश्रय देने पर जागीर दी जाती थी और वे भी राजा क सामंत बन जाते थे। इस भाँति सभी सामंत राजवंश के अथवा उससे विवाह-संबंध द्वारा संयुक्त नहीं होते थे। जो भूमि इन्हें जागीर के रूप में मिलती थी उसमें शांति रखने का दायित्व उन्हीं का था। साधारणतः उनकी जागीर पैतृक संपत्ति के समान पिता के बाद पुत्र के अधिकार में चली जाती थी, परंतु राजद्रोह, युद्धस्थल से पलायन, अत्याचारी शासन, आदि अपराध होने पर राजा जागीर जब्त कर लेता था और उसे उसी वंश के किसी अन्य व्यक्ति को अथवा अन्य वंश के व्यक्ति को दे देता था या अपने सीधे शासन में ले लेता था। इस भाँति इन जागीरों के आकार में थोड़ा-बहुत परिवर्तन होना संभव था। परंतु सामान्यतः एक जागीर के सामंत को दूसरी जागीर में स्थानान्तरित नहीं किया जा सकता था। इस जागीर पाने के उपलक्ष में सामंत राजा को अपना प्रधान मानता था, उसे निश्चित वार्षिक कर देता था, विशेष अवसरों पर उसे भेंट देता तथा दर्बार में उपस्थित होता था एवं नियत संख्या के अनुसार राजा की

सामंतशाही व्यवस्था

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज्ञा मिलने पर युद्ध के लिए सैनिक लेकर आता था। वे स्वतंत्र राजाओं के समान विरुद् धारण नहीं कर सकते थे, अपने नाम के सिक्के नहीं चला सकते थे और न राजाज्ञा के बिना किसी अन्य राज्य से संधि अथवा युद्ध कर सकते थे। इस भाँति सामंत राजा के नियंत्रण एवं निरीक्षण में कार्य करते थे। परंतु संगठित रूप से वे राजा के ऊपर दबाव डाल सकते थे। वे राजवंश की परम्परागत मर्यादा की रक्षा करना अपना जन्म-सिद्ध अधिकार समझते थे और इस आधार पर अत्याचारी, अनाचारी अथवा अयोग्य राजा को राजगद्दी से उतारने तक का प्रयत्न कर सकते थे। राजा की निजी सेना अल्पसंख्यक होती थी। अधिकांश सेना इन्हीं सामंतों द्वारा प्रस्तुत की जाती थी। इस कारण भी राजा बहुत स्वेच्छाचारी नहीं हो पाता था। उस समय का जैसा वातावरण था उसमें सामंतों के लिए सदा राजभक्त बना रहना कठिन था। उनकी रगों में भी राजपूत रक्त प्रवाहित हो रहा था। उनके भी पूर्व-पुरुष किसी समय स्वतंत्र शासक रहे थे। स्वतंत्र होने के लिए युद्ध करना कोई अपमान-जनक कार्य नहीं था। युद्ध में मर जाना श्रेयस्कर समझा जाता था। इसलिए इन सामंतों के कारण भी राज्यों की सीमा और शक्ति में स्थायित्व नहीं रह पाता था और नये राज्य बराबर बनते-बिगड़ते रहते थे।

सैनिक-व्यवस्था

राजपूतों के लिए युद्ध एक प्रकार का वीरोचित मनोरंजन था। राजपूत सैनिक सर्वाधिक महत्व युद्ध करते-करते मर जाने को देते थे। इसलिए अस्त्र-शस्त्रों के उपयोग तथा युद्ध-कला में विशेष दक्षता प्राप्त करना उनके लिए स्वाभाविक होना चाहिए था। परन्तु ऐसा हुआ नहीं। हुआ केवल इतना कि राजपूत सैनिक शरीर को पुष्ट रखने, कुश्ती लड़ने, भाला, बर्छी तीर-तलवार चलाने और घोड़े-हाथी पर चढ़ने में अक्षम नहीं होता था। युद्ध एक आनंदोत्सव होने के कारण उसके ऐसे नियम बने थे जिससे व्यक्तिगत शौर्य तथा साहस को अधिक-से-अधिक महत्व दिया जा सके। इसलिए धर्म-युद्ध करना, शरणागत की रक्षा करना, भगे का पीछा न करना, आन पर मर मिटना आदि आदर्श गुण समझे जाते थे। फलतः उन्होंने वास्तविक युद्ध-कला की बारीकियों की ओर ध्यान ही नहीं दिया था। उनका प्रधान सेनापति एक ही प्रकार की रणपद्धति से परिचित था। इसलिए वह संकट की अवस्था आने पर सेना का ठीक पथ-प्रदर्शन नहीं कर पाता था। राजपूतों के पास गढ़ तोड़ने का सामान भी निम्न श्रेणी का था और महीनों किले का घेरा डाले रहकर उसे जीतने का धैर्य प्रायः उनमें नहीं रहता था। उनकी सेना में पैदल, घुड़सवार तथा हस्तिदल रहते थे। परंतु घुड़सवारों की संख्या कम रहती थी और उनके घोड़े हमेशा अच्छी नस्ल के नहीं होते थे। इन दोषों के अतिरिक्त सबसे बड़ा दोष यह था कि सेना में राष्ट्रीयता का अभाव था। अक्सर सैनिक वे होते थे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो किसी की भी अध्यक्षता में जो उनको वेतन दे सके, लड़ने को तैयार रहते थे। इन किराये के सैनिकों में उस लगन का अभाव था जो स्थायी सेना के सुशिक्षित सैनिकों में होना संभव है। प्रत्येक राज्य की सेना सामंतों द्वारा प्रस्तुत की जाती थी। इसलिए उसमें एकता की भावना बहुत क्षीण रहती थी। सैनिक कार्य प्रधानतः राजपूतों का एकाधिकार बना दिया गया था। इस कारण जैसा कि चिंतामणि विणायक वैद्य ने कहा है समाज के ९० प्रतिशत व्यक्तियों को देश की रक्षा करने में सहयोग देने का अवसर ही नहीं था और परंपरागत अभ्यास के कारण वे प्रत्येक सैनिक विजेता को बिना विरोध किये शासक मानने को प्रस्तुत हो जाते थे। इस प्रवृत्ति के कारण जब तक युद्ध केवल भारतीयों के बीच होते रहे अशांति कम रही और पड़ोसी राज्यों के युद्धों के कारण अधिक रक्तपात नहीं हुआ। परन्तु विदेशी आक्रमण होने के समय इस प्रवत्ति ने ही तुर्क, अफ़ग़ान, मुग़ल अथवा अँगरेजी शासन सुगमता से स्थापित हो जाने दिया।

प्राचीन काल में राजकर प्रायः हल्के रहते थे। इस कारण सामान्य जनता की आर्थिक दशा बहुत अच्छी रहती थी। परन्तु राजपूतों के काल में दर्बार और राजमहल का व्यय बढ़ने लगा तथा अनवरत युद्धों के चलते रहने के कारण सैनिक व्यय भी बहुत बढ़ गया। अस्तु यह स्वाभाविक था कि इस काल में राजकरों का भार बढ़ जाय। कुछ विद्वानों का मत है कि इस काल में करों का भार इतना अधिक था कि जनता उससे बहुत त्रस्त थी। परंतु अन्य विद्वान इस मत को स्वीकार नहीं करते और कहते हैं कि यद्यपि करों का भार बढ़ गया था तो भी वह इतना नहीं बढ़ा था कि जनता सुखमय जीवन व्यतीत न कर सकती। भूमिकर उपज का १/६ लिया जाता था और २% बिक्री कर तथा तैयारी माल पर शुल्क लिया जाता था। इसके अतिरिक्त कुछ और कर भी लिये जाते थे परंतु वे संभवतः स्थान विशेष, वर्ग-विशेष अथवा उद्देश्य-विशेष से लिये जाते थे। इन्हीं में एक तुरुष्क दण्ड भी था।

राजकर

उस समय सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्कों का चलन था। दीनार सोने का सिक्का था। कार्षपण और कपर्दिक ताँबे के अथवा काँसे के होते थे और द्राम तथा टंक चाँदी के सिक्के होते थे। इन सिक्कों का आकार बहुत आकर्षक नहीं था। इनमें से कुछ धातु को काट लेना सुगम था। इस कारण इनका रूप और भी भद्दा हो जाता था।

सिक्के

यद्यपि हिन्दू शास्त्रों के अनुसार न्याय की समुचित व्यवस्था करना सरकार का एक प्रधान कर्तव्य माना गया है फिर भी राजपूत राज्यों में इस ओर समुचित ध्यान नहीं दिया जाता था। इसका भी स्पष्ट प्रमाण नहीं है कि प्रत्येक राज्य में राजा के अतिरिक्त कोई अन्य प्रधान

न्याय-व्यवस्था

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्यायाधीश था या नहीं। जिलो अर्थात् भुक्तियों, मण्डलों आदि में एक दण्डनायक होता था जो शायद जेल, पुलिस, न्याय तीनों का ही प्रबन्ध देखता था। दण्डनायक के अतिरिक्त किसी कर्मचारी का उल्लेख नहीं मिलता जिसका कार्य प्रधानतः अथवा केवल न्याय करना हो। ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकांश मामले गाँवों की पंचायतों तथा जाति पंचायतों द्वारा आपसी ढंग से तै कर लिये जाते थे। कभी-कभी दण्डनायक अथवा राजा के यहाँ भी न्याय की माँग की जाती थी। परन्तु शायद इन मुक़दमों का नियमित विवरण नहीं रखा जाता था। इसलिए ऊपर के न्यायालय में भी सारे मामले की सुनावाई पुनः आरम्भ से ही आरम्भ करनी पड़ती थी। चोर बदमाशों को पकड़ने के लिए विशेष पुलिस का प्रबन्ध था। फ़ौजदारी मुक़दमे अधिकतर जूरी की सहायता से किये जाते थे। निर्दोष प्रमाणित करने के लिए विभिन्न प्रकार की शारीरिक यातनाओं वाली परीक्षाओं का प्रचलन था। जुर्माने से आरम्भ करके अंग-भंग तथा मृत्यु दण्ड तक दिया जाता था। जेलों का प्रबन्ध अच्छा नहीं था।

राजपूत शासन में सैनिकवाद, सामंतवाद तथा दैवी राजतन्त्रवाद का सम्मिश्रण था। राजाओं का प्रधान लक्ष्य था सामरिक कीर्ति का अर्जन न कि लोकहितचिंतन। इस कारण जनता में राजाओं के प्रति श्रद्धा रहने पर भी विशेष कृतज्ञता अथवा स्नेह का भाव नहीं रहता था। प्रशासकीय तथा सैनिक पद प्रायः ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों को ही मिलते थे। इसलिए शेष जातियों के लोगों में राजनीति की ओर उदासीनता आने लगी और वे वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार अपने अपने विशिष्ट कार्यों में ही तल्लीन हो गये। अनेक राजपूत शासक उच्चकोटि के साहित्यकार, लेखक, कलाविद, धर्मात्मा तथा सदाचारी थे, परन्तु अधिक संख्या उनकी थी जो युद्ध से अवकाश पाने पर इंद्रिय सुखों में लिप्त हो जाते थे, मादक द्रव्यों का उपयोग करते थे, राज्य की आय को मनमाने ढंग से अपव्यय करते थे और जनसाधारण की दशा सुधारने की चिन्ता नहीं करते थे। उन्होंने स्थानीय शासन में हस्तक्षेप न करके स्थानीय लोगों की कार्यपटुता को विकसित होने का अवसर दिया और उनको आत्म-निर्भर बनाया। इस गुण के ही कारण भारतीय समाज अपनी प्राचीन संस्कृति की रक्षा कर सकने में समर्थ हुआ है और विदेशी आक्रमणकारियों का प्रभाव कभी भी भारतीय आत्मा को विजित करने में पूर्ण सफल नहीं हुआ। राजपूतों ने कला, साहित्य, व्यापार, उद्योग की उन्नति में योगदान किया और धार्मिक पक्षपात एवं अत्याचार से प्रायः अछूते रह कर उन्होंने सभी को अपनी-अपनी रुचि एवं बुद्धि के अनुसार अध्यात्म-चिंतन का अवसर दिया। इस कारण समाज में अधिक कटुता नहीं बढ़ी। प्रोफेसर हबीब, मुहम्मद अजीज़ अहमद और क़ुरेशी ने राजपूत शासन-व्यवस्था के दोषों को

राजपूत शासन की समीक्षा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतिरंजित करके दिखाया है और ऐसा प्रकट किया है जैसे कि भारतीय जनता विदेशी आक्रमणकारी को अपना उद्धारकर्त्ता समझकर उसके स्वागत के लिए चिर प्रतीक्षा में बैठी थी और उसके आते ही उसने कृतज्ञतापूर्वक उसका आश्रय ग्रहण कर लिया। ११वीं शताब्दी से लेकर १५वीं शताब्दी के अन्त तक का जो इतिहास फारसी ग्रन्थों में उपलब्ध है उसी से विपुल प्रमाण प्राप्त होते हैं कि यह मत नितान्त भ्रामक है। भारतीय जनता के कुछ व्यक्ति स्वार्थ-बुद्धि से प्रेरित होकर विदेशियों से अवश्य सहयोग करने लगते थे—जैसा कि अन्य देशों तथा समाजों में भी न्यूनाधिक मात्रा में हुआ है—परन्तु उन्होंने विदेशी विजेता को सदा सांस्कृतिक स्तर में हेय, धर्मान्धता में घृणित और राजनीतिक क्षेत्र में पराजेय मानकर उसका विरोध किया। विजित और विजेता में सद्भाव की सृष्टि बहुत धीमी गति से हुई और वह प्रायः ऊपरी व्यवहार तक ही सीमित रहा। अधिकांश जनता ने राजनीतिक परिवर्तन को विशेष महत्व नहीं दिया। जिसे सैनिक शक्ति प्राप्त होती थी उसे कर देने में उसे अनिच्छा नहीं होती थी। शेष बातों के लिए वे अपने ऊपर निर्भर करते थे। यदि नये शासकों ने धार्मिक अत्याचार न किया होता तो उनको भारतीयों का अधिक सहयोग मिलता। परन्तु उस दशा में मुसलमानों की संख्या इतनी न बढ़ती।

सहायक ग्रंथ

१. चिन्तामणि विणायक वैद्य—मेडीवल हिन्दू इण्डिया, भाग १—३।
२. गौरीशंकर हीराचंद ओझा—राजपूताने का इतिहास।
३. गौरीशंकर हीराचंद ओझा—मध्यकालीन भारत की संस्कृति।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१५

तुर्क शासन-व्यवस्था

भारत में बसने के पूर्व तुर्कों को भारतीय शासन का कोई व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त नहीं था। यहाँ आने के बाद भी उनको निरंतर युद्ध-रत रहना पड़ा था क्योंकि राजपूत शासक तथा सामंत उनको चैन नहीं लेने देते थे और स्थानीय अधिकारी बिना सैनिक दबाव के कर नहीं देते थे। इस परिस्थिति में यह संभव नहीं था कि वे शासन का संपूर्ण भार अपने ऊपर लेकर अपने आदर्शों और अनुभव के अनुसार उसका गठन कर सकें। भारतवर्ष एक विशाल देश था और पतनावस्था में भी उसके निवासियों का सांस्कृतिक स्तर इतना ऊँचा और दृढ़ था कि तुर्क उसे दबा या पचा नहीं सकते थे। भारतीय समाज के नेता अपने को 'आर्य' एवं श्रेष्ठ—संसार भर से श्रेष्ठ समझते थे और तुर्क के आचार-विचार तथा आहार-विहार के नियम उनको इतने हेय, निम्न एवं गंदे प्रतीत होते थे कि वे उनको 'म्लेच्छ' कहते थे। ऐसी दशा मे तुर्कों के लिए एक मात्र उपाय यही था कि वे भारतीयों में से कुछ को अपनी ओर मिला लें, स्थानीय परिपाटियों और प्रथाओं को पूर्ववत् चलने दें, अधिकांश पुराने राजकर्मचारियों को उनके पदों पर रहने दें और केवल केन्द्रीय नगरों तथा दुर्गों में अपना सुदृढ़ शासन स्थापित करके केन्द्रीय तथा प्रांतीय शासन पर अपना सीधा व्यक्तिगत अधिकार जमा लें। अस्तु, तुर्कों ने जिस शासन-व्यवस्था को चलाया उसमें एक ओर इस्लामी राजनीतिक सिद्धान्तों एवं अनुभवों को स्थान मिला तो दूसरी ओर प्रचलित राजपूत शासन-व्यवस्था के साथ समझौता करना पड़ा और उसके अनेक अंश अपने विशुद्ध अथवा परिवर्तित रूप में तुर्की शासन के अनिवार्य अंग बन गये।

तुर्की शासन के मूलाधार

भारतीय शासन-परम्परा के अनुरूप मुस्लिम राज्य का आधार भी धर्मशास्त्र है। मुसलमानों का विश्वास है कि क़ुरान में अल्लाह की जो शिक्षाएँ और आदेश संचित हैं उनमें सर्वकाल एवं सर्व देशों के लिए उपयुक्त निर्देश हैं। उन्हीं के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधार पर इस्लामी समाज एवं शासन का संगठन हुआ है अथवा होना चाहिये था।

मुस्लिम राजनीतिक सिद्धान्त

समय बीतने पर जब केवल क़ुरान की शिक्षाओं के अनुसार सभी जटिलताओं का सुलझाना संभव नहीं हुआ तब अल्लाह के अंतिम पग़म्बर मुहम्मद साहब के प्रामाणिक कार्यों एवं कथनों का सहारा लिया गया। इनका सामूहिक नाम 'हदीस' है। क़ुरान और हदीस के आधार पर विभिन्न अवस्थाओं एवं देशों में उपस्थित समस्याओं का समाधान करने के लिए तत्कालीन धर्मशास्त्रज्ञ विद्वानों ने (जिनको उलमा कहते थे) व्यवस्थाएँ दी हैं। वे व्यवस्थाएँ भी इस्लामी क़ानून में मान्यता पा गई हैं। उनके अतिरिक्त भारतीय स्मृतिकारों के समान मुसलमानों में अबू हनीफा, शफ़ी, मलिक, हन्वल, अबू यूसुफ, मावर्दी, इमाम ग़िज़ाली आदि प्रकाण्ड विद्वान एवं विचारक हुए हैं। उन्होंने मुस्लिम धर्मशास्त्र तथा उस समय तक के मुस्लिम इतिहास एवं साहित्य के आधार पर शासन-संबंधी अपने विचार प्रकट किये हैं। इन सब का सामंजस्य करके ही मुस्लिम राजनीतिक सिद्धान्तों की प्रामाणिक व्याख्या की जा सकती है।

क़ुरान के अनुसार अखिल विश्व का वास्तविक मालिक और सम्राट् अल्लाह है। इसलिए सभी का कर्त्तव्य है कि अल्लाह की आज्ञा का पालन करें। अल्लाह ने अपनी आज्ञाएँ व्यक्त करने के लिए सभी देशों में और सभी काल में अपने दूत भेजे हैं। इन दूतों में मुहम्मद साहब का विशेषत्व यह है कि वह अंतिम दूत हैं। अल्लाह का आदेश है कि मेरी आज्ञा मानो, मेरे पैग़म्वर-को आज्ञा मानो और उन सब की आज्ञा मानो जो तुम लोगों के बीच सत्ताधारी हैं। इस्लाम में आज्ञापालन के कर्त्तव्य का इतना महत्व दर्शाया है कि भाष्यकारों ने यहाँ तक कह दिया है कि यदि सरकार सशक्त एवं न्यायी हो परंतु उसकी धर्म में समुचित आस्था न हो तो भी वह उस सरकार से अच्छी है जो धर्मानुयायी हो किन्तु व्यवस्था न रख सकती हो। परंतु जहाँ आज्ञा-पालन पर इतना महत्व है वहाँ शासकों द्वारा कर्त्तव्य-पालन पर भी बल दिया गया है। यह सत्य है कि पैग़म्बर की आज्ञा मानना अल्लाह की आज्ञा मानने के तुल्य है परंतु पैग़म्बर के लिए अल्लाह की आज्ञा मानना अनिवार्य है। पैग़म्बर के बाद इस्लामी समाज के शासक खलीफ़ा हुए। उनके लिए भी यह आवश्यक था कि वे लोकहित का ध्यान रखते हुए धार्मिक निर्देशों के अनुसार शासन करें। यदि वे ऐसा न करें तो अल्लाह उनको अवश्य दण्ड देगा। मुसलमान विचारकों ने यह मत व्यक्त किया है कि यदि इमाम (राजनीतिक नेता) अपने दायित्व का पालन न करे तो जनता का कर्त्तव्य है कि उसे पदच्युत कर दे। परंतु मुस्लिम शासकों ने किसी निर्वाचित प्रतिनिधि सभा का विकास नहीं कर पाया। फलतः जो व्यक्ति शासन का अधिकार चाहता था वह बलपूर्वक अथवा षड्यंत्र द्वारा भी उसे प्राप्त

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर लेता था और तलवार के बल पर अपने अधिकार को स्वीकार करा लेता था। मुस्लिम जगत में इसी को निर्वाचन का पर्याय स्वीकार कर लिया जाता था। धार्मिक सिद्धान्तों की व्याख्या कर[illegible]का अधिकार उलमा के हाथ में रहता था, परंतु उनके पास सैनिक शक्ति का अभाव होने के कारण सदा उनकी बात चलती नहीं थी। उनमें अनेक लोग ऐसे भी थे जो मान तथा धन के लोभ में आकर शासन की नीति का समर्थन करते रहते थे। सिद्धान्त की दृष्टि से जिस प्रकार ईश्वर एक है, उनका अंतिम पैग़म्बर एक है, उनकी शिक्षा का संकलन एक पुस्तक में है, इसी भाँति समस्त इस्लामी समाज का शासक भी एक होना चाहिए। परन्तु जब खलीफ़ा का साम्राज्य बहुत बढ़ गया और विघटनकारी शक्तियाँ प्रबल हो गई तो उन्होंने स्वतंत्र मुस्लिम शासकों को भी एक प्रकार का गवर्नर मान लिया और कहा कि यदि खलीफ़ा किसी का विरोध नहीं करता, तो समझना चाहिए कि उसको उसका अनुमोदन प्राप्त है। इसी भाँति उन्होंने कहा कि इमाम एक निर्वाचित नेता ही हो सकता है। परन्तु बाद में वंशानुगत साम्राज्यवाद को मान्यता प्रदान करने के लिए स्वीकार किया कि ११ व्यक्तियों द्वारा अथवा पाँच व्यक्तियों द्वारा भी निर्वाचन होने पर जनता द्वारा निर्वाचित समझना चाहिए। फिर यह भी कहा गया कि जिस व्यक्ति को जनता का विश्वास प्राप्त है, उस एक व्यक्ति के निर्वाचन को भी जनता का निर्वाचन मानना चाहिए। इस भाँति सम्राटों द्वारा उनके उत्तराधिकारी का मनोनीत किया जाना विधिवत् निर्वाचन स्वीकार कर लिया गया। किसी व्यक्ति के खलीफा या सुलतान होने पर उसका नाम खुतबे में रख दिया जाता था और दरबार में उपस्थित लोगों को उसका अभिवादन करना पड़ता था। इसका अर्थ यह लगाया जाता था कि यदि वह व्यक्ति जनमत के अनुकूल न होता तो दरबारी अमीर उसके प्रति राजभक्ति की शपथ न लेते और न जनता उसके नाम का खुतबे में होना ही सहन करती। इस भाँति विरोध न किये जाने को स्वतंत्र निर्वाचन का पर्याय मान लिया गया। इसी भाँति सिद्धान्त की दृष्टि से राज्य की आय समाज की संपत्ति है और उसे इमाम के परिवार की व्यक्तिगत आय समझ लेना धर्म-विरुद्ध है। परंतु व्यवहार में खलीफ़ाओं तथा परवर्ती सुलतानों ने राजकोष में संचित धन को स्वेच्छा से व्यय किया और उसे राजमहल तथा राज-दरबार के ऊपर अपव्यय करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं किया। इस भाँति इस्लामी राजनीतिक आदर्श के अनुरूप शायद कभी शासन नहीं हुआ यद्यपि अधिकांश सुन्नी मुसलमान पहले चार खलीफ़ाओं के शासन को विधिविहित स्वीकार करने के पक्ष में हैं। परन्तु इतना होने पर भी इस्लामी सिद्धान्त आदर्श के रूप में सदा विद्यमान रहे और न्यूनाधिक उनका प्रभाव भी बराबर रहा। पहले चार खलीफ़ाओं ने मुहम्मद के शासन का अनुकरण करना चाहा, उमय्या-वंशी तथा अब्बासी खलीफाओं ने इन चार के शासन को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधार मानकर अपनी नीति स्थिर की। बाद के तुर्क सुलतानों ने अब्बासी खलीफ़ाओं के समय की संस्थाओं का अनुकरण करते हुए राज्य का संगठन किया। यह बात ग़ज़नवी-वंश के शासन के लिए भी सही है और गज़नवी वंश के शासन के आधार पर दिल्ली की सल्तनत तथा प्रान्तीय स्वतंत्र राज्यों की संस्थाओं का निर्माण किया गया। परन्तु इस क्रमागत विकास अथवा पतन के साथ-साथ मौलिक आदर्श भी पृष्ठ-भूमि में बने रहे और किसी-किसी शासक के समय में शासन-नीति को विशेष रूप से प्रभावित करते रहे।

खलीफ़ा के पद का भारत में सदा मान रहा। अधिकांश सुलतानों ने ऐसा दिखावा किया मानो वे खलीफा को ही वैधानिक शासक मानते हैं और स्वयं उसके प्रतिनिधि, नायब अथवा सहायक हैं। क़ुत्बुद्दीन मुबारकशाह खिलजी को छोड़कर और कोई ऐसा सुलतान नहीं हुआ जिसने खलीफ़ा को कुछ मान न दिया हो। प्राय: सभी सुलतान खलीफ़ा के नाम को खुतबे और सिक्के में स्थान देते थे तथा अपने ऐसे विरुद् रखते थे जिनसे विदित होता था कि वे खलीफ़ा को अपना प्रधान स्वीकार करते हैं। इस भांति इल्तुतमिश, अलाउद्दीनऔर ग़यासुद्दीन तुग़लक अपने को नासिर-अमीर-उल मोमिनीन (मुसलमानों के नेता अर्थात् खलीफ़ा का सहायक) कहते थे। अलाउद्दीन खिलजी का दूसरा विरुद् था यमीन-उल-खिलाफत (खलीफ़ा का दाहिना हाथ)। फ़ीरोज़ और उसके बाद के शासक अपने को खलीफ़ा का खलीफ़ा या नायब कहते थे।

भारतीय सुलतान और खलीफ़ा

इस परिपाटी के प्रतिकूल तीन शासकों ने अपने महत्व को ही बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया। बलबन कहता था कि पैग़म्बर के बाद सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति है शासक। इसलिए उसने अपना विरुद् रखा ज़िल्ल-अल्लाह (ईश्वर की छाया)। मुहम्मद बिन तुग़लक ने भी प्रारम्भिक काल में इस विरुद् को धारण किया था और यद्यपि बलबन ने इस विरुद् को रखते हुए भी खलीफ़ा का नाम खुतबे में रखा किन्तु मुहम्मद बिन तुग़लक ने खलीफ़ा के नाम की कहीं चर्चा नहीं की। इतना होने पर भी इनमें से किसी ने अपने को खलीफ़ा नहीं कहा। यह कार्य किया क़ुत्बुद्दीन मुबारकशाह ने। उसके विरुद् थे खलीफ़ा-ए-रब्बुल आलिमीन, एवं अमीर-उल-मोमिनीन।

परन्तु खलीफ़ा से नियुक्ति-पत्र लेने का प्रयास केवल तीन व्यक्तियों ने किया। इल्तुतमिश इनमें सर्वप्रथम था। उसने १२२९ में नियुक्ति-पत्र प्राप्त किया। इसके बाद मुहम्मद बिन तुग़लक ने मिस्र के अब्बासी खलीफ़ा से नियुक्ति-पत्र प्राप्त करके दैवीकोप को शान्त करने की चेष्टा की। उसके बाद फ़ीरोज तुग़लक़ ने भी नियुक्ति-पत्र प्राप्त किया।

खलीफ़ा के प्रति मान-प्रदर्शन का वास्तविक उद्देश्य क्या था? १२५८ से १२९६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक उस खलीफ़ा के नाम को सिक्के और ख़ुतबे में क्यों रखा गया जिसके विषय में निश्चित सूचना मिल चुकी थी कि उसका वध कर दिया गया है? जब खलीफ़ा का पता तक विदित नहीं रहता था तब भी गुमनाम खलीफ़ा के नायब बनने में किस लाभ की आशा की जाती थी? इन सभी प्रश्नों का एक ही उत्तर है—अंध-विश्वास। सामान्य मुस्लिम जनता समझती थी कि खलीफ़ा के प्रति आदर दिखाना सुलतान का कर्त्तव्य है और जिस सुलतान को खलीफा की स्वीकृति प्राप्त है अथवा जो खलीफ़ा का सहायक अथवा नायब है उसका विरोध करना धर्म-विरुद्ध है। इस अंध-विश्वास से लाभ उठाने के लिए ही अधीनता का दिखावा किया जाता था। परंतु इसके कारण खलीफ़ा को आंतरिक शासन में कोई हस्तक्षेप करने का अवसर नहीं मिलता था और न उसे नियमित कर अथवा भेंट मिलती थीं। उसके नाम को शिखण्डी के समान आगे रखकर सुलतान वास्तविक सम्राट के समान कार्य करते थे।

उत्तराधिकार का नियम

तुर्कों में कोई निश्चित उत्तराधिकार नियम नही था। इस्लामी आदर्श के अनुसार यह आवश्यक था कि शासक पुरुष-जातीय हो, वयस्क हो, उसका कोई प्रधान अंग नष्ट न हुआ हो, वह स्वतंत्र व्यक्ति हो, उसे धर्म में आस्था हो और वह धार्मिक सिद्धान्तों से परिचित हो, उसमें नेतृत्व के गुण विद्यमान हों, वह न्याय के आधार पर शासन करने की क्षमता रखता हो, और उसका निर्वाचन जनता द्वारा किया गया हो। सल्तनत काल में इन सिद्धान्तों से परिचय होने के बावजूद इनमें से प्रायः सभी नियमों का उल्लंघन किया गया और राजपूत परम्परा के अनुकूल वंशगत राजतंत्र की स्थापना करने की चेष्टा की गई। परन्तु इन आदर्शों के कारण इस उद्योग में भी स्थायी सफलता नहीं मिली यद्यपि उस दिशा में काफी प्रगति हुई। सल्तनत काल की घटनाओं के आधार पर किसी ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन संभव नहीं है जिसके अन्तर्गत सभी उत्तराधिकार के प्रश्न आ जायँ। रजिया स्त्री होने पर भी शासक बनाई गई थी। कैमूर्स, शहाबुद्दीन उमर, महमूद तुग़लक वयस्क न होने पर भी सुलतान बनाये गये थे। ऐबक दास अवस्था में ही शासक स्वीकृत हो गया था। कैकुबाद को लकवा मारने पर भी गद्दी से उतारा नहीं गया। नासिरुद्दीन ख़ुसरो ने इस्लाम का विशेष आदर नहीं किया परन्तु फिर भी उसे शासक स्वीकार कर लिया गया। अलाउद्दीन खुल्लमखुल्ला कहता था कि वह धर्म के सिद्धान्तों से अपरिचित है परन्तु किसी ने इस कारण उसको शासन के लिए अनुपयुक्त नहीं ठहराया। नेतृत्व के गुणों का अभाव तो आधे से अधिक सुलतानों में था, परन्तु कभी-कभी इस अभाव के कारण ही उनको सुलतान बनाया जाता था। निर्वाचन की पद्धति तो इस्लाम में सचमुच कभी थी ही नहीं। अधिक-से-अधिक हुआ भी तो प्रधान व्यक्तियों के समर्थन को ही जनता द्वारा निर्वाचन स्वीकार कर लिया जाता था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस विशिष्ट अर्थ वाले निर्वाचन का प्रयोग इल्तुतमिश, गयासुद्दीन तुग़लक, फ़ीरोज तुग़लक आदि के संबंध में किया गया। साधारणतः पिछला सुलतान अपना उत्तराधिकारी घोषित कर जाता था। परन्तु अनेक स्थलों में उसकी इच्छा को ठुकरा कर किसी अन्य व्यक्ति को शासन सौंप दिया जाता था। इस भाँति केवल यही कहा जा सकता है कि सल्तनत काल में उत्तराधिकार का कोई नियम नहीं था—प्रायः उत्तराधिकारी का निर्वाचन पिछले राजा के वंश से किया जाता था परन्तु यदि कोई व्यक्ति बलपूर्वक शासन-सूत्र पर अधिकार कर सके तो उसे भी स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं किया जाता था।

सुलतान के अधिकार

राजपूत राजाओं के समान तुर्क सुलतान भी स्वेच्छाचारी निरंकुश शासक बनने का उद्योग करते थे और आन्तरिक तथा वैदेशिक क्षेत्र में उनके भी प्रायः वही अधिकार थे जो राजपूत राजाओं को प्राप्त थे। उसी भांति उनके अधिकार भी सचमुच असीम नहीं थे। तुर्क सुलतानों को भी धर्मशास्त्र का अंकुश मानना पड़ता था। नये नियमों के निर्माण में उनके भी अधिकार सीमित थे और सभी शासक अलाउद्दीन अथवा मुहम्मद बिन तुग़लक की भांति धर्मगुरुओं के परामर्श की उपेक्षा करके शासन नहीं कर सकते थे। सुलतानों को भारतीय हिन्दू जनता का हार्दिक समर्थन कभी प्राप्त नहीं हुआ। इस कारण उनके लिए आवश्यक था कि वे कम-से-कम मुसलमानों का पूर्ण समर्थन प्राप्त करें। मुस्लिम जनता पर मुल्ला-मौलवियों का प्रभाव था और वे धार्मिक पक्षपात की नीति को ही इस्लामी हुकूमत की जान समझते थे। अतः इन सुलतानों पर उलमा का न्यूनाधिक प्रभाव बराबर रहा और इस कारण उनकी निरंकुशता सीमित हो गई। दूसरे, सुलतानों की शक्ति इतनी दृढ़ नहीं थी कि वे हिन्दू प्रजा की भावनाओं का बिलकुल ध्यान न रखकर भी शासन कर सकें। यह उनकी निरंकुशता में दूसरी प्रधान बाधा थी। तीसरे, मुसलमानों की संख्या कम होने के कारण उन्हें स्थानीय शासन में हस्तक्षेप करने का अधिक अवसर नहीं मिलता था। चौथे, अमीरों की शक्ति के कारण भी उनकी निरंकुशता कुंठित हो सकती थी। जब कोई दुर्बल शासक होता था तब उलमा और अमीर उस पर विशेष रूप से हावी हो जाते थे और हिन्दू उसके आदेशों की अवहेलना करने लगते थे। कभी-कभी कोई प्रभावशाली अमीर संरक्षक बनकर सारी शक्ति अपने हाथ में लेकर वास्तविक सुलतान को केवल गुड़िया शासक बना देता था। परन्तु बलबन, अलाउद्दीन, मुहम्मद बिन तुग़लक, सिकंदर लोदी अथवा शेरशाह के काल में इन प्रतिबन्धों का विशेष प्रभाव नहीं रहा और उन्होंने प्रायः मनमाना शासन किया।

केन्द्रीय शासन में सबसे अधिक प्रभाव सुलतान के व्यक्तित्व का पड़ता था। वैधानिक दृष्टि से वही शासन का सर्वोच्च अधिकारी था। वही प्रधान कार्यकारी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा प्रधान न्यायाधीश के अधिकार रखता था। राज्य की सम्पूर्ण सेना उसके अधीन रहती थी और वह सभी सैनिक तथा असैनिक पदों के लिए नियुक्तियाँ कर सकता था एवं राजकर्मचारियों पर नियंत्रण रखता था। सुलतान की सहायता के लिए अनेक केन्द्रीय पदाधिकारी रहते थे। उनमें से मुख्य निम्नलिखित थे :—

केन्द्रीय शासन

(१) नायब—प्राय: यह पद किशोर अथवा दुर्बल शासकों के समय में ही भरा जाता था। परन्तु कभी-कभी अलाउद्दीन जैसे शक्तिवान शासक भी विशेष अनुग्रह व्यक्त करने के लिए इस पद पर नियुक्ति कर देते थे। नायब प्राय: सुलतान के सभी अधिकारों का सुलतान के नाम से प्रयोग करता था और शासन के सभी विभागों तथा अंगों का निरीक्षण करता था। वह प्राय: एक कुशल सैनिक एवं प्रभावशाली अमीर होता था।

(२) वज़ीर—वह अर्थ-विभाग का अध्यक्ष होता था और सुलतान के बाद सबसे अधिक प्रभावशाली होता था। परन्तु यदि कोई नायब-सुलतान होता था तो वह वज़ीर के ऊपर रहता था। वज़ीर के विभाग को दीवान-ए-वज़ारत कहते थे। उसके अधीन अनेक प्रभावशाली कर्मचारी रहते थे। उनमें से तीन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—(१) नायब वज़ीर, (२) मुशरिफ़-ए-मुमालिक और (३) मुस्तौफ़ी-ए-मुमालिक। नायब वज़ीर का कार्य उसके पद से ही व्यक्त हो जाता है। मुशरिफ का काम था प्रान्तों तथा अन्य विभागों से प्राप्त हिसाब का लेखा-जोखा रखना। मुस्तौफी इस हिसाब की जाँच करता था। कुछ सुलतानों के समय में मुशरिफ आय का हिसाब रखता था और मुस्तौफ़ी व्यय का निरीक्षण करता था।

(३) आरिज़-ए-मुमालिक—वह सैनिक विभाग का अध्यक्ष होता था और सेना के संगठन, निरीक्षण, अनुशासन आदि के लिए उत्तरदायी होता था। उसके विभाग को दीवान-ए-अर्ज़ कहते थे। वह पदेन प्रधान सेनापति नहीं था क्योंकि अला-उद्दीन के समय में काफ़ूर के वारंगल-आक्रमण के समय आरिज़ उसका सहायक बना-कर भेजा गया था।

(४) सद्र-उस्सुदूर—वह धर्म-विभाग का अध्यक्ष होता था। राजकीय दान-विभाग उसी के अधीन रहता था। वही जनसाधारण को धर्मानुयायी रखने का प्रबन्ध करता था। मस्जिदों, मज़ारों, मक़बरों, खानक़ाहों, मदरसों, मकतबों आदि के निर्माण एवं रक्षा के लिए वही दान-विभाग से धन अथवा जागीर देता था। वही साधु-संतों, मुल्ला-मौलवियों, अनाथ-अपाहिजों को राज्य की ओर से सहायता देता था। इस विभाग का सम्पूर्ण धन केवल मुस्लिम जनता के लाभ के लिए व्यय किया जाता था। प्राय: इसका अलग कोष रहता था जिसमें ज़कात से प्राप्त धन एकत्रित होता था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५) **क़ाज़ी-उल-क़ुज़ात**—वह न्याय विभाग का अध्यक्ष होता था और प्रायः जो व्यक्ति सद्र-उस्सुदूर होता था उसी को यह पद दे दिया जाता था।

(६) **दबीर-ए-खास या अमीर मुन्शी**—वह आलेख-विभाग का अध्यक्ष होता था। उसके महकमे को दीवान-ए इंशा कहते थे। उसके विभाग से ही सुलतान के फर्मान जारी होते थे और वही उच्च-स्तरीय पत्र-व्यवहार का कार्य देखता था।

(७) **बरीद-ए-मुमालिक**—वह सूचना विभाग तथा गुप्तचर विभाग का अध्यक्ष होता था। डाक चौकियों का प्रबन्ध भी उसी के अधीन रहता था।

इनके अतिरिक्त अन्य पदाधिकारी भी होते थे। परन्तु वे या तो ऐसे विभागों के अध्यक्ष होते थे जो अपेक्षाकृत कम महत्व के होते थे या उनका संबंध राजमहल तथा राजदर्बार से होने के कारण उनको सुलतान का व्यक्तिगत सेवक समझा जा सकता था। इस भाँति अलाउद्दीन तथा मुहम्मद बिन तुग़लक के समय में एक अमीर-ए-कोही (कृषि-विभाग का अध्यक्ष) होता था। फ़ीरोज़ के समय में सार्वजनिक निर्माण विभाग का संगठन किया गया था और एक विभाग सुलतान के गुलामों का प्रबन्ध करता था।

दर्बार तथा राजमहल से संबंधित प्रधान कर्मचारी ६ थे—(१) **वकील-ए-दर**, (२) **बारबक**, (३) **अमीर हाजिब**, (४) **अमीर-शिकार**, (५) **अमीर-मजलिस** और (६) **सरजांदार**। वकील-ए-दर राजमहल तथा सुलतान के व्यक्तिगत सेवकों का प्रबन्ध करता था। इस कारण उसका पद अत्यन्त महत्व का था और प्रायः अत्यन्त विश्वसनीय व्यक्तियों को ही मिलता था। सुलतान के इतने निकट रहने के कारण उसका शासन-नीति पर भी काफी प्रभाव रहता था और कभी-कभी वह राज्य में सबसे अधिक शक्तिवान व्यक्ति हो जाता था। प्रायः उसी के समान प्रभावशाली व्यक्ति बारबक होता था। कभी-कभी अमीर हाजिब और बारबक के पद एक ही व्यक्ति के हाथ में रहते थे और कभी-कभी दो भिन्न व्यक्ति इन पदों के लिए नियुक्त किये जाते थे। बारबक राजदर्बार का प्रबन्ध करता था और अमीरों के पद के अनुसार स्थान देना तथा राज-दर्बार की मर्यादा की रक्षा करना उसी का कर्त्तव्य था। वह भी सुलतान के निकट सम्पर्क में रहता था और राज्य के बड़े-बड़े अमीर उसके माध्यम से ही सम्राट् के पास अपनी बात पहुँचा सकते थे। इसी कारण योग्य बारबकों ने कभी-कभी वज़ीर से भी अधिक शक्ति प्राप्त कर ली थी। अमीर हाजिब का कार्य था दरबार में आने वाले व्यक्तियों की जाँच करना और राज-दरबार के नियमों के अनुसार उनको सुलतान के सामने पेश करना। अमीर-शिकार आखेट का प्रबन्ध करता था और उन सब स्थलों का प्रबन्ध जहाँ सुलतान शिकार के लिए जाता था उसी के अधिकार एवं नियंत्रण में रहता था। अमीर मजलिस सभाओं, दावतों, विशेष उत्सवों आदि का प्रबन्ध करता था। प्रत्येक सुलतान के व्यक्तिगत अंग-रक्षक होते थे। उनका प्रधान सरजाँदार होता था। सल्तनत के इतिहास में सरजाँदार के षड्यंत्र के कारण भी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कभी-कभी राज-परिवर्तन हुआ। इससे उसके पद के महत्व का पता चलता है।

इन प्रधान पदाधिकारियों के नीचे अनेक छोटे-बड़े कर्मचारी रहते थे जो सरकारी कारखानों, भोजनालय, राजकोष, हयशाला आदि का प्रवन्ध देखते थे अथवा सरकारी दफ्तरों में काम करते थे। राजमहल में काम करने के लिए अनेक दासियाँ तथा हिजड़े रहते थे और पट्टमहिषी तथा राजमाता को भी राजमहल के आन्तरिक प्रवन्ध में कुछ अधिकार दिया जाता था। पट्ट महिषी को प्राय: मलका-जहाँ और राज माता को मखदूमा-जहाँ अथवा खुदावंदा-जहाँ कहते थे।

प्रांतीय शासन

सुलतान का प्रान्तीय शासन व्यवस्थित एवं दृढ़ नहीं था। प्रारंभिक काल में प्राय: अमीरों को अविजित अथवा अर्द्धविजित क्षेत्र का शासक नियुक्त कर दिया जाता था और वे अपने पराक्रम से जिस क्षेत्र को जीतते थे वहीं के वे प्रान्तपति हो जाते थे। परन्तु बाद में यह स्थिति नहीं रही। उस समय विजय का कार्य सुलतान की ओर से उसी के नियंत्रण में होता था और वह विजित भाग को प्रांतों में विभक्त करके जिसे उपयुक्त समझता उसे वहाँ का शासक नियुक्त कर देता था। प्रारंभिक काल में प्रांतपतियों का स्थानांतरण बहुत कम किया जाता था। परन्तु बाद में यह बन्धन नहीं रहा। प्रान्त-पतियों को वली, नाज़िम या नायब सुलतान कहते थे। नायब का अर्थ है स्थानापन्न और कभी-कभी इसे विभिन्न पदों के साथ संयुक्त कर दिया जाता था। केन्द्रीय सरकार के नायब सुलतान का उल्लेख पहले किया जा चुका है। उसे नायब मुमलिकत भी कहते थे। वज़ीर को कभी-कभी नायब दीवान-ए-वज़ारत कहते थे। उसका तात्पर्य था अर्थ-विभाग में सुलतान का स्थानापन्न। इसी प्रकार अन्य उच्च पदाधिकारियों के नाम के साथ भी नायब जोड़ दिया जाता था और उसका तात्पर्य होता था अमुक विभाग में सुलतान का स्थानापन्न। परन्तु जब किसी प्रान्त के सम्बन्ध में नायब सुलतान या नायब वज़ीर का प्रयोग किया जाता था तब उसका तात्पर्य होता था अमुक प्रान्त में सुलतान का स्थानापन्न अथवा वज़ीर का स्थानापन्न। प्रान्तों में प्रान्त-पति के नीचे प्रान्तीय वज़ीर, प्रान्तीय आरिज़ और प्रान्तीय क़ाजी रहते थे। इनके कार्य सम्बन्धित केन्द्रीय अधिकारियों के अनुरूप होते थे।

प्रान्तपति सुलतान की तरह प्रान्तीय क्षेत्र में शासन की सभी शक्तियों का केन्द्र होता था और शान्ति-रक्षा तथा सेना का प्रबन्ध, करों की वसूली एवं न्याय की व्यवस्था समान रूप से उसके अधिकार में रहते थे। इस काल के प्रान्तपति बहुधा स्वेच्छा से पड़ोसी हिन्दू राज्यों अथवा सामन्तो के ऊपर आक्रमण भी करते थे। परन्तु यदि सुलतान योग्य एवं शक्तिशाली होता था तो उसका आदेश लेकर ही किसी स्वतन्त्र हिन्दू राज्य पर आक्रमण किया जा सकता था। विजय होने पर लूट के माल में से सरकार को जो भाग मिलना चाहिए वह सुलतान की सेवा में भेज दिया जाता था। लूट के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामान में यदि हाथी, राजवंश की स्त्रियाँ अथवा राज-चिन्ह होते थे तो उन सबको ही सुलतान के पास भेजना आवश्यक था। इसके विरुद्ध कार्य करना विद्रोह का लक्षण समझा जाता था। साधारणतः कोई भी प्रान्तपति न तो हाथी रख सकता था न छत्र अथवा दूरबाश (राजदण्ड) का प्रयोग कर सकता था और न अपने नाम को सिक्कों अथवा खुत्बे में रख सकता था। इनमें से किसी एक का भी करना विद्रोह का लक्षण था। इसी भाँति सुलतानों के समान विरुद् धारण करना, राजकर प्रतिवर्ष न भेजना, सेना की संख्या में अत्यधिक वृद्धि कर लेना अथवा राजसी ठाट से दरबार करना भी विद्रोह के प्रतीक माने जाते थे।

अमीरों का संगठन एवं प्रभाव

प्रान्तों का शासन प्रायः राजवंश के व्यक्तियों अथवा अत्यन्त विश्वासपात्र सेवकों को दिया जाता था। इस काल में दास-प्रथा का खूब चलन था और सुलतान का दास बन सकना कोई अप्रतिष्ठा की बात नहीं थी। इन दासों में जो सबसे योग्य होते थे और जो अपने स्वामी का विश्वास अथवा स्नेह प्राप्त कर लेते थे उन्हीं को प्रान्तों का शासन तथा केन्द्रीय विभागों की अध्यक्षता मिलती थी। इस काल में इन उच्च पदाधिकारियों को अमीर, मलिक या खाँ कहते थे। कभी-कभी इन पदों से ऊँच-नीच का तारतम्य भी प्रकट होता था और श्रेष्ठता क्रम में खाँ सर्वोपरि, अमीर निकृष्ट तथा मलिक मध्यवर्ती स्थान में समझा जाता था। परन्तु सर्वदा ऐसा नहीं होता था। प्रायः सभी प्रभावशाली पदों पर नियुक्त व्यक्तियों की सामान्य संज्ञा थी अमीर और उसका बहुवचन था उमरा जिसे राजपूत सामन्त का पर्याय समझ सकते हैं। खाँ प्रायः उच्चतर पद का ही द्योतक होता था। परन्तु मलिक अथवा अमीर कभी अत्यन्त उच्च पदाधिकारियों के लिए प्रयुक्त होते थे और कभी सामान्य पदाधिकारियों के लिए। इस पुस्तक में अमीर शब्द का प्रयोग सामन्त-मात्र के ही अर्थ में अधिकतर किया गया है।

इन अमीरों का मध्यकालीन इतिहास में क्या महत्व था? क्या उन्हें सामन्त-प्रथा के अन्तर्गत लिया जा सकता है? राजपूत सामन्तों की अपेक्षा उनकी शक्ति कम थी अथवा अधिक? इन प्रश्नों का समाधान आवश्यक है। इस सम्बन्ध में पहली ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस काल के अमीर प्रायः प्रत्येक राजवंश अथवा प्रमुख सुलतान के साथ बदलते रहते थे। इस कारण एक ओर उनमें सदा नूतन रक्त का प्रवेश होता रहता था तो दूसरी ओर उन्हें वंशानुगत महत्व प्राप्त करने का अवसर नहीं मिलता था। बहुधा यह भी होता था कि नूतन राजवंश के आने के साथ-साथ अधिकांश पुराने अमीर मार डाले जाते थे या छोटे पदों पर हटा दिये जाते थे और धीरे-धीरे नगण्य हो जाते थे। इस कारण इन अमीरों का सल्तनत काल में वह गौरव नहीं हो सकता था जो [illegible] सामन्तों का था क्योंकि अमीरों का महत्व सुलतान

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की कृपा पर आश्रित होता था और राजपूत सामन्तों का अपने कुल एवं स्थायी अधिकार पर। अमीरों को प्रायः स्थानान्तरित करने अथवा पदच्युत करने में सुलतानों को विशेष कठिनाई नहीं होती थी। परन्तु राजपूत सामन्त अपने-अपने क्षेत्र के वंशानुगत स्थायी स्वामी होते थे और इस कारण उनकी पदच्युति अथवा स्थानान्तरण कठिन था। तुर्क अमीरों को जिस क्षेत्र का शासन सौंपा जाता था वह उनकी पैतृक सम्पत्ति अथवा स्थायी जागीर नहीं बन जाती थी यद्यपि उस काल की विशिष्ट राजनीतिक स्थिति के कारण उनको आन्तरिक शासन में पर्याप्त स्वतंत्रता रहती थी। इस दृष्टि से उनको सामन्त प्रथा के अन्तर्गत नहीं लिया जा सकता। परन्तु कुछ दशाओं में वे राजपूत सामन्तों से अधिक प्रभावशाली होते थे। किसी योग्य सुलतान के अमीर अपनी शक्ति एवं योग्यता के कारण राजवंश के लोगों को हटाकर सुलतान-पद भी पा सकते थे। राजपूतों के लिए इसकी सम्भावना अत्यंत क्षीण रहती थी। इन अमीरों का प्रभाव या तो उस समय अधिक होता था जब सुलतान अयोग्य एवं निर्बल अथवा अल्पवयस्क होता था या उस समय जब वे अपने स्वामी की अत्यधिक कृपा अथवा प्रीति के भाजन होते थे। परन्तु सुल्तनत-काल में अमीरों में प्रायः पारस्परिक ईर्ष्या तथा गुटबन्दी रहती थी। इस कारण उनका प्रभाव घटता-बढ़ता रहता था। परन्तु राजपूत सामन्तों का शासन में वैधानिक महत्व था और उनका प्रभाव स्थायी था। सामन्त राजा को एक हद तक सुपथ पर रख सकते थे। अमीर कभी सुलतानों के दासवत् रहते थे और कभी उनके भाग्य-विधाता। अतः उनके तथा राजपूत सामन्तों के पद, महत्व तथा प्रभाव में काफी अन्तर था। तुर्क अमीर अपेक्षाकृत अधिक स्वार्थी एवं महत्वाकांक्षी थे और जैसा कि हम पिछले अध्यायों में देख चुके हैं उनके इन दुर्गुणों के कारण अनेक विद्रोहों का सूत्रपात हुआ तथा नये राजवंशों की नींव पड़ी और अन्त में सल्तनत टुकड़े-टुकड़े हो गई। अस्तु, हम कह सकते हैं कि तुर्क अमीरों ने सल्तनत को स्थायित्व एवं दृढ़ता प्रदान करने के स्थान पर प्रायः विघटनकारी शक्तियों का संवर्द्धन एवं नेतृत्व किया।

स्थानीय शासन

प्रान्तों के अन्तर्गत शासन की छोटी इकाइयाँ रहती थीं। कुछ भाग में राजपूत सामन्त तथा हिन्दू जमींदार प्रबल होते थे। वहाँ के स्थानीय शासन में सुलतान अथवा उसके प्रान्तपति का विशेष प्रभाव नहीं रहता था। वह केवल उनसे निश्चित वार्षिक कर वसूल कर लेता था। इनके अतिरिक्त छोटे तुर्क अधिकारी होते थे। इनमें से कुछ को इक़्तादार कहते थे। यह कुछ हद तक ज़िलों के अधिकारियों के समान होते थे। इनके अतिरिक्त प्रधान दुर्गों तथा उनके आस-पास के क्षेत्र का प्रबन्ध करने के लिए दुर्गरक्षक होते थे। उनका कार्य प्रधानतः सैनिक था। पश्चिमोत्तर सीमा, मंगोलों का आक्रमण-मार्ग तथा मेवात, कटेहर, दोआब और खोखर प्रदेश में ऐसे दुर्गरक्षक तथा सैनिक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बस्तियों के प्रधान अधिक संख्या में रहते थे। नगरों में प्रायः कोतवाल और क़ाज़ी रहते थे तथा गाँवों का प्रबन्ध पूर्ववत् बना रहा।

धार्मिक नीति

सम्राट् अकबर का शासन स्थापित होने के पूर्व मध्यकालीन शासन की एक विशिष्टता थी धार्मिक पक्षपात की नीति, यद्यपि इसका परिमाण और स्वरूप सदा एक-सा नहीं रहा। फ़ीरोज़ तुग़लक और सिकन्दर लोदी के समय में यह पक्षपात अपनी पराकाष्ठा पर था। अलाउद्दीन खिलजी, तथा मुहम्मद बिन तुग़लक अपेक्षाकृत अधिक उदार थे और उन्होंने धर्म तथा राजनीति को अलग रखने की चेष्टा की। परन्तु कुछ बातें ऐसी हैं जो प्रायः बराबर ही चलती रहीं। दारुल हर्ब (विधर्मियों के राज्य) को दारुल इस्लाम (मुसलमानों के राज्य) में परिवर्तन करने का आदर्श सभी के मन में आदर पाता था। इस्लाम के प्रचार में सभी सुलतान परोक्ष एवं प्रत्यक्ष सहायता देते थे। सद्र का विभाग उन सभी वर्गों को राज्य की ओर से सहायता देता था जो धर्म प्रचार में लगे हुए थे चाहे वे संकीर्ण बुद्धि वाले मुल्ला-मौलवी हों और चाहे अपेक्षाकृत अधिक सहानुभूतिपूर्ण सूफ़ी संत। मुसलमानों को शासन में सभी नागरिक एवं राजनीतिक अधिकार प्राप्त रहते थे तथा उनके लिए कर हल्के थे और अधिकांश नौकरियाँ उनके लिए सुरक्षित थीं। इस काल में किसी हिन्दू को केन्द्रीय विभाग अथवा प्रान्तीय शासन का अध्यक्ष नहीं बनाया गया। महमूद ग़ज़नवी के समय जिन हिन्दुओं के नाम मिलते हैं उनमें से सेवकपाल को पहले मुसलमान बना लिया गया था तब मुलतान का शासन दिया गया। अलाउद्दीन ने मालदेव को चित्तौड़ का शासन केवल राजपूतों में फूट डालने के उद्देश्य से दिया। मुहम्मद बिन तुग़लक के समय में रतन, भैरो और धराधर अधिक से अधिक उन्नति करके प्रान्तीय वज़ीर का पद पा सके थे। अन्य सुलतानों के समय में इतनी सुविधा भी नहीं दी गई और बलबन धर्म परिवर्तन करने पर भी हिन्दुओं को सरकारी नौकरी में ऊँचे पद देने का विरोधी था। हिन्दू राज्यों पर आक्रमण के समय प्रथम दो तुग़लक सुलतानों को छोड़कर प्रायः सभी ने हिन्दू देवालयों को नष्ट किया। फ़ीरोज़ ने शान्ति के समय भी देवालय तुड़वाये। अनेक स्थलों में मंदिरों की ही सामग्री से मस्जिदें बनवाई गयीं और अनेक सुलतानों ने हिन्दू देवताओं की मूर्तियों को न केवल तोड़ा वरन् उनको पद-दलित भी कराया। हिन्दुओं को जज़िया नामक विशेष कर देना पड़ता था, मुसलमानों की अपेक्षा उनको आयात तथा निर्यात कर दूना देना पड़ता था, वे स्वेच्छा से नये मंदिर नहीं बना सकते थे और कभी-कभी पुराने मंदिरों की मरम्मत कराने की भी मनाही कर दी जाती थी। तीर्थ-यात्रा करने पर उन्हें विशेष कर देना पड़ता था और मुस्लिम प्रभाव-क्षेत्र में उनको सार्वजनिक ढंग से अपने धार्मिक कृत्यों के करने की सुविधा नहीं थी। कुछ मुसलमानों को आकृष्ट करने के अपराध में ही फ़ीरोज़ ने एक ब्राह्मण का वध करा दिया था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्य की आय में से सार्वजनिक शिक्षा, स्वास्थ्य तथा दान के ऊपर जो कुछ व्यय किया जाता था वह केवल मुसलमानों के हित में किया जाता था। मुसलमानों में आन्तरिक साम्प्रदायिक विद्वेष भी था और प्राय: गैर-सुन्नी लोगों पर न्यूनाधिक अत्याचार किया गया परन्तु हिन्दुओं के ऊपर किये गये अत्याचार की तुलना में वह नगण्य है। अत: यह कहा जा सकता है कि हिन्दुओं को नागरिकता के पूर्ण अधिकार प्राप्त नहीं थे। इस भेद-भाव का कारण था इस्लामी हुकूमत का धर्म-सापेक्ष होना। इसीलिए सुलतानों की हुकूमत को निष्पक्ष राष्ट्रीय सरकार नहीं माना जा सकता।

सुलतानों के यहाँ कोई पृथक् वैदेशिक विभाग नहीं था परन्तु वे अपने पड़ोसी राज्यों के विषय में जानकारी प्राप्त करने का उद्योग करते थे। दिल्ली की सल्तनत की स्थापना और मंगोलों की शक्ति का मध्य तथा पश्चिमी एशिया में विस्तार समसामयिक घटनाएँ हैं। इसलिए दिल्ली के सुलतानों की वैदेशिक नीति में प्राय: दो सौ वर्ष तक पश्चिमोत्तर सीमा की रक्षा का सबसे अधिक महत्व रहा है। इसके अतिरिक्त दिल्ली के कुछ सुलतानों ने मक्का के शरीफ़, चीन के सम्राट् तथा मिस्र के शासक से भी सम्बन्ध स्थापित किया और शिष्टमण्डलों तथा भेंटों का आदान-प्रदान किया। मध्य एशिया के मुस्लिम राज्यों के विघटन के समय अनेक राजपुरुषों, विद्वानों तथा अनुभवी कर्मचारियों ने भारत में शरण ली और दिल्ली के सुलतानों ने मंगोलों के बैर की चिंता न करके उन सबके भरण-पोषण एवं निवास का प्रबन्ध किया। जिस खलीफ़ा को दिल्ली के सुलतान अपना वैधानिक प्रधान मानते थे उसके वंशज भी दिल्ली के सुलतानों के आश्रित होकर रहने लगे। भारत के भीतर उनकी वैदेशिक नीति का प्राय: एक ही उद्देश्य रहता था—सैनिक अथवा कूटनीतिक दबाव द्वारा अपने पड़ोसी राज्यों को करद सामंत बनाना अथवा उनका समूचा राज्य छीनकर उनके वंश का अंत कर देना। यह कार्य भी निरंतर चलता ही रहा क्योंकि स्थानीय हिन्दू नेताओं का कभी पूर्ण दमन नहीं किया जा सका। अब हम संक्षेप में सुलतानों की मंगोल, राजपूत एवं दक्षिण नीति की समीक्षा करेंगे।

सुलतानों की वैदेशिक नीति

मंगोलों का उद्देश्य समस्त एशिया तथा योरप पर छा जाने का था। योरप में उनको विशेष सफलता नहीं मिली परन्तु एशिया में उनका प्रभाव बहुत व्यापक एवं दीर्घकालीन रहा। १३वीं शताब्दी के आरम्भ से १४वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक उनकी शक्ति काफी प्रबल रही और इस काल में उन्होंने भारत-विजय के अनेक उद्योग किये। इल्तुतमिश के समय में जो मंगोल भारत आये वे चंगेज के आदेशानुसार आये थे यद्यपि वह स्वयं यहाँ नहीं आया। उसकी मृत्यु के बाद फारस अथवा मध्य एशिया के वे मंगोल शासक जिनका अधिकार अफ़गानिस्तान पर होता था भारत पर आक्रमण करते रहते थे। इन

मंगोलों से संबंध

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आक्रमणों का सबसे अधिक वेग इलबरी और खिलजी सुलतानों के समय में रहा। परन्तु कभी-कभी मंगोल नेता भारत के तुर्क शासकों के पास अपने दूत भी भेजते थे जैसा कि नासिरुद्दीन महमूद और मुहम्मद बिन तुग़लक के समय में हुआ। कभी-कभी वे लोग सुलतानों के असंतुष्ट अमीरों को आश्रय देकर अथवा उनको अपनी अधीनता में लेकर भी अपनी शक्ति बढ़ाने की चेष्टा करते थे जैसा कि नासिरुद्दीन के समय में जलालुद्दीन, किशलूखां और शेरखाँ सुक़र से संबंधित घटनाओं से विदित होता है। जब मंगोलों का दक्षिणी सिंध तथा पश्चिमी पंजाब पर अधिकार हो गया तो उन्होंने वहाँ पर अपनी बस्तियाँ बसा दीं। कुछ मंगोल सैनिक बंदी प्राणदान पाने का आश्वासन मिलने पर इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेते थे और राजधानी दिल्ली में अथवा उसके निकट भी बस जाते थे। मंगोल आक्रमणों के नेता इन भारत-स्थित मंगोलों का उपयोग करने की चेष्टा करते थे। परन्तु अंततः मंगोल अपने उद्देश्य में सफल नहीं हुए और भारत में मंगोलों का राज्य स्थापित न हो सका।

इसका श्रेय सुलतानों की पश्चिमोत्तर सीमा की नीति को है। ऐबक ने ख्वारिज्म और ग़ोर के झगड़े से भारत को पृथक् रखकर भारतीय तुर्की सल्तनत की एक स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर दी और इस कारण ग़ोर राज्य के विघटन तथा ख्वारिज्म-साम्राज्य पर मंगोलों का अधिकार होने पर भारत पर अनिवार्यतः आक्रमण किये जाने का प्रश्न नहीं उठा। इल्तुतमिश ने धर्म का ध्यान न रखकर चंगेज़ के विरुद्ध जलालुद्दीन मंगबरनी को सहायता नहीं दी। इससे चंगेज़ इतना संतुष्ट हुआ कि उसने इल्तुतमिश से मैत्रीपूर्ण दौत्य-संबंध स्थापित किया और अपना सम्पूर्ण ध्यान ख्वारिज्म के पूर्ण विनाश में लगा दिया इल्तुतमिश के दुर्बल उत्तराधिकारियों के समय में मंगोलों ने सिंध तथा पंजाब के अधिकांश भाग पर अधिकार कर लिया और वे दिल्ली की ओर भी बढ़ने लगे। परन्तु उसी समय सल्तनत के इतिहास में बलबन ने पदार्पण किया। उसने सीमान्त दुर्गों को सुदृढ़ किया और रावी, चिनाव के पूर्व की ओर उच्छ, मुलतान, दिपालपुर, लाहौर के दुर्गों में सबल सैनिक चौकियाँ बिठा दीं। इस रक्षा-पंक्ति के और पूरब उसने सुन्नम, समाना, भटिण्डा तथा भटनेर में दूसरी रक्षा-पंक्ति बनाई और दिल्ली में बराबर एक सुदृढ़ तथा सुशिक्षित सेना रखी। उसने सैनिक प्रदर्शनों तथा वास्तविक युद्धों द्वारा दिल्ली की सेना के सबल होने का प्रमाण दिया और रक्षात्मक नीति अपनाते हुए मंगोलों को भारत के बाहर खदेड़ने की चेष्टा न करके केवल उनको और आगे बढ़ने से रोका। उसके प्रयत्नों का फल यह हुआ कि मंगोल रावी-चिनाब रक्षा-पंक्ति को भेद करके अपना राज्य और पूरब की ओर न बढ़ा सके। मंगोलो की सैनिक शक्ति के विरुद्ध यह पहली महत्व-पूर्ण विजय थी। उनकी बाढ़ को रोक देना ही एक महान् सफलता सिद्ध हुई क्योंकि भविष्य में उनका विरोध करने के लिए सुलतानों की शक्ति अधिक साधन-संपन्न हो

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गयी और स्वयं उनके भीतर अनेक दुर्गुण घर कर गये जिसके कारण उनका आतंक घट गया।

अलाउद्दीन खिलजी ने मंगोलों की न तो उपेक्षा की और न वह उनसे अति मात्रा में भीत हुआ। उसने दक्षिण से प्राप्त धन में अरकलीखाँ तथा राजा कर्ण बघेला की संपत्ति का संयोग करके राजकोष की अवस्था सुधार ली थी। इस धन से उसने एक विशाल सेना का संगठन किया। उसने उसके एक भाग को राजपूत राज्यों की विजय में लगाया और दूसरे भाग को सीमा-रक्षा का भार दिया। उसके राज्य-काल में मंगोल भारत में अपना राज्य स्थापित करने के लिये प्राणपण से चेष्टा कर रहे थे और लूट-मार में समय एवं शक्ति का अपव्यय किये बिना बार-बार राजधानी के निकट आ धमकते थे। परन्तु अलाउद्दीन की रणवाहिनी उनको बार-बार न केवल पीछे ढकेलती रहती थी वरन् उनमें से हजारों सैनिकों एवं अफसरों को बन्दी बना-कर सुलतान की सेवा में भेजती थी और वह उन्हें क्रूर यातनाएँ देकर मरवा देता था। उत्तर भारत की विजय और दाऊद की मृत्यु के बाद अलाउद्दीन ने मंगोलों के विरुद्ध आक्रमणात्मक रणपद्धति अपनाई और ग़ाज़ी मलिक ने प्रतिवर्ष उनके राज्य में घुस-घुस कर उनको ऐसा तंग किया कि उन्होंने फिर कभी भारत पर आक्रमण नहीं किया।

मुहम्मद बिन तुग़लक के समय में तरमशीरीं के साथ मित्रता का संबंध स्थापित हो गया और दोनों एक दूसरे के शत्रुओं के विरुद्ध सहायता देने लगे। मुहम्मद बिन तुग़लक ने तरमशीरीं को इलखानों के विरुद्ध सहायता दी और बाद में खुरासान पर संयुक्त आक्रमण की योजना बनाई: इसी भांति तग़ी के विरुद्ध युद्ध करते समय मुहम्मद को मंगोलों ने सहायता दी। इसके बाद मध्य एशिया में मंगोलों की शक्ति घटने लगी और भारत में सल्तनत का पतन आरम्भ हुआ। उस समय अमीर तैमूर ने मंगोलों के राज्य का बहुत-सा भाग छीन लिया और फिर उसने उनकी पिछली नीति का अनुकरण करते हुए भारत पर आक्रमण किया। परन्तु जैसा कि हम पहले देख चुके हैं उसने यहाँ राज्य स्थापित करने की चेष्टा नहीं की।

दिल्ली के सुलतान की दूसरी प्रमुख समस्या राजपूतों के दमन की थी। तुर्कों ने राजपूतों को हटा कर अपना शासन स्थापित किया था। शहाबुद्दीन ने दिल्ली-अजमेर पर अधिकार करने के स्थान पर पहले उन्हें क्रमश: तोमर एवं चौहान राजपूतों को दे दिया था और उनको केवल अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया था। क़ुत्बुद्दीन ने चंदेलों तथा गहड़वालों के विरुद्ध भी पहले इसी नीति का अनुसरण किया था क्योंकि यथार्थवादी नेता होने के कारण वे दोनों जानते थे कि राजपूतों को समूल नष्ट करके विशुद्ध तुर्की शासन स्थापित करने की शक्ति उनमें नहीं है। भविष्य में अलाउद्दीन

राजपूत नीति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खिलजी ने भी जालौर तथा सिवाना के राजाओं को करद सामंत बनाने की नीति अपनाई थी। परन्तु यह प्रयोग सफल नहीं हुआ। राजपूतों ने इस व्यवहार को तुर्क की कृपा न समझ कर उसकी दुर्बलता का परिचायक समझा। फलत: राजपूत राजवंशों के सदस्य अथवा उनके सामंत सदा इस ताक में रहते थे कि कब सुलतान दुर्बल हो और वे उसके आधिपत्य को नकार कर स्वतंत्र शासक बनें। इस कारण एक ओर राजपूतों के बराबर विद्रोह होते रहे और दूसरी ओर तुर्क सुलतानों ने शक्ति संचय करने पर धीरे-धीरे इन राजवंशों को एक-एक करके समाप्त करना आरम्भ किया और उनके समस्त राज्य में अपने अनुचर नियुक्त कर दिये। इस भांति तुर्क सुलतानों तथा राजपूत राजाओं और सामंतों का स्वाभाविक संबंध शत्रुता का था और प्रत्येक समझौता करने के स्थान पर एक दूसरे के विनाश की ही कामना करता था। इस संबंध में अलाउद्दीन की नीति कुछ भिन्न थी क्योंकि उसने मालदेव, कान्हरदेव, रामचन्द्रदेव तथा वीर बल्लाल तृतीय के साथ सामान्य से अधिक अच्छा व्यवहार किया था। उसने राजपूतनियों से अपना तथा युवराज का विवाह किया और इन पत्नियों को रनवास में सम्मानित पद दिया। मरते समय उसने राजपूतनी के पुत्र को ही अपना उत्तराधिकारी भी घोषित किया। उसकी मृत्यु के बाद राजपूताना फिर स्वतंत्र हो गया और सैय्यद सुलतानों के समय में दोआब तथा मेवात में भी हिन्दुओं के प्रचण्ड विद्रोह आरम्भ हो गये। अफ़ग़ानों ने जब पहले पहल साम्राज्य स्थापित किया और उन्हें शर्कियों तथा अन्य तुर्कों के विरोध का सामना करना पड़ा तो उन्होंने राजपूत सामंतों से अपेक्षाकृत उदारता का व्यवहार किया और उनको नाम-मात्र की अधीनता स्वीकार कर लेने पर अपने-अपने क्षेत्रों में शासन करने दिया। बाबर ने लोदी शासक पर आक्रमण करने का विचार इस कारण और भी दृढ़ किया क्योंकि राजपूतों के सर्वश्रेष्ठ शासक राजा संग्रामसिंह ने उसके साथ सहयोग करने का वचन दिया था। परन्तु जब उसने राणा को सहयोगशील नहीं पाया तब उन दोनों में एक निर्णायक युद्ध हुआ। उसके बाद उसके पुत्र हुमायूं ने अवसर पाने पर भी समय रहते राजपूतों से मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित नहीं किया और इस कारण उसे अपने राज्य-सिंहासन से हाथ धोना पड़ा। इस भांति इस काल में राजपूतों के विरोध को समाप्त करने के लिए कोई संतोषजनक समाधान नहीं निकला और सल्तनत के विघटन में राजपूतों के विरोध ने भी योगदान किया।

दिल्ली के सुलतानों ने उत्तर भारत की विजय संपन्न करने के पश्चात् दक्षिण को भी अपने वश में करने की चेष्टा की। इस कार्य का श्रीगणेश अलाउद्दीन ने किया।

दक्षिण-नीति

पहले वह केवल धन के लालच से दक्षिण गया था। परन्तु जब उसने वहाँ के शासकों की दुर्बलता एवं संपत्ति का व्यक्तिगत अनुभव प्राप्त किया तब उसकी इच्छा और अधिक धन प्राप्त करने की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुई। उसने मंगोलों तथा राजपूतों के विरुद्ध युद्ध करने में बहुत व्यय किया था और फिर भी उसे यथेष्ट सफलता नहीं मिली थी। वह चाहता था कि सेना में और विस्तार करे। शायद इसीलिये उसने १३०२ ई० में दक्षिण-विजय के लिए एक सेना भेजी। परन्तु यह असफल होकर लौट आई। इसके बाद उसने ५ वर्ष तक प्रतीक्षा की और जब मंगोलों के आक्रमण दुर्बल पड़ने लगे तथा राजपूतों के प्रायः समस्त राज्य जीत लिये गये तब उसने दक्षिण-विजय के लिए फिर सेना भेजी। काफ़ूर ने तीन आक्रमणों में प्रायः समस्त दक्षिण भारत रौंद डाला और वहाँ से अतुल धनराशि लाया। अलाउद्दीन इससे बहुत प्रसन्न हुआ। परन्तु उसने दक्षिण पर सीधा शासन स्थापित करने की भूल नहीं की यद्यपि उसने देखा था कि पुराने राजवंशों को बने रहने देने के कारण उसे दो बार विद्रोहों का सामना करना पड़ा था। वह जानता था कि दिल्ली से दक्षिण पर शासन कर सकना संभव न होगा। उसकी मृत्यु के बाद क़ुत्बुद्दीन मुबारकशाह ने सन् १३१८ ई० में दक्षिण के एक राज्य को अपने सीधे शासन में लिया। एक दृष्टि से यह उत्तर भारत वाली राजपूत नीति की ही पुनरावृत्ति थी। वहाँ पर भी पहले करद राजा रखने का उद्योग किया गया था परन्तु जब बराबर विद्रोह होने लगे तब उन राज्यों को तुर्की सल्तनत में मिला लिया गया। यही बात १३१८ ई० में देवगिरि के लगातार तीन शासकों के विद्रोह करने पर उस राज्य के विषय में हुई। तेलंगाना का काकतीय राजवंश भी इसी कारण से १३२३ ई० में समाप्त किया गया। उसके बाद दक्षिण भारत का इतना भाग सल्तनत के आधिपत्य में आ गया था कि उसमें विस्तार करने की इच्छा स्वाभाविक रूप से जाग उठी। फलतः मुहम्मद बिन तुग़लक के समय में इस राज्य की सीमा में और भी विस्तार हुआ। अब अनागोण्डी, द्वारसमुद्र तथा मदुरा पर भी अधिकार कर लिया गया।

परन्तु इसी समय से दक्षिण-विजय के कुपरिणाम प्रकट होने लगे। सुलतान ने इस नव-विजित राज्य को पूर्णतया अधीन बनाने के लिए देवगिरि को राजधानी बनाया और अनेक महत्वाकांक्षी परदेशी अमीरों को वहाँ नियुक्त किया। दक्षिण का कुछ ऐसा प्रभाव था कि वहाँ पर जो व्यक्ति भी भेजा जाता था और सफलता प्राप्त कर लेता था वही विद्रोही भावनाओं से प्रेरित होने लगता था। अलाउद्दीन खिलजी, मलिक काफ़ूर, ख़ुसरोख़ाँ, उलुग़ख़ाँ, बहाउद्दीन गुर्शस्प तथा जलालुद्दीन अहसनशाह के कार्यों से इस मत की पुष्टि होती है। दक्षिण भारत के हिन्दुओं की स्वतंत्रता का विनाश हुए अभी थोड़ा ी समय बीता था। उनके सभी नेता नष्ट नहीं हुए थे। उन्होंने जब दक्षिण के तुर्क शासकों में स्वार्थ और फूट के चिन्ह देखे तब वे भी अपने राजवंश स्थापित करने की तैयारी में लग गये। सुलतान मुहम्मद बिन तु लक इस विस्फोटक स्थिति का सामना नहीं कर सका और सन् १३३५ तथा १३४७ के बीच में समस्त दक्षिण स्वतंत्र हो गया

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और वहाँ दो हिन्दू तथा दो मुसलमान रियासतें स्थापित हो गईं। मुहम्मद के उत्तराधिकारियों में उत्तर भारत को भी वश में रखने की क्षमता नहीं थी। इस कारण उन्होंने दक्षिण के राज्यों से कोई युद्ध नहीं किये।

सुलतानों की दक्षिण नीति के कई महत्वपूर्ण परिणाम हुए। दक्षिण भारत में संचित धन तथा रत्न-राशि उत्तर भारत चली गई जिसकी सहायता से सुलतानों ने साम्राज्य विस्तार, शासन सुधार एवं कला तथा साहित्य के प्रोत्साहन की विशाल योजनाएँ बनाने तथा कार्यान्वित करने का साहस किया। दक्षिण भारत में इस्लाम का प्रचार बढ़ गया और मदुरा तथा गुलबर्गा के सुलतानों के उद्योग से इस्लामी संस्कृति का दक्षिण में प्रसार हो गया। उत्तर तथा दक्षिण भारत निकटतर सम्पर्क में आ गये और इसका प्रभाव दोनों ही क्षेत्रों के सामाजिक तथा धार्मिक जीवन पर पड़ा।

सैनिक संगठन

सुलतानों का अधिकांश समय युद्ध अथवा उसकी चिन्ता करने में बीतता था क्योंकि उन्हें वाह्य शत्रुओं तथा आन्तरिक विद्रोहियों से बराबर लोहा लेना पड़ता था। यदि इन दोनों ही दिशाओं से उनको कुछ शान्ति मिलती तो उनकी महत्वाकांक्षा उनको विजयकार्य की ओर प्रेरित करती। अस्तु, सुलतानों का जीवन प्रधानतः सैनिक वातावरण में बीतता था और इसकी छाप उनके शासन पर भी लग गई। इसी कारण उनके शासन को सैनिकता पर आधारित धर्म-सापेक्ष निरंकुश राजतंत्र कहते हैं।

योग्य सुलतानों ने अपनी सेना को सबल एवं सुसंगठित रखने के लिए अनेक उपाय किये परन्तु उनको इनमें विशेष सफलता नहीं मिली। उनकी सेना में सबसे अधिक महत्व घुड़सवारों का था। इसके अतिरिक्त उनके पास एक हस्तिदल तथा पैदल सेना भी रहती थी। विभिन्न कोटि के साधारण सैनिक को क्या वेतन मिलता था, उसके ऊपर अफसरों की श्रेणियाँ क्या थीं, इन सैनिक पदाधिकारियों के वेतन-भत्ते आदि की दर क्या थीं, तथा विभिन्न सुलतानों के समय में प्रत्येक वर्ग के सैनिकों की संख्या क्या थी—यह सब अनिश्चित अथवा अज्ञात है। इस संबंध में जो ज्ञान प्राप्त है उसके आधार पर केवल कुछ ही बातें कही जा सकती हैं। सेना-विभाग का प्रधान आरिज़-ए-मुमालिक होता था और प्रान्तों में उसी के समान प्रान्तीय आरिज़ होते थे। ये लोग सेना के संगठन, संचालन, अनुशासन नियंत्रण आदि की व्यवस्था करते थे। सेना में कभी-कभी नक़द वेतन दिया जाता था परन्तु सैनिक पदाधिकारियों को बहुधा जागीरें दी जाती थीं। सेना में जो सैनिक भर्ती किये जाते थे तथा उनके अश्वों का विवरण लिख लिया जाता था और समय-समय पर उनकी जाँच करके ही सैनिक को वेतन दिया जाता था। घोड़ों को दगवाने की प्रथा भी चलाई गई थी परन्तु इसके बावजूद हमेशा घोड़े ठीक नहीं होते थे और घूस का उपयोग करके नियमों का उल्लंघन करना कठिन नहीं था। सैनिकों को आराम से खाने-पहनने के लिए पर्याप्त वेतन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिलता था और युद्ध के समय लूट के सामान का पंचमांश भी मिलता था। सेना में बाबर के आने के पूर्व तोपें नहीं थीं, केवल पत्थर फेंकने वाली मशीनें थीं। सेना को नियमित क़वायद कराने और नूतन रण-नीतियों का अनुसंधान करने की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। कुछ सुलतान सेना को चुस्त रखने के लिए शिकार खेलने जाया करते थे। सैनिक प्रायः सुलतान के सेवक समझे जाते थे परन्तु जहाँ जागीर प्रथा का चलन होता था वहाँ राजभक्ति की भावना शिथिल पड़ने लगती थी। स्थानीय नेताओं की ओर सैनिक का विशेष आकर्षण होता था और इसलिए वे स्थानीय नेता के विद्रोह करने पर प्रायः सर्वदा ही उसका साथ देते थे। राजपूत राजाओं की सेना की अपेक्षा यह सेना प्रायः अधिक कुशल होती थी परन्तु मंगोलों अथवा विदेशी सेनाओं की तुलना में यह घट कर सिद्ध होती थी।

सुलतानों को अपनी सेना के ऊपर बहुत अधिक धन व्यय करना पड़ता था। राज-दरबार, राजमहल तथा राजा के व्यक्तिगत सेवकों पर भी राज्य की आय का काफी अंश खर्च होता था। इनके अतिरिक्त केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय शासन के कर्मचारियों के वेतन भत्त आदि का भी प्रबन्ध करना होता था। इन सब की पूर्ति के लिए सुलतान मुख्यतः दो प्रकार के कर लगाते थे--(१) धार्मिक कर (२) सामान्य कर।

राजकर

धार्मिक कर का सामूहिक नाम था ज़कात। यह कर केवल मुसलमानों से लिया जाता था। नियमतः यह मुस्लिम जनता का कर्त्तव्य है कि वह स्वेच्छा से अपने निर्धन तथा असहाय भाइयों की सहायता के लिए अपनी संपत्ति का कुछ भाग दे। देश की सरकार ज़कात इसीलिए माँगती है ताकि जनता को इस कर्तव्य-पालन में सुविधा हो। अतः ज़कात की वसूली में बल का प्रयोग करना धर्म-विरुद्ध है। ज़कात का प्रयोग मुख्यतः तीन विभिन्न अर्थों में किया गया है—(१) संपत्ति कर, (२) भूमि कर, (३) आयात-निर्यात कर अर्थात् व्यापारी वस्तुओं की चुंगी।

(१) ज़कात

सम्पत्ति के विषय में दो शर्तें पूरी होने पर ही कर देना पड़ता था—(१) संबंधित व्यक्ति के पास वह सम्पत्ति पूरे एक वर्ष रहने पर ही वर्ष के अन्त में कर देना आवश्यक होता था, (२) यह सम्पत्ति एक निर्धारित परिमाण से अधिक हो। इस न्यूनतम परिमाण को निसाब कहते थे। विभिन्न वस्तुओं के लिए विद्वानों ने पृथक-पृथक् निसाब निर्धारित किये हैं। अनिवार्य आवश्यकता की वस्तुओं पर ज़कात नहीं देना पड़ता था। इस श्रेणी में निवास-गृह व्यवहार के वस्त्र पठन-पाठन में उपयोग की जाने वाली पुस्तकें, परिवार के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त अन्न, सेवाकार्य के लिए रखे गए दास, घर की सजावट में उपयुक्त सामान्य वस्तुएँ आदि आती थीं। कुछ लोग इस कर से बचने के लिए साल समाप्त होने के पूर्व अपनी सब सम्पत्ति अपनी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पत्नी अथवा परिवार के किसी अन्य व्यक्ति के नाम कर देते थे और अगले वर्ष फिर अपने नाम में वापस ले लेते थे। परन्तु यह कार्य निन्दनीय समझा जाता था।

एक नियम यह भी था कि जकात देने का पुण्य उसी को मिलेगा जो इसका महत्व समझता है और जिसकी सम्पत्ति पर किसी अन्य का कोई अधिकार नहीं है। इसलिए विधर्मियों, शिशुओं, पागलों, दासों आदि से यह कर नहीं लिया जाता था।

जिनसे यह कर लिया जाता था उनको अपनी सम्पत्ति का २½% देना पड़ता था। आयात-निर्यात कर के विषय में यह नियम था कि सभी वस्तुओं के मूल्य का २½% कर दिया जाय। परन्तु घोड़ों के ऊपर ५% कर लिया जाता था। भूमिकर के सम्बन्ध में यह नियम था कि जिस भूमि से कभी खराज न लिया गया हो और वह मुस्लिम किसानों के अधिकार में हो तो उससे प्राकृतिक साधनों से सिंचाई होने पर उपज का १०% और कुएँ आदि से सिंचाई होने पर ५% कर लिया जाय। इस प्रकार प्राप्त धन केवल धार्मिक कार्यों में ही व्यय करना उचित था। इसलिए प्रायः यह धन एक पृथक् कोष में जमा किया जाता था और प्रधान सद्र का विभाग इसी धन के व्यय का नियंत्रण करता था।

(२) जज़िया

सामान्य करों के अन्तर्गत जज़िया, खम्स और खराज आते हैं। जज़िया केवल विधर्मियों से लिया जाता था। कुछ विद्वानों के मत में मूर्ति-पूजकों को राज्य में किसी भी दशा में प्रश्रय नहीं देना चाहिए। उनको इस्लाम धर्म स्वीकार करने की सुविधा देना चाहिए और यदि वे इससे लाभ न उठावें तो उनका बध कर देना चाहिए। परन्तु भारतवर्ष में किसी मुसलमान शासक ने इस नियम को नहीं माना। यहाँ पर मूर्तिपूजकों को जज़िया देने पर जीवित रहने का अधिकार दिया गया। विधर्मी देश पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् इस्लामी शासक का यह कर्त्तव्य था कि वह उन विधर्मियों को अपने संरक्षण में ले ले जो राज्य द्वारा लगाये जाने वाले कर देने को प्रस्तुत हों। इनको ज़िम्मी कहते थे। ज़िम्मियों के जीवन, सम्पत्ति तथा सम्मान की रक्षा का दायित्व मुस्लिम सरकार ले लेती थी और इसके बदले वह उनसे जज़िया नामक कर वसूल करती थी। अरबों का कहना था कि ज़िम्मी को इस्लामी सेना में स्थान नहीं दिया जा सकता क्योंकि इस्लाम की उन्नति में हार्दिक सहयोग करने की आशा उससे नहीं की जा सकती। सैनिक सेवा केवल प्रत्येक मुसलमान का कर्तव्य है। इस सेवा से मुक्ति पाने के बदले में उसे धन देना चाहिए। यही है जज़िया। परन्तु आगे चलकर मुस्लिम विद्वानों ने जो मत प्रकट किये हैं उनसे यही विदित होता है कि जज़िया एक प्रकार का दण्ड है जो विधर्मी को उसके धार्मिक विश्वास के कारण भोगना पड़ता है। साधारणतः उसे इस्लाम स्वीकार न करने पर मार देना चाहिए था। ऐसा न करके उसकी प्राण-रक्षा, सम्पत्ति-रक्षा आदि के लिए उससे जज़िया लेना चाहिए। भारतवर्ष में पागल,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अल्पवयस्क, नारी, भिखारी, साधु तथा पुरोहित इस कर से मुक्त थे। ब्राह्मणों को संभवतः पुरोहित वर्ग के अन्तर्गत समझ कर इस कर से मुक्त कर दिया गया था। परन्तु फ़ीरोज़ तुग़लक़ ने उनसे भी कर लिया था।

जज़िया देने वालों को तीन श्रेणी में बाँटा जाता था। धनी वर्ग से ४० टंक, मध्यम श्रेणी वालों से २० टंक तथा साधारण लोगों से १० टंक प्रतिवर्ष प्रति व्यक्ति के हिसाब से जज़िया लिया जाता था।

ऐसा प्रतीत होता है कि शायद सम्पूर्ण प्रजा से यह कर उगाहना दुर्लभ था। फ़ीरोज़ ने ब्राह्मणों पर जज़िया लगाया और उन्होंने अनशन किया तब दिल्ली-निवासी धनी हिन्दुओं ने उनकी ओर से कर चुकाने का वादा करके उनके प्राण बचाये। इस विवरण से यह ध्वनि निकलती है कि शायद दिल्ली के ही ब्राह्मणों से जज़िया माँगा गया था क्योंकि साम्राज्य भर के ब्राह्मणों को ओर से दिल्लीवासी हिन्दुओं द्वारा कर चुकाना सम्भव न होता। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि शायद नगरों से ही साधारणतः जज़िया लिया जाता था क्योंकि वहाँ सुलतानों का पूर्ण अधिकार था। देहाती जनता से जज़िया वसूल करने की चेष्टा करने में भीषण विद्रोह की आशंका हो सकती थी। कुछ विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया है कि अलाउद्दीन ने शायद जज़िया लिया ही नहीं और उसके बदले में भूमिकर की दर बढ़ा दी। परन्तु समकालीन इतिहासकारों ने जज़िया बन्द किये जाने का कोई उल्लेख नहीं किया। निश्चित आँकड़े प्राप्त न होने की वजह से यह ठीक-ठीक अनुमान लगाना असम्भव है कि सचमुच जज़िया किन-किन क्षेत्रों से वसूल किया जाता था।

राज्य की आय का तीसरा साधन था लूट तथा भूगर्भ की सम्पत्ति पर कर। इसे खम्स कहते थे। नियमतः लूट के सामान का पंचमांश राज्य को लेना चाहिए और शेष भाग सैनिकों में बाँट देना चाहिए। परन्तु फ़ीरोज़ के अतिरिक्त

(३) खम्स

शायद अन्य सभी भारतीय शासक स्वयं ८०% लेकर सैनिकों को केवल पंचमांश देते थे। इसी प्रकार खानों तथा गड़े हुए धन का पता लगाने वालों से भी आय का १/५ लेने की प्रथा थी। परन्तु संभवतः यहाँ भी सरकार खोजने वाले को पंचमांश देकर शेष सब स्वयं लेती थी। सिकन्दर लोदी के विषय में लिखा मिलता है कि वह गड़े हुए धन का कोई भाग नहीं लेता था और कहता था कि खुदा ने जिसे वह धन दिया है वहीं उसके उचित व्यय का भार वहन करे।

ग़ैर-मुस्लिम किसानों से जो भूमिकर लिया जाता था उसे खराज कहते थे। बाद में यह परिपाटी चल गई थी कि खराज देने वाली भूमि को यदि मुसलमान जोते तो उससे भी खराज लेना चाहिए। यह शायद इसलिए किया गया था

(४) खराज

जिससे बहुसंख्यक धर्म-परिवर्तनों के कारण राज्य की आय एकदम घट न जाय। भूमिकर प्रायः उपज के १/३ से कम और १/२ से अधिक नहीं लिया जाता

२४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। केवल अलाउद्दीन खिलजी और मुहम्मद बिन तुग़लक़ ने साम्राज्य के कुछ भागों से उपज का १/२ भूमि-कर लिया था। शेष सभी ने एक तिहाई कर लिया था। प्रोफेसर क़ुरेशी का मत है कि साधारणतः २०% भूमि-कर लिया जाता था और केवल अलाउद्दीन ने ५०% कर लिया था। परन्तु उनके तर्कों में विशेष बल नहीं है और न उन्होंने इसी का कोई संतोषजनक उत्तर दिया है कि २५०% कर वृद्धि होने पर अलाउद्दीन के समय में विद्रोह क्यों नहीं हुआ जब कि मुहम्मद बिन तुग़लक़ के समय में केवल २०% के स्थान पर २५% कर लेने के कारण सार्वजनिक विरोध हुआ और किसानों ने कृषि बन्द करके जंगलों में शरण ली। अस्तु, अधिक ग्राह्य मत यही है कि सामान्य दर ३३% थी और विशेष अवसरों पर वह बढ़ा कर ५०% कर दी गई थी।

भूमि-कर निश्चित करने का आधार क्षेत्रफल तथा उपज दोनों ही को रखा जाता था। परन्तु संभवतः बटाई की प्रथा का चलन अधिक था। अलाउद्दीन और मुहम्मद तुग़लक ने खेतो के क्षेत्रफल के आधार पर कर नियत करने का विशेष उद्योग किया था परन्तु इस दिशा में विशेष प्रगति नहीं हुई और न इसका कोई स्थायी प्रभाव ही पड़ा। फ़ीरोज़ और सिकन्दर लोदी के समय में भी एक प्रकार की नाप के आधार पर जागीरदारों से लिये जाने वाले कर को निश्चित करने का उल्लेख मिलता है। परन्तु इसका भी उल्लेख मिलता है कि सिकन्दर के समय में नाप के स्थान पर केवल अनुमान से आय लिख ली गई थी।

भूमि कर नकद सिक्कों में अथवा जिन्स के रूप में लिया जाता था। अलाउद्दीन खिलजी ने बाज़ार-नियंत्रण के संबंध में तथा इब्राहीम लोदी ने गल्ले की मंदी के कारण यह विशेष आदेश निकाला था कि लगान गल्ले के रूप में लिया जाय। इससे पता चलता है कि नकद सिक्कों में भूमि-कर देने का भी काफी आम रवाज रहा होगा।

शेरशाह सूरी के समय के पूर्व किसानों से सीधे कर वसूल करने की चेष्टा शायद नहीं की गई। कुछ भाग में राजपूत राजा तथा सामंत रहते थे जो अपनी सम्पूर्ण प्रजा की ओर से राज्य को भूमि-कर चुकाते थे। कुछ क्षेत्र में मुसलमानों की जागीरें रहती थीं। यहाँ से संबंधित अमीर कर उगाहते थे और उसे अपने व्यय में लगाते थे अथवा अपना वेतन काट कर शेष धन सरकारी कोष में जमा करते थे। शेष भाग सुलतान के सीधे अधिकार में था और इस क्षेत्र में लगान वसूल करने के लिए वैतनिक कर्मचारी रहते थे। परन्तु यह लोग किसानों से सम्पर्क न रखकर संभवतः मुकद्दमों, चौधरियों अथवा खेतों से कर वसूल करते थे और स्थानीय पटवारी की सहायता से ग्रामीण जनता से कर वसूल करने का दायित्व इन हिन्दू पदाधिकारियों पर रहता था। इनको कोई वेतन नहीं मिलता था परन्तु कुछ कमीशन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिलता था तथा इनको कुछ बेगार आदि के विशेष अधिकार भी रहते थे। इस काल में भूमि-कर प्रायः अधिक रहा और उसे देने के पश्चात् किसानों के पास कठिनाई से इतना बचता था कि वह अपने परिवार का भरण-पोषण कर सके। सुलतानों का विचार था कि अधिक धन होने पर हिन्दू विद्रोही हो जायँगे इसलिए उन पर कर का भार काफी रखना चाहिए।

(५) अन्य कर

इन चार करों के अतिरिक्त कुछ अन्य कर भी लिये जाते थे। फ़ीरोज़ तुग़लक ने उलमा की स्वीकृति लेकर १०% सिंचाई कर लगाया। जो किसान उस समय बनवाई हुई नहरों के जल से सिंचाई करते थे उनको यह कर अदा करना पड़ता था। अलाउद्दीन ने चराई कर तथा घरों के ऊपर भी कर लगाया था। फ़ीरोज़ ने ऐसे दो दर्जन करों का उल्लेख किया है जो उस समय प्रचलित थे परन्तु जिनको धर्म-विरुद्ध होने के कारण उसने बन्द कर दिया था। हिन्दुओं से आयात-निर्यात् कर मुसलमानों की अपेक्षा दूना लिया जाता था। इस साधन से भी काफी आय होती थी।

राज्य की सम्पूर्ण आय राजकोष में इकट्ठा होती थी। वज़ीर उसी के आधार पर विभिन्न विभागों के लिए धन निश्चित कर देता था। मुशरिफ़, मुस्तौफ़ी, नाज़िर और वक़ूफ की सहायता से इस धन के सदुपयोग की व्यवस्था की जाती थी। परन्तु आज-कल की तरह का आय-व्ययक उस समय नहीं बनता था और सुलतान का राजकोष पर पूरा अधिकार रहता था।

तुर्क शासन की समीक्षा

तुर्कों ने भारत में जिस शासन यंत्र का निर्माण किया उसमें अन्य गुण-दोष चाहे जो रहे हों परन्तु यह अवश्य है कि आदर्शवादिता के कारण वास्तविकता की उपेक्षा नहीं की गई। धार्मिक पक्षपात के आधार पर सरकारी नौकरियों, राजकरों, तथा साधारण नागरिक सुविधाओं में उन्होंने मुसलमान और गैर मुसलमान का जो अन्तर रखा था वह शायद उनकी सबसे बड़ी भूल थी। उन्होंने सिंध में स्थापित अरब शासन के समान भी उदारता नहीं दिखाई। इस कारण उनको मुसलमानों का समर्थन अवश्य प्राप्त हुआ परन्तु वे हिन्दुओं के हृदय पर अधिकार जमाने में असफल रहे। मुसलमानों को भी इस पक्षपात की नीति से केवल लाभ ही नहीं हुआ। कालान्तर में वे अहंकारी, दुर्व्यसनी, आलसी तथा पतित हो गये। यदि उनको हिन्दुओं के साथ समानता के आधार पर रहना होता तो उनका नैतिक तथा सामाजिक विकास न रुकता और वे पतन की ओर इतनी तेजी से न जाते। सुलतानों ने प्रान्तीय शासन को अच्छी तरह संगठित नहीं कर पाया और उनका प्रान्तों पर—विशेषकर दूरस्थ प्रान्तों पर—पर्याप्त नियंत्रण नहीं रहता था जिसके कारण बार-बार विद्रोह होते थे और सल्तनत की शक्ति में स्थायित्व का अभाव रहता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। उस समय घूस एवं भ्रष्टाचार के दोषों का उल्लेख मिलता है और अनेक कर्मचारी ऐसे थे जो सरकारी रुपया खा जाते थे। राजकरों को पूर्ण परिमाण में वसूल करना सुलतानों के लिए शायद कभी संभव नहीं हुआ यद्यपि अलाउद्दीन और मुहम्मद बिन तुग़लक ने इस दिशा में काफी सख्ती का व्यवहार किया। सुलतानों ने सार्वजनिक शिक्षा, आवागमन के साधनों, कृषि तथा उद्योग-व्यवसाय की उन्नति की ओर भी यथेष्ट ध्यान नहीं दिया। किसी सुलतान ने कृषि की उन्नति के लिए एक अमीर नियुक्त कर दिया अथवा कुछ नहरें खुदवा दीं या कुछ सड़कें बनवा दीं तो इन्हीं के आधार पर उसकी प्रशंसा के गीत गाये गये हैं। सुलतानों ने प्रायः सैनिक बल तथा मुसलमानों के समर्थन के आधार पर ही शासन करने की चेष्टा की। हिन्दुओं के संबंध में उनकी नीति नकारात्मक थी—ऐसा कोई कार्य न करना जिससे उनके विद्रोह होने लगें। परन्तु उनको संतुष्ट करने अथवा कृतज्ञता के आधार पर राजभक्त बनाने की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया गया। इस काल में जल्दी जल्दी राजवंशों के परिवर्तन का एक प्रधान कारण हिन्दुओं की उदासीनता अथवा क्रियात्मक विरोध भी है। परन्तु इन दोषों के बावजूद यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उन्होंने एक सु-संस्कृत, आत्माभिमानी तथा युद्धप्रिय जाति को वश में रखकर अपनी सत्ता स्थापित की और मुस्लिम संस्कृति तथा सभ्यता को विकसित होने का अवसर दिया। उन्होने मंगोल आक्रमणों का सफलता के साथ विरोध किया और एक बार उत्तर से दक्षिण एवं पूर्व से पश्चिम तक सम्पूर्ण भारत के राजाओं को पराजित किया तथा उनके गढ़ों पर अधिकार किया। अस्तु, उनकी सफलता उपेक्षणीय नहीं है।

सहायक ग्रंथ

१. क़ुरेशी—ऐडमिनिस्ट्रेशन आफ दी सल्तनेत आफ़ डेल्ही।
२. त्रिपाठी—सम ऐस्पेक्ट्स आफ मुस्लिम ऐडमिनिस्ट्रेशन।
३. एम० बी० अहमद—ऐडमिनिस्ट्रेशन आफ जस्टिस इन मेडीवल इण्डिया।
४. परमात्मा शरण—प्राविंशल गवर्नमेण्ट आफ दी मुग़ल्स।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१६

लोदीकालीन अफ़ग़ान शासन-व्यवस्था

लोदी सुलतानों ने केवल एक नये राजवंश की स्थापना ही नहीं की, वरंच उन्होंने तुर्की शासन-व्यवस्था में भी कुछ परिवर्तन किये। तुर्कों ने अपने ढाई सौ वर्ष के शासन-काल में जिस शासन-प्रणाली का विकास किया था उसमें इतनी दृढ़ता आ गयी थी कि लोदियों ने साधारणतः उसी को अपना लिया किन्तु उनका राजत्व-सिद्धान्त तुर्क सुलतानों के सिद्धान्त से काफी भिन्न था। तुर्क सुलतान, विशेषकर बलबन और अलाउद्दीन खिलजी के समय में, खूब शक्तिशाली निरंकुश शासक होता था जिसकी मर्यादा और प्रतिष्ठा चरम उत्कर्ष लाभ कर चुकी थी और जिसकी तुलना में स्थानीय सामंत आज्ञाकारी भृत्य से अधिक कुछ नहीं होते थे। लोदियों ने सामंतों का सम्मान इतना बढ़ा दिया कि उनका सुलतान क़बीले के नेता की तरह अर्थात् 'समानों में प्रधान' की तरह रह गया। बाद में इस नूतन प्रयोग की असुविधाएँ प्रगट होने लगीं और लोदी सुलतानों ने भी क्रमशः तुर्की आदर्श की ओर प्रगति करना चाही।

बहलोल-कालीन राजत्व-सिद्धान्त

अफ़ग़ानों ने तुर्कों से भिन्न व्यवस्था को इस कारण अपनाया था क्योंकि उन्हें लगता था कि इसमें अधिक सुविधा होगी। अफ़ग़ानों का सामाजिक संगठन क़बीले-वार था। अफ़ग़ानिस्तान के पहाड़ी दुर्गम अंचल में किसी केन्द्रीय सरकार का दृढतापूर्ण शासन स्थापित होना असंभव रहा था। फलतः उनका शासन क़बीलई प्रथा के अनुसार चलता रहा था। इस प्रथा में प्रत्येक अफ़ग़ान क़बीले का एक नेता होता था जिसे क़बीले के लोग स्वयं चुनते थे। इस नेता का क़बीले में खूब सम्मान रहता था किन्तु प्रत्येक क़बीले का सदस्य उसे अपने सामाजिक स्तर का समझता था और अनुभव करता था कि उसने नेता को प्रधान बनाया है केवल व्यवहारिक सुविधा के लिए। फलतः उसका

नूतन प्रयोग का प्रारंभ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थान राजपूत राजा अथवा तुर्क नेता की तरह न होकर 'समानों में प्रधान' का-सा रहता था। विभिन्न क़बीलों के नेता यदि कभी किसी को अपना सामूहिक नेता स्वीकार करते तो वह भी उसे तुर्की सुलतान के समान अत्यधिक महत्व नहीं देते थे और न कभी यही स्वीकार करते थे कि उनका अपने नेता के साथ स्वामी एवं भृत्य का संबंध है। अतएव अफ़ग़ान भावना ही तुर्की आदर्श के राजत्व में परिवर्तन कराने का मूल कारण बनी। इसके अतिरिक्त लोदी सुलतानों को अपनी शक्ति के लिए प्रधानतः अफ़ग़ानों पर ही निर्भर करना था क्योंकि साधारण लोगों की धारणा थी कि अफ़-ग़ान बड़े असभ्य और जंगली होते हैं जिसके कारण कोई तुर्क, मुग़ल या भारतीय मुसलमान अंतर से उनकी अधीनता स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं था। फलतः जब लोदियों ने देखा कि उन्हें किसी अन्य मुस्लिम वर्ग से सहयोग अथवा सहायता मिलना दुष्कर है तब वह अफ़ग़ानों को असंतुष्ट करने का दुःसाहस कैसे करते। यदि अफ़ग़ान अहंकार की तुष्टि के लिए उनके प्रधान नेताओं को केन्द्रीय सत्ता में साझीदार बनाना अनिवार्य हो तो लोदियों को यह करना ही पड़ेगा अन्यथा उनका राजत्व टिकेगा कैसे।

जब बहलोल दिल्ली का शासक हुआ तो उसे चतुर्दिक से इतनी विपत्तियों ने एक साथ आ घेरा कि उसने समझ लिया कि बिना अफ़ग़ानों के पूर्ण एवं निःसंकोच सहयोग के वह सफल नहीं हो सकेगा। उसने यह भी अनुभव किया कि अफ़ग़ानों का सहज सहयोग तभी मिलेगा जब वे यह अनुभव करें कि बहलोल की शक्ति बढ़ाने में वह साथ ही साथ अपनी मर्यादा और प्रतिष्ठा भी बढ़ा रहे हैं। अस्तु बहलोल के लिए व्याव-हारिक सुविधा का तक़ाज़ा यह था कि अफ़ग़ानों का सहयोग प्रायः उन्हीं की शर्तों पर स्वीकार किया जाय। इस भाँति क़बीलई शासन सिद्धान्त पर सुलतान की सरकारी मुहर लग गयी।

राजत्व सिद्धान्त पर क़बीलई प्रभाव

अतएव बहलोल अपने सामंतों के साथ बहुत विनम्रतापूर्ण व्यवहार का दिखावा करने लगा। वह सम्राटोचित गौरव-गरिमा का प्रदर्शन नहीं करता था। वह उनकी उपस्थिति में सिंहासन पर भी नहीं बैठता था और कहता था कि जगत जानता है कि वह सुलतान है यही यथेष्ट है। वह यह ढकोसला भी चलाता गया कि राज्य की व्यवस्था का दायित्व समस्त सामंतों की सभा के ऊपर है और इस कारण प्रत्येक सामंत विशेष मर्यादा का अधिकारी है। इसीलिए जब कभी बहलोल को सुनायी पड़ता कि कोई सामंत उससे असंतुष्ट हो गया है तो वह उसके घर जाता और उसके सामने अपनी तलवार रखते हुए कहता था कि यदि तुम मुझे इस पद के लिए उपयुक्त न समझते हो तो मेरे स्थान में किसी अन्य को नियुक्त कर दो और जो अन्य काम उचित समझो मुझे दे दो। इससे सामंतों को लगता था कि वे एक गणतंत्र के सदस्य हैं और स्वेच्छा से शासक को गद्दी देने या पदच्युत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने के अधिकारी हैं। इसी भाँति जब बहलोल उन्हें मसनद-ए-आली (महामाननीय) कहता तो उन्हें बहुत गौरव का अनुभव होता था। अस्तु बहलोल के समय में राजत्व का स्वरूप क़बीलई नेता के समान होने के तीन प्रधान कारण थे—(१) अफ़ग़ानों की अहंकार-विशिष्ट भावना, (२) राजनीतिक परिस्थिति एवं (३) बहलोल की सादगी-पसंद प्रवृत्ति।

अफ़ग़ान इतिहासकारों के विवरण से यह पता नहीं चलता कि बहलोल के काल में केन्द्रीय सरकार सुसंगठित हो चुकी थी। सुलतान और अधीन सामंतों के पारस्परिक संबंध के विषय में वे स्पष्टतः कुछ नहीं कहते। बहलोल की निर्लोभिता की प्रशंसा करते हुए यह कहा गया है कि उसने समस्त भूमि तथा सम्पत्ति अपने अनुगतों को बाँट दी थी और अपने लिए कुछ भी बचाकर नहीं रखा। इससे ऐसी ध्वनि निकलती है कि सामंत या तो कोई वार्षिक कर नहीं देते थे अथवा वह परिमाण में खूब स्वल्प होता था। इससे यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है कि अफ़ग़ान-राज्य में सुलतान और सामंत प्रभुता के समान अधिकारी थे। उनके पारस्परिक संपर्क का प्रधान आधार था सामंतों का सुलतान के निर्देश पर सामरिक सेवा अर्पण करने के लिए प्रस्तुत रहने का दायित्व। फलतः सामंत-वर्ग स्थानीय शासन में न्यूनाधिक प्रायः पूर्ण स्वायत्त का उपभोग करता रहा होगा और सुलतान तथा उसकी अधीनस्थ केंद्रीय सरकार के हाथ में केवल सार्वभौम महत्व के विषय, यथा वैदेशिक संबंध, सुरक्षा, मुद्रा और संभवतः न्याय रहे होंगे। अस्तु, यह सरकार बहुत कुछ आजकल की संघीय सरकार के समतुल्य प्रतीत होती है।

संघीय समतुल्यता

किन्तु इस व्यवस्था में कुछ भयंकर दोष निहित थे। इसके कारण ऐसी विघटनमूलक प्रवृत्तियाँ प्रगट हो सकती थीं जो राज्य की भित्ति को ही हिला दें। दूसरे, इसमें सामंतों की मर्यादा इतनी बढ़ गयी कि वे प्रायः सुलतान के समकक्ष हो गये और बेचारे सुलतान की ऐसी अधोगति हुई कि वह केवल प्रधान सामंत सा रह गया। इस भाँति इसने प्रबल केन्द्रीय शासन की जड़ ही काट दी यद्यपि प्रजातांत्रिक संस्थाओं तथा उदात्त एवं लोकहितकारी भावना-संपन्न सामंतशाही के अभाव में प्रबल केन्द्रीय शासन के बिना शांतिपूर्ण सुश्रृंखल शासन संभव ही नहीं था।

इसके दुर्गुण

यदि बहलोल युद्ध एवं विद्रोहों की लपटों में निरंतर घिरा न रहता तो शायद वही इस व्यवस्था में संशोधन करता। किन्तु उसे यह सुयोग ही नहीं मिला। उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी सुलतान सिकंदर को न केवल अधिक अवकाश मिला वरंच उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति भी राजत्व के ठाट-बाट की पोषक थी। उसके उत्तराधिकार का निर्णय करते समय कुछ सामंतों ने जो व्यवहार किया था उससे भी

सिकन्दर के समय के संशोधन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसने स्वायत्तपूर्ण स्वच्छंद सामंतशाही के भयंकर परिणामों का स्पष्ट परिचय पा लिया था। अस्तु सिकन्दर ने एक नयी नीति का सूत्रपात किया जिसका उद्देश्य था सामंतों की शक्ति को सीमित करके सुलतान की प्रभुता को पुष्ट करना। वह राजदर्बार में सिंहासन पर बैठता था। उसने सामंतों को अनुशासन में रखा और जब एक ने चौगान खेलते समय अभद्र व्यवहार किया तो उसने सबके सामने उसे लात मार कर ठंढा किया। उसने शाही फरमानों के विषय में एक नूतन परम्परा चलायी। उससे भी सम्राट् की मर्यादा बढ़ी। इस परम्परा के अनुसार जिसके पास फ़र्मान भेजा जाता था उसे ४–६ मील आगे जाकर फ़र्मान-वाहक सुलतान के सेवक एवं उसके सहचरों का स्वागत करना पड़ता था। अपने प्रधान नगर में पहुँचने पर स्थानीय सामंत फ़र्मान-वाहक को एक चबूतरे पर खड़ा करके स्वयं चबूतरे के नीचे खड़े होकर फ़र्मान ग्रहण करता था और उसे अपने मस्तक तथा अपनी चक्षुओं में स्पर्श कराके निर्देशानुसार सब के सामने अथवा एकांत में पढ़ता था। साधारणत: सिकंदर किसी सामंत की जागीर में उलट-फेर नहीं करता था किन्तु यदि राज-हित में उनका स्थानांतरण, निर्वासन, पदच्युति अथवा पदावनति आवश्यक हो तो वह यह सब करने में भी हिचकता नहीं था। उसने अर्थ-विभाग के संगठन में भी सुधार किया और प्रत्येक सामंत के हिसाब की कड़ाई से जाँच करायी तथा उनको नियमित कर देने के लिए बाध्य किया। धीरे-धीरे उसने ऐसा प्रभुत्व स्थापित कर लिया कि उसे विश्वास हो गया कि यदि वह अपने किसी दास को भी पालकी पर बिठा दे और सामंतों को उसकी ताज़ीम (सन्मान-प्रदर्शन) का निर्देश दे तो वे बिना द्विधा के उसका पालन करेंगे।

उपरोक्त परिवर्तन कर लेने पर भी वह बहलोल के कार्य को पूर्णत: उलट नहीं सका। अफ़ग़ानों की साधारण क़बीलई व्यवस्था पहले जैसी ही बनी रही। कुछ पदों को उसने वंशानुगत कर दिया अथवा जो पहले से वंशानुगत हो चुके थे उनमें कोई परिवर्तन नहीं किया। श्रेष्ठता-सूचक विरुदों की संख्या बढ़ा दी गयी और अब खानजहाँ, खान-खानाँ, आज़म हुमायूँ, खान आज़म आदि विरुदधारी व्यक्ति सारे राज्य में एक-एक न रह कर प्रत्येक प्रमुख क़बीले में होने लगे यथा लोदी, फ़र्मुली, नूहानी क़बीले में। इसके अतिरिक्त वह खेल के मैदान, शिकारगाह और सैनिक तम्बुओं में उनके साथ अंतरंग साथियों का-सा व्यवहार करता था। यदि परिस्थिति को वश में रखने के लिए आवश्यक प्रतीत हो तो षड्यंत्र, अनुशासनहीनता, एवं आदेश की अवहेलना को भी तरह दे देता था। अस्तु सिकंदर के समय में सुलतान का पद और महत्व तुर्की सुलतान और बहलोलकालीन क़बीलई-विशिष्ट संघीय राजत्व के बीच की स्थिति में रहा।

सामंतों को संतुष्ट करने के साधन

जब सिकन्दर का स्थान उसके पुत्र इब्राहीम लोदी ने ग्रहण किया तब तुर्की सुलतान

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के आदर्श का पूर्णतर अनुकरण करने की प्रवृत्ति हठात् प्रबल वेग से फूट पड़ी। उसने नया सिद्धान्त घोषित करते हुए कहा कि सम्राट् का कोई सगा-संबंधी नहीं होता अतएव कोई भी सामंत सुलतान के साथ अंतरंगता का व्यवहार करने का अधिकारी नहीं हो सकता। जब सामंत दर्बार में आते तो वह उनको हाथ बाँधे खड़ा रखता था। अफ़ग़ानों को इस व्यवहार से बहुत ठेस लगती थी और उनको लगता था कि उनकी मर्यादा धूलि-सात् हुई जा रही है किन्तु इब्राहीम आदेश-पालन कराने पर तुला हुआ था भलेही इसके कारण उसके सामंत विदेशी आक्रमणकारी के तलवे चाटने लगें। सिकंदर ने अनेक अवसरों पर षड्यंत्र करने वालों के अपराध की भी उपेक्षा कर दी थी किन्तु इब्राहीम जिन पर विद्रोह का संदेह मात्र होता था उन्हें भी बंदीगृह में डलवा देता और उनको यातनायें देकर अन्य विद्रोहियों के विषय में सूचना प्राप्त करने की चेष्टा करता था। उसने मियाँ भुआ ऐसे परम लब्धप्रतिष्ठ व्यक्ति को भी केवल इस कारण बंदीगृह में भेज दिया क्योंकि उसने सम्राट् के आदेशों का अक्षरशः पालन नहीं किया था और उसकी मर्यादा का उचित ध्यान नहीं रखा था। उसके शासन-काल में सुल-तान की गौरव-गरिमा इतनी बढ़ी कि शाही तम्बू तक को सुलतान के समान सन्मान दिखाना पड़ता था और सलामी देनी पड़ती थी।

इब्राहीम लोदी की नीति

इब्राहीम की नीति के भयंकर परिणाम हुए। सामंत स्वामी और भृत्य का संबंध स्वीकार करने को सहसा प्रस्तुत नहीं थे। उत्तराधिकार के झगड़े को सुलझाने के बहाने साम्राज्य-विभाजन के प्रस्ताव से उनके अहंकारजनित विरोध की अभिव्यक्ति हुई। स्वार्थ की मदांधता और सम्राट् की उग्रता से रुष्ट होकर उन्होंने विरोध को प्रोत्साहन दिया, विद्रोहों का सृजन किया और अंत में देश के प्रति राजद्रोह करते हुए एक विदेशी आक्र-मणकारी को आमंत्रित किया। उन्हें उस समय यह संदेह भी नहीं था कि जिसे वे सम्राट् को गद्दी से उतारने के लिए बुला रहे हैं वह उनके अहंकार और हेकड़ी को भी चकनाचूर कर देगा। इस भाँति इब्राहीम लोदी की नीति न केवल उसके लिए वरंच सम्पूर्ण अफ़ग़ान जाति के लिए विनाशकारी सिद्ध हुई। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि उसके समय की घटनाओं से शिक्षा लेकर शेरशाह और इस्लामशाह ने थोड़ी सतर्कता बरती जिसके कारण उसी नीति का अनुशीलन करके उन्होंने लाभ उठाया।

इब्राहीम की नीति के परिणाम

अफ़ग़ानों ने उत्तराधिकार के निर्णय में भी एक नयी नीति का प्रचलन किया। तुर्कों ने कोई निश्चित नियम पालन नहीं किया था और उनके काल में दास और स्वतंत्र व्यक्ति, बच्चे और वयस्क, पुरुष एवं नारी, तुर्क, नौमुस्लिम एवं हिन्दू-मुस्लिम वर्णसंकर सभी ने राजपद प्राप्त किया था। उनके समय में निर्वाचन, मनोनयन, सफल क्रांति अथवा वंशा-

उत्तराधिकार का प्रश्न

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नुगत अधिकार सभी का कभी-न-कभी उपयोग हुआ था। किन्तु साधारणतः उनकी प्रवृत्ति दिवंगत सुलतान के वयस्क पुत्र अथवा किसी वयस्क निकट संबंधी को चुनने की रही थी। पिछला सुलतान यदि किसी को नामज़द कर देता था तो उस व्यक्ति का उत्तराधिकारी होना बहुधा सहज होता था। चुनाव का अर्थ प्रायः यह समझा जाता था कि जनता नूतन सुलतान के नाम को ख़ुतबे में रखने का विरोध न करे। अतएव इस दिशा में तुर्कों से कोई निश्चित पथप्रदर्शन पाना संभव नहीं था। अतएव लोदियों को अपनी परम्पराओं और अनुभूतियों का ही सहारा लेना पड़ा। अफ़ग़ानिस्तान के क़बीलई क्षेत्र में परिपाटी यह थी कि क़बीले का प्रत्येक वयस्क व्यक्ति अपने क़बीले के नेता के चुनाव में भाग लेता था किन्तु वह केवल एक अथवा एकाधिक वंश-विशेष से ही नेता को चुन सकता था। दिल्ली के सुलतान के निर्वाचन में भी उन्होंने प्रायः इसी प्रथा का अनुसरण किया।

जब इस्लाम खाँ के मरने का समय हुआ तब उसने बहलोल को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया किन्तु अफ़ग़ानों ने उसके निर्णय को स्वीकार न करके संभाव्य व्यक्तियों के गुण-दोष का विचार करके निर्णय करना चाहा और जब यह शांतिमय ढंग से करना संभव नहीं हुआ तब उन्होंने युद्ध का सहारा लिया और अंत में बहलोल को तभी स्वीकार किया जब उन्होंने अनुभव की कसौटी में उसे सबसे खरा पाया।

जब बहलोल के उत्तराधिकारी का प्रश्न उठा तब उसने निज़ाम खाँ के पक्ष में अपना मत व्यक्त किया किन्तु उसने दो भयंकर भूलें कीं। उसकी इच्छा थी कि निज़ाम खाँ दिल्ली और दोआब का शासक हो किन्तु वह उन प्रान्तों के आंतरिक मामलों में अधिक हस्तक्षेप न करे जिनमें बहलोल ने राजवंश के अन्य व्यक्तियों को नियुक्त किया था। उसने इससे अधिक अविवेकी कार्य यह किया कि उसने जौनपुर का शासन बारबकशाह को देते समय उसे कुछ सम्राटोचित अधिकार भी प्रदान कर दिये जिनके द्वारा एक प्रकार से साम्राज्य का विभाजन-सा हो गया। सामंतों ने एक बार फिर अपने निर्वाचन के अधिकार का निःसंकोच व्यवहार किया और उन्होंने निज़ाम खाँ के गुण-दोषों के विश्लेषणों में कड़ी भाषा का प्रयोग किया। यद्यपि निज़ाम खाँ को राजपद पाने में कई अन्य बातों से भी सहायता मिली किन्तु उसका राज्यारोहण प्रधानतः सामंतों के बहुमत के समर्थन के कारण ही संभव हुआ।

सिकन्दर ने उत्तराधिकारी के संबंध में कोई मत व्यक्त नहीं किया था। उसके समय में किसी भी राजकुमार को असाधारण अधिकार नहीं दिये गये। इससे पता चलता है कि वह राज्य विभाजन का पक्षपाती कदापि न रहा होगा। उसके समय में राजवंश वाले अन्य सामंतों के ही समान थे। फलतः उत्तराधिकारी के निर्वाचन में सामंतों को पूरी छूट मिल गयी। उन्होंने जो निर्णय किया वही राजकुमारों को मानना पड़ा यद्यपि हम जानते हैं कि इब्राहीम साम्राज्य-विभाजन के प्रस्ताव से संतुष्ट नहीं था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तु उपरोक्त विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि अफ़ग़ान सामंत उत्तराधिकारी का चयन राजवंश से ही करते थे किन्तु जिसे वे सर्वाधिक उपयुक्त समझते थे उसे चुनने की उन्हें प्राय: स्वच्छंदता रहती थी। रक्त की विशुद्धता, ज्येष्ठ पुत्र की महत्ता, मनोनयन आदि का उनके ऊपर प्रभाव पड़ता था किन्तु उनके कारण उनके निर्वाचन-स्वातंत्र्य पर किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं रहता था।

केन्द्रीय सरकार का संगठन

यह स्पष्टत: लिखा नहीं मिलता कि बहलोल का कोई वज़ीर था या नहीं। शायद वह स्वयं ही अपना वज़ीर था। उसके समय में केन्द्रीय शासन ठीक से संगठित हो गया था, इसमें भी संदेह है। उसके राज्य-काल में युद्धों की ऐसी भरमार है कि इतिहासिकारों ने अन्य बातों की ओर विशेष ध्यान ही नहीं दिया। उन्होंने कल्पित प्रेमकथाओं का बड़े चाव से वर्णन किया है किन्तु शासन-व्यवस्था के निरूपण में कोई अभिरुचि नहीं दिखायी। तो भी किसी न किसी प्रकार की केन्द्रीय सरकार रही अवश्य होगी। सुलतान इसका नियंता एवं निरीक्षक था। बहलोल को बहुधा राजधानी छोड़कर बाहर जाना पड़ता था इसलिए वह केन्द्रीय शासन के संचालन का भार किसी न किसी राजकुमार के ऊपर छोड़ जाता था। पहले यह कार्य ज्येष्ठ पुत्र राजकुमार बायज़ीद ने किया और बाद में उसकी मृत्यु हो जाने पर यह सन्मान निज़ाम ख़ाँ को मिला। इसके अतिरिक्त उसके समय में कोई विशेष बात नहीं हुई।

दीवान वज़ारत

बहलोल के उत्तराधिकारी सिकंदर के समय में केन्द्रीय सरकार का अधिक स्पष्ट विवरण मिलता है। सिकंदर का प्रथम वज़ीर ख़वास ख़ाँ था। वाक़ियात मुश्ताक़ी में सुलतान सिकंदर और उसके वज़ीर के बीच हुई वार्ता का विवरण लिखा मिलता है। ख़वास ख़ाँ अपने पद से भारमुक्त होने के लिए सब आवश्यक कागद-पत्र लाया था। उसने सुलतान से बताया कि वह घातक रोग का शिकार होने के कारण कार्य करने में अक्षम हो गया है। उसी समय उसने यह भी कहा कि सब कागद-पत्र उसी के सामने देख लिये जायँ ताकि जो रुपया उसके ऊपर निकले उसे वह अदा कर दे और जिन आदेशों को उसने सम्राट की पूर्व-स्वीकृति के बिना जारी कर दिया था उनके लिए उसने क्षमा-याचना की। सुलतान ने उसके कागदपत्रों को धुलवा दिया और उसको सभी अपराधों से मुक्त करने का आश्वासन दिया। ख़वास ख़ाँ को वकील मुतलक़ (पूर्ण क्षमता-संपन्न प्रधान मंत्री) कहा गया है। इस घटना से पता चलता है कि वकील मुतलक़ के लिए भी सभी आदेश सुलतान की स्वीकृति लेकर ही निकालने का नियम था। साथ ही यह विदित होता है कि अर्थ-विभाग का काम ऐसा ढीला-ढाला था कि उसके प्रधान तक को यह विश्वास नहीं रहता था कि उसके ऊपर ग़बन का दोष आ सकता है या नहीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खवास खाँ का उत्तराधिकारी मियाँ भुआ था। वह अर्थ एवं न्याय विभागों का प्रधान था। सुलतान अपने वज़ीर से उसकी कार्यकुशलता के कारण इतना संतुष्ट नहीं था जितना कि उसकी धार्मिकता एवं विद्याव्यसन के कारण। यद्यपि सिकंदर ने बराबर उसको इन पदों पर बहाल रखा किन्तु वह नित्य रिपोर्ट मंगवाता था और उसके कार्य की अच्छी तरह छान-बीन करता था। इब्राहीम के शासन-काल में भी वज़ीर का पद बना रहा और जब मियाँ भुआ को बंदीगृह में डाल दिया गया तब उसके बेटे को उसके पद पर बिठा दिया गया। किन्तु इस काल में प्रायः बराबर ही वज़ीर दुर्बल रहे और सम्राट सहज ही उन पर हावी हो जाता था।

वज़ीर ग्रामों, परगनों और इक़्तों की निकासी का हिसाब रखता था। जब किसी व्यक्ति को कोई जागीर दी जाती थी तब अर्थ-विभाग के कर्मचारी उसे सूचित कर देते थे कि उस स्थान की आर्थिक आय क्या है और उसे उसमें म कितना अंश केन्द्रीय सरकार को देना होगा। विशेषतः सिकंदर के समय में उसे यह भी बता दिया जाता था कि उस क्षेत्र में किस किस को कितनी माफी ज़मीन मिली हुई है और उसको कड़ी हिदायत कर दी जाती थी कि वह उनके अधिकारों को अछूता रहने दे। जब तक वह केन्द्रीय सरकार के पास नियमित कर भेजता रहता था उसकी जागीर उसी के अधिकार में रहती थी किन्तु यदि उसके ऊपर रुपये खाजाने का दोष प्रमाणित हो जाता तो उसे न केवल नौकरी से निकाल दिया जाता था वरंच उसे भविष्य में भी कोई सरकारी नौकरी पाने से वंचित रखा जाता था। अतएव सभी जागीरदारों के हिसाब की कड़ाई से जाँच की जाती थी। इससे पता चलता है कि इस विभाग के कर्मचारियों की संख्या काफ़ी अधिक रही होगी।

भूमिकर-व्यवस्था

लोदियों की भूमिकर-व्यवस्था के विषय में कुछ छिटपुट बातों को छोड़कर कुछ भी निश्चित रूप से विदित नहीं है। बहलोल ने अपने राज्य को इक़्तों में विभक्त किया था और उसने यह भार जागीरदारों पर छोड़ दिया था कि वे उपयुक्त कर किस विधि से उगाहेंगे। सिकन्दर ने पैमाइश के लिए एक नया गज़ चलाया जिसे सिकंदरी गज़ कहते थे। यह सिकंदरी सिक्के के व्यास का ४१½ गुना होता था जो आजकल की प्रायः ३० इंच के बराबर होता था। पैमाइश और नगद लगान की व्यवस्था अधिक पसंद की जाती थी। दाऊदी और वाक़ियात मुश्ताक़ी में मलिक बद्रुद्दीन और मीरन सय्यद फ़ज्लुल्ला कोलवी की घटनाओं की उल्लेख करते हुए कहा गया है कि उनको जो जागीरें दी गयीं थीं उनकी वार्षिक आय क्रमशः ७ लाख और ५ लाख टंक बतायी गयीं थी। मीरन सय्यद की जागीर के विषय में एक व्यक्ति ने प्रार्थनापत्र दिया कि यदि उसकी जागीर उसे दे दी जाय तो वह सय्यद को प्रतिवर्ष ५ लाख टंक तथा सरकार को ३ लाख टंक देने को प्रस्तुत है। इस आधार पर जाँच करने पर देखा गया कि उसके

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वास्तविक क्षेत्रफल के आधार पर उसकी आय १५ लाख टंक होनी चाहिए। जब सुलतान ने अर्थ-विभाग के अधिकारियों से जवाब तलब किया कि क्या कारण है कि १५ लाख आय वाली जागीर की आय ५ लाख बतायी गयी थी तो उन लोगों ने उत्तर दिया कि पुराने कागज़ों में लिखे आधार पर ऐसा किया गया था। सिकंदर ने इसके ऊपर और कोई कार्यवाही नहीं की। इससे पता चलता है कि यद्यपि सिद्धान्त की दृष्टि से यह समझा जाता था कि जागीरों की वार्षिक आय वास्तविक नाप-जोख के आधार पर स्थिर होनी चाहिए किन्तु व्यवहार में कृषि-योग्य भूमि की वास्तविक पैमाइश सदा होती नहीं थी।

सिकंदर के समय का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य है अनाज के ऊपर की चुंगी को हटा देना। अब्दुल्ला और नियामतउल्ला ने लिखा है कि १४९५–१४९६ में अनाज की कमी के कारण उसका दाम बहुत अधिक हो गया। जनता के कष्टों को कम करने के उद्देश्य से सिकंदर ने साम्राज्य भर से अनाज के ऊपर की चुंगी हटा दी और शीघ्र ही दामों में गिरावट आ गयी। कहा जाता है कि अनाज का दाम गिरने से दूसरा सामान भी सस्ता हो गया जिसके फलस्वरूप साधारण आय वाले लोग भी सुख और शांति का जीवन बिताने लगे।

इब्राहीम के काल में भूमिकर-व्यवस्था के संबंध में केवल एक ही बात का उल्लेख मिलता है कि उसने जिंस के रूप में लगान देने की प्रथा चला दी। इसके कारण अनाज खूब सस्ता हो गया और साधारण लोग भी आराम से रहने लगे। जैसा कि डाक्टर त्रिपाठी ने कहा है तरकारी, फल आदि सड़ने वाली वस्तुओं के ऊपर इस समय भी निश्चय ही नगद लगान लेने की व्यवस्था रही होगी। जिंस में लगान लेने के कारणों का उल्लेख नहीं मिलता किन्तु जैसा टामस ने लिखा है इस समय चाँदी सोने की बहुत कमी थी जिसके कारण सिक्के मिलना दुर्लभ होता था। फलतः नगद लगान देना दुष्कर होने लगा। प्रधानतः इस असुविधा को मिटाने के लिए उपरोक्त आदेश दिया गया था। संभव है कृषकों के लाभ का ध्यान रख कर भी ऐसा किया गया हो। मुद्रा के अभाव के कारण बहुतेरा क्रय-विक्रय भी माल के विनिमय के माध्यम से होता रहा होगा और बाज़ार में अनाज का परिमाण खूब बढ़ गया होगा। सरकारी कर्मचारी चेष्टा करते होंगे कि कौन पहले और अधिक से अधिक मुद्रा प्राप्त करले। इस कारण भी बाज़ार में अन्न का प्राचुर्य बढ़ जाता होगा। फलतः जब बाज़ार में अनाज की आमदनी अधिक एवं अबाध हो गयी तो उसके दाम में गिरावट आना अनिवार्य हो गया। अस्तु अनाज की सस्ती का कारण जिंस में लगान लेना न होकर मुद्रा का अभाव था। वास्तव में जिंस में लगान लेना भी मुद्रा के अभाव के कारण ही आरंभ किया गया था।

तुर्कों ने टंक के नीचे जो सिक्के चलायें थे वह टंक के ६४ भागों के आधे-चौथाई,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आठवें, सोलहवें अंश आदि के आधार पर ढाले जाते थे। अफ़ग़ानों ने पूर्ववर्ती प्रथा के अनुसार टंक को ४० छोटे सिक्कों के समान मानने के आधार पर सिक्के ढलवाये। बहलोल ने एक ताँबें का सिक्का चलाया जिसे बहलोली कहते थे और जो बहुत दिन तक चलता रहा। यह ३२ रत्ती या ५६ ग्रेन वाले ५ ताँबे के सिक्कों के समान माना जाता था और कार्ष का दूना-सा होता था। सिकंदर लोदी ने इस परिवर्तन को और पक्का कर दिया और उसने एक नया सिक्का चलाया जिसे सिकन्दरी कहते थे और जो दो बहलोलियों के बराबर माना जाता था। यह तुर्कों की कानो श्रृंखला में किसी वास्तविक अथवा काल्पनिक सिक्के समान नहीं था। इन दोनों प्रधान सिक्कों के अतिरिक्त कुछ छोटे मूल्य के सिक्के भी चलाये गये। इनमें से एक कार्ष के समान एवं बहलोली का आधा होता था जिसका खूब प्रचलन था; इब्राहीम लोदी ने एक ८४ ग्रेन का सिक्का चलाया जो १.५ ताँबें के टंक के मूल्य का होता था। यह आजकल प्रायः दुष्प्राप्य हो गया है।

अफ़ग़ान सिक्के

उनके सिक्कों की दूसरी विशेषता यह है कि वह एक विशुद्ध धातु के न होकर मिली-जुली धातुओं के होते थे। सिक्कों की धातु का मूल्य प्रायः उनके प्रचलित मूल्य के बराबर होता था किन्तु बहलोली और सिकंदरी दोनों में ही चाँदी का परिमाण इतना कम रहता था कि सिक्कों का कुछ भाग काट कर उसमें से चाँदी निकाल कर बेंचने में कोई विशेष लाभ की आशा नहीं की जा सकती थी। इस भाँति साधारणतः इन्हें जिस आकार में ढाला जाता था वही आकार स्थायी बना रहता था जो कि चाँदी और सुवर्ण के सिक्कों में हो संकना दुर्लभ होता था। साथ ही सिक्के में चाँदी का कुछ परिमाण रहने से उसका वज़न कम हो जाता था क्योंकि १ ग्रेन चाँदी का मूल्य ४४ ग्रेन ताँबे के मूल्य के बराबर होता था। अतएव इन सिक्कों को लेने-लेजाने में सुविधा रहती थी। उनकी मुद्रानीति में केवल एक ही प्रधान दोष था, और वह भी विशेषकर इब्राहीम लोदी के समय में प्रगट हुआ कि वह उतने परिमाण में ढाले नहीं जा सके जितने सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए अपेक्षित थे।

लोदी सुलतानों ने न्याय-विधान में कई महत्वपूर्ण कार्य किये। बहलोल को न्याय करने में इतनी अधिक रुचि थ. कि वह लोगों की फ़रियाद वज़ीर के ऊपर न छोड़कर स्वयं सुनता था। सुलतान सिकंदर की न्याय-प्रियता की प्रशंसा प्रायः सभी सम-कालीन इतिहासकारों ने की है। यादगार कहता है कि न्याय करने में वह आदर्श-पुरुष था। अब्दुल्ला कहता है कि वह दुर्बल और सबल के साथ समान व्यवहार करता था और सब समय झगड़ों को निबटाने, मुक़दमों का निर्णय करने एवं राजकाज को देखने में लगा रहता था। वह यह भी कहता है कि उसने अपने वकील दरिया खाँ नूहानी को निर्देश दे रखा था कि वह प्रतिदिन प्रातःकाल से रात के प्रथम प्रहर तक

न्याय-व्यवस्था

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्जियों को लेने और शिकायतों को सुनने के लिए न्यायाधीश के आसन पर उपस्थित रहे। प्रायः सभी इतिहासकार उसकी बुद्धिमत्ता, कौशली सूझ-बूझ, उदारता एवं निष्पक्षता की दाद देते हैं। इब्राहीम का राज्यकाल बड़ा अशांतिकर एवं स्वल्पस्थायी रहा और उसके काल में दण्डविधान क्रमशः कठोरतर होता गया किन्तु साधारण तौर से वह अपने पिता के काल की न्याय-व्यवस्था को बनाये रहा।

मीर अदल नाम के एक नये पदाधिकारी की नियुक्ति के अतिरिक्त सिकंदर ने कुछ अन्य परिवर्तन भी किये। उसने प्रधान न्यायाधीश की अदालत की शक्ति को कम करके सुलतान की अदालत के अधिकार बढ़ा दिये और इस भांति न्याय-विभाग की सर्वोच्च क्षमता अपने हाथ में कर ली। उसने अपराधी के पता लगाने, अपराधियों की गिरफ्तारी, द्रुत एवं विधान के अनुसार निर्णय करने तथा दण्ड-विधान को हल्का करने के विषय में अनेक नियम बनाये और उनका पालन कराया। वह स्वतः न्याय-विभाग के कार्य का निरीक्षण करता था और जो कुछ संभव होता करता था ताकि निर्णय ठीक हों, निष्पक्ष हों एवं जल्दी हों।

सिकंदर के न्याय-विधान की कुछ विशिष्टताएँ

केन्द्रीय शासन में सुलतान का पद सब से अधिक महत्व का था। वह राज्य का सर्वोच्च कार्यकारी पदाधिकारी एवं न्यायाधीश होता था। जहाँ धर्म के नियमों की ओर से कोई प्रतिबंध न हो उसकी इच्छा ही क़ानून का रूप धारण कर लेती थी और वह इच्छानुसार जो नियम अथवा निर्देश आवश्यक समझता जारी कर सकता था। वह राज्य की सेना का प्रधान सेनापति भी होता था और मार्के की लड़ाइयों में उसका युद्ध-स्थल में संचालन करता था। नियुक्ति, पद-च्युति, पदोन्नति, स्थानांतरण आदि के आदेश भी उसी के अधिकार के अंतर्गत निकाले जाते थे। वह न केवल केन्द्रीय सरकार की देख-रेख करता था वरंच प्रांतीय तथा स्थानीय हाकिमों पर भी सतर्क एवं कड़ी निगाह रखता था। इस अंतिम कार्य के दायित्व का समुचित निर्वाह कर सकने के लिए सिकंदर ने एक संतोषजनक योजना निर्माण की। उच्च पदों पर नियुक्ति के पूर्व सुलतान संबंधित व्यक्तियों के चाल-चलन एवं उनके वंश-कुल आदि की जाँच करवाता था और केवल उन्हीं को नियुक्त करता था जो अच्छे घराने के और निष्कलंक चरित्र के ईमानदार व्यक्ति हों। इन सबके कार्यों के निरीक्षण के लिए उसने सारे राज्य में गुप्तचरों का जाल बिछा दिया था जो उसे रत्ती-रत्ती बात की निरंतर सूचना देते रहते थे। सुलतान ने डाक-चौकियों की भी व्यवस्था की। सभी प्रधान मार्गों पर स्थान-स्थान पर हरकारे और घुड़सवार रहते थे जो सरकारी निर्देश और सरकार के पास जानेवाली सूचनायें

सुलतान की पद-मर्यादा एवं उसके कर्तव्य

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकर द्रुत गति से आते-जाते रहते थे और राजधानी का समस्त राज्य के प्रमुख स्थानों से सम्पर्क बनाये रहते थे। सुलतान सभी रिपोर्टों को देखता था और यदि उनमें कोई बात उसके पूर्ववर्ती निर्देश के विरुद्ध मिलती तो तुरंत नये निर्देश निकाल कर स्थिति को तत्काल सुधारने का उद्योग करता था। राज्य की आवश्यकताओं के अनुसार वह बीच-बीच में राजधानी के बाहर भी काफ़ी दिन तक रह जाता था। इस भाँति जब उसने पूर्व में अशाँति देखी तो उसने सम्भल और शम्साबाद को अपना निवास-स्थान बनाया और जब उसे ग्वालियर के राजा तथा मालवा के सुलतान से युद्ध करना पड़े तो उसने पहले बयाना को अपना प्रधान अधिष्ठान बनाया और बाद में आगरे को। आगरा उसे इतना पसंद आया कि वही नूतन राजधानी बन गयी और सुलतान अपने जीवन के अंत समय तक वहीं रहा।

अब्दुल्ला ने सिकंदर की दिनचर्या का जो विवरण दिया है वह यदि अक्षरशः सत्य न भी हो तो भी यह निश्चित है कि उसे काफ़ी परिश्रम करना पड़ता था और कभी-कभी राजकाज की ऐसी चाप पड़ती थी कि वह पाँचो नमाज़ एक ही स्थान पर पढ़ने को बाध्य होता था। अस्तु सरकारी कार्य की समुचित एवं निरंतर देखरेख रखना अतिशय कष्टकर एवं प्रायः असंभव हो जाता रहा होगा क्योंकि शारीरिक अस्वस्थता, सैनिक अभियान एवं स्थानीय उपद्रव बीच-बीच में सुलतान को अन्यत्र ध्यान ले जाने के लिए बाध्य कर देते थे। दूसरे इस व्यवस्था में एक व्यक्ति के ऊपर सब दारोमदार रहता था। यदि कोई सुलतान लापरवाह, अयोग्य अथवा अत्याचारी हो तो यह व्यवस्था लड़खड़ा जायगी और उसका अपरिहार्य परिणाम होगा साम्राज्य का छिन्न-भिन्न हो जाना। किन्तु शेरशाह के समय में भी अफ़ग़ान इस दोष को दूर नहीं कर सके और अंत में इसके संशोधन का श्रेय उनके उत्तराधिकारी तैमूरियों को मिला।

लोदी शासन की सफलता तत्कालीन सुलतान के साथ सामंतों के सहयोग पर निर्भर करती थी। उनका गुरुत्व केवल इतना ही नहीं था कि वे सैनिक सर्दार थे और अधिकांश उच्च पद उनके हाथ में थे। वे यह भी दावा करते थे कि उनको स्थानीय शासन में स्वायत्त एवं स्वच्छंदता रहनी चाहिए। जब बहलोल ने उनका यह अधिकार स्वीकार कर लिया तब वह खूब संतुष्ट रहे, जब सिकंदर ने इसमें काट-छांट आरंभ की तो वे चंचल होने लगे और जब इब्राहीम ने उसे एकदम अस्वीकार कर दिया तब उन्होंने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। सामंतों का दावा था कि उनके तथा सुलतान के पूर्वपुरुष एक थे अतएव उनके वं सुलतान के बीच में भाई-चारे का व्यवहार होना चाहिए। सुलतानों को तुर्कों, राजपूतों एवं खोखरों की ओर से उग्र विरोध का सामना करना पड़ता था इसलिए उन्होंने अपने सामंतों को बड़ी-बड़ी सेनायें रखने की छूट दे रखी थी

अफ़ग़ान सामंत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यथा दरिया खाँ नूहानी, आज़म हुमायूँ सरवानी, नसीर खाँ नूहानी—जिनके पास ३०,००० और ४०,००० तक सैनिक थे। अतएव इन लोगों के विद्रोह पूर्ववर्ती सर्दारों के विद्रोहों की तुलना में अधिक भयंकर होना अनिवार्य थे।

सद्गुणों की दृष्टि से सामंतों का स्तर बहुत ऊँचा नहीं था। मियाँ भुआ जैसे कुछ लोग प्रकाण्ड विद्वान् थे। कुछ लोग मियाँ मारूफ़ फ़र्मुली एवं मियाँ ज़ैनुद्दीन की भाँति धार्मिक एवं सच्चरित्र हो सकते थे। कुछ अहमद खाँ की भांति खूब सुलझे दिमाग़ के और समय के पाबंद हो सकते थे। किन्तु उनमें से अधिकांश अंधविश्वासी, फ़िज़ूलखर्ची, एवं इंद्रिय सुखों के दास होते थे। कुछ एकदम निरक्षर भट्टाचार्य होते थे। ऐसे बिरले ही थे जो अहंकार, स्वार्थ-परता एवं घमण्ड से अछूते बचे हों। किन्तु उनमें केवल दुर्गुण ही नहीं थे। वे ज़िंदादिल, साहसी एवं उदार होते थे और साधारणतः अपने आश्रितों एवं अतिथियों के साथ दरियादिली एवं हमदर्दी का व्यवहार करते थे। उन्हें शिकार, कुश्ती लड़ने, तैरने, हथियारों के प्रयोग में प्रवीणता का अभ्यास करने आदि में खूब मज़ा आता था। बहुधा सामाजिक व्यवहार में वे निष्कपट हँसमुख और उन्मुक्त प्रकृति का परिचय देते थे। अफ़ग़ान इतिहासकारों के विवरणों के अनुसार वे खूब आदरणीय एवं लोकप्रिय होते थे।

शासन के कार्य में अफ़ग़ान सामंतों को साधारण सफलता ही मिली। अपनी जागीरों में वे प्रधानतः सेना के सहारे न कि लोकहितकारी सुधारों के प्रभाव से जनता को वश में रखने की चेष्टा करते थे। स्थानीय जनता दो कारणों से उनका विशेष विरोध नहीं करती थी—(१) वे स्थानीय लोगों के जीवन में अधिक हस्तक्षेप नहीं करते थे, (२) उनके पूर्ववर्ती शासक इतने दुर्बल और अयोग्य रहे थे कि वे विशृंखलता और अराजकता को रोकने में नितान्त अक्षम रहे। अफ़ग़ानों का रुपये-पैसे का हिसाब ठीक नहीं रहता था और वे छोटी-छोटी बातों में झगड़ पड़ते थे। शासन-संचालन में वे गहराई तक प्रवेश करना पसंद नहीं करते थे। अतएव लोदियों का पतन प्रमुखतः सामंतों की अयोग्यता के कारण ही हुआ।

सैनिक संगठन

लोदियों का सैनिक संगठन भी अच्छा नहीं था। सेना में साधारणतः घुड़सवार, पैदल और हाथी रहते थे। उनके घुड़सवार सैनिक साहसी एवं कुशल तीरंदाज़ होते थे। उन्होंने कुछ मंगोलों की तरकीबें भी सीख ली थीं यथा छिपकर हठात् छापा मारना, शत्रु को उसकी प्रबल मोर्चेबंदी के बाहर निकाल ले जाना, आक्रमण के पूर्व भेदियों के द्वारा शत्रु की ठीक स्थिति का पता लगा लेना और शत्रु की तुलना में अपनी दुर्बलता रहने पर उसकी पकड़ में न आना। किन्तु वे कावेबाज़ हमलों—तुलुग़मा—से अनभिज्ञ थे जिनका प्रयोग कर के बाबर ने इब्राहीम लोदी और राणा संग्रामसिंह के विरुद्ध चमत्कारिक सफलता पायी। व्यक्तिगत दृष्टि से अफ़ग़ान सैनिक वीर, पराक्रमी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं साहसी थे किन्तु उनमें अनुशासन और शृंखला की कमी थी। उनकी सेना सैनिकों के जमघट की तरह दिखायी पड़ती थी न कि एक सुव्यवस्थित रणवाहिनी की तरह जिसमें प्रत्येक क़बीलेवार सेना या टुकड़ी का एक सुनियोजित स्थान रहता हो। अस्तु यह एक भारी-भरकम मशीन की तरह लगती थी जो गतिशील होते ही अटकती, लुढ़कती, उछलती प्रतीत होती थी। तपे-तपाये सुसंगठित सैनिकों से सामना पड़ने पर इसकी साधारण शृंखला भी बिगड़ जाती थी और यह केवल हैरान सिपाहियों की किंकर्तव्यविमूढ़ भीड़ बन जाती थीं। लोदी सुलतानों ने न तो साम्राज्य की आवश्यकता के अनुसार केन्द्र में कोई स्थायी बड़ी सेना रखी और न उन्होंने विभिन्न सैनिक दलों के लिए कोई समान शिक्षा या वर्दी का प्रबंध किया। प्रांतीय एवं अधीन हाकिम अफ़ग़ान सामंत होते थे जिनका एक प्रधान दायित्व था सुलतानों को निश्चित संख्या के अनुसार सैनिक सहायता देना। फलतः सभी सैनिक टुकड़ियाँ क़बीलई सामंतशाही के आधार पर निर्मित होती थीं और उनमें इस प्रकार की सेनाओं में पाये जाने वाले सभी दोष विद्यमान थे। हाथी प्रायः राजमर्यादा की रक्षा के लिए रखे जाते थे और उनका अफ़ग़ान रणपद्धति में समुचित सुनियोजित सदुपयोग नहीं किया जाता था। फलतः उनकी उपयोगिता सीमित एवं कभी-कभी काफ़ी संदिग्ध प्रकार की रहती थी। साधारणतः उनका उपयोग क़िले की दीवालों और फाटकों के तोड़ने में होता था अथवा जब घुड़सवारों के प्रबल आक्रमण से शत्रुपक्ष की सैन्य पंक्तियाँ ध्वस्त होने लगतीं तब हाथियों के आक्रमण द्वारा उनको रणक्षेत्र छोड़कर भागने के लिए बाध्य किया जा सकता था। पैदलों का विशेष महत्व नहीं रहता था और बहुधा उनकी उपयोगिता इसी में थी कि उनमें से घुड़सवार सैनिकों की भरती की जा सकती थी।

अफ़ग़ान सैनिक संगठन के प्रधान दोष

अफ़ग़ान सेना क़बीलई सामंतशाही प्रकार की तो थी ही, इसकी रणपद्धति तथा इसके अस्त्र शस्त्र भी समयानुकूल नहीं थे। वह बारूद के प्रयोग से अनभिज्ञ थी और जब बाबर ने इसके विरुद्ध तोपखाने का व्यवहार किया तो यह एकदम घबड़ा गयी। यह घेरे डालने की कला में भी प्रवीण नहीं थी और बहलोल तथा सिकंदर अनेक क़िलों को लेने में असमर्थ रहे। उन्हें सफलता केवल वहीं मिली जहाँ क़िले के भीतर के सैनिक उनके आतंक में आ गये अथवा जहाँ उनकी रसद कम पड़ गई। चुनार, नरवर, बाँधोगढ़, ग्वालियर, धौलपुर उनकी असफलता के साक्षी हैं। लोदी सुलतानों का सैनिक रसद विभाग भी खूब कार्यकुशल नहीं था। अफ़ग़ान सामंतों के पारस्परिक झगड़े और ईर्ष्याद्वेष भी उनकी सेना की कार्यक्षमता को काफ़ी कुण्ठित कर देते थे। तत्कालीन अशांति के वातावरण के कारण लोदी सुलतानों ने अपने सामंतों को बड़ी-बड़ी सेनायें रखने की छूट दे दी थी किन्तु

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह सेनायें जिनके अधीन थीं वे बहुधा बड़े अहंकारी और स्वाभिमानी होते थे। अतएव उनके विद्रोही या असंतुष्ट होने पर इन सेनाओं से साम्राज्य को भयंकर क्षति हो सकती थी जैसा कि इब्राहीम लोदी के समय में हुआ। इसने भी साम्राज्य के विघटन में योगदान किया।

यह सहज ही स्वीकार किया जा सकता है कि लोदी सुलतान मुसलमान-मात्र के प्रति ही कृपा एवं उदारता का व्यवहार करते थे और साधु-संतों तथा उलमा के प्रति उनका व्यवहार विशेषरूप से सन्मानजनक था। बहलोल, सिकंदर और उनके सामंत मुस्लिम संतों, विद्वानों, फ़क़ीरों और दीन-दुखियों को दान देते थे। उच्चतर एवं मार्के के पदों पर वे केवल अफ़ग़ानों को नियुक्त करते थे किन्तु अन्य सब पदों की नियुक्ति में उन्होंने पूर्वकालीन परिपाटी में कोई परिवर्तन नहीं किया। बहलोल के अनुगतों में राय कर्ण, राजा प्रताप, राय तिलोकचंद और राय धांधू के नाम मिलते हैं। इनमें राय कर्ण उसका विशेष प्रेम-पात्र था। ग्वालियर के राजा कीर्तिसिंह और मानसिंह से भी उसका मैत्रीपूर्ण संबंध था। उसने एक हिन्दू महिला के साथ विवाह किया और विशुद्ध अफ़ग़ान रक्तधारी पुत्र-पौत्रों के रहते हुए भी उसी के पुत्र को अपना उत्तराधिकारी बनाया। बीरसिंह की नियुक्ति में उसने लोदियों की उपेक्षा की और साधारणतः उसने राज-नीतिक सुविधा के आधार पर संधि-युद्ध चलाये।

लोदियों को धार्मिक नीति

उसके पुत्र सिकंदर के समय में इस नीति में थोड़ा परिवर्तन आ गया। यह सत्य है कि संकट के समय उसने भी राजा भैदचंद्र तथा उसके पुत्र शालिवाहन से संधि की किन्तु जब शालिवाहन ने सुलतान के साथ अपनी कन्या का विवाह करना अस्वीकार कर दिया तब उसने उसको एकदम बरबाद करने की चेष्टाओं में कोई कोर कसर नहीं रखी। इसी भाँति जब तक उसकी शक्ति दुर्बल रही उसने राजा मान और विनायकदेव के प्रति उदारता का व्यवहार किया किन्तु ज्योंही उसने अपनी सेना का संगठन कर लिया और उसकी शक्ति दृढ़ हो गई तैसे ही उसने विनायकदेव को निकाल बाहर किया और राजा मान से आजीवन युद्ध करता रहा। अस्तु, यह प्रगट है कि हिन्दू अनुगतों एवं मित्रराज्यों के प्रति उसका व्यवहार उतना उदार नहीं था जितना कि उसके पिता का रहा था। जब वह अरैल, धौलपुर, नरवर, मंडरैल, अथवा अवंत-गढ़ में विजयी हुआ तब यह सदा लिखा मिलता है कि उसने स्थानीय मंदिरों को तुड़वा-कर उनके स्थान पर मस्जिदें बनवा दीं। इससे प्रगटतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उसके युद्धों के पीछे उसकी धार्मिक भावना प्रधान थी और वह राज्य-विस्तार का इतना इच्छुक नहीं था जितना काफ़िरों के विरुद्ध जेहाद करने का। इस पक्ष को और पुष्ट करने के लिए सिकंदर द्वारा अपनी हिन्दू प्रजा पर किये गये धार्मिक अत्या-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चारों का उल्लेख किया जाता है। सिकंदर की हिन्दू नीति की विशद विवेचना किये बिना भी यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि सिकंदर के ग्वालियर पर आक्रमण के पीछे धार्मिक भावना को घुसेड़ना कदापि न्यायसंगत नहीं है। सिकंदर ने मंदिर तोड़े इसका प्रमाण केवल उन विवेकहीन लोगों के लेख हैं जिनकी दृष्टि में मंदिर तोड़ना श्लाघनीय कार्य था। किन्तु यदि हम उनके कथन को ही पूर्णतः सत्य स्वीकार कर लें तो यह कहना भी उतना ही युक्तिसंगत होगा कि उसने यह सब कार्य पराजित राजपूतों में आतंक फैलाने तथा अपने सैनिकों में धार्मिक जोश भरने के लिए किया होगा। अतएव धार्मिक कट्टरता के कारण नहीं वरंच राजनीतिक महत्वाकांक्षा के वशीभूत होकर ही उसने यह युद्ध किये।

सिकंदर के २८ वर्ष के शासन काल में उसकी धार्मिक असहिष्णुता के प्रमाण स्वरूप ३ घटनाओं का उल्लेख किया जाता है। अन्य एक घटना उस समय की है जब वह अपने पिता के प्रतिनिधि की हैसियत से दिल्ली में कार्य कर रहा था। इसी अंतिम घटना का विवरण पहले देना समीचीन होगा। सिकंदर की इच्छा थी कि जब असंख्य हिन्दू कुरुक्षेत्र के मेले में भाग लेने आयें तब उन पर आक्रमण कर दिया जाय और वहाँ का मंदिर तथा तालाब भ्रष्ट कर दिया जाय। जब उसने यह प्रस्ताव किया तो एक व्यक्ति ने पहले उलमा से परामर्श करने की सलाह दी। अतएव उलमा की एक सभा की गयी और उसमें इस प्रश्न पर विचार किया गया। इस सभा ने मलिक-उल-उलमा मियाँ अब्दुल्ला अजोधनी को अपना प्रधान निर्वाचित किया। उन्होंने यह फ़तवा दिया कि चूँकि मंदिर काफ़ी पुराना है और पहले के मुस्लिम शासक तालाब में स्नान करने की अनुमति देते चले आये थे इस कारण उनमें किसी में भी हस्तक्षेप करना शरियत के विरुद्ध है। इससे शाहज़ादा इतना क्रुद्ध हो गया कि उसने मियाँ अब्दुल्ला पर हिन्दुओं का पक्ष लेने का अभियोग लगाया और धमकाया कि हिन्दुओं पर आक्रमण करने के पूर्व वह मियाँ अब्दुल्ला को ही क़त्ल कर देगा। मियाँ अब्दुल्ला ने इसका निर्भीकता के साथ प्रतिवाद किया और कहा कि यह विचित्र बात है कि यदि उसका मत मानना नहीं था तो उससे मत चाहा ही क्यों गया। रही क़त्ल करने की बात सो जब वह एक नृशंस अत्याचारी के पास आया था तब इस आशंका को समझ कर ही आया था। यह सुनकर सिकंदर चुप हो गया किन्तु उसका फ़तवा स्वीकार करते हुए भी उसने कहा कि यदि अनुमति प्रदान कर दी गयी होती तो सहस्रों मुसलमानों को इससे लाभ होता—यानी वहाँ की लूट-मार से।

सिकंदर की धार्मिक असहिष्णुता के उदाहरण

राज्यारोहण के बाद जब वह १४९९-१५०३ के बीच में सम्भल में ठहरा हुआ था लखनऊ के गवर्नर आज़म हूमायूँ ने सुलतान के पास एक ब्राह्मण को भेजा जिसने मुसलमानों की उपस्थिति में कहा था कि इस्लाम सत्य धर्म है किन्तु उसका अपना

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म भी कम सत्य नहीं है। स्थानीय क़ाज़ी शेख बद्र और प्यारा उसके अपराध के विषय में एकमत नहीं थे। सुलतान ने विद्वान् उलमा की एक सभा बुलायी जिसमें साम्राज्य भर के सर्वमान्य उलमा तथा दर्बार में सब समय रहने वाले उलमा सम्मिलित हुए। इस सभा ने ब्राह्मण को दोषी ठहराया और उसे कारावास का दण्ड दिया। उसी समय यह निर्देश भी दिया गया कि कुछ समय बाद उसे इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए कहा जाय और यदि वह इसे स्वीकार न करे तो उसे मृत्युदण्ड दे दिया जाय। ब्राह्मण ने धर्मपरिवर्तन स्वीकार नहीं किया। फलतः उसे मृत्युदण्ड दे दिया गया।

अब्दुल्ला और नियामतुल्ला ने मथुरा के हिन्दू मंदिरों को भ्रष्ट करने एवं यमुना नदी के तट पर हिन्दू संस्कारों में बाधा डालने का भी उल्लेख किया है। अब्दुल्ला कहता है कि सारे साम्राज्य के हिन्दू मंदिर गिरवा दिये गये किन्तु वह मथुरा के अतिरिक्त अन्य किसी स्थान का स्पष्ट उल्लेख नहीं करता। यह भी कहा गया है कि उसने सालार मसूद के बर्छे का जलूस बंद करा दिया और मुस्लिम महिलाओं को संतों के मक़बरों में जाने की मनाही कर दी।

उपरोक्त विवरण से ऐसा प्रतीत होना संभव है कि सिकंदर अपने धर्म के सिद्धान्तों का कट्टरता से पालन करता था और कभी-कभी धार्मिक कृतित्व लाभ करने के लिए वह ग़ैरमुस्लिमों के ऊपर अत्याचार करने तक को उतारू हो जाता था।

किन्तु उसकी अपने धर्म के प्रति निष्ठा उसके दाढ़ी मुड़ाने, संगीत का आनंद लेने सुरा-पान करने और शरियत-निषिद्ध यंत्रणाओं को देने में बाधक नहीं हो सकी। मियाँ अब्दुल्ला अजोधनी से उसकी जो बात हुई उससे पता चलता है कि उसमें धर्म के नियमों को मानने की इतनी उत्कण्ठा नहीं थी जितनी धार्मिकता की मुहर लगा कर लूट-पाट करने की। उलमा के प्रति उसका वास्तविक मनोभाव क्या था इसका अनुमान उसके शेख हसन (युवावस्था के एक प्रेमी) और हाजी अब्दुल वहाब (परवर्ती काल के अहंकारी मुल्ला) के प्रति किये गये व्यवहार से लग सकता है। वह अपने दर्बार में १७ उलमा को सब समय रखता था जो न्याय-विभाग से युक्त १२ उलमा से भिन्न प्रतीत होते हैं। किन्तु जब सुलतान भोजन करता तो कभी उन्हें अपने सामने खाने नहीं देता था यद्यपि उनको सुलतान के साथ ही भोजन परोसा जाता था। इनको फर्श पर बिठाया जाता था जबकि सुलतान उच्च आसन पर बैठकर खाता था। सुलतान के भोजन करते समय यह बेचारे भूखे बैठे रहते और उसका मुख ताकते रहते थे। सुलतान का भोजन समाप्त होने पर भी उनको शाही कमरे में खाने की अनुमति नहीं दी जाती थी वरन साधारण नौकरों की भांति वे अपना भोजन साथ ले जाकर अपने-अपने घर में जाकर खाते थे। यह नित्य का नियम तथा उसका अन्य उलमा के साथ व्यवहार इस बात का द्योतक है कि वह उन्हें अन्य नौकरों की तरह समझता था और उनकी योग्यता के अनुसार उनकी सेवायें ग्रहण करता था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिकंदर बहुत चालाक शासक था। वह नहीं चाहता था कि उसी के राज्य में कोई उसका विरोध करे। वह यह भी जानता था कि हिन्दू माता के गर्भ से जन्म ग्रहण करने के कारण मुसलमान मात्र ही और विशेषकर अफ़ग़ान सामंत उसे नापसंद कर सकते हैं। इसलिए उसने मुसलमानों का समर्थन प्राप्त करने के लिए इस्लाम के प्रति अपनी निष्ठा और हिन्दुओं के प्रति अपनी घृणा का प्रदर्शन किया। हिन्दुओं के प्रति घृणा का प्रदर्शन अधिक आवश्यक था क्योंकि तभी यह प्रभाव पड़ सकता था कि वह कुफ़्र के गुनाह से पूर्णतया मुक्त है। मियाँ अब्दुल्ला के प्रति किये गये व्यवहार की यही चाभी है अन्यथा सिकंदर के समान बुद्धिमान व्यक्ति वृथा झगड़ा मोल न लेता। वह दिखाता था कि वह उन कट्टरपंथी उलमा से भी अधिक कट्टर एवं हिन्दू-विरोधी है जो सदा अनुदारता की ओर ही झुके रहते थे। ब्राह्मण की हत्या और मंदिरों का विनाश उस समय किया गया था जब सुलतान की लोकप्रियता इतनी घट गयी थी कि २२ सामंतों ने उसे गद्दी से उतार कर फ़तहखाँ को सुलतान बनाने का षड्यंत्र रचा था। सुलतान सिकंदर सोचता था कि धार्मिक निष्ठा के प्रदर्शन द्वारा उसकी शक्ति और लोकप्रियता को सहारा मिलेगा। अतएव सिकंदर के लिए धर्म राजनीतिक सुविधा का साधन-मात्र था। वह न धर्मांध ही था और न सचमुच निष्ठावान किन्तु यदि उसकी महत्वाकांक्षा की पूर्ति एवं विजय-कामना में उनके प्रदर्शन से कोई सहायता मिलने की संभावना हो तो वह उनके प्रदर्शन में कोई संकोच अनुभव नहीं करता था। इसलिए अपने युवाकाल के अप्रीतिकर अनुभव के बाद उसने इस बात की सदा पूर्ण सतर्कता रखी कि उलमा उसी की हाँ में हाँ मिलाने को बाध्य रहें। इसका सबसे सुगम उपाय यह था कि जो उलमा सहज में उसके प्रभाव में आ सकते थे उनको उसने स्थायी रूप से नौकर रख लिया और उन्हें सदा दर्बार में हाज़िर रखता था। इस बात का प्रमाण हमें ब्राह्मण के मृत्युदण्ड वाली घटना से मिलता है। राज्य के विभिन्न अंचलों से कुछ उलमा बुलाये गये किन्तु उनके साथ दर्बारी उलमा को मिला देने से सुलतान की इच्छा के अनुकूल निर्णय करा लेना सुगम हो गया। सुलतान ने उनको इस सेवा के लिए समुचित इनाम भी दिया। इस भाँति सिकंदर ने उलमा वर्ग को अपनी इच्छा का दास बनाकर अपनी निरंकुशता को पुष्ट किया। फिर भी यह सत्य है कि सुलतान सिकंदर के राज्य-काल में उसकी हिन्दू प्रजा की दशा उतनी अच्छी नहीं रही जितनी उसके पिता के काल में रही थी।

इब्राहीम को धार्मिक निष्ठा का दिखावा करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। अतएव उसने गायिकाओं के दल में सुंदरी नर्तकियों को भी युक्त कर दिया ताकि सरकारी काम की उलझनों की क्लांति सुखद ढंग से मिटाई जा सके। ग्वालियर के राजा विक्रमादित्य के साथ उसका संबंध सिकंदर के आदर्शों की अपेक्षा बहलोल के आदर्शों के अधिक निकट प्रतीत होता है। यही कारण है कि विक्रमादित्य ने इब्रा-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हीम के पक्ष से युद्ध करते हुए अपने प्राण गँवाये। इस भाँति लोदी सुलतानों की धार्मिक नीति सामान्यतः उदार रही सिवाय उन विशेष परिस्थितियों के जिनमें साधारण परिपाटी के विरुद्ध जाना आवश्यक प्रतीत हुआ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१७

पूर्वमध्यकालीन समाज एवं संस्कृति

पिछले अध्यायों में जिस शासन-प्रणाली का विवरण दिया गया है उसमें लोकतांत्रिक अथवा समानता की भावना के स्थान पर शासकों की उच्चता और शासित की अधीनता का प्राधान्य है। उस समय के सामाजिक संगठन में भी यही ऊँच-नीच का भाव प्रधान है। हिन्दुओं के प्राचीन ऋषियों ने कार्य की सुविधा की दृष्टि से मानव की जन्म-जात विशिष्ट प्रवृत्तियों के आधार पर वर्ण-व्यवस्था की स्थापना की थी। परन्तु खान-पान, विवाह आदि में सम्पूर्ण आर्य-जाति एक ही पिता की संतान के समान एक विराट भ्रातृ-मण्डल समझी जाती थी। परन्तु मध्यकाल का आरम्भ होते-होते इस व्यवस्था में अनेक जटिलताएँ प्रवेश पा गई और सामाजिक बंधुत्व की भावना संकीर्ण से संकीर्णतर क्षेत्र में निहित होती गई। इस अभिनव सामाजिक संगठन का आधार जाति-व्यवस्था थी। पुराणों तथा शिलालेखों से जो सूचना प्राप्त होती है उससे विदित होता है कि किस प्रकार जातियों के बंधन बढ़ते गए। स्मृतिकारों ने इस नई परि-स्थिति को सुश्रृंखल करने के लिए नूतन परिवर्तनों को धार्मिक नियमों का सहारा लेकर मान्यता प्रदान कर दी और विभिन्न विभेदों का पारस्परिक संबंध निरूपित किया। इन सबका सामूहिक फल यह हुआ कि मध्यकाल में जाति-व्यवस्था प्रायः उस रूप में आ गई जो आजकल दिखाई देता है। वंश-परम्परा के अनुसार मानव का व्यवसाय स्थिर होने लगा। खान-पान, धार्मिक विश्वास, भौगोलिक स्थिति, विवाह-संस्कारादि में भिन्नता के आधार पर एक ही वर्ण के भीतर अनेक वर्ग बनने लगे। वर्णसंकरों की नई जातियाँ बनीं और उनको भी वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत रखने का उद्योग किया गया। द्राविड़ों, मूलनिवासियों तथा विदेशी आक्रमणकारियों को हिन्दू-परिवार में स्थान देने से भी नई जातियों का जन्म हुआ। फलतः जहाँ पहले ब्राह्मण मात्र ही शर्मा उपाधि से परिचित होते थे और उनका अन्तर केवल गोत्र के

जातिप्रथा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधार पर प्रकट किया जाता था, अब गोत्र का उल्लेख बन्द होने लगा और मिश्र, शुक्ल, दीक्षित, भट्टाचार्य आदि पदवियों के द्वारा उनके संकुचित समुदाय का परिचय दिया जाने लगा। फिर इनके भीतर भी अनेक शाखाएँ-प्रशाखाएं बन गईं और विवाह-भोजन आदि में उनका ध्यान रखा जाने लगा। इसी भाँति क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों, चाण्डालों में भी भेद-उपभेद प्रकट हो गए और उनका व्यक्ति के व्यवसाय, खान-पान, विवाहादि पर प्रभाव पड़ने लगा। इस काल में अनुलोम विवाह-प्रथा भी बन्द हो गई। लोगों में यह भावना फैलने लगी कि जाति के सदस्य ही भाई-भाई हैं और दूसरी जातियों के लोग मूल में एक भगवान की संतान अथवा विराट पुरुष के विभिन्न अंग होने की दृष्टि से आध्यात्मिक क्षेत्र में समान होने पर भी प्रारब्ध एवं संचित कर्म के प्रभाव से सामाजिक क्षेत्र में समान नहीं हैं। इस भांति सहानुभूति, प्रेम, एकता, बंधुत्व की भावना उस छोटे जनसमूह तक सीमित रह गई जो समान सामाजिक आचार-विचारों एवं कुल-परम्परा के आधार पर एक जाति कही जाती थी।

मुसलमानों में ऊँच-नीच की भावना

जिस प्रकार हिन्दू-समाज में जन्म के आधार पर ऊँच-नीच का भेद विद्यमान था, उसी प्रकार मुसलमानों में भी भ्रातृत्व की भावना केवल सिद्धान्त रूप में ही रह गई थी और उनमें भी जन्म, सम्प्रदाय, नस्ल आदि के आधार पर व्यवहारिक जगत में अनेक भेद उत्पन्न हो गये थे। इस्लाम की प्रारम्भिक सदियों में अरब अपने को अरबेतर मुसलमानों से श्रेष्ठ समझते थे। शासन में उन्हीं को अधिक सम्मानित पद मिलते थे। इस कारण उनको समाज में श्रेष्ठता मिल गई। दूसरे, पैग़म्बर मुहम्मद भी अरब देश के निवासी थे। इसका भी अरबों को गर्व था और वे अपने को इस्लाम के जन्मदाता देश का निवासी होने के कारण अन्य व्यक्तियों से जिनको धर्म का प्रकाश उनके उद्योग से मिला था श्रेष्ठ समझते थे। अस्तु, पहला प्रमुख भेद अरब और अरबेतर मुसलमान का हुआ। उसके अलावा अरबों में भी पैग़म्बर साहब के क़ुरेश क़बीले को अपेक्षाकृत अधिक महत्व दिया जाता था। जितने व्यक्ति मुहम्मद साहब के निकट सम्पर्क में आये थे उनके वंशजों का भी मान दूसरों की तुलना में अधिक हुआ और उनकी बेटी फ़ातिमा की सन्तान के वंशजों को सभी मुसलमानों से श्रेष्ठ समझा जाता है। इनको सैय्यद कहते हैं। आगे चलकर भारतवर्ष में तथा अन्य देशों में भी अनेक नक़ली सैय्यद बन गये और यह पता लगा सकना कठिन हो गया कि कौन से सैय्यद नामधारी व्यक्ति सचमुच पग़म्बर की रक्त-परम्परा में हैं। मुस्लिम समाज में सैय्यदों को प्रायः वही मान्यता प्राप्त थी जो हिन्दू समाज में ब्राह्मणों को प्राप्त थी। अब्बासी खलीफाओं के समय में फारस वालों का प्रभाव बढ़ा। उस देश में शिया धर्म के अनुयायी अधिक थे। उनकी प्राचीन संस्कृति अरब संस्कृति से कहीं अधिक गौरवपूर्ण थी। राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने पर उन्होंने अरबों को हेय प्रकट किया और ईरानियों की श्रेष्ठता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रचारित की। इसी भाँति आगे चलकर जब तुर्कों को राजशक्ति प्राप्त हुई तो तुर्क अपने को सर्वश्रेष्ठ समझने लगे। इस भाँति काल-क्रम से मुसलमानों में नस्ल के आधार पर अरब, ईरानी, तुर्क, मंगोल और पठान तथा भारतीय नव-मुस्लिमों के भेद दृढ़ हो गये। धार्मिक विश्वासों के अन्तर के आधार पर इन भेदों में उपभेद स्थापित हो गये। जो हिन्दू मुसलमान हुए थे उनमें अनेक वर्ग ऐसे थे जिन्होंने अपने जाति-भेदों को नहीं भुलाया, अपने कुछ प्राचीन संस्कारों को भी जारी रखा और विवाहादि के सम्बन्ध प्रायः अपने वर्ग के भीतर ही सीमित रखे। परन्तु यह सब भेद केवल परम्परागत थे न कि शरियत के अनुसार। फलतः मुसलमानों का आपसी भेद-भाव कभी उस कोटि का नहीं हुआ जिस कोटि की हिन्दू जाति-प्रथा थी। प्रायः सभी मुसलमान एक दूसरे के साथ हुक्के-पानी का सम्बन्ध रख सकते हैं। वे एक साथ बैठकर एक पात्र में भोजन कर सकते हैं और किसी के भी साथ विवाह कर सकते हैं। मूल धर्म की शिक्षाओं के कारण इनमें प्रतिबन्ध नहीं है यद्यपि व्यवहार में ऊँच-नीच की भावना आ गई है। इसलिए मुसलमानों का सामाजिक संगठन अधिक दृढ़ रहा और उनमें एकता की भावना हिन्दुओं की अपेक्षा प्रबलतर रही।

दास-प्रथा

इस काल में दास-प्रथा का खूब चलन था। मुसलमानों तथा हिन्दुओं दोनों के ही यहाँ दास रहते थे। उस समय दासों का भी हाट लगता था जहाँ उनकी गाय-बैल की तरह बिक्री होती थी। हिन्दू स्मृतियों में पन्द्रह प्रकार के दासों का वर्णन है। उनमें से मुख्य प्रकार निम्नलिखित हैं:—

(१) गृहजात—घर की दासी से उत्पन्न, (२) क्रीत—खरीदा हुआ, (३) लब्ध—दान अथवा भेंट द्वारा प्राप्त, (४) अनाकालभृत—अकाल के समय मृत्यु से बचाया हुआ (५) ऋणदास—ऋण न चुका सकने वाला, (६) युद्ध प्राप्त—युद्ध-बन्दी, (७) प्रव्रज्यावसित—पतित साधु जो चाकरी कर ले, और (८) आत्म-विक्रता—जो स्वयं अपने को बेंच दे।

मुसलमानों में उपरोक्त आठ प्रकार में से प्रायः ४ प्रकार के ही दास होते थे—क्रीत, लब्ध, युद्ध-प्राप्त एवं आत्म-विक्रेता। मुस्लिम समाज में घर की दासी से यदि गृहस्वामी द्वारा सन्तान हो तो वह दासी तथा उसकी सन्तान दोनो ही दासता से मुक्त हो जाते थे और उस दासी को पत्नी का पद प्राप्त हो जाता था एवं उसकी सन्तान को गृह-स्वामी की सम्पत्ति में भाग मिलता था। दोनों ही समाजों में दासों के साथ अच्छा व्यवहार करने का आदेश था। हिन्दू-समाज में वे परिवार के सदस्यों के समान रहते थे और उत्सवों तथा पर्वों के समय उनके साथ दया का व्यवहार किया जाता था। मुहम्मद साहब ने भी दासों के साथ अच्छा व्यवहार करने का आदेश दिया और कहा कि उसे वैसा ही भोजन-वस्त्र दो जैसा अपने व्यवहार में लाते हो। दोनों ही समाजों में दासत्वकाल में दास को स्वामी की आज्ञा के बिना कुछ भी करने का अधिकार नहीं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। वह न कहीं जा सकता था, न किसी को अपने पास बुला सकता था और न स्वामी की आज्ञा के बिना अपना अथवा अपने परिवार के लोगों का विवाह कर सकता था। जो सम्पत्ति वह अर्जित करता था वह उसके स्वामी की समझी जाती थी और दास की मृत्यु के पश्चात् उसकी सम्पत्ति का अधिकारी उसका स्वामी होता था। दोनों ही समाजों में कुछ विशेष दशाओं में दासों को स्वतंत्र कर देने का नियम था। परन्तु यह नियम समान नहीं थे। यदि कोई दास स्वामी के प्राणों की रक्षा करे तो उसे दासता से मुक्ति पाने का अधिकार था। यदि स्वामी उसकी सेवा अथवा उसके व्यवहार से संतुष्ट हो जाय तो वह स्वेच्छा से किसी भी समय उसे दासता से मुक्त कर सकता था। जो व्यक्ति ऋण के कारण दास हुआ हो वह ऋण चुका कर स्वतंत्रता प्राप्त कर सकता था। स्वतंत्रता देते समय हिन्दू स्वामी दास के सिर पर से पानी का भरा घट उतार कर तोड़ देता था और उसके ऊपर अक्षत फेंकता हुआ तीन बार कह देता था 'अब तू दास नहीं है।' इसके उपरान्त वह स्वतंत्र समझ लिया जाता था। मुसलमानों में प्रायः लिखित मुक्ति-पत्र देने की परिपाटी थी।

दास-दासियों का व्यापार करने वाले व्यक्ति सुन्दर और कुशाग्र-बुद्धि बालक-बालिकाओं को खरीद कर उनकी शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध करके उनको संगीत, नृत्य चित्रकला, अस्त्र-शस्त्र के उपयोग आदि में निपुण कर देते थे। वे उनको ऐसा सुसंस्कृत तथा सुशील बना देते थे जिससे वह अपने स्वामी को सहज में ही प्रसन्न कर सकें। ऐसे दास-दासियों के यौवन-काल में उनका अच्छा मूल्य मिलता था और स्वामी को खूब लाभ होता था।

तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर मुस्लिम समाज में दासों की अवस्था अधिक अच्छी थी। किसी बड़े आदमी का दास होना वहाँ गौरव की बात थी। भारतीय समाज में दास होना किसी भी प्रकार गौरव की बात नहीं समझी जाती थी। मुस्लिम समाज में किसी सम्राट अथवा अमीर के दास उसके अनुयायियों के समान समझे जाते थे। उनमें से अनेक आकृति में सुन्दर और उच्चकोटि की शिक्षा से सम्पन्न होने के कारण शीघ्र ही अपने स्वामी का स्नेह तथा विश्वास प्राप्त कर लेते थे और ऊँचे-से-ऊँचे पद प्राप्त कर लेते थे। शहाबुद्दीन के दासों में ताजुद्दीन यलदौज़, नासिरुद्दीन क़ुबाचा और क़ुत्बुद्दीन ऐबक प्रायः सुलतानों के समान शक्ति रखते थे और उसकी मृत्यु के बाद उन्होंने अपने-अपने क्षेत्र में स्वतंत्र शासन की स्थापना कर ली। इल्तुतमिश और ग़यासुद्दीन बलबन भी दासता के पद से बढ़ कर सम्राट हुए थे। नासिरुद्दीन खुसरो, मलिक काफ़ूर, खानजहाँ मक़बूल आदि अनेक व्यक्ति हैं जिन्होंने मध्ययुगीन भारत में निम्न पदों से आरम्भ करके अपनी योग्यता के कारण ऊँचे-से-ऊँचे पद प्राप्त किये और खूब ठाट-बाट से जीवन-यापन किया। खान जहाँ मक़बूल के विषय में लिखा मिलता है कि उसके अंतःपुर में विभिन्न देशों की सुन्दरियों का ऐसा सुरुचिपूर्ण चयन किया गया था कि उस

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समय के इन्द्रिय-लोलुप सुलतानों के रनवासों में भी इतनी रूपवती और बहुसंख्यक रमणियाँ होना कठिन था। हिन्दू समाज में दास की अपेक्षा स्वतंत्र व्यक्ति का सम्मान सर्वदा अधिक रहता था। परन्तु मुस्लिम समाज में अनेक दास ऐसे हुए हैं जिनकी अपेक्षा स्वतंत्र व्यक्ति कम प्रभाव वाले ही नहीं रहे वरन् उनके नीचे अधीन पदों पर कार्य करते थे। जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, भारत में तुर्कों की सफलता का एक प्रमुख कारण उनकी विशिष्ट दास-प्रथा भी थी।

स्त्रियों की दशा

प्राचीन काल की अपेक्षा मध्ययुग में स्त्रियों की दशा गिरती जा रही थी तो भी समाज में उनको आदरपूर्ण स्थान प्राप्त था। हिन्दू परिवार में स्त्री गृहस्वामिनी समझी जाती थी और कोई भी धार्मिक कृत्य उसकी सहयोगिता के बिना सम्पन्न नहीं किया जा सकता था। स्मृतिकारों ने कहा था कि जहाँ नारी का मान होता है वहाँ देवता निवास करते हैं। उनकी शिक्षा का भी प्रवन्ध किया जाता था और इस काल की नारियों में अनेक विदुषी महिलाएँ हुई हैं। शंकराचार्य को शास्त्रार्थ में पराजित करने का श्रेय मण्डन मिश्र की पत्नी उभय भारती को दिया जाता है। राजशेखर की पत्नी अवंतिसुन्दरी ने प्राकृत काव्य में प्रयुक्त होने वाले शब्दों का एक कोश तैयार किया था और अपनी रचनाओं द्वारा शब्दों के प्रयोग के उदाहरण प्रस्तुत किये थे। हेमचन्द्र ने उसकी रचनाओं के उद्धरण दिये हैं। मीराबाई एक उच्चकोटि की साधिका थीं और उन्होंने कृष्ण भक्ति-विषयक अनेक पदों की रचना की है। तत्कालीन साधु-संत सादर उनका उपदेश सुनते थे। नृत्य, संगीत, चित्र-कला आदि में वे विशेष दक्ष होती थीं।

पुरुषों की अपेक्षा स्त्री का सम्मान कम होने के कई लक्षण दिखाई पड़ते हैं। राज-घरानों तथा धनी वर्गों में बहु-विवाह का चलन बढ़ रहा था और इस प्रकार नारी को प्रमुखतः इंद्रिय-सुखों का साधन समझा जाने लगा तथा एक ही पति की अनेक पत्नियाँ प्रायः एक दूसरे के साथ ईर्ष्या करती थीं और अनेक स्थलों में आत्म-सम्मान में आघात पाती थीं। तुर्कों के आने के बाद रनवासों का आकार बढ़ने लगा और स्त्री का सामाजिक मान क्रमशः घटने लगा। घर की चेरी अपने रूप-लावण्य के कारण स्वामी के हृदय पर विजय पाने लगी और अपनी स्वामिनी की मर्यादा घटाने में सहायक हुई। विलासिता के उद्देश्य से एकत्रित महिलाओं को अपने पति के मरने के बाद सहमरण की क्रिया द्वारा अपने सतीत्व का प्रमाण देना पड़ता था। विधवाओं को पुनर्विवाह की अनुमति नहीं थी और समाज में उन्हें संन्यासिनी की भाँति रहना पड़ता था। पर्दे की प्रथा भी बढ़ने लगी और धीरे-धीरे बाल-विवाह की प्रथा का भी आम चलन हो गया। कन्या का जन्म होने पर अनेक परिवारों में दुख मनाया जाता था और पुत्र का जन्म होने पर उत्सव मनाया जाता था। कुछ समाजों में एक स्त्री के भी अनेक पति होते थे और उसके कारण कोई पारिवारिक अशान्ति नहीं होती थी। इब्नबतूता लिखता है कि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मलाबार में पिता की सम्पत्ति पर पुत्र का अधिकार न हो कर भानजे का अधिकार होता था। परन्तु ऐसे समाज कम थे। हिन्दुओं की द्विजेतर जातियों में नारी को प्रायः समान अधिकार प्राप्त थे। उनमें विधवा-विवाह, तलाक, स्वेच्छा से विवाह आदि का चलन था और पर्दे की प्रथा नहीं थी।

मुस्लिम परिवारों में स्त्री का मान और भी कम था। वहाँ सामान्य लोगों में भी बहु-विवाह की प्रथा थी। चेरियों के साथ अवैध सम्बन्ध होने पर पत्नीत्व प्राप्त करने की घटनाएँ अत्यधिक रहती थीं। इस कारण चेरी और स्वतंत्र पत्नी में विशेष अन्तर नहीं रहता था। शेरशाह की माता स्वतंत्र अफ़ग़ान होने पर भी दासी सपत्नी के समान भी आदर नहीं पाती थी। मुस्लिम उच्च वर्गों में उच्छृंखलता की मात्रा अधिक थी और रक्षिताओं का रखना अपमान की बात न होकर समृद्धि का द्योतक समझा जाता था। क़ुत्बुद्दीन मुबारक खिलजी और कैक़ुबाद के समय में राजदर्बार में भी उच्छृंखलता इतनी बढ़ गई कि तत्कालीन पतित समाज के लोगों को भी असह्य होने लगी। मुस्लिम परिवारों में पर्दे की प्रथा और भी कड़ी थी। फ़ीरोज़ तुग़लक और सिकन्दर लोदी ने स्त्रियों की स्वतंत्रता को और कुण्ठित किया। फ़ीरोज़ अपनी आत्मकथा में लिखता है कि उसने स्त्रियों का संतों की क़ब्रों पर जाना बन्द करवा दिया क्योंकि वहाँ उनको पथ-भ्रष्ट करने के लिए अनेक चरित्रहीन पुरुष भी जाया करते थे। सामाजिक सीमाओं के भीतर मुस्लिम नारियों को हिन्दू नारियों से कुछ विशेष सुविधाएँ भी थीं। उनके लिए सती होने का कोई प्रश्न ही नहीं था और उनको पिता की संपत्ति में अधिक अधिकार रहता था। वह विशेष परिस्थितियों में पति को तलाक दे सकती थीं।

साधारणतः पारिवारिक जीवन में विशेष अशान्ति नहीं रहती थी और पति-पत्नी में सद्भावना, स्नेह तथा पारस्परिक सम्मान रहता था। मुस्लिम समाज में भी उच्च वर्गों में तलाक एवं विधवा-विवाह की घटनाएँ कम होती थीं और स्त्रियाँ की आपेक्षिक सच्चरित्रता के कारण कुल-परम्परा की रक्षा होती थी तथा समाज में स्थायित्व और शान्ति रहती थी।

बौद्ध, जैन और वैष्णव धर्मों के प्रभाव के कारण अधिकांश हिन्दू परिवारों में निरामिष भोजन का ही प्रचार था। जीव-हत्या को घृणित समझा जाता था।

आहार-विहार

परन्तु धीरे-धीरे क्षत्रियों में सामिष भोजन की रुचि बढ़ने लगी। शूद्रों में भी माँस-मछली खाने का चलन था। भारत के कुछ भागों में मछली बहुतायत से मिलती है। वहाँ अधिकाँश लोग उसे खाते थे। बौद्ध तांत्रिकों और शाक्तों के प्रभाव से भी मांस-मछली का उपयोग बढ़ा। भोजन बनाने की कला की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था और उत्सवों, पर्वों तथा अतिथियों के सत्कार के समय विभिन्न प्रकार के सुस्वादु व्यंजन तैयार किये जाते थे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूध, घी, मक्खन आदि को भोज्य पदार्थों में विशेष सम्मान दिया जाता था। हिन्दू समाज के कुछ व्यक्ति मृत पशुओं का मांस खाते थे और ऐसे कम जीव थे जिनका मांस उपलब्ध होने पर वे न खाते हों। ऐसे लोगों को समाज के अन्य लोग गंदा मानते थे और इसलिए उनको नगरों-गाँवों के बाहर रहना पड़ता था। मदिरा तथा अन्य मादक द्रव्यों का उपयोग पहले बहुत कम था परंतु विलासिता और चरित्र-हीनता के साथ-साथ इन वस्तुओं का उपयोग भी बढ़ता गया। धीरे-धीरे उच्च वर्गों में मदिरा और अफीम का प्रयोग बहुत बढ़ गया।

हिन्दू मुसलमान दोनों ही अतिथि सत्कार के लिये प्रसिद्ध थे। मुस्लिम परिवारों में मांसाहार खूब प्रचलित था। केवल कुछ सूफी संतों और उनसे प्रभावित परिवारों में निरामिष भोजन का रवाज था। मुसलमानों में ईरानी एवं भारतीय प्रभाव के कारण व्यंजनों की संख्या काफी बढ़ी और उनके यहाँ प्रीति-भोजों के समय अनेक प्रकार के सामिष तथा निरामिष आहार प्रस्तुत किये जाते थे।

घरों को सजाने का भी रवाज था परन्तु मुसलमानों के यहाँ प्रायः सजावट का सामान कम रहता था। आभूषणों के प्रति सभी को आकर्षण था और अनेक प्रकार के विभिन्न धातुओं के सामान्य तथा रत्नजटित आभूषण तैयार किये जाते थे जिनको मस्तक तथा चोटी से आरम्भ करके पैर कीं उँगलियों तक सजाया जाता था। आभूषणों की सुविधा के लिए नाक-कान में अनेक छिद्र किये जाते थे और शरीर का शायद ही कोई ऐसा भाग हो जिसके उपयुक्त कोई-न-कोई आभूषण न हो। इस काल की देवी-प्रतिमाओं में आभूषणों के बाहुल्य के कारण सारा शरीर लदा दिखाई पड़ता है। वस्त्र भी विभिन्न प्रकार के होते थे। ऊनी-सूती-रेशमी वस्त्रों का प्रचलन था। मंत्रियों और मुस्लिम उच्चवर्गों में विभिन्न रंगों के खूब कीमती वस्त्रों का उपयोग किया जाता था और उनको सुनहले तथा रुपहले बेल-बूटों से अलंकृत किया जाता था। सामान्य लोगों का पहनावा भी वैसा ही सादा था जैसा कि उनका भोजन। परन्तु उनमें भी अपने आर्थिक साधनों के अनुरूप रंगीनी तथा सजावट की ओर आकर्षण था। जिस भाग में मुसलमानों का अधिकार था वहाँ हिन्दुओं की आर्थिक दशा अपेक्षाकृत खराब थी और कुछ सुलतानों ने उनको बुरी तरह पीस डालने का उद्योग किया परन्तु प्रायः इतनी कड़ाई का व्यवहार नहीं किया गया।

आमोद-प्रमोद के भी अनेक प्रकार थे। तुर्कों के आने के पूर्व और उनके प्रभाव से मुक्त स्थलों में होली, वसंतोत्सव, रक्षाबन्धन आदि के त्यौहार खूब आनन्द और उत्साह के साथ मनाये जाते थे। तुर्की प्रभाव-क्षेत्र में कभी-कभी इनमें बाधा डाली गई। इसके अतिरिक्त संगीत, नृत्य, कलाप्रदर्शनियों, नाटक-मंडलियों के द्वारा भी मनोरंजन होता था। द्यूत, शिकार, मल्लयुद्ध, पशुओं की लड़ाइयाँ आदि भी मन बहलाने के साधन थे। यह सब सुख प्रधानतः उच्चवर्गों के लिए ही उपलब्ध थे परन्तु

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निम्नश्रेणी के लोग आर्थिक संकट की अवस्था में भी अपने ढंग से मनोरंजन के साधन जुटा लेते थे। उनमें सस्ती मदिरा का उपयोग होता था, लोक-नृत्यों का चलन था और अनेक लोग कुश्ती तथा अस्त्र-शस्त्रों के उपयोग में दक्ष होते थे। कुछ उनमें नट होते थे जो विभिन्न प्रकार के खेल दिखाते थे।

आर्थिक दशा

इस काल में देश में धन-धान्य की प्रचुरता थी। मुसलमानों के आने के पूर्व राजपूतों की उदार नीति के कारण निरन्तर युद्ध होते रहने पर भी कृषकों तथा व्यापारियों को किसी प्रकार की असुविधा नहीं रहती थी। इस कारण देश में बराबर धन की वृद्धि होती गई। उद्योग-व्यापार में खूब उन्नति हुई और स्थल तथा जल-मार्ग से आने वाले विदेशी व्यापारी प्रतिवर्ष यहाँ सोना-चाँदी तथा रत्न देकर यहाँ के मसाले, वस्त्र, हाथी दाँत के सामान आदि ले जाते थे। समाज की संपन्नता का प्रमाण आभूषणों के बाहुल्य तथा भव्य मंदिरों के निर्माण से मिलता है। साहित्य में आतिथ्य-सत्कार अथवा उत्सवों का जो वर्णन मिलता है उससे भी समृद्धि का परिचय मिलता है। विदेशी यात्रियों ने जो विवरण प्रस्तुत किए हैं उनसे भी भारतीयों की आर्थिक दशा का परिचय मिलता है। महमूद, शहाबुद्दीन ग़ोरी, तथा तैमूर ने लूट में जो धन पाया उससे भी उच्च वर्गों की संपत्ति का अनुमान लग सकता है। तुर्कों के शासन-काल में देश की अधिकांश संपत्ति देश के भीतर ही व्यय होने के कारण समृद्धि पर विशेष आघात नहीं लगा। उन्होंने भी स्थानीय लोगों के जीवन में प्रायः हस्तक्षेप नहीं किया इसलिए कृषि तथा उद्योग-व्यवसाय में उन्नति होती रही। फ़ीरोज़ तुग़लक तथा इब्राहीम लोदी के समय में खाद्यान्नों की प्रचुरता थी और उनका भाव भी मंदा था। इस काल में अनेक सरकारी कारखाने भी खोले गये जहाँ विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ तैयार की जाती थीं। इन सुलतानों ने भी कला तथा साहित्य के प्रोत्साहन में खूब व्यय किया। विदेशियों ने मुहम्मद बिन तुग़लक के समय में यहाँ से दान के रूप में बहुत धन पाया और दक्षिण भारत में अनेक विदेशी मुसलमान बहमनी तथा उत्तराधिकारी राज्यों में नौकर होकर धन बटोरते रहे। इन सब बातों से विदित होता है कि साधारण दृष्टि से देश की आर्थिक दशा अच्छी थी और उद्योग तथा व्यवसाय में भी उन्नति होती रही। महमूद और तैमूर ने हिन्दुओं को क़त्ल करने में विशेष गौरव और आनन्द का अनुभव करने पर भी यहाँ के कारीगरों और कलाकारों को नहीं मारा वरन् उनको बन्दी बना कर स्वदेश ले गये और उनकी कृतियों द्वारा अपने साम्राज्य की भव्यता तथा समृद्धि को बढ़ाया। परन्तु साधारण मनुष्य की आय और उच्च वर्गों की आय में बहुत अन्तर था। लाखों व्यक्ति प्रायः पशुओं का सा जीवन व्यतीत करते थे और खाद्य-अखाद्य खाकर, नंगे-निरवस्त्र रहकर जीवन बिताते थे। इन्हीं दरिद्र वर्गों में से अनेक लोग अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के लालच से मुसलमान हो गये

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद्यपि वहाँ भी उनकी वही दशा बनी रही और आजकल भी हिन्दू तथा मुस्लिम समाज के इन दलित वर्गों का 'उद्धार' एक प्रमुख सामाजिक समस्या बनी हुई है।

जिस प्रकार राजनैतिक तथा सामाजिक क्षेत्र में मध्ययुग पतन, संघर्ष एवं पुनर्निर्माण का काल था उसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भी पतन, संघर्ष एवं पुनर्निर्माण का दृश्य दिखाई पड़ता है। मुसलमानों के आने के पूर्व भारतवर्ष में हिन्दू, बौद्ध तथा जैन धर्मों के अन्तर्गत अनेक सम्प्रदाय थे और उनके धार्मिक विश्वासों, पूजा-पद्धतियों, धार्मिक कृत्यों आदि में बहुत अन्तर था। जैनियों का प्रभाव धीरे-धीरे घटकर प्रधानतः पश्चिमोत्तर भारत और राजपूताना में सीमित हो गया था। इस काल में भी उनमें अनेक प्रकाण्ड विद्वान् और तार्किक पैदा हुए जिन्होंने जैनी धर्म-पुस्तकों की व्याख्या की और उनके आध्यात्मिक अंश को तर्क और प्रमाणों द्वारा पुष्ट करके जैन धर्म का अस्तित्व अक्षुण्ण रखा। परन्तु इन विद्वानों का मध्यकालीन भारतीय धार्मिक इतिहास में उतना प्रभाव नहीं पड़ा जितना कि शैव, वैष्णव अथवा महायानी विचारकों का।

धार्मिक दशा

हर्ष के समय से ही हीनयान बौद्ध-धर्म की अपेक्षा महायान बौद्ध धर्म का प्रचार बढ़ रहा था। महायानी बौद्धों में अनेक विद्वान् हुए। उन्होंने निर्वाण की अपेक्षा भक्ति पर विशेष बल दिया। उन्होंने बुद्ध को सर्वोच्च सत्ता स्वीकार किया। परन्तु यदि बुद्धत्व पद का अधिकारी व्यक्ति सचमुच निर्वाण को स्वीकार करके बुद्ध हो जाय तो सांसारिक जीवों को सन्मार्ग की ओर प्रेरणा देने वाला कोई न रहता। इसलिए उन्होंने बोधिसत्वों की कल्पना करके इस अभाव को पूरा किया। उन्होंने इन बोधिसत्वों की पूजा का प्रचार किया और इसकी विधि का अन्वेषण किया। इसी प्रसंग में उन्होंने अमिताभ के लोक सुखावती का वर्णन किया जहाँ भक्ति-सम्पन्न बौद्ध सद्गुरु के आदेशों पर चलते हुए शाश्वत भगवान् अमिताभ की कृपा से प्रवेश पाते हैं और अनन्य सुख का उपभोग करते हैं।

(क) महायान बौद्ध सम्प्रदाय

महायानी बौद्धों का प्रभाव पश्चिमोत्तर भारत तथा मध्यदेश में बहुत अधिक था। परन्तु सर्वत्र उनका ब्राह्मण पण्डितों एवं दार्शनिकों से संघर्ष चल रहा था जिसके फलस्वरूप धीरे-धीरे उनका प्रभाव घट रहा था। इस संघर्ष में सबसे अधिक भाग शैवों ने लिया। शैवों के अनेक सम्प्रदाय थे, यथा पाशुपत, कापालिक, वीरशैव, शिव-सिद्धान्त, लिंगायत, आदि। शैव धर्म काफी प्राचीन है और सिंधु घाटी में जो खुदाई हुई है उसमें भी त्रिशूलधारी पशुपति भगवान् की पूजा के प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। इस भाँति वह वैदिक धर्म से प्राचीनतर सिद्ध होता है और ऐसा प्रतीत होता है कि जब आर्यों ने द्राविड़ों को अपनी वर्ण-व्यवस्था में स्थान दिया तब शिव भी वैदिक

(ख) शैव सम्प्रदाय

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देवताओं में प्रविष्ट हो गए और उनका सम्बन्ध वैदिक रुद्र से जोड़ दिया गया। कालान्तर में शैवधर्म का प्रचार प्रायः सम्पूर्ण भारत में फैल गया और उनमें अनेक सम्प्रदायों की सृष्टि द्वारा जंगली जातियों से लेकर निगूढ़ दार्शनिक विचारों में मग्न रहने वाले पण्डितों को आकर्षित करने की क्षमता उत्पन्न की गई। शैवों में कुछ ऐसे लोग थे जिन्होंने गहन आध्यात्मिक तत्वों के निरूपण में ज्ञान की उच्चतम संभावनाओं का संस्पर्श प्राप्त किया और कुछ ऐसे भी थे जिन्होंने वज्रयानी बौद्धों का अनुकरण करते हुए वाम-मार्ग का समर्थन किया और ऐसी क्रियाओं का प्रचार किया जिनका आध्यात्मिक पहलू था सिद्धि-प्राप्ति, काया-सिद्धि, अमरत्व-प्राप्ति किन्तु जिनका वाह्य स्वरूप बहुधा अत्यन्त वीभत्स और अश्लील प्रतीत होता था। मुसलमानों के आने के पूर्व वज्रयानी बौद्ध तथा कापालिक शैव पूरवी भारत में बिहार से आसाम कलिंग तक फैले हुए थे। अनेक इंद्रिय-लोलुप मनुष्य इन्हीं क्रियाओं की आड़ में खूब भ्रष्टाचार और व्यभिचार फैला रहे थे।

दार्शनिक ज्ञानमार्गी शैवों में सबसे अधिक ख्याति शंकराचार्य को प्राप्त हुई है। बौद्धों का प्रभाव घटाने और वेदों-ब्राह्मणों की महत्ता को स्थापित करने, अनाचार को रोकने और धर्म का जनसाधारण में व्यापक प्रचार करने का जैसा सफल उद्योग शंकर ने अपने अल्पकालीन जीवन में किया वैसा किसी अन्य मध्ययुगीन धर्मसुधारक के लिए संभव नहीं हुआ। शंकर ने भारतीय दार्शनिक क्षेत्र में ऐसा सिक्का जमाया कि उनके विचारों के खण्डन-मण्डन में सहस्रों पांडित्यपूर्ण ग्रंथों की रचना हो चुकी है और आज भी पण्डित-समाज में उनके विचारों को लेकर अध्ययन, अनुशीलन एवं तर्क-वितर्क चल रहा है।

(ग) शंकर का अद्वैतवाद

शंकर का जन्म ७८८ ई० में मलाबार तट पर स्थित कलादी ग्राम में एक नाम्बूद्री ब्राह्मण परिवार में हुआ था और वह ३२ वर्ष की आयु में सन् ८२० ई० में पंचत्व को प्राप्त हुए। शंकर ने वेद-शास्त्र के अध्ययन में चमत्कारिक सफलता प्राप्त की और किशोरावस्था में ही सम्पूर्ण अध्ययन समाप्त करके उन्होंने लिखना आरम्भ किया। उनकी इच्छा थी कि हिन्दू धर्म-ग्रंथों के सहारे एक ऐसे अकाट्य मत का प्रतिपादन करें जिसके कारण वहुरूपता का अंत हो जाय और सभी हिन्दू एक मार्ग पर चल सकें। इस उद्देश्य से उन्होंने ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता और कुछ प्रमुख उपनिषदों के भाष्य रचे। इनका सामूहिक नाम है स्थानत्रयी। शंकर ने जिन ग्रंथों की रचना की है उनमें ब्रह्मसूत्र का भाष्य अत्यन्त सुन्दर बना है। शंकर ने स्थानत्रयी के आधार पर उस समय के प्रचलित मत-मतान्तरों का खण्डन करके अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा की और समस्त देश का भ्रमण करके विभिन्न स्थानों के पंडितों को शास्त्रार्थ में पराजित करके दिग्विजय प्राप्त की। तदनन्तर उन्होंने भारत के चारों कोनों में—उत्तर में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वदरिकाश्रम, दक्षिण में शृंगेरी, पूर्व में पुरी तथा पश्चिम में द्वारिका में चार मठ स्थापित किए और अपने अनुयायी संन्यासियों को धर्म-प्रचार का आदेश दिया।

शंकर के भाष्यों और विशेषकर ब्रह्मसूत्रों के भाष्य के विषय में कहा जाता है कि उन्होंने ग्रंथकार के भावों को ठीक-ठीक उद्घाटित करने के स्थान पर अपने मत का ग्रंथ पर आरोप कर दिया है। अस्तु भाष्यकार की दृष्टि से शंकर को बहुत उच्च स्थान नहीं दिया जा सकता यद्यपि दूसरे के विचारों को इस प्रकार प्रगट करना जिसमें अपने मत का समर्थन हो अत्यन्त उच्चकोटि की प्रतिभा, प्रगल्भता एवं सूक्ष्म-बुद्धि का परिचायक हो सकता है।

शंकर के मत से सत्य वस्तु केवल एक है। वह है ब्रह्म। एक वस्तु के होते हुए भी बहु की प्रतीति का कारण यह है कि मूल अविद्या ब्रह्म का आश्रय लेकर अनादि काल से खेल रही है। यही है माया। इसी के प्रभाव से परमार्थिक दृष्टि से जो अलीक जगत् है वही व्यवहारिक भूमि में वास्तविक प्रतीत होता है। जीव की आत्मा और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है क्योंकि दोनों ही विशुद्ध चैतन्य हैं और उनमें अंग-अंगी सम्बन्ध न होकर पूर्ण एकत्व है। विशुद्ध चैतन्य के साथ अशुद्ध सत् अर्थात् अविद्या का संयोग होने के कारण जीव अपने को ब्रह्म से पृथक् समझता है। अस्तु, आवश्यक यह है कि वह इस अविद्या के आवरण को काटकर ब्रह्मत्व प्राप्त करे। यही जीवन का लक्ष्य है। उस समय किसी प्रकार का मल, अज्ञान, क्रिया, दुःख आदि की स्मृति भी नहीं रहेगी और नितान्त निष्क्रिय, निष्कम्प, शुद्ध सच्चिदानन्द सत्ता की प्राप्ति होगी।

अविद्या को काटने के लिये जिस पथ का अनुसरण करना आवश्यक है वह पथ सद्गुरु ही दिखा सकता है। शंकर उस गुरु को ईश्वर कहते हैं। ईश्वर में विशुद्ध चैतन्य तथा विशुद्ध सत् का संयोग रहता है इसलिए वह ब्रह्म से भिन्न होने पर भी अज्ञान के आवरण से मुक्त है। वही ज्ञान का मार्ग दिखा सकता है। इसी ईश्वर की उपासना ब्रह्मत्व-प्राप्ति का प्रथम सोपान है। ईश्वर को शिव का स्वरूप देकर शंकर ने शैव-उपासना का प्रचार किया। यह उपासना जनसाधारण के लिए भी सुगम थी और ब्रह्मवाद, मायावाद तथा अद्वैतवाद पण्डितों के लिये रुचिकर सिद्ध हुआ।

यद्यपि शंकर के मत का मूल गौड़पाद में मिलता है जिन्होंने माँडूक्योपनिषद् की कारिका लिखी है तथा उनके बाद पद्मपाद एवं सुरेश्वर आचार्य से लेकर १८वीं शताब्दी तक इस धारा में अनेक प्रकाण्ड पण्डित हुए हैं जिन्होंने अनेक प्रतिभासम्पन्न एवं विद्वत्तापूर्ण ग्रंथों की रचना की है तथापि इस धारा को विशेष बल शंकर के कार्यों से ही मिला है। शंकर का मत इतना प्रभावशाली हुआ कि रामानुज, मध्व, काश्मीर शैवों आदि के प्रबल प्रहारों का सामना करता हुआ वह अभी तक अपनी रक्षा करता जा रहा है। एक विद्वान् का मत है कि यदि शंकर ने प्राचीन ग्रंथों का बन्धन न स्वी-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार करके स्वतंत्र रूप से अपने विचारों को व्यक्त किया होता तो वह संभवतः विश्व के दार्शनिकों में अत्यन्त उच्च स्थान पर आसीन होते।

शंकर के प्रचार के कारण बौद्ध-धर्म का शीघ्रता के साथ लोप होने लगा। उन्होंने पण्डित के लिए ज्ञान-मार्ग और सामान्य व्यक्ति के लिये ईश्वरोपासना की व्यवस्था करके सभी वर्ग के व्यक्तियों को प्रभावित किया। परन्तु एक पण्डित वर्ग ऐसा था जो शंकर के ज्ञान-मार्ग को शुष्क और नीरस समझता था। वह समझता था कि स्थानत्रयी की टीका के आधार पर ही भक्ति का प्रतिपादन किया जाय। मोक्ष-प्राप्ति के साधनों में भक्ति को सदियों पूर्व स्थान मिल चुका था। दक्षिण में वैष्णव अलवार ईस्वी सन् की पहली सदी के निकट भक्ति का प्रचार कर रहे थे। उनके भी पूर्व अथवा उन्हीं के समय में शैव अड़ियार भी भक्ति-मार्ग का ही अवलंबन ले रहे थे। भगवद्गीता में भी भक्तिपूर्वक निष्काम कर्म करने पर सर्वाधिक महत्व दिया गया है और कृष्ण बार-बार दुहराते हैं कि यदि तुम मेरी शरण में आ जाओ और तुम निर्मल भाव से अर्चना करो तो तुम्हें अवश्य मुक्ति मिलेगी। इस भाँति भक्ति की धारा बराबर चली आ रही थी। परन्तु भगवद्गीता और उपनिषदों के आधार पर ही जब शंकर ने अद्वैत मत का प्रतिपादन किया तब सामान्य विद्वान् के लिए उनके मत का खण्डन करके भक्ति को प्रतिष्ठित कर सकना कठिन हो गया। परन्तु उनकी प्रवृत्ति, अद्वैत-वाद और ज्ञान मार्ग की ओर न जाकर भक्ति की ओर ही खिचती थी।

(घ) वैष्णव धर्म

इस प्रवृत्ति को दार्शनिक समर्थन वैष्णव आचार्यों ने दिया। वैष्णवों के चार प्रमुख सम्प्रदाय हैं। उनका विश्वास है कि नारायण के आदि शिष्य चार हैं। उन्हीं की शिष्य-परम्परा से वैष्णवों के चार मूल सम्प्रदाय बने। वे सम्प्रदाय निम्नलिखित हैं:—

(१) चतुष्सम्प्रदाय

(१) श्री-सम्प्रदाय—इस धर्म की शिक्षा नारायण की आदि शिष्य श्री से प्राप्त हुई है। इसका विशेष प्रचार रामानुज ने किया। इनका दार्शनिक मत विशिष्टाद्वैत है।

(२) ब्रह्म-सम्प्रदाय—इनके मूल-गुरु भगवान् के शिष्य ब्रह्मा हैं। इसका प्रचार मध्व ने किया। यह लोग द्वैतवादी हैं। चैतन्य के सम्प्रदाय को मध्वगौड़ीय कहते हैं यद्यपि विचारों की दृष्टि से वे निम्बार्क के अधिक निकट हैं।

(३) रुद्र-संप्रदाय—यह लोग नारायण के शिष्य रुद्र की परम्परा में हैं। इसका प्रचार पहले विष्णुस्वामी ने और बाद में वल्लभ ने किया। यह लोग शुद्धाद्वैतवादी हैं।

(४) सनकादि-संप्रदाय—इसके मूल प्रवर्तक सनक-सनंदन माने जाते हैं जिन्होंने सीधे नारायण से शिक्षा पाई थी। निम्बार्क ने इसका प्रचार किया। यह

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोग द्वैताद्वैतवादी हैं।

इन सभी लोगों ने शंकर के मायावाद का खण्डन किया है और जगत की अलीकता तथा जीव और ब्रह्म की सम्पूर्ण एकता को अस्वीकार किया है। रामानुज कहते हैं कि अद्वैत को तो मैं भी मानता हूँ परन्तु निर्विशेष अद्वैत को नहीं। ब्रह्म सविशेष होते हुए भी एक है। उसके विशेषण हैं सत्-अथवा अचित् रूपा प्रकृति और चित्-रूप पुरुष। अस्तु ब्रह्म चिद्चिद्-विशिष्ट है। अस्तु ब्रह्म प्रकृति तथा पुरुष तीनों ही नित्य हैं परन्तु ब्रह्म है अंगी और प्रकृति तथा पुरुष उसके अंग हैं। प्रकृति और पुरुष का पारस्परिक संबंध भी अंग-अंगी का है—पुरुष है अंगी और प्रकृति है अंग। यह दोनों विशेषण पहले सूक्ष्म अथवा विदेह अवस्था में थे परन्तु सृष्टि के समय वे स्थूल अथवा देह-युक्त हो जाते हैं। रामानुज प्रकृति अथवा अचित् को ही माया कहते हैं।

(२) रामानुज

आदि सृष्टि आरम्भ होने पर केन्द्र में ब्रह्म रहता है और उसके चारों ओर अंशरूपेण जीवात्मा निकल जाते हैं। इनको भी घेरे हुए माया रहती है। उस समय कुछ काल के लिए जीव में ब्रह्म का स्वातंत्र्य गुण रहता है। उस गुण के कारण कुछ उसकी ओर मुख कर लेते हैं और उसका दर्शन पाने के कारण उन्हें ब्रह्मस्वरूप तथा आत्मस्वरूप दोनों का ही बोध रहता है। वे नित्य-मुक्त जीव हैं और वे भगवान् के नित्य भक्त हैं। भक्ति के कारण उनमें आनन्द रहता है और अपने स्वरूप का ज्ञान होने के कारण उनमें चैतन्य रहता है। इस भांति उनकी चिदानंद की स्थिति रहती है। परन्तु उनको सत् (माया) का कोई ज्ञान नहीं रहता। उसी समय जिन जीवों ने माया की ओर मुख कर लिया वे उसके अनंत वैचित्र्य से आकृष्ट होकर उसी में कूद पड़े। यही बद्ध जीव हैं। सद्गुरु के प्रभाव से जब इन जीवों का इन्द्रिय सुखों की ओर से मन हटने लगता है तब इनको क्रमशः माया के बन्धन से मुक्ति मिलने लगती है। ज्ञान के द्वारा माया का जाल काटकर कैवल्य पद प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु जिनको ज्ञान के साथ-साथ भगवान के प्रति भक्ति या प्रपत्ति का भाव रहता है उनका माया का बन्धन कटने के साथ-साथ अपने स्वरूप का बोध तथा भगवान् के बैकुण्ठ-धाम में प्रवेश प्राप्त होता है। वहाँ भगवान् का सामीप्य और किंकरत्व मिलता है। उसके बाद भगवान् द्वारा दीक्षा दिये जाने पर सच्चिदानन्द स्वरूप की प्राप्ति होती है। इसको वह चरम अवस्था मानते हैं। वह कर्म को प्रकृति से संबंधित बताकर सर्वकाल के लिए बंधनकारी बताते हैं, ज्ञान से वह कैवल्य-प्राप्ति संभव बताते हैं और भक्ति से बैकुण्ठ धाम में प्रवेश तथा सच्चिानन्द की प्राप्ति संभव मानते हैं। इस भाँति वह शंकर के ज्ञान मार्ग को अपूर्ण तथा निम्नकोटि का ठहरा कर भगवान् की भक्ति को रसात्मक तथा श्रेष्ठ सिद्ध करते हैं और इस भांति उसके लिए आकर्षण पैदा कर देते हैं। रामानुज ने मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग सर्वसाधारण के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए खोल दिया परन्तु उन्होंने ज्ञान पर आश्रित होने के कारण भक्ति का मार्ग केवल द्विजों के लिए रखा और द्विजेतर जातियों के लिए प्रपत्ति का मार्ग बताया। प्रपत्ति में केवल अपने को भगवान् और गुरु के अनुग्रह पर छोड़ देना होता है। भगवान् के अनुग्रह से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

रामानुज की भांति मध्वाचार्य भी लक्ष्मीनारायण के उपासक हैं। परन्तु वह जीव को नारायण अथवा ब्रह्म से सर्वथा भिन्न मानते हैं और अभेद ज्ञान को मुक्ति के मार्ग में सबसे बड़ा बन्धन मानते हैं। वे कट्टर द्वैतवादी एवं भेदवादी है। उन्होंने अपने मत का अत्यन्त पाण्डित्य-पूर्ण विवरण दिया है। उन्होंने कर्म के फलाफल के अनुसार उच्च अथवा निम्नगति का प्राप्त करना स्वीकार करते हुए भी पूर्ण मुक्ति को अत्यन्त दुर्लभ स्वीकार किया है। उनके मत

(३) मध्वाचार्य

के अनुसार मुक्ति-प्राप्ति के लिए प्रथम आवश्यकता है अन्यत्र वैराग्य की अथवा भगवान् के अतिरिक्त सभी ओर से मन हटा लेने की। उसके बाद उपयुक्त गुरु की शरण में जाना चाहिए। दीक्षा के बाद ऐसी दृढ़ता लानी चाहिए जिससे सभी विरोधी दशाओं में भगवान् के प्रति भक्ति शिथिल न होने पावे। तदनन्तर उसी भक्ति से प्रेरित होकर भगवान् की उपासना करनी चाहिए। उपासना के फलस्वरूप भगवान का साक्षात्कार होगा और उसके कारण मुक्ति प्राप्त होगी।

कुछ वैष्णवों ने नररूपधारी भगवान् को उनका श्रेष्ठतम रूप स्वीकार करके उनकी उपासना प्रतिपादित की है। इन नर-रूपों में दो प्रधान हैं---कृष्ण और राम। कृष्ण-उपासकों में निम्बार्क, चैतन्य तथा ने वल्लभ इस काल में

(४) निम्बार्क

बहुत ख्याति प्राप्त की। नर रूप भगवान् की श्रेष्ठता को चैतन्य ने इस प्रकार व्यक्त किया है। वह कहते हैं कि मूल में अद्वैत है। ज्ञानी की दृष्टि से देखें तो उसे ब्रह्म कहेंगे। उसमें अनंत शक्तियाँ होते हुए भी सुप्त तथा स्तंभित प्रतीत होंगी और इस कारण वह निराकार होगा। परन्तु यदि ज्ञानी काया पर लक्ष्य रख कर योग की दृष्टि से देखे तो उसे प्रतीत होगा कि उसमें कुछ शक्तियाँ सुप्त हैं और कुछ जाग्रत। उसमें ज्योतिर्मय आकार भी दिखाई पड़ेगा। यह है परमात्मा। ज्ञान और योग का परिपाक होने पर यदि भक्ति की भावना रहे तो मूल वस्तु की सभी शक्तियाँ जाग्रत दिखाई पड़ेंगी और वह स्थूल साकार होगा। यह है भगवान का रूप।

नर-रूप-धारी, स्थूल-शरीरी, गोलोक-विहारी, गोकुल-वृन्दावन के श्रीकृष्ण को वह स्वयं भगवान कहते हैं और जहाँ परमात्मा में ५५ तथा भगवान में ६० कला का विकास मानते हैं वहाँ स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण को सम्पूर्ण ६४ कलाओं से युक्त माना है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीव पर जितना माया का बंधन है यदि वह उतनी ही चेतन-शक्ति का अर्जन कर ले तो वह शरीरांत होने पर माया से मुक्त होकर ब्रह्म में स्थित हो जाता है। परन्तु यदि वह प्रकृति (माया) के बंधन के परिमाण से अधिक चेतन-शक्ति अर्जित करता है और देह पर लक्ष्य रखता है तो उसको हृदयाकाश में प्रकाश दिखाई पड़ता है जो घनीभूत होकर दिव्य नराकृति धारण कर लेता है। यह है परमात्मा का दर्शन। इसके बाद भी यदि साधन कर सकें तो हृदय के अनन्त छिद्र बन्द हो जायँगे। परन्तु कालान्तर में एक नवीन छिद्र बन जायगा। उसी छिद्र से निर्गत होकर भीतर की मूर्ति बाहर प्रकट होकर स्थूल में दर्शन देगी। उसके चेहरे के चारों ओर ऐश्वर्य-बोधक प्रकाश-मण्डल रहेगा। यह है भगवान् का दर्शन। बाद में यह प्रकाश-मण्डल मूर्ति में लीन हो जायगा और वह शुद्ध नर-रूप धारण कर लेगी। यह है स्वयं भगवान का दर्शन। अब लगेगा कि यह तो अपना ही रूप है। भगवान् के साथ भक्त-रूपेण खेल करता हुआ अपने को भी देखेंगे।

चैतन्य, वल्लभ तथा निम्बार्क इसी श्रेष्ठ रूप की उपासना पर जोर देते हैं। चैतन्य ने भक्ति-रस में डूबकर कीर्तन करने का खूब प्रचार किया। उस समय प्रेम-विह्वलता की दशा आने पर मूर्छा आ जाती थी। कुछ लोगों ने कहा है कि शायद उनको मस्तिष्क-विकार के कारण मृगी का रोग हो गया था। परन्तु भक्त इसे ठीक नहीं मानते। वे उनको साक्षात् राधाभाव का प्रतीक मानते हैं। कृष्ण-शाखा के अनेक कवियों ने राधा-भाव को इतना विकृत एवं कलुपित कर दिया है कि उसका अनुकरण करके वैष्णव समाज में कहीं-कहीं खूब व्यभिचार फैल गया है। परन्तु राधा के साथ परकीया प्रेम का कलुषित संबंध नहीं था। जिस समय राधा-कृष्ण की रास-लीला का वर्णन है उस समय कृष्ण इतने किशोर थे कि उनके साथ कामुकता का सयोग केवल दूषित मनोवृत्तिवाले व्यक्ति ही करेंगे। सचमुच राधा को कृष्ण की काया मानते हैं, अर्थात् राधा में कृष्ण के प्रति भक्ति उस चरमावस्था को पहुँची हुई थी कि वही कृष्ण-तत्व का स्थूल आधार अथवा काया बन सकती थीं। इसीलिए राधा को आधा भी कहते हैं। कृष्ण हैं आत्मा और राधा हैं काया। युगल होने पर स्वयं भगवान् का पूर्ण रूप होता है। भक्त के लिए राधा आदर्श हैं। उसमें कृष्ण के प्रति वैसी ही विमल एवं अगाध भक्ति का विकास होना चाहिए ताकि कृष्ण उसे अपना आधार या काया बनाकर उसमें अपने रूप को व्यक्त कर सकें और इस प्रकार आत्मा के संयोग द्वारा उसे पूर्णत्व दान कर सकें।

वल्लभ ने जिस मत को चलाया उसे पुष्टि मार्ग कहते हैं क्योंकि वे कहते थे कि भगवान् के अनुग्रह से पुष्ट जीव ही भक्ति-पथ में प्रविष्ट हो सकेंगे और प्रगति कर सकेंगे। उन्होंने भगवान् की प्रतिमा के पूजन पर भी बल दिया। आगे चलकर यह पूजा-पद्धति बहुत जटिल तथा निम्नभावापन्न हो गई। वल्लभ के अनुयायियों में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अष्टछाप के कवि हुए जिनकी रचनाओं ने कृष्ण-भक्ति के प्रचार में बहुत योगदान किया। परन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि भगवान् को सब कुछ अर्पण करने का इस संप्रदाय में ऐसा अनर्थ किया गया कि उसके कारण अनाचार फैला।

(५) रामानन्द

नारायण के दूसरे नर रूप राम हैं। इनकी उपासना करने वालों में प्रायः नैतिक एवं सामाजिक मर्यादाओं की उपेक्षा की भावना नहीं दिखाई पड़ती। सीता और राम मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में प्रगट किये गये हैं। सीता माता हैं, वह राम की विवाहिता पत्नी के रूप में दिखाई गयी हैं। इसलिए सामान्यतः यहाँ पर अश्लीलत्व और निकृष्ट शृंगारी भावों के लिए स्थान नहीं है। राम शाखा का मूल रामानुज में माना जाता है। परन्तु इस मत के वास्तविक प्रवर्तक रामानन्द थे जिन्होंने अपना अधिकांश समय काशी में बिताया और जिनकी शिष्य-परम्परा में आगे चलकर भक्त-चूड़ामणि, हिन्दी-काव्य शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास हुए। स्वामी रामानन्द ने जाति-पाँति के बन्धन को थोड़ा और शिथिल किया। उन्होंने द्विजेतर जातियों के लोगों को भी दीक्षा दी और उनके प्रधान शिष्यों में एक कबीरदास भी थे जो मुस्लिम जुलाहे के परिवार में पले थे और इसलिए मुसलमान समझे जाते थे। रामानन्द ने जाति-प्रथा को बिलकुल न माना हो यह सत्य नहीं प्रतीत होता क्योंकि उन्होंने अवधूतों के चार वर्गों में से एक केवल ब्राह्मणों के लिए सुरक्षित रखा था। कबीर को उनके पास से दीक्षा पाने में संदेह था और उनके अनुगत तुलसीदास ने नीची जाति के लोगों के साथ स्नेह एवं दया का व्यवहार करने की शिक्षा देते हुए भी जाति-भेद को नकारा नहीं है।

(६) वैष्णव-धर्म का महत्व एवं प्रभाव

वैष्णव धर्म का मध्यकाल में खूब प्रचार हुआ। इसके अनुयायियों ने संस्कृत तथा क्षेत्रीय भाषाओं के विकास में बहुत सहायता दी। उन्होंने सरस एवं भक्तिभाव से परिपूर्ण पदों की रचना करके कृष्ण तथा राम-भक्ति का सभी वर्गों में प्रचार किया। उनमें से कुछ लोगों ने जाति-पाँति के बंधन को शिथिल कर दिया और चैतन्य तथा वल्लभ के अनुयायियों में मुसलमानों को भी स्थान मिला। उन्होंने कर्म-काण्ड की जटिलता और ज्ञान-मार्ग की दुरूहता से मुक्ति देकर जन-साधारण के लिए आध्यात्मिक उन्नति का एक सरल मार्ग खोल दिया और भावों की शुद्धता, भक्ति की निर्मलता तथा हृदय की सरलता पर बल दिया। इस कारण इस धारा का मध्ययुग में बहुत स्वागत हुआ। कुछ विद्वानों का मत है कि मुस्लिम सत्ता की स्थापना के बाद भारतीय समाज में निराशा फैल रही थी। उस दशा में भक्ति तथा प्रपत्ति का मार्ग सहज ही आकर्षक हो जाता है। इसीलिए वैष्णव धर्म इतना हृदयग्राही सिद्ध हुआ। परन्तु जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है इसके कारण व्यभिचार, अनाचार और नैतिक पतन की ओर भी प्रगति हुई जिससे समाज को स्थायी क्षति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुई है।

ऊपर जिन धर्म-सुधारकों का उल्लेख किया गया है वे सभी विद्वान् पण्डित थे। उन्होंने शास्त्रों का अध्ययन किया था और वर्णाश्रम धर्म में परिवर्तन की आवश्यकता को मानते हुए भी उन्होंने समाज के तत्कालीन संगठन को तोड़ कर अभिनव समाज निर्माण करने का क्रांतिकारी उद्योग नहीं किया। वे सुधारक थे, क्रांतिकारी नहीं। परन्तु इसी काल में कुछ ऐसे संत भी हुए जिन्होंने समाज की तत्कालीन शृंखला और मान्यताओं का आमूल परिवर्तन करना चाहा। इस कोटि के संतों में सर्वाधिक चर्चित नाम कबीर का है।

(उ) कबीर और नानक

कबीर के माता-पिता के विषय में कुछ ठीक पता नहीं है। जनश्रुति एवं कबीर-पंथियों के अनुसार उनकी माता एक विधवा ब्राह्मणी थी जिसने लोकलज्जा के भय से उनको फेंक दिया। नीरू नामक निःसंतान जुलाहे ने उस बालक को उठा लिया और उसने तथा उसकी पत्नी ने उसे पाला। यही बालक जिसके जन्म और पालन-पोषण में हिन्दू तथा इस्लाम धर्म का संयोग है आध्यात्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र में हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रचारक हुआ। कबीर के विचारों और प्रचार-पद्धति का विश्लेषण करने से ऐसी प्रतीतिं होती है कि उनमें कई धाराओं के मिलने से एक नूतन धारा का सृजन हुआ है। कबीर को प्रायः ज्ञानाश्रयी निर्गुण पंथी संत मानते हैं। उनकी वाणी में हिन्दुओं के अद्वैतवाद से ब्रह्मवाद तथा माया के लेने के प्रमाण हैं। परन्तु उसी के साथ वज्रयानी सिद्धों और गोरखपंथी नाथों ने जिस हठयोग का प्रचार किया था उसका भी मेल है। उन्होंने इन्हीं सिद्धों और योगियों का अनुकरण करते हुए पाण्डित्य के अभाव में अहंकार-पूर्ण गर्वोक्तियों के सहारे अपने तत्वज्ञान की घोषणा की है तथा पण्डितों और मुल्ला-मौलवियों को खूब डाँट बताकर अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित की है। उन्होंने सूफियों से भी बहुत बातें सीखीं और उनके भावात्मक रहस्यवाद को भी अपनी वाणी में स्थान दिया। साथ ही उन्होंने अपने दीक्षा-गुरु रामानन्द से अहिंसावाद, नैतिकता, भक्ति एवं प्रपत्ति के अवयव लिये। इस प्रकार सुनी-सुनाई बातों के चिन्तन और व्यक्तिगत साधना एवं अनुभव के आधार पर उन्होंने कुछ आध्यात्मिक तथ्य स्थिर किये और उनका प्रचार किया। उनकी वाणी का संग्रह बीजक कहलाता है जिसमें अनेक रमैनियाँ, साखियाँ और शब्द संकलित हैं।

कबीर के सिद्धान्त किसी दार्शनिक पण्डित के समान खूब सुलझे तथा युक्ति युक्त नहीं हैं। अपितु उनमें कुछ विरोध भी दिखाई पड़ता है। परन्तु उनके प्रहार तीखे और प्रभावोत्पादक हैं। उनकी भाषा परिष्कृत न होने पर भी उनकी उक्तियाँ उनकी प्रखर प्रतिभा के कारण सामान्य नहीं प्रतीत होतीं। कुछेक अत्यन्त चमत्कारिक अथवा रहस्यपूर्ण हैं। उनकी वाणी में उलटवासियाँ भी हैं जिनका ठीक अर्थ खोज

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निकालना सुगम नहीं है।

कबीर के विचार में सर्वोच्च सत्ता एक है यद्यपि उसको साहब, अल्लाह, खुदा, राम, रहीम, ब्रह्म आदि पृथक्-पृथक् नाम दिये गये हैं। नाम-भेद को भूलकर सार की एकता को पकड़ना ही बुद्धिमान का काम है। मूलसत्ता निराकार है परन्तु वही इस विश्व की मालिक है। उसकी 'दुलहन' माया ने सब को भुला रखा है। इसलिए उसकी प्रेमपूर्ण भक्ति करने पर वह माया के बंधन को हटाने का अनुग्रह करेगा। इस भाँति निराकार के साथ साकार पक्ष लिये भक्ति का संयोग किया गया है। यह भक्ति शुद्ध एवं भावपूर्ण होनी चाहिए। जप कर के मनका द्वारा नहीं वरन् मन के मनका द्वारा करना चाहिए और उसे बाहर न ढूँढ़कर अपने भीतर खोजना चाहिये। अस्तु, पत्थर की प्रतिमा को पूजना और मस्जिद में जाकर उच्च स्वर से चिल्लाना निरर्थक है। कर्म-काण्ड, तीर्थाटन, हज्ज आदि सब व्यर्थ हैं। आवश्यक है भाव की शुद्धता, मालिक का भय, नैतिक आचरण, सबके प्रति स्नेह एवं भ्रातृत्व का व्यवहार न कि धर्म के नाम पर हत्या एवं रक्तपात। घट के भीतर भगवान की प्राप्ति के लिए उन्होंने हठयोग की साधना बतलाई है और सूफियों के वाह्य नृत्य और संगीत को अस्वीकार कर के भीतर के नाद को सुनने की शिक्षा दी है। इस भाँति उन्होंने इस्लाम और हिन्दू धर्म की मौलिक एकता को सिद्ध करने की चेष्टा की है। उन्होंने ब्राह्मणों तथा मुल्ला-मौलवियों को मूर्ख, अंध-विश्वासी, अहंकारी, सत्यभ्रष्ट आदि गालियाँ दी हैं और उनको सत्य वस्तु को स्वीकार करने की सलाह दी है। उन्होंने जाति-पाँति को कोई महत्व नहीं दिया। शास्त्र-ज्ञान अथवा शास्त्रों की महत्ता को भी उन्होने मान्यता नहीं दी। कुछ लोगों को उनके प्रति खूब आकर्षण हुआ और अनेक हिन्दू तथा मुसलमान उनके भक्त हो गये। उनकी विचारधारा का बाद के अनेक लोगों पर भी प्रभाव पड़ा है। परन्तु कबीरपंथ में अधिक नीच जाति के अनपढ़ लोगों को होने के कारण उसको वह मान प्राप्त न हो सका जो उच्चवर्गों के सदस्यों के आने से मिलना सम्भव होता।

सिख-धर्म के प्रवर्तक गुरु नानक ने भी कबीर की ही भांति निर्गुण ईश्वर की उपासना का प्रचार किया और हिन्दू-मुसलमान, ऊँच-नीच का विचार परित्याग करके सभी को अपने मत में दीक्षित किया। परन्तु गुरु नानक और कबीर में एक महान् अन्तर है। नानक ने फारसी, अरबी शब्दों का प्रयोग करने पर भी भारतीय दर्शन को ही आधार मानकर अपने विचार स्थिर किये हैं और वे समाज के दोषों की ओर अधिक मिष्ट भाषा में संकेत करते हैं। साथही उनमें गर्वोक्तियों के स्थान पर विनय की प्रधानता है। इस कारण उनके विचारों का उच्चवर्गों में भी समान स्वागत हुआ है। नानक ने जिस धर्म को चलाया उसके कारण पंजाब में हिंदुओं का मुसलमान बनना रुक गया और आगे चलकर एक ऐसी प्रबल शक्ति का निर्माण हुआ जिसने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राष्ट्रीय इतिहास में एक सम्मानित स्थान प्राप्त किया।

जिन सुधारको का उल्लेख ऊपर किया गया है वे केवल प्रतिनिधि-स्वरूप हैं। उनके अतिरिक्त इस काल में देश के प्रायः सभी भागों में अनेक अन्य संत, सुधारक तथा धर्म-प्रचारक भी हुए। परन्तु उनका कार्य भी प्रायः इन्हीं धाराओं पर चला। दक्षिण भारत में इसी समय ज्ञानेश्वर, एकनाथ, नामदेव, तुकाराम आदि ने जाति-पाँति के भेद को मिटाकर भक्ति का प्रचार किया। गुजरात और राजपूताना में मीराबाई का बहुत प्रभाव पड़ा। रविदास, मलूकदास, चंडीदास, विद्यापति आदि अन्य साधक भी इसी काल में हुए।

मध्ययुग के धार्मिक इतिहास में इस्लाम का भी एक विशेष स्थान है। इस्लाम की स्थापना के कुछ वर्ष बाद ही अरब व्यापारियों के माध्यम से इस्लामी सिद्धान्तों का इस देश में प्रवेश हुआ। भारतीयों ने बौद्ध और शैव धर्म के द्वारा फारस, ईरान तथा अरब पर काफी प्रभाव डाला था। इस्लाम के सिद्धान्तों में इस प्रभाव के प्रमाण विद्यमान हैं फिर भी उसमें अपनी एक विशिष्टता है। इस कारण भारतीयों ने इस नूतन धारा का स्वागत किया और भारत में इस्लामी हुकूमत स्थापित होने के पूर्व से ही मुसलमान धर्म-प्रचारकों की सुविधा के लिए उन्होंने मस्जिदें बनवा दीं। कुरान में भी यह उल्लेख है कि किसी पर बलपूर्वक ईमान लादा नहीं जा सकता। अस्तु, भारतीयों को इस्लाम के उस रूप का उस समय परिचय नहीं मिला जो मुस्लिम राज-नीतिक सत्ता की स्थापना के बाद प्रगट हुआ।

(च) इस्लाम और सूफ़ीसंत

सिंध में अरब शासन की स्थापना के बाद अनेक मुसलमान धर्म-प्रचारक एवं संत भी भारत में आये। परन्तु उनका विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। सुलतान महमूद ग़ज़नवी के पंजाब पर अधिकार करने के बाद से इन संतों की संख्या में वृद्धि हुई और वे उत्तर भारत में अनेक स्थलों में फैल गये। तुर्की शासन की स्थापना के बाद इन संतों को सरकार की ओर से आर्थिक सहायता मिलने लगी और राजनीतिक दबाव के कारण अनेक निर्धन लोग करों का भार हल्का करने के उद्देश्य से मुसलमान होने लगे। स्वेच्छा से इस्लाम स्वीकार करने वालों में अधिकांश व्यक्ति शूद्र एवं अछूत जातियों के ही थे। परन्तु सभी शूद्रों अथवा अछूतों ने इस्लाम का स्वागत नहीं किया। वे सामाजिक सम्मान अथवा आर्थिक लाभ के लिए अपने धर्म को छोड़ कर दूसरे के धर्म को स्वीकार करना पाप समझते थे। उन्होंने इन धर्म-परिवर्तक हिन्दुओं को सदा हेय समझा और हिन्दू धर्म के भीतर रहकर ही अपनी स्थिति सुधा-रने का उद्योग किया। मुसलमानों की कुछ बातें हिन्दुओं को अत्यन्त गंदी एवं घृणित लगती थीं। इसलिए उस समय के धार्मिक नेताओं ने इनके साथ सम्पर्क रखने वाले को भी जातिच्युत कर दिया। इन जातिच्युत व्यक्तियों ने ही विवश होकर स्वेच्छा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से इस्लाम स्वीकार किया। युद्ध में बंदी होने वाले लोगों को मुसलमानों का दिया हुआ अन्न-जल ग्रहण करना पड़ा। इस कारण इन लोगों को भी वापस आने पर जाति में स्थान नहीं दिया गया। अस्तु वे भी मुसलमान हो गये। कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि गाँव के लोगों का जिस तालाब के जल से निर्वाह होता था उसी के पास मुस्लिम सैनिक उतर गये और उन्होंने उस तालाब का उपयोग किया। इस कारण उस तालाब के जल का उपयोग करने पर गाँव का गाँव जाति से बहिष्कृत कर दिया गया। इस भांति इस्लाम के आकर्षण से नहीं वरन् हिन्दू समाज की कट्टरता के कारण अनेक लोगों को विवश होकर इस्लाम स्वीकार करना पड़ा। इन व्यक्तियों ने इस्लाम की जिस लगन से सेवा की वैसी तुर्कों ने भी नहीं की क्योंकि उनमें धार्मिक जोश के स्थान पर हिन्दुओं के प्रति विद्वेष की भावना अधिक प्रबल थी। कुछ व्यक्ति ऐसे भी थे जो मुस्लिम संतों की करामातों से प्रभावित होकर उनके शिष्य बनने के इच्छुक हो गये। प्रायः मुस्लिम संत अपने धर्म की गुह्य बातों को तभी बताते थे जब आगन्तुक हिन्दू धर्म-परिवर्तन करने के लिए प्रस्तुत हो। इस कारण भी कुछ लोग मुसलमान हो गये। कुछ लोगों को दण्ड देने के लिए मुसलमान बना लिया गया। इसके अतिरिक्त मुसलमानों की दास-प्रथा तथा बहु-विवाह-प्रथा ने भी मुसलमानों की संख्या-वृद्धि में सहायता की। परन्तु सामान्य हिन्दू जनता के हृदय में इस्लाम की सरलता और सैद्धान्तिक समानता के बावजूद उसके प्रति कभी आकर्षण नहीं हुआ और उसने अपनी प्राचीन परम्पराओं का आश्रय लेकर ही सामाजिक तथा आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त करने की चेष्टा की।

मुसलमानों में एकेश्वरवाद के साथ-साथ सत्य के स्वरूप की एकता में भी अटल विश्वास है। उनकी दृष्टि में सद्धर्म केवल वह है जो क़ुरान की शिक्षाओं में निहित है। उसे न स्वीकार करना वह दुराग्रह समझते हैं और दुराग्रही का बलपूर्वक धर्म के आलोक में लाना वह पुण्य-कार्य समझते हैं। ईसाइयों में भी एक ओर भगवान की करुणा का माहात्म्य है और दूसरी ओर भिन्न विचार वाले ईसाई को भी जीवित जला कर उसकी आत्मा को शुद्ध करने की कृपा का चलन था। यही बात कुछ हद तक इस्लाम के लिए भी सत्य है क्योंकि इस्लामी शासन में शासनयंत्र तथा धर्मगुरुओं का गठबंधन रहता था और सत्य की प्रतीति को बहुरूपता को अस्वीकार किया जाता था। फलतः कुरान के अर्थ के विषय में मतभेद होने के कारण जब इस्लाम के भीतर अनेक मतमतान्तर प्रगट होने लगे तब उनमें आपस में भारतीय परिपाटी के अनुसार शान्तिमय शास्त्रार्थ द्वारा सत्य खोजने की प्रक्रिया को न अपना कर तलवार के द्वारा दबाने की चेष्टा की गई। इस कारण सुन्नी सुलतानों के विरुद्ध शियाओं तथा महदवियों ने षड्यंत्र रचे और उनका वध करने का प्रयत्न किया। सुलतानों ने जब इनका प्रभाव बढ़ते देखा तब इनके नेताओं को कारावास में डालकर यातनायें देकर अथवा मृत्यु-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दण्ड देकर उन्हें दबाने की चेष्टा की।

मुसलमानों में उदार प्रवृत्ति के पोषक सूफ़ी संत हैं और उन्हीं के प्रभाव से भारत में इस्लाम को कुछ आदर प्राप्त हुआ है। सूफियों के अनेक संप्रदाय थे जिनमें कुछ विषयों में न्यूनाधिक मतभेद है। परन्तु उनमें अनेक बातों में सादृश्य है। सूफ़ी उन मुसलमान संतों को कहते हैं जो दीनता का जीवन बिताने के उद्देश्य से ऊन के मामूली कपड़े पहनते थे और जो क़ुरान के शाब्दिक वाह्य अर्थ को प्रधानता न देकर उसमें निहित रहस्य को विशेष महत्व देते हैं। वे ईश्वर को निर्गुण एवं निराकार न मानकर उसमें प्रकाश, स्नेह, दया, उदारता, सर्वव्यापकता आदि गुणों का आरोप करते हैं और उसके क़हर से भय खाने के स्थान पर उसके प्रति प्रेम का संबंध स्थापित करके उसके साथ एकत्व प्राप्त करने का आदर्श स्वीकार करते हैं। वह ईश्वर को प्रधानतः आलोकमय मानते हैं और उसके नूर; जलवा अथवा तजल्ली का विभिन्न ढंगों से उल्लेख करते हैं। वह सम्पूर्ण जगत में, कण-कण में उसी के जलवे को देखने का अभ्यास करते हैं और इस कारण वे प्राणिमात्र के प्रति स्नेह एवं दया का व्यवहार करने का समर्थन करते हैं। अनेक सूफ़ी इसी कारण निरामिष भोजन ही ग्रहण करते थे। वे भगवान की उपासना में भोगवासना को बाधक समझ कर विभिन्न योगिक उपायों द्वारा उसका दमन करते हैं और हृदय के ऊपर पड़े मल के आवरणों को काट कर विशुद्ध निर्मल भाव लेकर उसका ध्यान करते हैं। वे जप की महत्ता को स्वीकार करते हैं और कभी-कभी मन को भगवान् में केन्द्रित करने के उद्देश्य से प्रेम-भक्ति-पूर्ण संगीत का आश्रय लेते हैं और भावातिरेक में नृत्य करने लगते हैं। वे भगवान् को जगत में व्याप्त स्वीकार करते हुए भी मूर्तिपूजा का समर्थन नहीं करते। उन्होंने भगवत्-प्राप्ति को अपना ध्येय बनाया है और वे इस्लाम के कर्म-काण्ड को अनावश्यक समझते हैं। उनमें से कुछ ऐसे भी हैं जो मुहम्मद के पैग़म्बरत्व को भी अपनी उन्नति के लिए निरर्थक मानते हैं और कलमे के केवल पूर्वार्द्ध को ही (अल्लाह के अतिरिक्त कोई अन्य ईश्वर नहीं है) आवश्यक मानते हैं। इन सभी वर्गों में गुरु का भी विशेष महत्व है क्योंकि उसी के निर्देशन में आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त करना संभव होता है। इस कारण वे व्यवहार में अल्लाह की अपेक्षा भी पीर को अधिक आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। संतों में शेख मुईनुद्दीन चिश्ती, बाबा फ़रीदुद्दीन गंज शकर, क़ुत्बुद्दीन बख्तियार काकी, निज़ामुद्दीन, नासिरुद्दीन महमूद चिराग़-ए-देहलवी, ख्वाजा शेख तकी उद्दीन, मलिक मुहम्मद जायसी, मुहम्मद ग़ौस ग्वालियरी आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। उनके कारण इस्लाम में सरसता और प्रेम का प्रवेश हुआ तथा रहस्यवादिता एवं योग को स्थान मिला।

इस्लाम की उन्नति में उनसे जो सहायता मिल रही थी उसको स्वीकार करते हुए भी मुल्ला-मौलवी सूफ़ियों को अनेक दृष्टियों से इस्लाम-विरोधी मानते थे और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस कारण कभी-कभी उन पर बहुत धार्मिक अत्याचार किया गया। संगीत और नृत्य की मान्यता, अविवाहित जीवन की उपादेयता, जगत में ईश्वर की व्यापकता, नमाज़-रोज़ा-हज्ज की उपेक्षा आदि अनेक बातें हैं जिनके कारण वे कभी-कभी कट्टर-पंथी मुसलमानों के कोप-भाजन बनते थे। परन्तु उनमें से अधिकांश व्यक्तियों के चरित्र निर्मल होने के कारण प्रायः उनका मुस्लिम समाज में काफ़ी आदर था और राजा तथा रंक उनके चरणों की सेवा करना अपना सौभाग्य समझते थे।

(छ) इस्लाम और हिन्दू धर्म का एक दूसरे पर प्रभाव

इस्लाम और हिन्दू धर्म के साथ-साथ प्रचारित होने के कारण दोनों ही धर्मों पर एक दूसरे का प्रभाव पड़ा है। हिन्दुओं में जाति-पांति के बंधन पहले कुछ अधिक कड़े हुए और बाद में काफी ढीले पड़ने लगे। मूर्ति-पूजा में सामान्य जनता का विश्वास पूर्ववत् रहने पर भी कुछ लोगों की आस्था हट गई। इस कारण उसके समर्थन में नये तर्क प्रस्तुत किये गये। भगवान का अर्चा रूप ही प्रतिमा है। प्रतिमा में ईश्वर के तेज का विकास उपासकों की अर्चना के प्रभाव से होता है। परन्तु यदि कोई अनधिकारी व्यक्ति उसी देवालय में प्रवेश करे तो वह तेज अल्पकाल के लिए अथवा सदा के लिये भी हट जा सकता है। इसी कारण जिन मूर्तियों का खण्डन किया गया वे पत्थर अथवा धातु मात्र ही थीं क्योंकि म्लेच्छ के प्रवेश के साथ ही उनमें निहित तेज हट गया। मूर्तिपूजा सभी हिन्दुओं के लिए आवश्यक कभी भी नहीं थी। वह भगवतोपासना की प्रथम सीढ़ी थी। जो सदा वहीं टिका रहता है वह अपनी उन्नति को रोक देता है। इस प्रकार मूर्ति-पूजा में कुछ शिथिलता अवश्य आई। निम्न वर्गों के लोगों के साथ पहले की अपेक्षा अधिक अच्छा व्यवहार होने लगा और उनके लिए स्वर्ग-प्राप्ति तथा मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग खुल गया। इस काल में भक्ति के अत्यधिक प्रचार को भी कुछ हद तक इस्लाम के आगमन का परोक्ष प्रभाव माना जा सकता है यद्यपि भक्ति के मूल आधार इस देश में इस्लाम के जन्म के सदियों पूर्व से ही विद्यमान थे। चैतन्य और वल्लभ की कृष्ण-शाखा पर सूफ़ियों के प्रेम-मार्ग का संभव है कुछ प्रभाव पड़ा हो यद्यपि उसका दृढ़ आधार भागवत पुराण ही मानी जाती है। इसी भांति मुसलमानों पर कर्मवाद, प्रारब्धवाद, ब्रह्मवाद का न्यूनाधिक प्रभाव पड़ा। उनमें मस्जिदों और मज़ारों का महत्व हिन्दू वातावरण के ही कारण बढ़ा। हिन्दू रीति-रवाजों का भी मुसलमानों पर प्रभाव पड़ा और उनमें विधवा-विवाह तथा तलाक का चलन घटने लगा। दोनों ही समाजों के उदार व्यक्तियों के प्रभाव से पारस्परिक कटुता भी कम हुई परन्तु बीच-बीच में कट्टरपंथी मुसलमान और धर्मान्ध शासकों के अत्याचारों के कारण फिर कटुता बढ़ने लगती थी और एक दूसरे समाज के प्रति समष्टि रूप से हार्दिक सद्भाव संभवतः कभी नहीं स्थापित हो सका। हां व्यक्तिगत जीवन में अवश्य अनेक हिन्दू-मुस्लिम परिवारों में स्नेह और भाई-चा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का संबंध स्थापित हो गया।

धार्मिक आन्दोलनों के कारण इस काल में फ़ारसी, अरबी, संस्कृत, अपभ्रंश तथा क्षेत्रीय भाषाओं (हिंदी, मैथिली, बंगला, गुजराती, गुरुमुखी, मराठी, तामिल, आदि) में अनेक ग्रंथों का निर्माण किया गया। इनमें कुछ ग्रंथ केवल महापुरुषों के जीवनवृत्त थे और कुछ में प्राचीन शास्त्रों के आधार पर धार्मिक सिद्धान्तों का निरूपण किया गया। कुछ काव्य ग्रंथ भी रचे गये जिनमें सरस एवं ओजपूर्ण भाषा में भक्ति-संबंधी विचारों को व्यक्ति किया गया। अनेक रसात्मक पदों की रचना हुई जिनका प्रचार अनपढ़ जनता में भी हो गया। इस भाँति धर्म-प्रचारकों के उद्योग तथा प्रभाव के फल-स्वरूप साहित्य का सृजन, क्षेत्रीय भाषाओं का विकास एवं जनसाधारण में शिक्षा का प्रचार हुआ।

सांस्कृतिक स्थिति

इसके अतिरिक्त शुद्ध साहित्यिक रचनायें भी हुईं। इस काल के प्रायः सभी राज्यों में साहित्यकारों को सम्मान प्रदान किया जाता था और शासकों के प्रोत्साहन से नये लेखकों को अपनी प्रतिभा के विकास का अवसर मिला। फ़ारसी के कवियों में अमीर खुसरो, मीर हसन देहलवी, बद्र चच, एवं इसामी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसी काल में इतिहास-ग्रथों की रचना की ओर भी विशेष ध्यान दिया गया। इतिहास-ग्रंथों के रचयिताओं में मिनहाजुस्सिराज, जियाउद्दीन बर्नी, शम्ससिराज अफ़ीफ़ और यहया बिन अहमद अधिक प्रसिद्ध हैं। ऐनुलमुल्क मुल्तानी ने इशा-ए-माहरू में पत्र-लेखन के नमूने प्रस्तुत किये हैं।

संस्कृत भाषा में इस काल में भी दर्शनग्रंथों के अतिरिक्त अनेक काव्य, नाटक, जीवनियाँ आदि लिखी गईं। जैनियों ने अपभ्रंश में कई पुस्तकों का निर्माण किया। प्रान्तीय स्वाधीन मुस्लिम राज्यों की स्थापना के कारण संस्कृत का प्रभाव घटा और बोल-चाल की भाषाओं को साहित्यिक रूप प्राप्त हुआ। धर्म-सुधारकों के उद्योग से इस दशा में और भी प्रगति हुई। अनेक संस्कृत ग्रंथों का क्षेत्रीय भाषाओं में अनुवाद किया गया। इन सबके कारण देश की सांस्कृतिक उन्नति में सहायता मिली।

मुसलमानों ने राज्य की सहायता से अनेक मदरसे तथा मकतब स्थापित किये थे जहाँ प्रायः निशुल्क शिक्षा दी जाती थी। मदरसों में धर्म-ग्रंथों के अतिरिक्त साहित्य, विज्ञान, इतिहास, राजनीति-शास्त्र का भी अध्ययन किया जाता था। प्रायः प्रत्येक मस्जिद में शिक्षा का प्रबन्ध था जहाँ पड़ोस के बच्चे क़ुरान का पढ़ना और सामान्य हिसाब-किताब तथा फ़ारसी भाषा सीखते थे। सूफी संतों के यहाँ भी राज्य से प्राप्त धन अथवा जागीर की सहायता से शिक्षालय खोले जाते थे। इनमें प्रायः दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विषयों की शिक्षा पर ही अधिक बल दिया जाता था। क़ुरान पढ़ सकना धर्म की दृष्टि से बहुत उपयोगी समझा जाता था। इसलिए साक्षरता का प्रचार काफी व्यापक रहा होगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दुओं की शिक्षा-संस्थाओं को तुर्क सुलतानों ने कोई सहायता नहीं दी। यह बहुत अस्वाभाविक भी नहीं था। वह समझते थे कि हिन्दू-धर्म की शिक्षा में योग देना पाप है और चूँकि प्रायः सभी शिक्षालयों में कुछ-न-कुछ धार्मिक शिक्षा भी दी जाती थी इस कारण मुसलमान शासक उसको सहायता देने में असमर्थ थे। मुसलमानों के स्कूलों मे यदि कोई हिन्दू बालक पढ़ने जाता तो इस पर प्रतिबन्ध न होता था, परन्तु उस समय के वातावरण में ऐसे विद्यार्थियों की संख्या बहुत कम रहती होगी। बिहार में विक्रमशिला और नालन्दा, बंगाल में नवद्वीप, मध्यदेश में काशी हिन्दू राजाओं की राजधानी न होने पर भी शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे। मुसलमानों के आगमन के बाद नालंदा और विक्रमशिला के विद्यालय बन्द हो गये और वहाँ के ग्रंथ प्रायः नष्ट कर दिए गये। प्रायः सभी नगरों तथा कस्बों में संस्कृत पाठशालाएँ थी और प्रत्येक गाँव में साधारण अक्षर ज्ञान प्राप्त करने के लिए सुविधा थी। परन्तु राज्य की ओर से जनसाधारण की शिक्षा की कोई सुशृंखल व्यवस्था नहीं थी। इस कारण निर्धन तथा निम्नवर्ग के लोगों में शिक्षा का प्रचार बहुत कम था और उनमें जादू-टोना, मंत्र-तंत्र, भूत-प्रेत में विश्वास फैला हुआ था। उच्च वर्ग भी इनमें विश्वास रखते थे तो भी उनमें अपेक्षाकृत अधिक जागरुकता थी।

इस्लाम में संगीत, नृत्य एवं चित्रकला को धर्म-विरुद्ध बताया गया है। फिर भी मुस्लिम देशों से इन कलाओं का लोप नहीं हुआ क्योंकि मानव के हृदय में उत्पन्न भावों को कलात्मक ढंग से व्यक्त करने के लिए कोई व्यक्ति शब्दों का आश्रय लेता है, तो दूसरा ताल और स्वर का तीसरा रंग और कूची का। भारतवर्ष में सूफी संतों, हिन्दू भक्तों, राज-दर्बारों एवं दास-व्यापारियों के कारण संगीत में विकास होता रहा। सिकन्दर लोदी के विषय में लिखा मिलता है कि उसके दरबार में इतने मनमोहक गायक थे कि उनका गाना सुनकर साक़ी-बालाएँ मदिरा देना भूलकर बेसुध पड़ जातीथीं। ग्वालियर के राजा मान के समय में वहाँ एक संगीत महाविद्यालय खोला गया जिसका एक स्नातक तानसेन था। नर्तकियों, वेश्याओं, एवं दासियों ने भी संगीत-कला को अपने व्यवसाय का माध्यम बनाया। । नृत्य का अधिक प्रचार दक्षिण में था और वहाँ इस कला में काफी उन्नति की गई और शिव को नटराज की मुद्रा में व्यक्त किया गया।

ललित कलाएँ

किन्तु चित्रकला का इस काल में जैसे लोप हो गया। अधिकतर विद्वानों का मत है कि चित्रकारी के नमूने प्राप्त न होने के कारण ही इसे सहसा स्वीकार कर लेना उचित न होगा कि अजन्ता के चित्रकारों की नस्ल ही समाप्त हो गई। इधर इस काल की चित्रकारी के कुछ इक्के-दुक्के उदाहरण भी उपलब्ध हुए हैं। बंगाल में ताड़ के पत्तों पर कुछ सामान्य कोटि के चित्र मिले हैं। जैनियों की धर्म-पुस्तकों में भी कुछ चित्र हैं। परन्तु वे बहुत निम्न श्रेणी के हैं। ग्वालियर के मानमंदिर तथा एलोरा के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मंदिरों की दीवालों पर भी चित्रकला के कुछ अवशेष दिखाई पड़ते हैं। अकबर ने जब मुग़ल दर्बार में चित्रकारों का दल संगठित करना चाहा तब अनेक भारतीयों को भी वहाँ स्थान देना संभव हुआ। यदि चित्रकला का पूर्ण लोप हो गया होता तो अकबर के समय के श्रेष्ठतम कलाकारों में हिन्दू नाम न दिखाई पड़ते। राजदर्बार का प्रश्रय न मिलने के कारण शायद कुछ कलाकारों का काम बन्द हो गया। बौद्ध-धर्म के पतन के कारण भी संभव है चित्रकला का ह्रास हुआ हो। यह भी सम्भव हैं कि उस काल की चित्रकला के कुछ नमूने काल अथवा मनुष्य द्वारा नष्ट कर दिये गये हैं। परन्तु केवल अनुमान के आधार पर किसी निष्कर्ष पर पहुँचना सम्भव नहीं है।

स्थापत्य तथा मूर्तिकला के क्षेत्र में हिन्दू तथा मुसलमान शासकों एवं धनी वर्गों के प्रभाव से अनेक भव्य इमारतों का निर्माण हुआ और उनमें पत्थर का सुन्दर काम किया गया। इस काल की इमारतों में अधिक संख्या मंदिरों, मस्जिदों और दुर्गों की है। कहीं-कहीं जय-स्तम्भ खड़े किये गये हैं और कुछ स्थानों पर पुराने राजमहलों के भग्नावशेष मात्र रह गये हैं। हिन्दू मंदिरों की तीन प्रमुख शैलियां हैं :—

(१) उत्तर भारत के मंदिरों में शिखर एक विराट स्तम्भ के रूप में बनाया जाता है और ऊपर की ओर सँकरा होता जाता है। उसके सबसे ऊपरी भाग में एक विशाल आमलक और उसके ऊपर एक कलश रहता है। इस शिखर का जो भाग बाहर से दृष्टिगोचर होता है उसमें अनेक प्रकार की पत्थर की कटाई और खुदाई का काम रहता है और स्थान-स्थान पर छोटे शिखर, नन्हीं-नन्हीं मूर्तियां, विशिष्ट पशु आदि बने रहते हैं। इस प्रकार समस्त भाग में सजावट का काम रहता है। इस शैली के मंदिर आज कल भुवनेश्वर (उड़ीसा), खजुराहो (मध्य प्रदेश) और ग्वालियर (मध्य प्रदेश) में हैं। गुजरात तथा राजपूताना के प्राचीन मंदिर भी उसी शैली के अन्तर्गत आते हैं।

(२) दक्षिण भारत के मंदिर। इनका प्रसार महाराष्ट्र देश से मैसूर और हैदराबाद तक है। इनमें शिखर का निर्माण भिन्न ढंग से किया जाता था। एक विराट् स्तम्भवत् शिखर के स्थान पर उसे कई मंजिलों अथवा सीढ़ियों में विभक्त किया हुआ दिखाते थे। इसमें बीच-बीच में पत्थर की मूर्तियों और दूसरी सजावट के लिए बनाई गई वस्तुओं के वेष्टन रहते हैं। इन्हीं वेष्टनों के कारण शिखर कई सीढ़ियों में विभक्त सा दिखाई पड़ता है।

(३) द्रविड़ शैली जिसका प्रचार एलोरा, तंजौर, मदुरा, श्रीरंगम, आदि में हुआ। इसमें शिखर का निर्माण पिरैमिड की तरह किया जाता है और उसे कई सुस्पष्ट मंजिलों में विभक्त करते हुए ऊपर की ओर संकरा करते जाते हैं। इन मंदिरों का आकार प्रायः काफी बड़ा होता था और उसमें पत्थर का बारीक काम करने के लिए बहुत स्थान रहता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन सभी शैलियों में कुछ बातें समान हैं। जहां देवता की प्रतिमा रखी जाती थी वह स्थान प्रवेश-द्वार से काफी दूर रहता था और उसकी लम्बाई चौड़ाई अधिक नहीं रखी जाती थी जिससे उसके भीतर किसी समय भी एक साथ बहुत आदमी न जा सकें। भीतर की दीवालों, खम्भों आदि पर भी खूब सजावट का काम रहता था और प्रवेश-द्वार से भीतर आने पर प्रायः एक विशाल प्रांगण रहता था। मंदिर का प्रमुख प्रवेश-द्वार भी मंदिर के आकार को देखते हुए छोटा होता था और सजावट के बाहुल्य के कारण अनंतता का प्रभाव पड़ता था। इन मंदिरों के द्वार प्रायः सदा ही आयताकार होते थे और इनमें गुम्बदों का प्रयोग नहीं किया जाता था यद्यपि बौद्ध स्तूपों के निर्माण से स्पष्ट है कि भारतीय उनका बनाना जानते थे। परन्तु संभवतः कला की दृष्टि से वह उन्हें अधिक आकर्षक नहीं समझते थे।

उस काल के प्रसिद्ध हिन्दू दुर्गों में ग्वालियर, रणथंभौर, चित्तौड़, कालिंजर तथा वारंगल का विशेष उल्लेख मिलता है परन्तु इस समय उनमें से कोई भी अभग्न अवस्था में नहीं है। इस कारण उनका ठीक-ठीक रूप हमें केवल तत्कालीन वर्णन से ही प्राप्त हो सकता है। दुर्भेद्य गढ़ वे ही होते थे जिनके चारों ओर गहरी जल से भरी खाई हो अथवा जो किसी पहाड़ी के ऊपर बने हों, जिनकी दीवालें खूब मोटी और सुदृढ हों तथा जिनके ऊपर चढ़ सकना दुष्कर हो, जिनके भीतर पानी का पर्याप्त प्रबन्ध हो और जिनमें युद्ध का सामान तथा रसद एकत्रित करने की सुविधा हो।

तुर्कों ने जिन इमारतों का निर्माण किया उनमें प्रधानतः मस्जिदें, मकबरे, मदरसे तथा दुर्ग हैं। इन लोगों के द्वारा बनवाये हुए दुर्ग भी प्रायः नष्ट हो चुके हैं या टूट-फूट गये हैं परन्तु मस्जिदें और मकबरे इस समय भी बहुसंख्यक परिमाण में सुरक्षित हैं। दिल्ली के सुलतानों की भाँति प्रान्तीय स्वाधीन राज्यों के सुलतानों तथा उनके अमीरों ने भी अनेक मस्जिदें और मकबरे बनवाये। मुसलमान सुलतान प्रायः अपने जीवन-काल में ही अपने मकबरे बनवा लेते थे और शायद जीवन-काल में वे उनको विश्राम-स्थल के रूप में काम में लाते थे। भारत की गर्मी उनको प्रायः असह्य प्रतीत होती थी। इस कारण उन्होंने ऐसी व्यवस्था करनी चाही जिससे गर्मी, धूप तथा लू से बचत होने के साथ-साथ प्रकाश का प्रबन्ध तथा इस्लामी आदर्शों की रक्षा हो सके। अस्तु, उन्होंने इनकी छतों को गुम्बदाकार बनाया। उन्होंने आयताकार दरवाजों के स्थान पर महराब बनाये और सजावट का काम या तो बिलकुल ही नहीं रखा या रंगीन ईंटों, विभिन्न रंग के पत्थरों, नकली खिड़की-महराबों आदि का प्रयोग करके या जालियों एवं फूलपत्तियों तथा रेखागणित के चित्रों अथवा कुरान की आयतों को विभिन्न लेखन-शैलियों में उत्कीर्ण कराके सजावट के अभाव को पूरा किया।

मस्जिदों में भी गुम्बद और महराब तथा सादगी का उपयोग किया गया

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु उनका आकार प्रायः बहुत बड़ा होता था ताकि दूर से ही वे इस्लामी शासन की स्थापना की घोषणा कर सकें और शुक्रवार के दिन की नमाज़ में एकत्रित होने वाले लोगों के लिए आवश्यक स्थान रह सके। प्रारम्भिक काल में जो मस्जिदें बनीं उनका निर्माण इस प्रकार हुआ कि हिन्दू मंदिरों में थोड़ा रूपान्तर करके उनको मस्जिद में परिवर्तित कर लिया गया। प्रायःमंदिरों का द्वार पूरब की ओर होता था और मुसलमान पश्चिम की ओर मुख करके नमाज़ पढ़ते हैं क्योंकि भारत से मक्का पश्चिम की ओर पड़ता है। अस्तु देवप्रतिमा को हटाकर वहां महराब बना देने से उस ओर मुख करके उनकी पूजा की जा सकती थी। मंदिरों का आंगन भी काफी बड़ा होता था। जहां आवश्यक हुआ वहां चारों ओर के बरामदों अथवा कमरों को तोड़ दिया गया। अजमेर का अढ़ाई दिन का झोंपड़ा और जौनपुर में शर्कियों द्वारा निर्मित अटाला देवी मस्जिद भी इसी प्रकार बनाई गई थीं। प्रारम्भिक इमारतों में एक और विशेष बात यह है कि महराब और गुम्बद न विशेष सुन्दर ही होते थे और न उनके बनाने की ठीक विधि ही मालूम थी। दिल्ली की क़ुव्वतुल इस्लाम मस्जिद के महराब इस प्रारम्भिक शैली के नमूने हैं। अलाउद्दीन के समय तक महराबों का ठीक ढंग से बनाना आ गया। इस समय अलाई दरवाजा का महराब निर्माण शैली तथा सजावट की दृष्टि से पहले की अपेक्षा अधिक सुन्दर बना। गयासुद्दीन तुग़लक के मक़बरे की विशेषता यह है कि उसमें दीवालों की दृढ़ता पर विशेष ध्यान रखा गया है। प्रान्तीय राज्यों में जिस शैली का चलन हुआ उसमें कुछ स्थानीय विशेषता रही परन्तु कला के सिद्धान्तों के विकास में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ। बंगाल में रंगीन ईंटों और खप्परों का प्रयोग किया गया तथा ढलवां छतें बनवाई गयीं, गुजरात और मालवा में पत्थर की सुन्दर जालियां बनाई गयीं और बावलियों का निर्माण हुआ, जौनपुर में प्रवेश-द्वारों को विशेष आकर्षक एवं विशाल बनाया गया और दक्षिण में गुम्बदों तथा मीनारों के निर्माण में अधिक रुचि दिखाई गई।

दिल्ली का क़ुत्बमीनार, जिसे क़ुत्बुद्दीन ऐबक ने आरम्भ किया और इल्तुतमिश ने समाप्त किया तथा जिसके भूचाल में क्षतिग्रस्त हो जाने पर फ़ीरोज़ ने उसका पुनरुद्धार किया, इस काल के स्थापत्य में अत्यन्त प्रसिद्ध है। उसका निर्माण तुर्की विजय के स्मारक-स्वरूप किया गया और उसकी सजावट में जिस कलात्मकता एवं आदर्शवादिता की रक्षा की गई है उसकी सभी आलोचकों ने प्रशंसा की है। मेवाड़ के राणाओं ने मालवा के सुलतान को पराजित करने के बाद इसी प्रकार के दो स्तम्भ बनवाये और उनका नाम जय स्तम्भ तथा कीर्तिस्तम्भ रखा। परन्तु वे क़ुत्बुमीनार की अपेक्षा कम ऊँचे थे और उनका निर्माण हिन्दू स्थापत्य आदर्शों के अनुरूप किया गया। अस्तु, क़ुत्बमीनार अपनी कोटि का निराला उदाहरण है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अफ़ग़ान शासकों में शेरशाह ने इस दिशा में भी विशेष सफलता प्राप्त की। उसने सहसराम में अपना मकबरा बनवाया जो कला की दृष्टि से बहुत महत्व रखता है। उस समय तक भारत में जितने मकबरे बने थे उनमें यह सर्वश्रेष्ठ है। शेरशाह ने नये गढों के निर्माण में भी प्रगति की और पंजाब में नये रोहतास गढ़ का बनवाना आरम्भ किया जिसे उसके पुत्र इस्लामशाह ने समाप्त किया। शेरशाह के समय का बनवाया हुआ जौनपुर का पुल तथा सरायें भी उल्लेखनीय हैं।

इस काल में जो भी इमारतें बनीं वे प्रधानतः हिन्दू कारीगरों द्वारा बनाई गईं यद्यपि मुसलमानों के आदेश से बनाई जाने पर उनको मुस्लिम आदर्शों के अनुरूप रखना पड़ता था। इस कारण भारतीय मुस्लिम इमारतों की भी अपनी एक विशिष्टता है और वे समकालीन अभारतीय मस्जिदों तथा मक़बरों की तुलना में एक भिन्न जाति की प्रतीत होती हैं। यह भिन्नता भारतीय वातावरण और भारतीय कारीगरों की देन है। इसी भाँति मुस्लिम आदर्शों का कुछ प्रभाव हिन्दुओं पर भी पड़ा और इस काल के मन्दिर प्राचीन शैलियों से कुछ भिन्न होने लगे। राजपूतों में भी मक़बरों की तरह छतरियां बनाने का रिवाज चल पड़ा और महराब तथा गुम्बदों का प्रयोग हिन्दू इमारतों में भी होने लगा। परन्तु अभी समुचित समन्वय का समय नहीं आया था। यह कार्य सम्राट् अकबर के समय में सम्पन्न हुआ।

पूर्व मध्यकालीन समाज तथा संस्कृति की इस संक्षिप्त समीक्षा से विदित होता है कि भावी भारतीय संस्कृति के निर्माण में इस काल का बहुत महत्व है। इस समय दो विभिन्न संस्कृतियों का सम्पर्क हुआ और यद्यपि आरम्भ में दोनों ओर से सन्देह, अविश्वास तथा द्वेष व्यक्त किया गया परन्तु कालान्तर में सभी क्षेत्रों में विचारों का आदान-प्रदान आरम्भ हो गया और एक नूतन संस्कृति का जन्म हुआ जो न पूर्णतः तुर्की संस्कृति थी न हिन्दू वरन् दोनों के मिश्रण से बनी हुई भारतीय संस्कृति।

उपसंहार

सहायक ग्रंथ

१. चिन्तामणि विणायक वैद्य—मेडीवल हिन्दू इण्डिया—भाग १-३।
२. ओझा—मध्यकालीन भारत की संस्कृति।
३. ताराचंद—इन्फ्लुएंस आफ इस्लाम आन इण्डियन कल्चर।
४. ईश्वरीप्रसाद—मेडीवल इण्डिया, अध्याय १८।
५. हेग—कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ़ इण्डिया भाग ३, अध्याय २३।
६. पर्सीब्राउन—इण्डियन पेंण्टिग, पृष्ठ ४२-४६।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७. हिरियन्ना—एसेंशल्स ग्राफ़ इण्डियन फ़िलासफ़ी।
८. टाइटस—इण्डियन इस्लाम।
९. निकलसन—मिस्टिक्स ग्राफ़ इस्लाम।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घटना-तालिका

(टिप्पणी---सम्बन्धित पृष्ठ की संख्या कोष्ठक के भीतर दी गई है ।)

ई०

५५५ खदीजा का जन्म (५)
५७० पैगम्बर मुहम्मद का जन्म (५)
६१९ खदीजा की मृत्यु (५)
६२२ मुहम्मद साहब का मक्का छोड़ कर मदीना जाना और हिजरी संवत् का आरंभ (६)
६३२ मुहम्मद साहब की मृत्यु (५)
" अबूबक्र का प्रथय खलीफा होना (६)
६३४ उमर का द्वितीय खलीफा बनना (७)
६४४ उस्मान का तृतीय खलीफा बनना, (७)
६५६ अली का चतुर्थ खलीफा होना (७)
६६१ अली की मृत्यु; हसन को हटा-कर मुआविया द्वारा उमय्या खिलाफ़त की स्थापना (७)
७१३ मुहम्मद बिन कासिम द्वारा सिंध में अरब शासन की स्थापना (९)
७१५ मुहम्मद बिन कासिम का वापस बुलाया जाना (९)
७५० उमय्या वंश का अंत (७)
७५३ ख़लीफ़ा मंसूर का राज्याभिषेक (१०)
७७४ " की मृत्यु (१०)
७८६ ख़लीफ़ा हारूँ का राज्याभिषेक (१०)

ई०

७८८ शंकराचार्य का जन्म (४०१)
८०९ ख़लीफ़ा हारूँ की मृत्यु (१०)
८२० शंकराचार्य की मृत्यु (४०१)
८७४ सामानी वंश की स्थापना (१३)
९७१ महमूद का जन्म (१६)
९७२ पिरीतिगीन का राज्यारोहण (१५)
९७७ अलप्तगीन के वंश का अंत (१३)
९८६ जयपाल का सुबुक्तगीन पर आक्रमण (१५)
९९१ जयपाल का संघबद्ध होकर सुबुक्तगीन पर विफल आक्र-मण (१५)
९९४ महमूद खुरासानी सेना का संचालक नियुक्त (१६)
९९८ महमूद गजनवी का राज्या-भिषेक (१६)
९९९ इस्माईल का गजनी से निर्वासन (१६)
" महमूद द्वारा खुरासान विजय (१७)
" खलीफा द्वारा महमूद को नियुक्ति पत्र भेजा जाना और उसकी प्रतिवर्ष भारत पर आक्रमण करनें की प्रतिज्ञा (१७)
" सामानी वंश का अंत (१३)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ई०	
१००१	जयपाल की अंतिम पराजय (१८)
१००२	महमूद की सीस्तान विजय (१७)
"	जयपाल का आनंदपाल को शासन-भार देकर जल कर मर जाना (१८)
१००५	महमूद का भटिण्डा पर अधिकार (२०)
१००६	आनंदपाल की प्रथम पराजय (१९)
"	महमूद का मुलतान पर आक्रमण (२०)
१००७	सुखपाल का विद्रोह (२०)
१००८	सुखपाल की पराजय (२०)
१००९	आनंदपाल और उसके मित्र-राज्यों की पराजय (१९)
"	नारायणपुर का अधीनस्थ होना (२१)
१०१०	मुलतान का गजनी राज्य में मिलाया जाना (२०)
१०१२	महमूद की गरशिस्तान-विजय (१७)
१०१३	महमूद का त्रिलोचनपाल के विरुद्ध विफल अभियान (१९)
१०१४	त्रिलोचनपाल की पराजय और नंदना में तुर्क शासक की नियुक्ति (२०)
"	राजा राम की पराजय और थानेश्वर की लूट (२१)
१०१७	महमूद की ख्वारिज्म-विजय (१७)
१०१८	राज्यपाल का पलायन और महमूद द्वारा कन्नौज तथा मथुरा लूटा जाना (२१-२२)
"	त्रिलोचनपाल की प्रत्याक्रमण की योजना (२०)
१०१९	राजपूत संघ द्वारा राज्यपाल को दण्डित करना (२२)
"	महमूद का गण्ड चंदेल पर आक्रमण और गण्ड का पलायन (२२)

ई०	
१०१९	त्रिलोचनपाल की पराजय (२०)
१०२०	महमूद का ग़ोर पर अधिकार (१७)
१०२१	त्रिलोचनपाल की मृत्यु और शाहिया वंश का अंत (२०)
१०२२	गण्ड पर महमूद का द्वितीय आक्रमण (२२)
	ग्वालियर के राजा की पराजय (२२)
१०२५	सोमनाथ-विजय के लिये महमूद का प्रस्थान (२३)
१०२६	सोमनाथ मंदिर का ध्वस्त किया जाना (२३)
"	निडर भीम की मृत्यु (२०)
"	महमूद का भोज परमार से युद्ध बचाकर कच्छ के मार्ग से जाना और जाटों द्वारा लूटा जाना (२३)
१०२७	महमूद का जाटों के विरुद्ध आक्रमण (२३)
१०३०	महमूद की मृत्यु (१६)
११६३	विग्रह राज चतुर्थ का म्लेच्छों को विनष्ट करना (३२)
११७३	शहाबुद्दीन की ग़ज़नी में नियुक्ति (२९)
११७५	शहाबुद्दीन का मुलतान पर अधिकार करना (३४)
११७६	शहाबुद्दीन का उच्छ के दुर्ग पर अधिकार (३४)
११७८	शहाबुद्दीन की गुजरात में करारी हार (३४)
११७९	पेशावर पर शहाबुद्दीन का अधिकार (३४)
११८१	पृथ्वीराज का महोबे पर अधिकार (३०)
"	शहाबुद्दीन का लाहौर पर आक्रमण (३४)
११८२	देबल और दक्षिणी सिंध पर शहाबुद्दीन का अधिकार स्थापित होना (३४)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ई०

११८४ लाहौर पर दूसरा विफल आक्रमण ; स्यालकोट पर शहाबुद्दीन का अधिकार (३५)

११८६ खुसरो मलिक का बंदी बनाया जना और ग़ज़नवी वंश का अंत; पंजाब पर शहाबुद्दीन का अधिकार (३५)

११८९ शहाबुद्दीन का भटिण्डा पर प्रथम धावा (३५)

११९१ तराइन का प्रथम युद्ध और पृथ्वीराज की विजय (३५)

११९२ तराइन के द्वितीय युद्ध में शहाबुद्दीन की विजय (३६)

११९३ ऐबक का ग़ज़नी बुलाया जाना (३८)

११९४ चंदवार का युद्ध और जयचंद्र की मृत्यु (३९)

" ऐबक का चंद्रसेन के विरुद्ध अभियान और कोयल पर अधिकार (३८)

११९५ हरिराज का अंत (३९)

" बयाना और ग्वालियर के विरुद्ध अभियान (३९)

११९६ क़ुत्बुद्दीन वाइसराय नियुक्त (५६)

११९७ ऐबक का गुजरात पर धावा (४०)

११९९ हरिश्चन्द्र के दानपत्र में स्वतंत्र होनें का दावा (३९)

१२०२ परमर्दिन चंदेल के कालिंजर दुर्ग पर तुर्कों का आक्रमण (४१)

१२०३ कालिंजर, खजुराहो तथा महोबा पर तुर्कों का अधिकार (४१)

" गयासुद्दीन की मृत्यु और शहाबुद्दीन का मुईजुद्दीन के नाम से गोर का शासक होना (४२)

१२०५ मुईजुद्दीन की ख्वारिज्म के शाह के विरुद्ध पराजय, खोखरों के विद्रोह का दमन (४२)

ई०

१२०५ इल्तुतमिश की दासता से मुक्ति (६१)

" नासिरुद्दीन कुबाचा सिंध और मुलतान का हाकिम नियुक्त (५५)

१२०६ धामीयक में मुईजुद्दीन का वध (४३)

" इख्तियारुद्दीन की हत्या या मृत्यु (४२)

" कुत्बुद्दीन का राज्याभिषेक और दिल्ली की सल्तनत की स्थापना (५७)

" अलीमर्दान बंगाल का शासक स्वीकृत (५८)

१२०८ कुत्बुद्दीन ऐबक की दासत्व-मुक्ति (५७)

" क़ुत्बुद्दीन का ग़ज़नी पर अधिकार (५८)

१२१० कुत्बुद्दीन की मृत्यु और लाहौर में आरामशाह का अभिषेक ५९-६०)

१२११ इल्तुतमिश का राज्यारोहण (६०-६१)

१२१२ अलीमर्दान की हत्या (६५-६६)

१२१५ यलदौज की पराजय (६३)

१२१७ यलदौज़ की मृत्यु (६३)

" कुबाचा की प्रथम पराजय, इल्तुतमिश का लाहौर पर अधिकार, नासिरुद्दीन महमूद लाहौर का शासक नियुक्त (६३-६४)

१२२० जलालुद्दीन मंगबरनी का भारत में प्रवेश (६४)

१२२४ जलालुद्दीन मंगबरनी का वापस जाना (६४)

१२२५ इल्तुतमिश का बंगाल पर प्रथम आक्रमण और इवाज का अधीन शासक होना (६६)

१२२६ इवाज की पराजय और मृत्यु तथा महमूद का बंगाल पर अधिकार स्थापित होना (६६)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ई०

१२२६ इल्तुतमिश का रणथंभौर पर अधिकार (६७)

१२२७ इल्तुतमिश का लाहौर पर द्वितीय आक्रमण (६५)

" इल्तुतमिश की मंदौर विजय (६७)

१२२८ कुबाचा की मृत्यु (६५)

१२२९ इमाम मुस्तंसिर बिल्ला का इल्तुतमिश को नियुक्त-पत्र भेजना (७०); (३५२)

१२३० इल्तुतमिश का बंगाल पर द्वितीय आक्रमण और अलाउद्दीन जानी को बंगाल का शासक नियुक्त करना (६७)

१२३१ ग्वालियर का घेरा (६७)

१२३२ ग्वालियर पर अधिकार (६७)

" बलबन का इल्तुतमिश को बेचा जाना (९५)

१२३३ इल्तुतमिश का चंदेलों से युद्ध (६७)

१२३५ इल्तुतमिश की हत्या का षड्यंत्र (७१)

१२३६ इल्तुतमिश की मृत्यु (७१)

" रुक्नुद्दीन फ़ीरोज का राज्यारोहण (७३)

" सुलताना रज़िया का राजमुकुट प्राप्त करना (७४)

१२३८ ग्वालियर के हाकिम जियाउद्दीन का दिल्ली बुलाया जाना (७५)

१२३९ आयाज का विद्रोह (७६)

१२४० रजिया की मृत्यु (७७)

" बहराम (मुईजुद्दीन) का राज्याभिषेक (७८)

१२४१ मंगोलों का लाहौर पर अधिकार (७९)

१२४२ बहराम के स्थान पर मसूद का शासक होना (७९)

१२४४ बलबन अमीर-ए-हाजिब नियुक्त (९५)

१२४५ मंगोल आक्रमण (८०)

१२४६ बलबन का नासिरुद्दीन महमूद के पक्ष में षड्यंत्र, मसूद की हत्या और नासिरुद्दीन महमूद का राज्यारोहण (८१)

१२४७ तलसंदा के राजा की पराजय (९२)

१२४८ जलालुद्दीन का बलबन को हटाने का परामर्श (८४)

" बलबन का बुंदेलखण्ड पर आक्रमण (९१)

" रणथंभौर पर बलबन का प्रथम विफल आक्रमण (९२)

१२४९ बलबन का मेवात पर प्रथम आक्रमण (९२)

" बलबन का नायब नियुक्त होना (८३)

" नासिरुद्दीन का बलबन की कन्या से विवाह (८३)

१२५० दोआब में द्वितीय विद्रोह (९३)

१२५३ रैहन का सफल षड्यंत्र और बलबन का हांसी भेजा जाना (८५)

१२५४ बलबन का कटेहर पर आक्रमण (९३); रणथंभौर-विजय की विफल चेष्टा (९२)

१२५५ जलालुद्दीन का रैहन-विरोधी गुट में शामिल होना किन्तु राज्य प्राप्त न कर पाना; लाहौर का शासक नियुक्त किया जाना (८४)

" कामरूप के राजा का लखनौती के शासक को बंदी बनाना (९१)

" बलबन का पुनः नायब नियुक्त होना (८६)

१२५६ इमादुद्दीन रैहन की पराजय और मृत्यु (८६)

" कुतलुग ख़ां का विद्रोह (८६)

१२५७ सतौरगढ़ से बलबन का असफल लौटना (८६)

१२५८ रणथंभौर पर तृतीय विफल आक्रमण (९२)

" अब्बासी खिलाफ़त का अंत (१२)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ई०

१२६० बलबन का मेवात पर द्वितीय आक्रमण (९२)

१२६६ नासिरुद्दीन की मृत्यु (९३)

,, बलबन का गयासुद्दीन के नाम से राजा होना (९६)

,, मेवातियों का दमन (१०१)

१२७२ दाऊद खां मंगोल का राज्यारोहण (१६४)

१२७९ मंगोलों का आक्रमण; तुगरिल का विद्रोह (१०४)

१२८५ तैमूर खां का आक्रमण और शाहजादा मुहम्मद की मृत्यु (१०८-१०९)

१२८७ कैकुबाद का मुइजुद्दीन के नाम से गद्दी पर बैठना (१११)

१२८९ कैमूर्स का शम्सुद्दीन द्वितीय के नाम से गद्दी पर बैठना (९४)

१२९० जलालुद्दीन द्वारा खिलजी वंश की स्थपना (११६)

,, मलिक छज्जू का विद्रोह (१२६)

१२९१ जलालुद्दीन का रणथंभौर पर विफल आक्रमण (१३२)

,, बुगरा खां की मृत्यु (२०३)

,, रुकनुद्दीन (बंगाली) का राज्यारोहण (२०३)

१२९२ वीर बल्लाल तृतीय का राज्याभिषेक (२२९)

,, मंगोल नेता अब्दुल्ला की पराजय और जलालुद्दीन से संधि (१३१)

,, भिलसा-विजय और अलाउद्दीन का आरिज़-ए-मुमालिक नियुक्त होना (१३४)

१२९६ अलाउद्दीन की देवगिरि-विजय (१३४)

,, जलालुद्दीन की हत्या (१४२)

,, अलाउद्दीन का राज्यारोहण (१४२)

१२९७ कादर का आक्रमण (१६४)

,, अरकली खां और कद्र खां का हत्या (१४४)

ई०

१२९७ नसरत खां दिल्ली का कोतवाल (१९२)

१२९८ सालदी का आक्रमण (१६५)

१२९९ क़ुतुलुग़ ख्वाजा का आक्रमण (१६५)

,, गुजरात विजय (१४८)

१३०० रणथंभौर पर आक्रमण (१५०

१३०१ अलाउद्दीन का रणथंभौर पर अधिकार (१५३)

१३०२ मेवाड़ पर आक्रमण (१५३)

,, बंगाल और वारंगल का विफल आक्रमण (१५६)

,, शम्सुद्दीन फ़ीरोज़ (बंगाली) का राज्यारोहण (२०३)

१३०३ मेवाड़-विजय, राणा रत्नसिंह की मृत्यु (१५३)

,, तार्गी का आक्रमण (१६६)

१३०४ जालौर के राजा कान्हरदेव द्वारा अधीनता स्वीकार किया जाना (१५४)

१३०५ मालवा-विजय (१५४)

,, अलीबेग और तरताक़ का आक्रमण (१६६)

१३०६ इकबालमंदा का आक्रमण (१६७)

,, मध्य-भारत पर अलाउद्दीन का अधिकार (१५४)

,, दाऊदखाँ (मंगोल) की मृत्यु (१६७)

१३०७ देवगिरि पर आक्रमण (१५६)

१३०८ सिवाना के राजा शीतलदेव की पराजय (१५४)

,, देवगिरि विजय (१५६)

१३०९ वारंगल पर चढ़ाई (१५८)

१३१० वारंगल-विजय (१५८)

,, सुंदर पाण्ड्य द्वारा अपने पिता कुलशेषर की हत्या (१५५)

१३११ वीर वल्लाल तृतीय की पराजय (१५९)

,, काफूर का माबर पर आक्रमण (१६०)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ई०

१३११ जालौर विजय (१५४)
१३१२ रामचन्द्र की मृत्यु और सिंघनदेव का विद्रोह (१६०)
„ देवगिरि पर तृतीय आक्रमण (१६०)
१३१३ सिंघन की पराजय और मृत्यु (१६०)
१३१४ हरपालदेव देवगिरि का शासक नियुक्त (१६१)
१३१६ अलाउद्दीन की मृत्यु (१८५)
„ शहाबुद्दीन उमर का राज्याभिषेक (१८८)
„ क़ुत्बुद्दीन मुबारकशाह का राज्यारोहण (१८९)
१३१८ ज़फ़र खाँ की गुजरात में हत्या (१९०)
„ हरपालदेव की पराजय और मृत्यु (१९०)
१३२० कुत्बुद्दीन मुबारकशाह की हत्या (१९२)
„ खुसरो का वध (१९३)
„ तुग़लक वंश की स्थापना (१९७)
१३२१ तेलंगाना पर उलुग खाँ का आक्रमण (२००)
१३२२ बंगाल में उत्तराधिकार युद्ध (२०३)
१३२३ वारंगल पर सुलतान का सीधा अधिकार (२०२)
१३२४ बंगाल पर तुग़लक सत्ता की स्थापना; तिरहुत-विजय (२०३-२०४)
१३२५ ग़यासुद्दीन तुग़लक की मृत्यु (२०६)
„ मुहम्मद बिन तुग़लक का राज्याभिषेक (२१२)
१३२६ तरमशीरीं का भारत में आना (२१७)
„ बहाउद्दीन गुर्शस्प का विद्रोह (२२२)
„ दोआब में कर-वृद्धि (२४६)
„ दोआब में अकाल (२४६)

ई०

१३२७ दिल्ली के स्थान पर देवगिरि (दौलताबाद) का राजधानी होना (२४१)
१३२८ किशलू खां का विद्रोह (२२३)
१३३० ग्यासुद्दीन बहादुर बंगाली का विद्रोह (२२४)
तांबे के सिक्के का चलन (२४७)
१३३४ दोआब में पुनः अकाल पड़ना (२४६)
१३३५ माबर का विद्रोह (२२४)
„ दिल्लीवासियों को दौलताबाद से लौटनें की अनुमति (२२७)
१३३६ विजयनगर राज्य की स्थापना (२२८)
१३३७ फ़ख्रुद्दीन मुबारकशाह बंगाली का विद्रोह (२२५)
„ सम्राट् का स्वर्गद्वारी जाना (२४६)
„ नगर-कोट-विजय (२२०)
„ हिमाचल-विजय (२२०)
१३४० ऐनुल्मुल्क मुलतानी का विद्रोह (२३१)
१३४१ नूतन कृषि-प्रयोग (२४६)
१३४२ वीर बल्लाल तृतीय की मृत्यु (२३०)
१३४४ मुहम्मद बिन तुग़लक को खलीफ़ा का प्रथम नियुक्ति पत्र प्राप्त (२४०)
१३४५ मुहम्मद बिन तुगलक की राज्य-त्याग की चर्चा (२५७)
१३४६ बल्लाल चतुर्थ की पराजय और मृत्यु (२३१)
„ खलीफा का द्वितीय नियुक्ति पत्र (२४०)
१३४७ बहमनी राज्य की स्थापना (२३५)
„ तगी का विद्रोह (२३५)
१३५० फ़ीरोज़ के पक्ष में षड्यंत्र (२५७)
१३५१ सुलतान मुहम्मद बिन तुगलक की मृत्यु (२३५)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ई०
१३५३ फीरोज की बंगाल पर चढ़ाई (२६३)
१३५९ बंगाल पर दूसरी चढ़ाई (२६४)
" फ़तह खां युवराज घोषित (२७४)
१३६० जाजनगर, वीरभूमि और नगरकोट पर फ़ीरोज़ का अधिकार (२६४-२६५)
१३६२ सिंध पर आक्रमण (२६५)
१३६५ फ़ीरोज़ को बहमनी राज्य में हस्तक्षेप का आमंत्रण (२६६)
१३७५ जफ़र खां युवराज घोषित (२७४)
१३८८ तुगलक शाह द्वितीय का राज्यारोहण (२७७)
१३८९ अबूबक्र का राज्याभिषेक (२७७)
१३९० नासिरुद्दीन मुहम्मद का दिल्ली पर अधिकार (२७८)
२३९४ महमूदशाह तुगलक का राज्यारोहण (२७८)
" जौनपुर के शर्क़ी वंश की स्थापना (२९४)
१३९६ मुजफ्फ़रशाह (गुजराती) का स्वतंत्र होना (२९६)
१३९७ पीर मुहम्मद का मुलतान पर आक्रमण (२८०)
१३९८ तैमूर का आक्रमण (२८०)
१३९९ खिज्र ख़ां तैमूर का प्रतिनिधि नियुक्त (२८३)
१४०२ महमूद तुग़लक का शर्क़ी सुलतान की शरण में जाना (२८५)
१४०५ मल्लू ख़ां की मृत्यु (२८५)
" दौलत ख़ां का दिल्ली पर अधिकार (२८५)
१४१२ महमूदशाह की मृत्यु (२८५)
१४१४ ख़िज्र ख़ां का दिल्ली पर अधिकार (२८६)
१४२१ मुबारकशाह सैय्यद का राज्यारोहण (२९०)
१४३४ मुबारकशाह सैय्यद की हत्या (२९३)

ई०
१४४० महमूद ख़िलजी का दिल्ली पर आक्रमण (२९३)
" बहलोल को फ़र्जन्द और ख़ान-ख़ाना की उपाधियां मिलना (३१०)
१४४२ राजा गणेश के वंश का अंत (२९५)
१४४७ अलाउद्दीन आलमशाह का बदायूं जाना (२९३)
१४५१ बहलोल का दिल्ली पर अधिकार (३१०)
" आलमशाह द्वारा राज्य त्याग और बहलोल का राज्याभिषेक (३११)
१४५२ शर्क़ियों से बहलोल का संघर्ष आरम्भ (३१२)
१४७८ आलमशाह सैय्यद की मृत्यु (३१५)
१४८३ बाबर का जन्म (३३०)
१४८६ हरिहर के राजवंश का अंत (३००)
१४८७ ग्वालियर-नरेश मानसिंह द्वारा बहलोल की अधीनता स्वीकार करना (३१६)
" आज़म हुमायूं की कालपी में नियुक्ति (३१७)
१४८९ सिकंदर लोदी का राज्यारोहण (३१७)
१४९४ बाबर का फ़रग़ाना में राज्याभिषेक (३३०)
१४९४ शर्कियों के राज्य का अंत (३१५)
१४९५ सिकंदर के समय में अकाल (३२२)
१५०१ सिकंदर का ग्वालियर पर आक्रमण (३२०)
१५०४ सिकंदर का धौलपुर पर अधिकार (३२०)
" बाबर का काबुल पर अधिकार (३३१)
१५०५ मंडरैल पर सिकंदर का अधिकार (३२०)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ई०

१५०५ उत्तर भारत का भूचाल (३२२)
१५०७ सिकंदर द्वारा अवंतगढ़-विजय (३२०)
१५०८ नरवर पर सिकंदर का अधिकार (३२०)
१५०९ कृष्णदेव राय का राज्यारोहण (३००)
" नागौर पर सिकंदर का प्रभुत्व-स्थापन (३२०)
" अहमद खां का हिन्दू धर्म स्वीकार करनें के संदेह में पदच्युत किया जाना (३२१)
१५१७ सिकंदर की मृत्यु (३२३)
" इब्राहीम का राज्याभिषेक (३२५)
१५१८ इब्राहीम का जलाल से युद्ध (३२५)
" ग्वालियर पर इब्राहीम का अधिकार (३२६)।

ई०

१५१८ खातोलीका युद्ध (३२६)
१५१९ बाबर का भीरा और बजौर पर अधिकार (३३१)
" मुल्ला मुर्शिद को दिल्ली भेजने का विफल प्रयास (३३१)
१५२२ क़ंदहार पर बाबर का अधिकार (३३२)
१५२४ पंजाब पर बाबर का अधिकार (३३२)
१५२५ बाबर का अंतिम भारतीय आक्रमण (३३३)
१५२६ पानीपत के प्रथम युद्ध में इब्राही लोदी की पराजय और मृत्यु (३३४)
१५३० कृष्णदेव राय की मृत्यु (३००)
१५३८ शेरशाह का बंगाल पर अधिकार (२९५)
१५६५ राजाराम की पराजय (३०१)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुक्रमणिका

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तिथी...... पुस्तं० 359

अनुक्रमणिका

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान पु०सं० 359 भारती पुस्तकालय
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.